स्मृति-सन्दर्भः

श्रीमद्भिः महर्षिभिः प्रणीतः धर्मशास्त्र संग्रहः

THE SMṚTI-SANDARBHA

(A COLLECTION OF DHARMAŚĀSTRAS)

स्मृति - सन्दर्भः

श्रीमन्महर्षिप्रणीत धर्मशास्त्रसंग्रहग्रन्थः
कपिलादिदशस्मृत्यात्मकः

पञ्चमोभागः
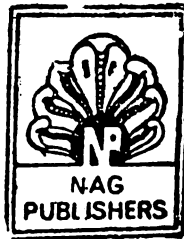
नाग प्रकाशक
११ ए/यू. ए., जवाहर नगर, दिल्ली-७

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के आर्थिक अनुदान से प्रकाशित

नाग प्रकाशक

1. 11 A/U. A. जवाहरनगर, दिल्ली-110007

2. 8 A/3 U. A. जवाहरनगर, दिल्ली-110007

3. जलालपुरमाफी (चुनार-मिर्जापुर) उ० प्र०

ISBN : 81-7081-170-8 (Set)

संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

१९८८

Rs. 250/- छः भागों के

नागशरण सिंह, नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित
तथा न्यू ज्ञान आफसेट प्रिंटर्स, शाहजादा बाग, दिल्ली द्वारा मुद्रित

THE
SMRITI SANDARBHA

Collection of Ten Dharmashastric Texts by Maharshis.

Volume V
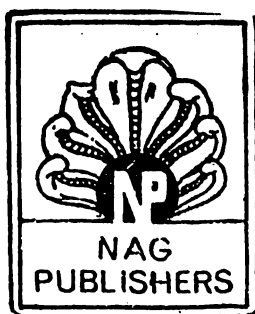
NAG PUBLISHERS
11.A/U.A. JAWAHAR NAGAR (P. O. BUILDING)
DELHI-110007

This Publication has been brought out with the financial assistance from the Govt. of India, Ministry of Human Resource Development.

(If any defect is found in this volume, please return the copy per VPP for postage to the Publisher for free exchange.)

NAG PUBLISHERS

(i) 11A/ U.A. Jawahar Nagar, Delhi-110007

(ii) 8A/3 U.A. Jawaharnagar, Delhi-110007

(iii) Jalalpur Mafi (Chunar-Mirzapur) U. P.

ISBN 81-7081-170-8 (Set)

1988

per 6 vols. set

PRINTED IN INDIA

Published by Nag Sharan Singh for Nag Publishers, 11A/U.A. Jawaharnagar, Delhi-110007 and printed at New Gian Offset Printers, Delhi.

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

स्मृतिसन्दर्भ पञ्चम भाग

की

विषय-सूची

कपिलस्मृति के प्रधान विषय

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ स्मृतिसन्दर्भस्थ पञ्चमभागे सङ्कलित-स्मृतीनां नामनिर्देशः

विशेष द्र०—द्वितीयाङ्गिरसस्मृतेर्विषयवैशिष्ट्येनपृथगुपन्यासः

वाधूलस्मृति के प्रधान विषय

दूसरे के बनाये हुए सरोवर में स्नान करने से उस बनानेवाले के दुष्कृत (पाप) स्नानार्थी को लगते हैं अतः उसमें न नहावे (६४)। सोकर उठने से लार-पसीनों से भरा हुआ मनुष्य अशुद्ध है उसे स्नानादि से शुद्ध होनेपर ही नित्यकर्म सन्ध्योपासन देवर्षि पितृ तर्पण करना चाहिये। सूर्योदय के पूर्व प्रातःकाल का स्नान प्राजापत्य यज्ञ के समान है और आलस्यादि को नष्ट कर मनुष्य को उन्नत विचार और कार्यशील बना देता है। स्नान के समय पहने वस्त्र से शरीर को न मले न पोंछे ही इससे शरीर कुत्ते के द्वारा सूंघा हुआ हो जाता है जो फिर स्नान करने से ही शुद्ध होता है (६५-६८)।

स्नान मूलाः क्रियाः सर्वाः सन्ध्योपासनमेव च।
स्नानाचारविहीनस्य सर्वाः स्युः निष्फलाः क्रियाः ॥६७॥

सम्पूर्ण क्रियायें स्नान के अन्तर्गत ही हैं। रविवार को उषा काल में स्नान करने से हजार माघ स्नान का फल और जन्म दिन के नक्षत्र में वैधृत पुण्यकाल, व्यतीपात और संक्रान्ति पर्वों में, अमावस्या को नदी में स्नान कोटि कुलों का उद्धार कर देता है। प्रातः स्नान करनेवाले को नरक के दुःख कभी नहीं देखने

और सायं काल सरस्वती का ध्यान करना चाहिये। प्रतिग्रह, अन्नदोष, पातक और उपपातकों से गायत्री मन्त्र के जपनेवाले की गायत्री रक्षा करती है इसलिये इसका नाम गायत्री है।

प्रतिग्रहादन्नदोषात्पातकादुपपातकात्।
गायत्री प्रोच्यते यस्माद् गायन्तं त्रायते यतः ॥११५॥

सविता को प्रकाशित करने से इसका नाम सावित्री और संसार की प्रसवित्री वाणी रूप से होने से इसका इसका नाम सरस्वती अन्वर्थ है (जैसा नाम वैसा गुण) (११२-११६)।

आपोहिष्ठेत्यादि मार्जन मन्त्रों में नौ ओङ्कार के साथ जो मार्जन किया जाता है उससे वाणी, मन और शरीर के नवों दोषों का क्षय हो जाता है (११७-१२०)। सायंकाल में अर्घ्य जल में न देवे जहाँ सन्ध्या की जाय वहीं जप भी हो। वेदोदित नित्यकर्मों का किसी कारण अतिक्रमण हो जाय तो एक दिन बिना अन्न खाये रहना चाहिये और १०८ गायत्री मन्त्र के जप दोनों सन्ध्या में विशेष रूप करे (११-१२६)।

सूतक और मृतक के आशौच में भी सन्ध्या कर्म न छोड़े प्राणायाम को छोड़ कर सारे मन्त्रों को मन से

करता है उन्हें ही यदि धर्म के लिये करे तो संसार में कोई दुःखी नहीं रह सकता।

अर्थार्थी यानि कर्माणि करोति कृपणो जनः।

तान्येव यदि धर्मार्थं कुर्वन् को दुःखभाग्भवेत् ॥१८६॥

भिन्न-भिन्न वस्तुओं एवं पतितों के छू जाने से स्नान का विधान किसी वस्तु को बेचने पर स्नान का विधान आवश्यक है (१८४-१८८)।

श्रुति स्मृति के आदेश प्रभु की आज्ञा है इनको न माननेवाले को भगवद्भक्त बनने का अधिकार नहीं (१८६)। सच्चे अन्धे का लक्षण—जो श्रुति स्मृति का अध्ययन, मनन और अनुशीलन कर उनके मार्ग का अनुष्ठान नहीं करता वह अन्धा है (१६०-१६१)। पापी को धर्मशास्त्र अच्छे नहीं लगते (१६२)।

सच्चा ब्राह्मण वही है जो ऋण करने से ऐसे डरता है जैसे सर्प को देखकर। सम्मान से ऐसे दूर रहता है जैसे लोग मरने से और स्त्रियों के सम्पर्क से जैसे मृतक से घृणा होती है वैसे दूर रहता है। ब्राह्मण वह है जो शान्त हो, दान्त हो, क्रोध को जीतनेवाला हो, आत्मा पर पूरा अधिकार करनेवाला हो, इन्द्रियों का निग्रह कर चुका हो। ब्राह्मण का यह शरीर उपभोग के लिये नहीं बल्कि इस शरीर में क्लेश के साथ तपस्या करते हुए

॥ वाधूलस्मृति की विषय-सूची समाप्त ॥

विश्वामित्रस्मृति के प्रधान विषय

वैश्वदेव में कोद्रव (कोदो), मसूर, उड़द, लवण और कड़वे द्रव्यों को काम में न लेवे (१-२)। नाना प्रकार की बलि करने से नाना प्रकार के काम्य कर्मों की सिद्धियां होती हैं। द्विजों के लिये पांच ही क्रम से बलि का विधान है। पहले उपवीत, दूसरे निवीत, तीसरे पितृमेध के लिये बलि की जाती है (३-१२)।

वैश्वदेव में ताजा अन्न ही काम में लिया जाय (१३-१६)। वैश्वदेव मन्त्र के साथ हो या बिना मन्त्र के इसे किसी भी रूप में करना चाहिये ; क्योंकि इसको करनेवाला अन्नदोष से लिपायमान नहीं होता (१७-२४)। पञ्चशूनाजनित पापों को जैसे, चूल्हा, चक्की, जल भरने का स्थान, झाड़ू आदि के दोषों को दूर करने के लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है (२५-३६)।

वैश्वदेव को करने से सकल दोषों का निवारण होता है। नित्य होम का वर्जन सूतक एवं मृतक में बताया

गया है। बश्वदेव के काल का वणन । वैश्वदेव माहात्म्य वर्णन (४०-८३)।

।। विश्वामित्रस्मृति की विषय-सूची समाप्त ।।

लोहितस्मृति के प्रधान विषय

के प्रमुख व्यक्तियों के सामने इष्ट, भाई-बन्धुओं को बुलाकर बिना पुत्र के माता को विधि-विधान से देना चाहिये। जो पुत्र समाज के गोत्र कुल में से दत्तकरूप में लिया जाय वास्तव में वह अपने पुत्र तुल्य है और अपुत्रक माता-पिता के लिये सर्वथा दैवपैत्र्य कार्य के लिये ग्राह्य है। उस पुत्र का औरस पुत्रों के समान ही सारा अधिकार होता है (६०-७१)।

यदि दत्तक पुत्र लेने के बाद उन माता-पिता के सन्तान हो जाय तो वह चतुर्थ भाग का स्वामी होने का अधिकार रखता है (७२-७४)। जब आदि धर्मपत्नी के न रहने व पुत्र न होने पर दूसरी पत्नी से जो पुत्र होगा वही ज्येष्ठत्व का अधिकारी होगा और अवशिष्ट स्त्रियों की सन्तान कामज रहेगी (७५-८५)।

आत्मज सन्तान की ही औरसता कही गई है (८६-८७)। यदि कोई धर्मपत्नी के सन्तान न हुई उसने पति की इच्छा से दत्तक पुत्र लिया और संयोगवश फिर सन्तान हो गई तो दत्तक पुत्र को ज्येष्ठ पुत्र के रूप में बराबर भाग मिलेगा। यदि दत्तकपुत्र और औरस पुत्र उपस्थित हो तो औरस पुत्र को ही पिता-माता के और्ध्वदेहिक कर्म करने का अधिकार है (८९-९८)।

ज्येष्ठ पत्नी का ही सम्पूर्ण गृह्य अग्नि एवं पाक यज्ञादि में अधिकार एवं नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य सभी कर्मों में उसी की प्रधानता है (६६-१०४)। मुख्य गृह्याग्नि के कार्य धर्मपत्नी के अधीन हैं। अतः वह कार्यविशेष उपस्थित हुए बिना कोई भी रूप में सीमोल्लङ्घन न करे अन्यथा गृह्य अग्नि लौकिक अग्नि हो जायगी और अग्नि की स्थापना फिर से करनी होगी (१०५-१०६)। किसी छोटी नदी को भी यदि मोह से पार कर लिया तो फिर नई प्रतिष्ठा अग्नि सन्धान के लिये करनी होगी (११०-११४)।

यदि ज्येष्ठ पत्नी कारण विशेष से उपस्थित न हो सके बाहर गई हुई हो तो द्वितीयादि अग्नि से श्राद्धादि विधि सम्पादित हो सकती है, परन्तु उसमें कोई भी विधि समन्त्रक नहीं हो सकती सभी अमन्त्रक करनी चाहिये (११५-१२६)। पूर्व पत्नी के न रहने से गृह्याग्नि की स्थापना के लिये जब दूसरा विवाह किया जाय तो पहले के घड़े से नूतन विवाहित स्त्री के घट में अग्नि की स्थापना की जाय (१३०-१३५)। अग्नि उसी समय भ्रष्ट हो जाती है, जब पत्नी चरित्र से दूषित हो (१३६-१४०)।

अध्याय	प्रधान विषय	पृष्ठाङ्क

॥ लोहितस्मृति की विषय-सूची समाप्त ॥

नारायणस्मृति के प्रधान विषय

॥ श्री नारायणस्मृति की संक्षिप्त विषय-सूची समाप्त ॥

शाण्डिल्यस्मृति के प्रधान विषय

॥ शाण्डिल्यस्मृति की विषय-सूची समाप्त ॥

कण्वस्मृति के प्रधान विषय

॥ कण्वस्मृति की विषय-सूची समाप्त ॥

दाल्भ्यस्मृति के प्रधान विषय

॥ दाल्भ्यस्मृति की विषय-सूची समाप्त ॥

आङ्गिरसस्मृति के प्रधान विषय

अध्याय प्रधान विषय पृष्ठाङ्क

अध्याय | प्रधान विषय | पृष्ठाङ्क

॥ आङ्गिरसस्मृति के पूर्वाङ्गिरसम् की विषय-सूची समाप्त ॥

आङ्गिरस (२)

उत्तराङ्गिरसम्

आङ्गिरस (२) के उत्तराङ्गिरस प्रकरण की विषय-सूची समाप्त।

भारद्वाजस्मृति के प्रधान विषय

॥ भारद्वाजस्मृति की विषय-सूची समाप्त ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

* कपिलस्मृतिः *

कपिल-शौनक-संवादवर्णनम्

वेदनिन्दकानां दूषणम् :—

पुरा तु शौनकः श्रीमान्भाविनं पतिमीक्ष्य वै।
मीनोत्यंतं कलौ भूम्यां तिष्ठेद्विप्रत्वमित्यसौ ॥ १ ॥
अत्यन्तं चिन्तयाविष्टः कपिलं विष्णुरूपिणम्।
अवशादागतं वीक्ष्य प्रहृष्टः सत्वरं तदा ॥ २ ॥
समुत्थायाऽभिवाद्यैनं गामर्घ्यमुदकं शिवम्।
कल्पयित्वा नष्टश्रमं पश्चात्प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ३ ॥
कलौ पापैकबहुले धर्मानुष्ठानवर्जिते।
कथं तिष्ठति विप्रत्वं भूतले वद मे महन् ॥ ४ ॥
संशयोऽतीव सुमहान् वर्त्तते छिन्धि नु(मे)विभो।
नितेन(शौनकेन)हन(कृतः)प्रश्नः कपिलः स सनातनः ॥५॥
स्मयं कृत्वा जगद्भर्त्ता सस्मितं वाक्यमब्रवीत्।
त्वं महाऽसि सर्वज्ञः सर्ववेदविदाम्वरः ॥ ६ ॥
अग्रगण्यश्च भक्तानां वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम्।
अष्टादशानां विद्यानां कोशभूतो महाद्युतिः ॥ ७ ॥
ऐकायोगत्व(?) नानात्वं समवायविशारदः।
क्रियाकल्पविशेषज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्वविन् ॥ ८ ॥

अथाऽपि मुख्यसार्थ(ज्ञ)निश्चयैः श्रुतिसिद्धगैः ।
ब्राह्मण्यसाधकैः कर्मविशेषैरेव तत्परम् ॥ ९ ॥
ब्राह्मण्यं तत्समीचीनमतितीक्ष्णतरं शिवम् ।
सुस्थितं प्रभवो नो चेन्न तिष्ठति रे(?)श्रितेति ॥१०॥
निष्कर्षस्सुमुखोऽयं (च) तस्मिन्नर्थे न संशयः ।
अथाऽपि सूक्ष्मं वक्ष्यामि तन्ममैकमनाः शृणु ॥ ११ ॥
अब्राह्मणेषु सर्वेषु सर्वस्मिन्ब्राह्मणब्रवे(ब्रुवे) ।
नामधारकमात्रेषु श्रोत्रियेषु महत्स्वपि ॥ १२ ॥
सर्वेष्वपि च वेदैकपारगेषु महात्मसु ।
ब्रह्मत्वमेकसामान्यात्तिष्ठत्येव ह्यनश्वरम् ॥ १३ ॥
तन्महत्तारतम्येन न्यूनं चाऽधिकमेव च ।
महच्च सुव(म)हच्चाऽपि दोषयुक्तं गुणोत्तरम् ॥ १४ ॥
निर्दोषम(मि)ति भेदेन बहुधाभि(हि)मृतेति(स्मृतं)तत् ।
सर्वकर्मैकशून्येऽस्मिन्कलौ पापैकसङ्कुले ॥ १५॥
कर्मानुरूपं ब्रह्मत्वं प्रतिष्ठति हि भूतले ।
तन्न दूष्यं दुराधर्षं युगधर्मानुरूपकम् ॥ १६ ॥
परान्नेन मुखं दग्धं हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात् ।
परस्त्रीचिन्तया चित्तं कुतः(त्र) शापः कलौ युगे ॥१७॥
तिरी (रो) हितस्तत्र वेदः स्वभावात्पुनरि (रे) ष्यति ।
कुतर्कैर्बाधितोऽत्यन्तभाषाग्रद्धै(न्थै)र्न राजते ॥ १८ ॥
भाषाग्रध(न्थ)कुतर्काणामागसानां प्रचारणात् ।
वैष्णवानां शोभ(ना)नां पुरान्नेवानां(पुरुषाणां)दुरात्मभिः॥

प्रकल्पितानां शास्त्राणामसतां सद्विरोधिनाम् ।
प्रबाहुल्याद्धर्ममूलं वेदः शाक्ततरं भवेत् ॥ २० ॥
एवं वेदे धर्ममूले परं शांतमवस्थिते ।
तथागतमतं केचिदनुसृत्य ततस्ततः ॥ २१ ॥
कर्मोपयुक्तमात्रैकपुत्राध्ययनमात्रतः ।
सम्पूर्णं तच्च विप्रत्वं प्राप्तमेवेति वादिनः ॥ २२ ॥
देवो ध्येतव्यइत्युक्ते तदुपर्यपि युक्तिभिः ।
यत्किञ्चित्स तु यावद्वा यत्किञ्चिच्चेत्तदा किल ॥२३॥
या(?)त्रीमात्रतःस्याद्धि यावच्चेद् ब्रह्मणे नमः ।
सततं प्रलगा(?)सैवं पुनस्तेषां दुरात्मनाम् ॥ २४ ॥
अदिव्यत्यक्तत्द्वाक्योच्चारणे हि भयं च न (?) ।
वैदिकान्यपि कर्माणि दूषयन्ति सभासु च ॥ २५ ॥
तद्वाक्यतः पुनर्लोकेऽप्यल्पज्ञानां हि निश्चयः ।
बहुज्ञानां संशयोऽपि कदाचिज्जायते किल ॥ २६ ॥
तद्वैदिकेषु शास्त्रेषु सदकर्मसु(सत्कर्मनिरतेष्वपि) ।
विश्वासस्तादृशानां च जायतेऽपि च कुत्रचित् ॥२७॥
ब्रह्मयोनिषु जातानामपि केषां दुरात्मनाम् ।
तानि प्रयुतकर्माणि दूषयन्त्यपि सन्ति च ॥ २८ ॥
श्रुतिप्रोक्तानि दिव्यानि मूढाः पण्डितमानिनः ।
मूढानां तादृशानान्ते(श्च)गुरुत्वं समुपाश्रिताः ॥२९॥
स्वयं च वैदिकाश्चेति वदन्तः पुनरप्यति ।
कुबुद्धिर्बोधयन्तश्च तादृशाः दुष्टचेतनः(नाः) ॥ ३० ॥

वर्द्धते भूतलेऽतीव कलिधर्मस्तु तादृशः ।
अथाऽपि भूतले भूयस्तत्र तत्र क्वचित्क्वचित् ॥ ३१ ॥
वैदिकान्यपि कर्माणि वैदिकाश्शतशोऽमृचः ।
सामानि च यजूंष्येवं सम्यग्वासं(?)भासपि ॥ ३२ ॥
शाखामात्राक्षरावाप्ति मात्रेण(?) महद्धितत् ।
श्रोत्रियत्वं (च) प्रथितं दुर्लभं सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥
शतजन्मसु विप्रत्वं प्राप्तस्य कृतिनस्ततः ।
श्रोत्रियत्वं सिध्यति हि ना रुद्रः(?)क्रमपाठकः ॥ ३४ ॥
वर्णक्रमविभागज्ञः स्वरमात्रादिलक्षणैः ।
सदाचार (रा) वरो धीरो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३५ ॥
तन्मन्त्रविनियोगज्ञः तत्क्रियाकरणक्षमः ।
चतुर्मुखस्सुभूतो (समुद्भूतो) लोकेऽर्थज्ञो जगद्गुरुः ॥३६॥
साक्षान्नारायणः सोऽयं भेदकृ (ह्य)(?)ह्यायमाभवेत् ।
वेदो नारायणः साक्षात्तदर्थज्ञः स एव हि ॥ ३७ ॥
सोऽयमर्थः कल्पसूत्रैः ब्राह्मणेन चतुर्दशः ।
वर्णान्यप्योजसाल्पेन तद्वर्ण (?) वासिपूर्वकम् ॥३८॥
विणान् (?) वा निंद्य नाशार वामा त्रस्यात्र जडासकः ।
व्यत्यस्त मुच्चरन्व्याक्र(?) तदर्ध (र्द) वर्त्ति केवलम् ॥३९॥
शतजन्मसु तं विद्यात्साक्षाद्दैवतमागतम् ।
वेदनारायणद्रोही निर्भयेन श्रुतिं सताम्(?) ॥ ४० ॥
वाचा संस्कृतया वर्त्ति(क्ति)द्वाससां(?)सुरतस्सतु ।
वर्णव्यत्यासतः प्रोक्त्या वेदेऽस्मिन्ब्रह्महा भवेत् ॥४१॥

विसर्गविन्दुदीर्घाणां व्यत्यासोक्त्या वशादपि ।
भ्रूणहत्यामवाप्नोति स्वरादीनां तु केवलम् ॥ ४२ ॥
वीरहत्यां दुर्निवार्यामुच्चरन्तं तु तादृशाम् ।
अनधीत्यैव तूष्णीकं वेदवाक्यं शिवात्मकम् ॥ ४३ ॥
दु(दा?)र्वाधीनं कारपाठं अपि तूष्णीकपाठकम् ।
सद्यो वै धार्मिको राजा स्वस्माद्राष्ट्रात्प्रवासयेत् ॥४४॥
वेदं समुच्चरन्तं तच्छूद्रं तत्क्षण एव वै ।
जिह्वाच्छेदं तस्य कुर्यात् (धार्मिको नृपसत्तमः) ।
अनधीत्य पुरा वेदं या वा(अन्य)शास्त्रं श्रमं(मो)वृथा ॥४५॥
करोति ब्राह्मणो मूढो नरो गर्दभ उच्यते ।
नरगार्दभसंसर्गं स्नानं पञ्चाङ्ग (सं) युतम् ॥ ४६ ॥
कृत्वा सङ्कल्प्य तत्पश्चात्प्राणायामशतं चरेत् ।
पूर्वस्मिञ्जन्मनि स तु नरगार्दभसञ्ज्ञिकः ॥ ४७ ॥
सत्यं मृगवधाजीवः निर्धनिको नित्यकर्कशः ।
सत्वयं वेद चत्व (?) निरूपणकहेतवो ॥ ४८ ॥
भूतले कलिना सृष्टोः न कुर्यात्तेन भाषणम् ।
अश्रोत्रियैर्ब्रह्मविद्याविषये कलहं वृथा ॥ ४९ ॥
न कुर्यादेव सोऽयं वै महाव्यामोहकारणम् ।
कुलादिनः कुतर्कार्यै(तर्काश्च)कुत्सिताः कलिरूपिणः ॥५०॥
कुबुद्धयः कुबोद्धारः कुत्सिताचारकारकाः ।
नावलोक्या न सम्भाष्या विप्रनामकथारकाः ॥५१॥

विशेषेणं श्राद्धदिने यदि दृष्टा हठात्तथा ।
इदं विष्णु व्याहृतीश्च जपित्वा प्रणवम्परम् ॥ ५२ ॥

समुच्चार्याऽथ च श्रोत्रं दक्षिणं संस्पृशेदपि ।
सर्वेषामेव धर्माणां मुख्यधर्मोऽयमेव वै ॥ ५३ ॥
कलौ पापैकबहुले श्राद्धाख्यः श्रुतिचोदितः ।
सन्ध्या वै तद्वपनान्यत् ब्राह्मणस्य महाक्षयः(?) ॥५४॥

जीवातुश्च ततःश्राद्धं भक्त्या कुर्यादतन्द्रितः ।
तच्च नानाविधं ज्ञेयं नित्यं नैमित्तिकन्तथा ॥ ५५ ॥
काम्यं चैतेषु सर्वेषु प्रत्यब्दान्तर मदमदा(मेवच) ।
पित्रोर्द (दैं) वततस्तस्याकरणे सद्य एव हि ॥ ५६ ॥

चण्डालत्वमवाप्नोति तस्मात्तत्तु दिवैव वै (?) ।
मृतयोर्दिवसे कुर्याच्छुद्धः सन् भक्तिसंयुतः ॥ ५७ ॥
एवमेतद्व्रतसरस्य स्थलेऽस्मिन् भक्त्या(?)भवेत् ।
श्राद्धमग्निमवर्षस्य कुत्रेति (?) वा वदेत् ॥ ५८ ॥

सर्वेषां श्रृण्वतां मध्ये तावन्मात्रेण ते तदा ।
अतितुष्टा हि पितरः तावतृ या श्रताद्दिला(?) ॥ ५९ ॥
किमप्य(?)मदकाक्षत्तं तदाद्येन सन्ध्यके ।
सदाशिषः प्रयुञ्जन्त एतत्पालनसम्मुखाः ॥ ६० ॥

मलद्धार्यस्य सततं तिष्ठन्ति किल सानुगाः ।
माषेभ्यः पञ्च षड्भिर्वागन्वहं मित्र मायषे(?) ॥ ६१ ॥

प्रसक्ते सति तैरेतच्छ्राद्धकार्यं कथञ्चन।
कुत्र केन कथं कस्मात्प्रभविष्यति वै तदा।
किं कुर्म्मश्चेति तच्चिन्तापर एव स्थितो भवेत्॥ ६२॥

तावन्मात्रेण तेषान्तु नित्यमेव विधानतः।
कृतमेव भवेच्छ्राद्धं कीर्त्तनादेव केवलम्॥ ६३॥
समीचीनव्रीहिमाषमुद्गप्रमुखदर्शने।
एतत्तुलितवस्तूनि स्वपितॄणां मृतेऽहनि॥ ६४॥
यत्नात्संत्यादीप्या(?)न मयात्तेवदेन्मुदा।
न वयस्याः समुद्दिश्य भावयेद्वा स्वचेतसा॥ ६५॥
शक्त्या कालेन च ततः तदर्थं वस्तुसंग्रहम्।
कुर्यादेव स्वयं भक्त्या पितॄणां प्रीतिहेतवे॥ ६६॥
पश्चाच्छ्राद्धेऽप्य पूर्वेम्य(?)रात्रौ कव्यस्य तद्भवेत्।
श्वःकर्त्तव्यस्य तन्नाऽग्रात् स्वीकुर्यात्कामतःस्वयम्॥६७॥
रात्रौ कृताशनान्विप्राच्छ्राद्धे चैव निमन्त्रयेत्।
ततः प्रातर्विधानेन स्नात्वा सन्ध्यामुपास्य च॥ ६८॥
कृत्वाऽग्निहोत्रं स्मार्त्तं च ब्राह्मणान्वै निवेदयेत्।
श्राद्धेऽत्राऽऽहवनीयस्य स्थाने वै मन्निमित्ततः॥ ६९॥
प्रसादो भवता कार्य इति वाक्येन केवलम्।
केवलं लोके नैव वृणुयाद्दर्भं दत्वा भवापुनः(?)॥७०॥
तूष्णीं वा प्रति विप्राणामेवमेव विधिःस्मृतः।
सर्वेषां पुनरप्येषां प्रति पूर्ष (वं) त्रयो मताः॥ ७१॥

सप्त पञ्च धवा प्रोक्ता शक्ता सत्या च चेत्पुनः ।
एकमेकं च सर्वत्र तत्राऽशक्ता च केवलम् ।। ७२ ।।
पित्रादीनां त्रयाणां च विप्र एकोऽपि वा भवेत् ।
विप्रद्वयं तथा दैवे नाद्य(?)मि(मे)वं सदा भवेत् ।।७३।।
शश्वन्नान्दिस्तदा कार्यो यदा पुत्रः प्रजायते ।
जातकर्म तथा कुर्यात्कुर्यादभ्युदयं तथा ।। ७४ ।।
सतै(चै)लस्य पितुःस्नानं जातमात्रे विधीयते ।
अत्र दैवे च पित्र्ये च युग्मसंख्या द्विजाःस्मृताः ।।७५।।
कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेशे वेश्मनामपि ।
नानाकर्मणि(सु) चौलानां चूडाकर्मादिके तथा ।।७६।।
सीमन्तोन्नयने नै(चै)व पुत्रादि मुखदर्शने ।
नान्दीमुखं प्रकर्त्तव्यं तत्र वृद्धान् पितॄञ्छुभान् ।।७७।।
कुलजं सप्तमं पूर्वं षष्ठं चाऽपि ततः परम् ।
पञ्चमञ्चाऽपि यत्नेन क्रमेणैव प्रपूजयेत् ।। ७८ ।।
गोत्रान्तव(तर)प्रतिष्ठस्य नाद्यास्तेऽपि नरो खलाः ।
मातामहाश्च नितरां दुर्लभाः राव सत्तरम् (?) ।।७९।।
मातापितृभ्यां तद्गोत्रस्यागेऽङ्गीकारपूर्वकम् ।
स्व(स्वी)कृतोऽयं पालकेन तद्वर्गं तेन चाऽऽसनम् ।।८०।।
तन्मातृपितृभिः सार्कं न तत्त्यागः पुरा कृतः ।
तेन तन्मातामहानां त्यागस्त्वन्याय एव हि ।। ८१ ।।
तथैव क्रियते सर्वैः तेन दत्तोऽथ पापकृत् ।
त्यक्तमातामहः क्रूरः दत्तो वैदिकवर्त्मना ।। ८२ ।।

नान्दीमुखे मातृवर्गः प्रपूर्यः (य) वेदशास्त्रगः ।
पितृवर्गं ततः पश्चाद्वर्गं मातामहस्य च ॥८३॥
सर्वकर्मसु चाप्येवं शुभाख्येषु विधीयते ।
मातृपूजा प्रथमतः पितृपूजा ततः परम् ॥ ८४ ॥
वस्त्रभूषणयोर्दाने समनुच्चारणे तथा ।
दम्पती पूजने चाऽपि स्त्रीपूर्वेणैव चोपत्ता(त्तमा) ॥८५॥
कृतिस्सा श्रीमती पुण्या तादृशे पुण्यकर्मणि ।
त्यक्ता दत्तेन तूष्णीकं मोहान्मातामहाःपरे ॥ ८६ ॥
सपत्नीका हि पितरस्त्रयस्ते देवताः पराः ।
त्यक्तः स्विष्पेष्टदेवो(स्व-इष्ट)यः सोऽयमत्यन्तपापकृत् ॥८७॥
कृतं दत्तं वस्तुतस्तु सूतकान्ते विलक्षणम् ।
एकोद्दिष्टात्परतस्त्यक्त(?) स्वीकृतगोत्रिणः ॥ ८८ ॥
नरसिंहाकृतेरस्य संयोगं वस्तुभिश्चरेत् ।
रुद्रैरपि तथाऽऽदित्यैः प्रीतत्वस्य(?)दियुक्तयोः ॥ ८९ ॥
तद्गोत्रशर्मभिस्तातपितामहमुखैः सह ।
वस्वादिरूपैः क्रमतः इत्येवं न कथञ्चन ॥ ९० ॥
कुत एवमिति प्रोक्ते दत्तोऽयं मिश्रगोत्र्यपि ।
पालकस्यततादानां तादृशस्यास्य(?) केवलम् ॥ ९१ ॥
सांकर्यशून्यशुद्धैकगोत्रत्रा(णा)मत्र गोत्रिणः ।
पिण्डैः संयोजनमत्र विधिरोधेन न शक्यते ॥ ९२ ॥
रसत्वमपि शुद्धत्वं भीवत्वं (?) च तत्त्वकम् ।
तथा पितामहत्वञ्च प्रपितामह्य(हत्व) मेव च ॥ ९३ ॥

तद्गोत्रिवीर्ये(र्य?)जेष्वेव स्युर्नान्यत्र कथञ्चन ।
कयोत्पत्ति निदान(श्च)ज(य)द्बीजं रस इतिस्मृतः ॥९४॥
तस्याऽपि यन्निदानं तच्छुष्मे शब्देन शबद्यते ।
तस्याऽपि यत्कारणं हि जीरशब्देन शब्द्यते(भण्यते) ॥९५॥
तथेति पु(न)रन्येऽपि ततः शब्दादिकाः शिवः ।
तत्तद्गोत्रजपिण्डेषु भवेयुर्मुख्यधर्मतः ॥ ९६ ॥
मध्यप्रविष्टगोत्रस्य तत्त्वं तत्साम्यमेव च ।
सर्वथा दुर्लभं प्राहुस्तदसाधारणा गुणाः ॥ ९७ ॥
तस्मादेनत्तादृशेषु योजयेन्न तु धर्मतः ।
तातादयस्तु गुणिनः वसुत्वादिकमुच्यते ॥ ९८ ॥
गुणा इत्येव तेषां तद्विधानं मन्त्रवर्त्मना ।
सुखायाश्रयभूतानां तद्विधानां प्रशास्यते ।
गुण्यरण्य (?) भावे तस्य विधानं शास्त्रवर्त्मना ।
गुणस्य तत्कम (कथं) मंत्रतस्त्वसमञ्जसम् ॥ ९९ ॥
सपिण्डीकरणाभावे प्रेतत्वं न निवर्त्तते ।
तस्मात्तदापो जपित्वा वस्वादित्येन मंत्रवै(त्रेण वै)॥१००॥
तत एकं समुद्दिश्य चैकोद्दिष्टे विधानतः ।
प्रतिसम्वत्सरं श्राद्धं कुर्यादिति मनोर्मतम् ॥१०१॥
अन्यगोत्रप्रविष्टस्य सूनुश्चेद्य(त्प्र)कृतिंगतः ।
मृतं स्वपितरं तस्य गोत्रेणैव क्रिया परा ॥१०२॥
कुर्य्यादेव त्रिराचे(त्रे)ण मातुश्चापि तुरीयके ।
दिने सपिंडीकरणं सूच(त)कं च तथैव वै ॥१०३॥

समनुष्ठयेमेवेति सर्वशास्त्रविनिश्चयः।
मातुलादिसमस्तातः भिन्नगोत्रः(र)तथा प्रसूः ॥१०४॥
आदिकेऽपि तयोरेकं पिंडं दद्यादिति श्रुतिः।
केचित्तत्र पुनः प्राहुःपितरं तादृशं मृतम् ॥१०५॥
तादृशस्तनयः पूर्वैस्तत्तातादिभिरेव वै।
तद्गोत्रैर्योजयेन्मंत्रैरन्यथाऽस्य गतिर्भवेत् ॥ १०६ ॥
इति(शास्त्रं)समाचोऽन्य(लोच्य)प्रत्यब्दम्मयि केवलम्।
या वर्णेन विधानेन कुर्य्यादित्येव चाऽब्रवीत् ॥१०७॥
नमत्याश्च(?) तथा कुर्य्यात् सूतकञ्चेत् त्रिरात्रकम्।
यतो भिन्नं तस्य गोत्रं गोत्रिणामेव केवलम् ॥१०८॥
दशरात्रं सपिण्डानां जातकं मृतकं स्मृतम्।
तद्भिन्नानां तु बन्धूनां प्रत्यासति प्रभेदतः ॥१०९॥
त्रिरात्रं दक्षिणि(?)चाहर्दिनंश्च(?) विधिनोदितम्।
भिन्नगोत्रस्य पुत्रस्य तमल्पास्तत्सुतस्य च ॥११०॥
जातके मरणे चापि सूतकं पूर्व्ववत्स्तृ(स्मृ?)तम्।
तत्पित्रोरपि तस्यैवं मर्य्यादा वै विलक्षणा ॥१११॥
आत्रिपूर्वं ततस्त्वेवं तत्कुले हैन्यता परा।
निखिला समता भागान्यून्यताज्ञाभिस्तथा(?) ॥११२॥
भवन्त्येवेति सर्वत्र निर्विवादो महानयम्।
जनप्रवादः परमः सर्वशास्त्रविनिश्रितः ॥११३॥
ताततत्तातततातानां यावदेकं भवेत्तु तत्।
गोत्रं पुराणं श्रुत्युक्तं ततस्तं निहितं जड़म् ॥११४॥

निकृष्टं नैच्यमन्यं गाम्या(?)तन्महत्त्व बहिष्कृतम् ।
ज्ञातिमात्रप्रग्रहणं गोप्यं वैदिककर्मणाम् ॥११५॥
वैदिकानामयोगःस्यादस्वीकार्यं विपश्चिताम् ।
तातत्तातताताना क्रमोक्तिःस्याद्यदा तदा ॥११६॥
तत्कुलं सत्कुलैस्साम्यं लभते नाऽत्र संशयः ।
पदव्यत्या पुनरपि दत्तसूनोः मृतौपितु(?) ॥११७॥
भिन्नगोत्रस्य कथिता तातास्तु कुलजैस्त्रिभिः ।
योजयेदेव विधिना बाधकं तत्र नैव वै ॥११८॥
एकोद्दिष्टं तस्य सूनोः(र)त्यक्त्वा वा(ता)तं ततःपरं ।
पितामहादीनां सम्यग्योजयेदेव नान्यथा ॥११९॥
यतो पितामहत्यागः पतित्त्रिश्रततः(?)पुनः ।
ते तत्तद्वंशमात्रस्य निदानैच्येन्न (तु?) कीर्त्तिते ॥१२०॥
यावत्प्रकृतिसंप्राप्तिपर्यन्तं धर्म्मतःस्मृतम् ।
एकस्मिन्नेव गोत्रे तु प्रवेशो यदि जायते ॥१२१॥
तत्संततौ ततो घोरं सकटं सुमहत्खलु ।
जायते तत्तादृशंतु(?) तुच्छकर्म न चाऽऽचरेत् ॥१२२॥
एतद्धि तत्तुच्छकर्म प्रविष्टस्याऽस्य संततौ ।
सांकर्यं प्रथमस्याऽभूतत्तत्सुतस्य ततः परम् ॥१२३॥
गतस्य प्रकृतिं चापि सपिंडीकरणात्परम् ।
या गोत्रवति पित्रादेः तत्सुतप्रभृतित्रिगोः ॥१२४॥
व्यत्यासाद्वातञ्जलो(?)यो जायते स्वयमेव वै ।
तद्वंशानां तेन नैच्यमन्यं ग्रहेननि सूरिभिः(?) ॥१२५॥

उपन्यस्तानि तावत्तु यावत्स्यात्प्रकृतेःपुनः ।
संभवस्तेन गोत्रेण कुर्यात्पुत्रस्य संग्रहः ॥१२६॥
शस्येग निहतस्यैवं चतुर्दश्यां पितुः श्रुतम् ।
दक्षे महालयाख्येऽस्मिन् एकोद्दिष्टाख्यवर्त्मना ॥१२७॥
सर्वेषामविशेषेण एकोद्दिष्टविधानतः ।
श्राद्धानि निखिलान्याहुः सपिण्डीकरणं विधि(:?) ॥१२८॥
परं सपिण्डीकरणात्सोदकुम्भानि कृत्स्नशः ।
पार्वणेन विधानेन मासिकानि चरेत्परम् ॥१२९॥
संवत्सरविमोकाख्यं संततेच्छेति(?) तत्क्रमः ।
अपुत्रस्य पितृव्यस्य भ्रातुश्चैवाऽग्रजन्मनः ॥१३०॥
मातामहस्य तत्पत्न्याःश्राद्धं पितृवदाचरेत् ।
पितृवत्करणं ह्येतत्प्रति संवत्सरं ततः ॥१३१॥
अत्यंतावश्यकत्वेन कारणं ह्येतदुच्यते ।
नौपासनाग्नौ तत्कुर्यादग्नौकरणमञ्जसा ॥१३२॥
तत्पित्रोरेव पत्न्याश्चतन्मातामहयोरपि ।
अग्नौकरणमित्याहुर्द्धर्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ॥१३३॥
नियामकं किमत्रेति प्रश्नाकांक्षा भवेद्यदि ।
समाधानं वक्ष्यतेऽस्यास्तद्रहस्यं श्रुतीरितम् ॥१३४॥
नित्यनैमित्तिकेष्वेषु काम्येषु सकलेष्वपि ।
ए(?)षां वा देवतात्वंस्यात्तेषामौपासनोनत्वः(नेन च)॥१३५
अग्नौकरणकार्यात्तु भ(भवतीति)तीतनः(त) पुनः(?) ।
तर्हि पत्न्याः कथंचेति प्रश्नाकांक्षा पुनर्भवेत् ॥१३६॥

इदं तस्योत्तरं ज्ञेयं यतोमूलो (?) निलस्यतु ।
तस्मात्तस्यास्सदा श्राद्धे वान्हैशाया(?)सनेखिलैः ॥१३७॥
ग्राह्यतेति धर्मज्ञः निश्चितो ब्रह्मसन्निधौ ।
आत्मादाराः वह्निमूलं तस्यास्तु मरणे पुनः ॥१३८॥
तर्हि पत्न्याः कथञ्चेति(?) प्रश्नाकांक्षा भवेत्(पुनः?) ।
इदंवस्यात्तरा रत्नादहोरात्रा नसनंवह्निदानंच शाश्वते(?)१३९
भार्यायैपूर्वमालिरायै दत्त्वाग्निस्वधर्मवर्त्मना(?) ।
आवधीते पुनर्वह्नीन् दारां श्रै(श्च?) वाविलम्बयन्(?) ।
पुनर्विवाहशक्तौ तु निर्मध्ये नैवतो दहेत् ॥१४०॥
तेषुवह्निषु(?)तत्पश्चात्कुर्वन्नित्यं क्रियापरम् ।
दर्शादिकाः यश्चका श्चिदत्यन्तावश्यकाः पराः(?) ॥१४१॥
सर्वखल्यादिका श्चादि तथा ग्रहण पूर्वकाः(?) ।
प्रकुर्यादेव विधिना शुचिर्धर्म(?)यतोन्वहं ॥१४२॥
यद्वा तस्यै प्रदद्यात्तु वह्निमर्थं तथा ततः ।
भ्रात्रे भगिन्यै पुत्राय स्वामिने मातुलाय च ॥
मित्राय गुरवे श्राद्धमेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ।
प्रतिसंवत्सरश्राद्धे प्राहुर्दिव्या महर्षयः ॥१४३॥
श्राद्धानां (?) वकुतिद्दशीषद्देवत्यत्र तत्तथा ।
पितरोऽस्य सपत्नीकाः तथा मातामहा अपि ॥१४४॥
देवताः कथितास्सद्भिः प्रतिसंकलपरा(ना)ख्यकम् ।
त्रिवेदतात्तं(त्रिदेवतात्त्वं)सततं विशेषोऽत्र पुनः स्मृतः॥१४५॥

भ्रात्रे भगिन्यै पुत्राय स्वामिने मातुलाय च।
मित्राय गुरवे श्राद्धमेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥१४६॥
प्रतिसंवत्सरं श्राद्धेऽप्येषां नित्यं श्रुतीरितम्।
तानि त्रिदेवताकानि सपिण्डीकरणात्परम् ॥१४७॥
सादकुम्भादिकाव्येवं प्रत्यब्दा(?)न्तानि कानिचित्।
शब्दैवत्यानि वित्याणि दशान(?)दीदिस्मृतान्यपि ॥१४८॥
नवदैवतकान्येवं व्यष्टकादीनि केवलम्।
तथैव नान्दी परमा नवदैवतकाः स्मृताः ॥१४९॥
एतेभ्योऽप्यधिकं प्रोक्तं जीवच्छ्राद्धमतीव वै।
विचित्रमेवं कथितं बहुदैवत्यमुच्यते ॥१५०॥
तत्तुरीय्याख्यमादेशकाले कार्यं(ले?) विपश्चिता।
नान्यकाले प्रकर्त्तव्यमित्युवाच बृहस्पतिः ॥१५१॥
आगत्य न्यासकल्पे तु नैतदावश्यकं मतम्।
श्राद्धानि दर्शादीनि स्युः स्सहिद्धानिति सूरिभिः(?) ॥१५२॥
कथितानि महाभागैः कानिचित्तु तदैव वै।
अपिण्डकामि श्राद्धानि संक्रमादीनि केवलम् ॥१५३॥
अष्टोत्तरशतानि स्युः श्राद्धान्यैतानि संततम्।
कर्त्तव्यत्वेन ख्यातानि सर्वशास्त्रेषु वर्त्मनः ॥१५४॥
तत्र द्वादशसंख्यानि मासि श्राद्धान्नसंततम्।
मासि मासि यथाकामं तत्तत्कालेषु तानि वै ॥१५५॥
कृष्णपक्षे विशेषेण विहितानि समासतः।
अमामज्ञु (नु?) युगक्रान्तव्यतीपातमहालयाः ॥१५६॥

तिस्रोष्टकागजच्छाया स्पंरावत्यः(?)प्रकीर्त्तिताः ।
एतेषु नित्यादर्शास्ते मनवश्च युगादयः ॥१५७॥
महालया अष्टकाश्च तथा नैमित्तिकाः स्मृताः ।
संक्रांतिवैधृतयः निखिलाः पातसंज्ञि(ञ्ज्ञ?)काः ॥१५८
गमि(ज?)च्छाया च कथिताः तत्कथं चेत्तदुच्यते ।
क्षिप्तकाला गमाभावा निमित्तत्र(न्तदु?)मुदाहृतम् ॥१५९॥
क्रांत्वांदीनांत्तु(?)विज्ञेया दर्शादीनां तु नित्यदा ।
क्षिप्तकाला(?)गमेनैव सरण्यानान्यया मता ॥१६०॥
निश्शेषदेशलोकादिवर्णाश्रमनमात्रतः ।
आमतो यस्थ सततं क्लिप्त्या नित्यत्वमुच्यते ॥१६१॥
नास्तिताह शनित्यत्व(?)मन्यस्य हि न कस्यचित् ।
प्रत्यब्दादिस्तु विज्ञा(ज्ञे?)या अतो नैमित्तिकं हि तत् ॥१६२॥
अथाऽपि तस्याऽकरणेसद्यः(?) चंडालतां व्रजेत् ।
पित्रोखेन (?) चाप्यस्य तत्समस्तेन वै पुनः ॥१६३॥
प्रोक्तं मातामहश्राद्धे पितृव्यस्य तथैव वै ।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य तत्पत्न्याः गुरोरपि विशेषतः ॥१६४॥
येन केनाऽप्युपायेन पत्न्या अपि मृताहकम् ।
अनेनैव विधानेन कुर्यादेव न चाऽन्यथा ॥१६५॥
न हेन्मामेनवा मंत्रै अग्नौ (?) करणमात्रतः ।
पिण्डप्रदानतो वाऽपि कक्षदाहेन वा तथा ॥१६६॥
या वसेन कक्षा कंटक (?) फलेन तिलोदकैः ।
न प्रत्यब्दं चरेत्कुष्टा वयप्येहं न(?)संशयः ॥१६७॥

दर्शादिकं तु यच्छ्राद्धवृद्धिं तत्प्रतिवत्सरं।
येन केन विधानेन कुर्यादित्येव वै मनुः ॥१६८॥
शक्तौसत्यां विधानेन कुर्यादेव न संशयम्।
दर्शादि सर्वश्राद्धानि मुख्यान्नेन तु(?)सन्ततं ॥१६९॥
आमादिनानुकरणममुख्यमिति वै मनुः।
यदनुष्ठानं तत्सर्वानुष्ठानं जायतेतराम् ॥१७०॥
तादृशं परमं दिव्यं दर्शं कुर्यादतंद्रितः।
येनकेनाप्युपायेन प्रतिमासं विधानतः ॥१७१॥
पितॄणां तृप्तयेऽतीव द्विजो धर्मपरोऽनिशम्।
दर्शानुष्ठानमात्रेण सर्वश्राद्धानि केवलम् ॥१७२॥
कृतानि सम्भवं येन नात्र कार्या विचारणा।
दर्शानुष्ठानरहितः येनकेनाप्युपायतः ॥१७३॥
सर्वश्चाण्डालतां याति पितृश्राद्धनमस्तुतःद्धान्नवर्जितः।
आपद्यपि पितृश्राद्धमनेनैव समाचरेत् ॥१७४॥
न स्वर्णेन न चामेन(?)मंत्रश्रद्धादिभिर्विना(भि)स्तु वा।
विभवे सति दर्शाख्यं श्राद्धं मंत्रेन(?)तश्चरेत् ॥१७५॥
न चैवामेन हेम्ना वा मान्त्रैर्यवतिलादिभिः (?)।
रक्षोदाहाभिर्वान कृत्यैः पिण्डाग्नौकरणादिभिः ॥७६॥
उदकेनापि वा कुर्यादन्यथापतितोभवेत्।
महालयकरोविप्रः प्रतिसंवत्सरं तथा ॥१७७॥
पित्रोःप्रत्याद्धि(ह्नि)कश्राद्धं पितॄणां तत्प्रसादतः।
गयाश्राद्धफलं नित्यमवशाल्लभतेऽखिलम् ॥१७८॥

अष्टकारहितो मूढः पितृद्रोहीति कथ्यते ।
मासश्राद्धपरित्यागी सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥१७९॥
तदकृत्वा पितृश्राद्धं तद्विधानेन केवलम् ।
न कुर्यात्सर्वथा श्राद्धं प्रत्यब्दाख्यं कथंचन ॥१८०॥
पितृयज्ञविधानेन श्राद्धं पित्रोः समाचरेत् ।
एतद्धि न विधानेन तस्मिन् श्राद्धे तु(?)केवलम् ॥१८१॥
कतिचिच्छ्राद्धदिवसा(ना) नांतद्धविर्नतु(?)गच्छति ।
मासश्राद्धविधानेन कृतं श्राद्धन्तु केवलम् ॥१८२॥
पुरुषाणां देवतानां कृतं कर्मत्रयं भवेत् ।
स्त्री देवतानां न भवेत् तस्माच्छ्राद्धं तु तादृशम् ॥१८३॥
न म (कु) र्यात्तद्विधानेन बाधकं बहु तत्र हि ।
श्राद्धपाकं भिन्नगोत्रैः कारयेन्नतु सर्वथा ॥१८४॥
सुता ष्व(स्व)स्य पितृष्वस्य (स्वसृ) मुखादिभिः ।
गृहिण्या वा गतायान्तु कारयेदिति केचन ॥१८५॥
गुरुश्रोत्रियसद्विप्रबन्धुश्वश्रूजनादयः ।
स्युस्तास्वस्याप्यसामर्थ्ये पत्न्या इति महर्षयः ॥१८६॥
स्नुषायाकैकमधुराः(?) पितरस्संततं परम् ।
सुतादिपरिचारैकमावसाज्ञादि (?) पाकतः ॥१८७॥
प्राप्नुवंत्यनिशं हर्षं यजमानपरिश्रमात् ।
सुखितादुःखिताश्राद्धे(?)भविष्यंत्यपि केवलम् ॥१८८॥
ऋत्विवाभांदुश्रोत्रिये ज्यावाजकादिक संजना(?) ।
सपत्नी तु पिता सर्वे स्वयं चापि स प्रिये(?) ॥१८९॥

पितृप्रिये कर्मणि तु यजमान(?)सताधिका ।
कर्मयत्येव(?)कथिता स्वस्नुषा तत्समा मता ॥१६०॥
पितृस्नुषा सा स्वस्नुषा वा श्राद्धपाके महात्मभिः ।
अभिषिक्ताध्यायधर्ममंत्रतंत्रक्रियादिभिः ॥१६१॥
सामर्थ्येन तु या नारी पितृश्राद्धे ह्युपासि(ग)ते ।
पाकक्रियां न कुरुते जा(या)माता मोहमास्थिता ॥१६२॥
सा जन्मजन्मनि तरा(था)दुर्भगा पितृघातिनी ।
वन्ध्या दरिद्रा विधवा भवेदेव न संशयः ॥१६३॥
मृतानां स्नुषया पाकं यवा(दि)लोके नराधमाः ।
मोहान्नाकारयिष्यन्ति पितृघ्नाः किल वै सतः ॥१६४॥
सती श्वशुरयोःश्राद्धे कृततत्पाकजामिका(?) ।
सद्यो दौर्भाग्यमापन्ना जायते सूकरि(री)श्रु(पु)नः ॥१६५॥
यदावहसनेपत्नीस्थालीपाकादिकर्मसु ।
कर्त्रीति श्रुतिसिद्धा वै पित्र्ये पाके तदैव हि ॥१६६॥
भार्यायां विद्यमानायां तद्रजोदर्शनात्परं ॥१६७॥
तया न कुर्यात्पाकंचेत्पी(प्री)त्यर्थं प्रतिवत्सरम् ॥१६८॥
निराशाः पितरस्तस्य (अव)मान्यानिराश्रयाः ।
क्षुत्तृष्णासहिता नित्याः प्रततुल्या दिवानिशम् ॥१६९॥
वाष्पाविलाः प्राप्तदुःखा असंप्राप्तमनोरथाः ।
स्वपुत्रमपि तत्पत्नीं शपन्तश्च दिवानिशम् ॥२००॥
अटन्त्यत्रैव सततं नित्यं भोजनकांक्षिणः ।
रजोदर्शनतः पूर्वं तादृशं यदि ताः स्त्रियः ॥२०१॥

अपाकयोग्या अपि ताः तत्रत्यजनवाक्यतः ।
पितॄणां तृप्तयेऽतीव तद्भोजनरसातले (लये) ॥२०२॥
तद्वृच्युयार्ण पाककाष्टायाजादिरापनम् (?) ।
पयोदध्याज्यमधुरशर्कराफलभोजनम् ॥२०३॥
अपक्वचूर्णलवणभाजनासनसंचयः ।
समा स चर्निकरणप्रवर्त्तन कृतावपि (?) ॥२०४॥
अत्यंतासक्तनातीव (?) कार्याभवति केवलम् ।
न चेत्तं जन्मवैयर्थं प्राप्नोत्येवं न संशयः ॥२०५॥
स्नुषानामपि पुत्राणां पितृकार्यसमन्वयात् ।
तत्वं तत्कथितं सद्भिः न चेत्तत्वं न सिध्यति ॥२०६॥
पुत्राणां पितृकृत्येषु पृथिवीते तु इति मंत्रतः ।
तत्कृस्नद्रव्यताद्विप्रहस्तस्पर्शन (?) कर्मणः ॥२०७॥
कारमुपितृत्वतोतीव (?) पुत्रत्वं सिध्यति सा ।
श्रुतिःप्राह शिवा पुण्या दिव्या शातपथाह्वया ॥२०८॥
तस्मात्पुत्राः श्राद्धदिने पितृणामतितृप्तये ।
तुष्टये च स्वयं पत्ना (तस्मात्) त्सर्ववस्तु (सद्) नि भाजने ॥२०९
निक्षिप्तानि स्वमर्यादाजनेन तु ततः परम् ।
सम्यग्विलोक्य संप्रोक्ष्य गायत्र्या कूर्चवारिणा ॥२१०॥
विप्रहस्तेन मंत्रेण स्पर्शनं भावशुद्धितः ।
कारयित्वाऽतिप्रस्नेम पत्न्यर्पितजलेन च ॥२११॥
दानं कुर्यात्तदभस्य नो चेत्सर्वं तु निष्फलम् ।
न देवैखड्ग (ङ्ग) पात्रेण (?) प्रेलपर्पटकेन च ॥२१२॥

नैपालकं बलेनादि गव्यद्रव्येण वा पुनः ।
ते वै यवैः पुण्यकालैः पुण्यदेशैरशेषितैः ॥२१३॥
तीर्थैः पवित्रैः परमै वार्द्रा(र्ध्री)णसुमुखैरपि ।
उच्छिष्टेन च दिव्येन शिवनिर्माल्यतोपि वा ॥२१४॥
वमनेनातिसौलभ्यतृप्तिकारकवस्तुतः ।
राजतेन च पात्रेण महाभिश्रावणेन च ॥२१५॥
तृप्तिर्न जायते तेषां किंतु तमुत्रं(तत्पुत्र) हस्ततः ।
कृतेन तद्विप्रहस्तसंस्पृष्टन्यैक्षणपूर्वतः ॥२१६॥
तत्पत्न्यपि तकीत्पाला (तत्काला) दानतोत्यंततुष्टिदा ।
तृप्तिस्साकथिताऽतीव तस्माच्छ्राद्धे तु तत्करः ॥२१७॥
आढ्यो वापि दरिद्रोवा वस्तु संपादितं तु यत् ।
द(त)द्भार्यामुखतस्सर्वं सयी(मी)चीनं विधानतः ॥२१८॥
कारयित्वा स्वयञ्चापि कृत्वा शुद्धमनाश्शुचिः ।
भ्तन्नत्र सहस्तवस्त्रादि(?)मुखतः प्रोक्ष्य वस्तु यत् ॥२१९॥
प्रक्षाल्य प्रोक्षयित्वा च मंत्रामंत्रक्रियादिना ।
दद्यात् पितृभ्यानितरान्सुमुखस्य प्रहृष्टधीः ॥२२०॥
अतिपक्वमपर्वताक्षेमंदग्धं सकीलकम् ।
अदृष्टमस्पर्शयितं अप्रोक्षितमनादितम् ॥२२१॥
पितॄणां न भवेद्वस्तु तस्मात्तन्न तथाचरेत् ।
यद्वस्तु यजमानेन न दृष्टं प्रीस्थितं(?)न तु ॥२२२॥
तदस्पर्शोपितुं यद्वातत्प्रास्यायत्तुमोहतः(?) ।
भोक्ता चोरो भवेत्सद्यः तत्प्राशनमहांह (हैन) सः ॥२२३॥

तस्मिन्ताताहिता ये वा पितरः खलु तत्क्षणात् ।
यमेन छिन्नजिह्वाःस्युः तद्दोषस्य निवृत्तये ॥२२४॥
श्राद्धान्ते वामदेवाय महामंत्रजपः परं ।
ज्ञानज्ञानैकतादृक्ताादुत्पन्नाघस्य शान्तये ॥२२५॥
उपायःकल्पित.क्वापि वामदेवादिभिः पुरा ।
तस्मात्सम्यक्प्रवक्ष्यामि श्राद्धे कर्तृमतां पराम् ॥२२६॥
औपासनाग्नौपचनं प्रवरंचोत्तमोत्तमम् ।
न चेत्पाकादधो यत्तत्तदन्नं होमकर्मणा ॥२२७॥
समये वाप्यधिश्रित्य प्रोत्क्षाद्वास्याभिधार्य च ।
हुत्वाभिमृश्य तत्सर्वमन्नशाकफलादिकम् ॥२२८॥
प्रोक्ष्य मंत्रेण गायत्र्या व्याहृतीभिस्सतारकम् ।
स्वपत्नीकरनिर्मुक्तं तत्पात्रे स्वकराम्मृते ॥२२९॥
कारयित्वाथस्पर्शयित्वाथ(सर्वं) (?) मंत्र विधानतः ।
तत्पात्रधारणं कुर्यात्प्राचीनावीतिनाखिलम् ॥२३०॥
तदाज्यपात्रस्पर्शश्च कारयित्वापि सैन्धवं ।
वस्त्वन्तरेण संस्पृष्टं तद्विधाय च (?) ॥२३१॥
जलपूर्वं प्रदद्यात्तु पितृतीर्थेन तत्परम् ।
पृथक्प्रदानाभावेन ह्यग्नौकरणलोपतः ॥२३२॥
पिंडप्रदान एहीति पुनः श्राद्धं परेऽहनि ।
वमनेस्थाविप्रस्यतष्टातेलदर्भयोः (?) ॥२३३॥
उपहन्यादे(द्व)दक(के)न (?) पुनः श्राद्धं परेऽहनि ।
अन्नादिस्पर्शराहित्यात्कर्तृभोक्त्रोः परस्परम् ॥२३४॥

पृथिवीतेति मंत्रेण पुनः श्राद्धं परेऽहनि ।
यजमानाप्रोक्षणेन हविषामनवेक्षणात् ॥२३५॥
पाकात्परं तद्दिनेऽस्मिन्पुनः श्राद्धं परेऽहनि ।
पत्नीवचनसामर्थ्यो सति तस्य तु पैतृके ॥२३६॥
तूष्टि(ष्णी)करणवा(रा)हित्यात्पुनःश्राद्धं परेऽहनि ।
दध्नः फलानां तद्भुक्ता(?) पत्न्या अपरिवेषणात् ॥२३७॥
श्रमायनयनाकार्याद्विप्राणांतं पदे पदे ।
यजमानस्य भुक्त्यंते पूर्वं दद्य(ध्य)न्नभक्षणात् ॥२३८॥
तत्कांक्षितयश्चश्रून्यात् (?) तथातस्यासमर्पणात् ।
आदिमध्यावसानेषु स्वकीयजलपात्रतः ॥२४०॥
स्वपत्न्यानीतसद्धीत (?) पानीय प्रश्नकून्यतः ।
निरन्तरैक तद्दृष्ट्वा पुनः श्राद्धं परेऽहनि ॥२४१॥
आदिमध्यावसानेषु संप्रवीक्षणप्रश्नयोः ।
एहीत्याद्यजमानस्य पुनः श्राद्धं परेऽहनि ॥२४२॥
तद्बोक्ता दीयनाशेन (?) प्रापानाविसर्जनात् ।
ततःपिण्डंददद्वापि(?) पुनः श्राद्धं परेऽहनि ॥२४३॥
यस्मै कस्मै तद्दिवसे पृष्टानां तत्प्रदानतः ।
तच्छ्राद्धं सद्य एव स्यान्नष्टमेवं न संशयः ॥२४४॥
तद्दिनेतिप्रयत्नेन दोमयेनानुकेवलम् (?) ।
कृत्वानेहस्यनप्रश्नात (?) न कुर्यात्तदलंकृति ॥२४५॥
दम्पत्योस्तद्दिनेवा तत्रपाककृतामपि ।
मुखालंकरणं नैव प्रशस्तमतितद्विदः ॥२४६॥

विप्रोद्वासनतः पश्चादहालंकारणंतरं (?) ।
कर्त्तव्यत्वेन विहितं न चेच्छ्राद्धं निरर्थकम् ।।२४७।।
तन्त्रं श्राद्धदिने यत्नाद्देवतान्तरपूजनम् ।
न कुर्यादेव नितरां यदि कुर्यात्प्रमादतः ।।२४८।।
कुर्व्यंति विर(पितर)स्त्वेनं तस्मात्तं परिवर्जयेत् ।
दानाध्ययनदेवाश्च जपहोमव्रतादिकान् ।।२४६।।
न कुर्याच्छ्राद्धदिवसे प्राग्विप्राणां विसर्जनात् ।
संनिधाने देवविप्रयोः श्राद्धं विधिनाशुचिः ।।२५०।।
अक्रोधश्चात्वरोतीव पुनः स्नात्वा समाचरेत् ।
विश्वेदेवान्विधाश्राद्धे नान्यान्देवान्समर्च्चयेत् ।।२५१।।
सपिण्डीकरणे तस्मिन् विष्णुमन्त्रेति केन च ।
शिवं शैवाः समभ्यर्च्य केशवं वैष्णवा अपि ।।२५२।।
श्राद्धं कर्त्तव्यमेवेति कुर्वन्ति प्रददन्ति च ।
न तथा वैदिका कुर्युः किन्तु श्राद्धायरिं(?)पुनः ।।२५३।।
भिन्नपाकाद्देवपूजावैश्वदेवादिकं चरेत् ।
देवपूजादिकं यत्तु प्रदक्षिणविधानतः ।।२५४।।
यज्ञोपवीतिना कार्यं पुण्ड्रधारणपूर्वकम् ।
तत्पैतृकं कर्म यत्तदप्रदक्षिणपूर्वकम् ।।२५५।।
प्राचीनावीतिनाकार्यं नापुण्ड्ररहितेन वै ।
तदेतत्कर्मयुगलं परस्परविलक्षणम् ।।२५६।।
तेजस्तिमिरेत्मैततछेषेणैव (?) केवलम् ।
एतत्कर्मैककरणं पितृशेषेणतत्परम् ।।२५७।।

वैश्वदेवैककरणं देवपूजाकृतिश्च सा ।
द्वयमेतदनुष्ठानं न तु प्राणादिकं स्मृतम् ॥२५८॥
अयमेव महामार्गः श्राद्धीयेऽहनि संस्थिते ।
पितृपूजानन्तरंतन्निखिलं देवतार्च्चनम् ॥२५९॥
ब्रह्मयज्ञादिकं कुर्यादन्यथा तद्विनश्यति ।
देवतार्च्चननिर्माल्यं तच्छ्राद्धकरणे किल ॥२६०॥
बाधकानि बहून्येव सम्भवंत्यपि केवलम् ।
ग्रहदेवार्च्चने विष्णो नैवेद्यायान्नमुत्तमम् ॥२६१॥
सुखोष्णं कारयित्वैव पाकपात्रात्तदन्यके ।
कुर्यान्निवेदनमितितद्विधानं श्रुतीरितम् ॥२६२॥
पैतृके कर्मणि पुनः यावदुष्णसमन्वितं ।
चुल्युस्मस्थितपात्रस्यादन्नमुधृत्य (?) यत्नतः ॥२६३॥
दध्यादिना ततो भूयः तत्पिधायोष्णसंस्थिते ।
तदुद्धृतं विप्रपात्रे निक्षिप्यशनकैस्ततः ॥२६४॥
अत्युष्णं परमान्नं तद्भक्षाण्यपितथैव (?) च ।
अत्युष्णान्यपि शाकानि सूपादीनि च कृत्स्नशः ॥२६५॥
तेन मंत्रेण तत्प्रीत्यै पृथिवीत्यादिना तदा ।
दद्यादिति विधानं तत्पैतृकं तस्य चास्य च ॥२६६॥
धर्मभेदाद्विरुद्धं हि तच्छेषेण पुनः कथं ।
श्राद्धस्य कारणं युक्तं भवेदिति च पश्यतः ॥२६७॥
निवेदतात्परंछाध (?) तत्संकल्पादिकस्य तु ।
श्राद्धस्य दानपर्यन्तकालस्य घटिकाद्वयम् ॥२६८॥

अवशादेव भवति तन्निवेदितमोदनम् ।
ऊष्मादिरहितं पूर्वं सुखोष्णं तत्कथं पुनः ॥२६६॥
अत्यन्तोस्थासमायुक्तं(?) श्राद्धयोग्यं भविष्यति ।
कर्म यद्दे वपूजार्थंरव्यं एवं तद्धि(?)महात्मनि ॥२७०॥
दैनन्दिनं प्रकथितं श्राद्धं तत्प्रातिवत्सरम् ।
नैमित्तिकमिति प्रोक्तं तेनतद्बाध्यते परम् ॥२७१॥
वोधोनमास्यत्तत्त्वाय(?) सम्यगेवव ाम्यहम् ।
एतस्य करणात्पश्चात्तत्कार्यमत एव वै ॥२७२॥
एतच्छ्राद्धः प्रकथितः नान्य इत्येव सूरिभिः ।
तस्माच्छ्राद्धं तद्दिनैव अकृत्वैव कदाचन ॥२७३॥
कर्मान्यम्मोहतः कुर्यात्तद्धि सद्यः प्रणश्यति ।
यद्वै दिकोक्तं तत्कर्म ह्यग्निहोत्रं तथेष्टिकम् ॥२७४॥
दर्शश्च पौर्णमासश्च तथैवाग्रयणं पुनः ।
औपासनं च कृत्वैव तस्मिन्नग्नौ ततः परम् ॥२७५॥
कुर्यात्त्रत्याद्धिकर्माद्धं (?) इत्येव मनुशासनम् ।
वैदिका दुर्बलं कर्म दर्शादेःश्राद्धकर्म तत् ॥२७६॥
अपि स्मार्त्तं यथा भूयः तेन बाध्यतरां भवेत् ।
वैदिकानन्तरं कार्यःस्मार्त्तकर्मसुसन्ततं ॥२७७॥
सर्वेभ्यःस्मार्त्तकर्मभ्यः श्राद्धमेकंमहत्स्मृतं ।
न साद्या(सद्यः)स्मार्त्तकर्म किंतु वैदिक कर्म हि ॥२७८॥
प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वादग्निहोत्रसमं च तत् ।
औपासनं च कथितं तद्द्वयंतेन कृत्वैव(?) ॥२७९॥

विधिनायश्चात्तश्राद्धं (?) तत्परंचरेत्।
नान्यत्किमपि तत्कुर्यात्कर्मकात्रं(म्य)न्तु तद्दिने।
कर्मान्तरावशिष्टेन द्रव्येण न कदाचन ॥२८०॥

नैव कुर्यात् तथा श्राद्धं आपव्यापैतधेतरत (?)।
(न)येद्व्रतानि श्राद्धानि जातकादीनि कालतः ॥२८१॥
संप्राप्तान्यैकदा वापि शिष्टद्रव्येण तत्परम्।
न कुर्यादेव सहसा यदि कुर्याद्विनश्यत(ति) ॥२८२॥

कर्त्तव्यत्वेन संप्राप्तान्यपि कर्माणि यानि वै।
तानि सर्वाणि भिन्नानि प्राधान्येन पृथक् पृथक् ॥२८३॥
कुर्वीतैव प्रयत्नेन पूर्वशेषेण वस्तुना।
कुर्यात्तदुत्तरं कर्म नैवं चेति हि निर्णयः ॥२८४॥

पुराचोला आज्यशेषेण नमकालेन(?) कर्मणोः।
संप्राप्ते संत्तिकंत्योयं मौज्यी कृत्वाऽथतत्परम्(?) ॥२८५॥
परतन्तोस्तुवयसा कर्मभ्रष्टमभूत्परम्।
इति भूयश्चकाराधभक्त्योपनयनंकिल ॥२८६॥

तस्मात्कर्मावशिष्टेन येन केन च वस्तुना।
कर्म्मान्तरं न कुर्याद्धि कुर्याद्यदिनतत्कृतम् ॥२८७॥
भवत्येव न संदेह श्राद्धेत्रि प्राय केतुव(?)।
एक दैवत्यस्ताद्दक्कर्मणि (?) ॥२८८॥

द्वितीयवारनिक्षिप्तं तार्त्तीयोकेन वै सह।
न नप्यक्रमपदायैव प्राश्नीय्याद्वा(?)समुत्तमम् ॥२८९॥

यत्र यत्रैक देवत्यावृत्तिस्तत्र तथा भवेत् ।
प्रायाणिरय्येतथाचोदयदिनिप्येतथैव (?) वै ॥२६०॥

एकदैव सतो नूनमभवन्नान्यथम हि तत् ।
कर्मणः कस्यचित्तस्माच्छ्रिष्टद्रव्येण कर्मणः ॥२६१॥
अन्येषां करणंन्यायं न भवेदिति वै मनुः ।
कर्मभ्योनिखिलेभ्योवै सूर्यग्रहग्रहाधिकः ॥२६२॥

पैतृकं कर्म परममधिकंचोत्तमोत्तमम् ।
तादृशं तत् परं (कर्म) कर्मशेषैकवस्तुना ॥२६३॥
न्यायेन शक्यते कर्त्तुं कथंकाकेप्रिनेतरत्(?) ।
कर्मास्ते त्रिषु लोकेषु महद् ब्राह्मण्यमूलकम् ॥२६४॥
तस्यैवैवं महाघोरे संकटे समुपस्थिते ।
कथंतत्फुस्थिलोके (?) कलौतिवृति केवलम् ॥२६५॥
विप्रत्वं श्राद्धसंध्याभ्यां कलौ नान्येननिर्वृतिः ।
तस्मात्तु तद्द्वयं सम्यक् भक्त्यानुष्ठेयमेव वै ॥२६६॥
अंध पंगुजदद्भ्रात्राः (डश्चार्तो) क्लीबोमूको चिकित्सकः ।
उन्मत्तो बधिरः काणः वैश्यः क्षत्रिय एव च ॥२६७॥
भिन्नभिन्नोपनयनाः वैश्य क्षत्रिय एव च ।
त एते निखिला ज्ञेयाः विधर्माभिः(?)नयेज्जयः ॥२६८॥

दर्शनादिष्वयोगत्वमंधादीनां स्फुटन्तरम् ।
तेन तत्कर्म वैकल्यं जायते किल तेन वै ॥२६९॥
सर्वसाम्यं भवेन्नैव तेषांतस्मात्सहात्मभिः ॥३००॥

अंधाद्योविशेषेण भर्त्तव्यास्ते निरंशकाः ।
तेषामुपनये प्राप्ते वैलक्षण्यं महद्भवेत् ॥३०१॥
तदाभ्युदयकं सद्यः कर्त्तव्यत्वे न कीर्त्तितम् ।
न पूर्वेद्यु द्विशेषेणं ऋतवस्तूत्तरायणम् ॥३०२॥
कत्सस्तु (कुतुपस्तु) कालोविज्ञेयः नक्षत्रं पुण्यदैवतम् ।
स्नातं त्वलंकृतंकृत्वाचोपनेष्यति केवलम् ॥३०३॥
संकल्पश्च विधानेन वाचमय्य विधानतः ॥३०४॥
यज्ञोपवीतसूत्रेण कृत्वातमुपवीतिनम् ।
तथायोगंप्रकुर्याच्च सर्वतंत्रं विशेषवित् ॥३०५॥
भ्रातुस्तथापिमूकस्य स्वयं मंत्रक्रियाश्चरेत् ।
याज्ञिकं समिधं तूष्णीमाधाययतितत्करां(?) ॥३०६॥
तूष्णीमश्मा समास्थाप्य समंत्रामंत्रतो वा ।
सर्वं कुर्याद्विधाने (ग्नौ) न तदशक्यं यदेव हि ॥३०७॥
तंत्रमन्त्रे प्रकुर्वीत कृत्स्ने तद्वाचकादिके ।
सर्वस्मिन्नपि तत्कार्ये स्वयमेव क(य)दातदा ॥३०८॥
प्रभवेदिति तत्कर्त्ता मौंजीकृष्णाया(त)श्चरेत् ।
याज्ञिकं सामधंतूष्णं आधापयति तत्करां(?) ॥३०९॥
ज्वीकृष्णाजिनं तथा देवताभ्यः(?)प्रदानंच्चहस्तंग्रहण मेव च ।
शक्यं सर्वं प्रकुर्वीत यद्यत्साध्यं यथाविधि ।
स्वसाध्यं निखिलं कुर्यात् स्वतत्कार्यमशंकितः ॥३१०॥
यदशक्यं त्यजेदेव नात्रकार्या विचारणा ।
सुप्रजाइति मंत्रं च कर्णे कुर्याज्जपं तथा ॥३११॥

ब्रह्मचर्यमित्यादीनान्तुलोप एव परस्ततः ।
प्रतिप्रश्नप्रवचननिवृत्तिस्तदनंतरम् ॥३१२॥
मंत्रेष्यसाविवितिस्थाननामनिर्द्देशवर्जनं ।
प्रधानहोमं विधिना कुर्यादेवाखिलं क्रमात् ॥३१३॥
उरेद्देशत्यागमखिलं (?) स्वयमेव वदेदपि ।
अथ यश्चजपादीनामन्ते ब्रह्मणि संस्थिते ॥३१४॥
तूष्णीं कूर्चं ततो गृह्य स्वयं तस्मिन् सुखेन ये ।
उपविश्य विधानेन गायत्रीं वेदमातरम् ॥३१५॥
अभ्यर्चति क्रमेणैव व्याहृतीभिर्विधानतः ।
सम्यगुच्चारयेदुक्त्वा प्रयत्नेनाधिकेन वै ॥३१६॥
तदधीनं कारयीत चिरकालेन वायतनू (?) ।
उच्चप्रम(व)दनेनालं बधिरस्य विशेषतः ॥३१७॥
पंग्वंधयोर्जडभ्रांत्तक्लीवापाद्यैकरोगिणां ।
यथा योग्यं यथाशक्ति वाचयित्वैवतांमनून् ॥३१८॥
अपिसर्वान्मनूशाखमस्मृसद्विजावदून् (?) ।
उपस्थानञ्चाग्निकार्यमग्न्युपस्थानमेव च ॥३१९॥
व्रतप्रवचनंचापि सत्यां शक्तौ यथामति ।
यथायोग्यंतथैवस्यान्मातृभिक्षादिकं तथा ॥३२०॥
यस्य ते सनयर्चाथ (?) जलग्रहणमाचरेत् ।
यश्वाद्दिनत्रयान्ते(?) तु पालाशादिक माचरेत् ॥३२१॥
मूकमात्रास्यकोप्येको(?)विशेषोवक्ष्यतेऽधुना ।
प्रधानहोमादध(थ)चस्थालीपाकविधानतः ॥३२२॥

चरुं कृत्वाऽर्धसाविञ्या हुवेदेकाहुतिं तथा ।
स्वयंकृत्वाखिलं कृत्यं यद्यद्योग्यं यथा तथा ।।३२३।।
पश्चात्तद्दत्तकोस्मिन्नुपविष्टो (?) जनोऽथवा ।
दधिवृते वापिसाविञितांशलाकया(?) ।।३२४।।
लेखयित्वा च संपूज्य ध्यानावाहनकर्म च ।
धूपदीपौ विधायैवं नैवेद्यं चप्रदक्षिणम् ।।३२५।।
नमस्कारानूनीराजनोपचारानखिलपि(?) ।
स्वयंकृत्वा तेन चापि कारयित्वा च तत्परम् ।।३२६।।
तत्प्राशयेद्विधानेन तेनासौ कृतकृत्यताम् ।
प्रयातीति विधिप्राह ततौ नित्यसमौ पुनः ।।३२७।।
संध्यात्रयंचाभिनयक्रियया सर्वमाचरेत् ।
ब्रह्मवीजसमुत्पन्ना माहात्म्यादषपसं (?) परम् ।।३२८।।
अंतर्भावद्विजेष्वेव प्राप्नोति किल नान्यथा ।
न मंत्रैकस्य संस्कारो विद्यते सर्वथा ह्ययं ।।३२९।।
सर्वसाम्यन्नैव भजे न योग्यो हव्यकव्ययोः ।
यद्ययं तनयः पित्रोरेकरावभवेद्यदि(?) ।।३३०।।
पैतृके कर्मणि तथा प्रप्ता (?) संन्नस्तुवांधवः ।
तत्कर्तृत्वे यतःकश्चितन्मंत्रोच्चारकोभवेत् ।
तन्मंत्रकृत्प्रणत्वेवं दशाहं सूतकी भवेत् ।
तेनैव तत्क्रियाजालं निखिलं कारयेतथा ।।३३१।।
पुत्रान्तरस्ये सद्भावे मूकपंग्वादयस्तदा ।
निरंशालवकथिताः (?) तत्प्रजाश्चापितादृशम् ।।३३३।।

वैदिके का(लौ)किके कृत्ये न साम्यं स्यात्तु बंधुभिः ।
निखिलब्राह्मणैरन्यैः कृपया ते विमत्सरैः ॥३३४॥
पालनीया गोपनीया रक्षणीयाश्चसन्ततम् ।
स पंक्ति योग्य अस्पृश्याः द्विजानेतुं नृपैस्समाः ॥३३५॥
क्षत्रियश्चेत्समा वैश्याद्दूर(त)श्ने(श्चे)ज्जघन्यजैः ।
न विप्र पंङ्मा(ङ्क्तौ)राजन्यः सुस्थेयोभोजनादिषु ॥३३६॥
एवं राजन्य पंक्त्याञ्चेदूरुजोज्ञयउच्यते ।
उरव्यपंक्तौ शूद्रोपि नोपविश्यतमो भवेत् ॥३३७॥
राजन्यग्रहभुक्तौ तु ब्राह्मणस्य पृथक्स्मृता ।
पंक्तौसदा तथा वैश्य(?)ग्रहभुक्तौनृपस्य च ॥३३८॥
विप्रस्य वा पृथक् पंक्तिर्न समान्यत्रकुत्रचित्(?) ।
पार्श्वयोरभिमुख्ये वा पश्चाद्वा पंक्तिरुच्यते ॥३३९॥
सततं भिन्नजातीनां पश्चाच्छूद्रस्य नैकदा ।
समकालभुजः प्रोक्ता द्विजानां पंक्तिभेदतः ।
त्रयाणामप्येकदैवभोजनंविधिचोदितं ॥३४०॥
समानमु(भु)क्तिर्मर्यादात्तत्तज्जातिषु संततं ।
अंधपंगुजड़ोन्मत्तमूकादीनां तथैव वै ॥३४१॥
समा पंक्तिः कदाचिन्न कर्मन्यूना यतस्तु ते ।
भिन्नपंक्तौ भोजनीयाः समकालेपि सन्ततं ॥३४२॥
समानपंक्तौयदि ते भोजिताः प्रत्यवायिनः ।
भवंत्येवात्र संदेहा नैवेति ब्रह्मवादिनः ॥३४३॥

अथ पंगुजड़ोन्मत्तमूकादिसमभोजने ।
प्राजापत्यं प्रकथितं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः ॥३४४॥
अंधस्य मंत्रसामर्थ्यं यद्यप्यस्ति तथाऽप्यति ।
समीक्षणादि कृत्येषु यतो वैकल्यमेव तत् ॥३४५॥
स्पष्टं प्रत्यक्षमेतत्तु न सर्वैस्सद्विजैस्समः ।
पङ्गोर्गमनकृत्येषु वैदिकेषु निरंतरम् ॥३४६॥
वैकल्यं स्पष्टमेवैतत् तद्द्वारा तस्य केवलम् ।
ब्राह्मण्यपरिपूर्तिर्न जडोन्मत्तौ तथैव हि ॥३४७॥
मूकस्य मंत्रसामान्याभावादेव निरन्तरम् ।
ब्राह्मण्यलेशोऽपि कथं तस्य स्यादिति पश्यत ।
ब्रह्मवीर्यक्षेत्रमात्रसमुत्पत्तिमहत्त्वतः ।
पुनस्तन्मंत्रकार्यैश्च न भवेद्भिन्नजातिकः ॥३४८॥
दिव्यसम्पूर्णविप्रत्वमपि नास्ति ततःकिल ।
तत्तुर्यपंक्तेर्योगेन क्षत्रवैश्यसमो ह्यतः ॥३४९॥
क्षत्रादीनां विप्रसाम्यं कुतो नास्तीति चेदथ ।
प्रोच्यते कारणं तच्च तच्चोपनयनं महत् ॥३५०॥
ऋतुव्यत्यस्ततः पूर्वं व्यत्यासाद्वयसः परम् ।
दण्डभेदात् क्रियाभेदाद्विवाहादिविभेदतः ॥३५१॥
वेदाध्ययनभेदाश्च तथा भिक्षाप्रभेदतः ।
तस्यास्य च महत्प्रोक्तं तारतम्यं निरंतरम् ॥३५२॥
तेन सर्वेऽपि विप्रस्य प्राप्नुवन्ति कथं महत् ।
साम्यं तत्सर्ववंद्ये हि देवानामपिदुर्लभम् ॥३५३॥

ब्रह्माद्यैः प्रार्थनीयश्च बहुजन्मतपश्शतैः ।
संप्राप्तं श्रुतिभिर्गीतं सर्ववेदकृताश्रयाः ॥३५४॥
यद्वेदकृत्ययोग्यन्तत् ब्राह्मण्यं दिव्यमुच्यते ।
असावसाविति स्थाने प्रवरोक्ता महर्षयः ॥३५५॥
संबुध्य किल वक्तव्याः सर्वेष्वेवाविशेषतः ।
कृत्येषु वैदिकेष्वेषु दर्शादिष्वखिलेष्वपि ॥३५६॥
ते शुद्धगोत्रिणः स्युर्वै तदा वक्तुं समञ्जसम् ।
अध्वर्युणा तेन होत्रा शक्यंतेऽन्यस्य नैव हि ॥३५७॥
अन्यगोत्रप्रविष्टस्य सुतो यः पूर्वगोत्रयभूत् ।
परप्रदानपूर्वं वै ज्ञातीनामभ्यनुज्ञया ॥३५८॥
तत्पुत्रपौत्रपर्यन्तं तस्य तत्संततेरपि ।
पित्राद्युच्चारणे तस्मिन्पैतृके समुपस्थिते ॥३५९॥
क्रमान्न शक्यते यस्मात् त्यक्तपुत्रादिकं न्यसुः ।
दत्ततत्पुत्रतत्पुत्रतत्पुत्राणामतोऽखिलाः ॥३६०॥
वेदप्रोक्ताःक्रियास्सर्वा स्थानंकर्त्तुं समञ्जसम् ।
प्रवरोक्तयोग्यतायाः अभावान्न्यंगनैच्यके ॥३६१॥
तत्संततौ चतसृणां(त्रयाणां)स्यात्पूर्षाणां हैन्यमुत्तमम् ।
तच्च सम्यक् प्रवक्ष्यामि सुस्पष्टं शृणुताधुना ॥३६२॥
त्रिष्वेष्वाद्याःत्यक्तपिता पश्चात्त्यक्तपितामहः ।
प्रपितामहानसंत्यागी क्रमात्ते वर्णिताःकिल ॥३६३॥
तत्र यद्यपि दत्तस्तु शुद्धवत्प्रतिभाति हि ।
पित्रादित्यागशून्येन सर्वपित्र्येषु संततम् ॥३६४॥

अथापि नान्द्यां तस्यापि वैकल्यं जायते किल ।
प्रपितामहीपूर्वं वै वृद्धशब्देनसंयुतम् ॥३६५॥

समुच्चार्यास्तत्रदेवाः सप्तमस्त्वष्ट(षष्ठ)पंचमौ ।
त्रयस्त एते तद्वर्गयुगलं षट् किलाभवन् ॥३६६॥

मातामहाः सपत्नीकाः नान्दीयं नवदेवता ।
पितृवर्गं मातृवर्गं त्यजतेऽनेनशास्त्रतः ॥३६७॥

स्वमातामहवर्गस्य भिन्नगोत्रस्य सांप्रतम् ।
जन्ममात्रैकसंप्राप्तिमतस्त्यागः कथं भवेत् ॥३६८॥

तस्मै तद्द्वयंग्राह्यं मातामहकुलं वरम् ।
मोहात्तथा न कुर्वन्ति तेनैते त्वघभागिनः ॥३६९॥

अर्वात्येवावशात्तूष्णीं त्यक्तमातामहो यतः ।
पितरौ सुतदानस्य कालेशक्तौ स्वसंततेः ॥३७०॥

कर्तुं च्युतेः स्वभिन्नस्य तद्गोत्रस्य च केवलम् ।
च्युतीकरणकार्याय कथं शक्तौ भविष्यतः ॥३७१॥

मत्सुतागर्भसंभूतं शिशुमेनं तथाविधम् ।
अस्मद्गोत्रैककर्तव्यं निवृत्तीकरणाय वै ॥३७२॥

कौ युवामिति पृच्छन्ति दानकाले समागताः ।
तन्मातामहसंदोहाः पितृभ्यां किल यद्यपि ॥३७३॥

दत्तोऽपि तैर्नदत्तो हि तन्मातामहवृन्दकैः ।
तदा मातामहाभ्याञ्च त्यक्तोऽयमितिमंत्रतः ॥३७४॥

समुत्सृष्ट इतिप्रोक्ते बाधकं न तदा भवेत् ॥३७५॥

तस्माद्दत्तसुतो लोके भिन्नगोत्रेषु कर्मसु ।
विवाहादिषु तद्वेव द्रोहिणःस्युर्न संशयः ॥३७६॥
ये देवहेलनपराः संत्यक्तस्वीयदेवताः ।
स्वदेवतासकाशान्ते च्यवन्ते नात्र संशयः ॥३७७॥
तस्मात्परां गतिं दिव्यां प्राप्नुवंति न चैव हि ।
पापीयसो भविष्यंति भवेयुर्नरकालयाः ॥३७८॥
तद्दाने तु यथापित्रोः सम्मतिः परमा भवेत् ।
तन्मातामहयोस्तद्वत् सम्मतिश्चतदायदि ॥३७९॥
भवेद्दोषो नैव भवेदितिवेदानुशासनम् ।
यथा संत्यक्तपित्रादिः लोके भवति निन्दितः ॥३८०॥
त्यक्तमातामहश्चापि तथैवेति न संशयः ।
(तथैवस्यान्न संशय इतिपाठान्तरम्) ।
दद्यातां दम्पती पुत्रं गृह्णीयाताञ्च दम्पती ॥३८१॥
तयोरेवाधिकारोऽयं तद्दाने तत्प्रतिग्रहे ।
संप्रदाने तु पुत्रस्य तन्मातामहयोरपि ॥३८२॥
अभ्यनुज्ञां विशेषेण कांक्षणीया तथा पुनः ।
पश्चात्पितामहादीनां बन्धूनामविशेषतः ॥३८३॥
सतां गुरूणां महतां ज्ञातीनाञ्च सगोत्रिणाम् ।
तद्ग्रामवासिनां चापि वणिजामधिपस्य च ॥३८४॥
वृषलानामपि तथा तत्रत्यानांकृतात्मनाम् ।
सर्वेषामपि वर्णानां सम्मतया तत्समाचरेत् ॥३८५॥

परिग्रहं संप्रदानमन्यथानर्थ एव वै ।
भवेदेव शनैःकालात्तं गृह्णन्जनसन्निधौ ॥३८६॥
होमःसद्यः प्रकर्त्तव्यः व्याहृतीभिर्घृतेन वै ।
प्रभ्रंशाय पितुर्गोत्रात् स्वत्वसंपादनाय च ॥३८७॥
गोत्रप्रवेशसिद्ध्यर्थं प्रतिगृह्य च तं पुनः ।
कृत्वा होमं व्याहृतीनामाज्येनाष्टोत्तरं शतम् ॥३८८॥
धर्मायत्वेति मन्त्रेण संतत्यै कर्मणेति च ।
हरिद्राजलपानञ्च कुर्यादद्यैव तन्त्रतः ॥३८९॥
एवं कृते त्वन्यसुतः कर्मणे स्वस्थकालतः ।
योग्योऽयं प्रभवेत्पश्चात्तज्जातस्तु स्वकं सुतम् ॥३९०॥
तज्ज्ञातिप्रार्थनापूर्वं व्यूहयित्वाखिलानपि ।
नमो महद्भ्य मन्त्रेण नमस्कृत्वाखिलान्स्वकान् ॥३९१॥
दत्वा शतं सहस्रं वा परं प्राञ्जलिरास्थितः ।
वदेदेवं प्रपश्यन्तो परं संगृह्य मामकम् ॥३९२॥
तनयं मम ते यूयं कृपया स्वीयगोत्रके ।
मौञ्जीबन्धनकृत्याय स्वीकृत्यानतचेतसा ॥३९३॥
इति संप्रार्थ्य तेषां वै संनिधावेव केवलम् ।
प्रतिष्ठाप्य विधानेन कृत्वा कर्माणि शास्त्रतः ॥३९४॥
अभ्यञ्जनमुखादीनि मंगलार्थानि यानि वा ।
तानि सर्वाणि तत्पश्चात्तस्मिन्नग्नौ यथाविधि ॥३९५॥
हुवेत्तदाहुतिस्सर्वास्तद्गोत्रावेशकारकाः ।
कुलमन्यदाविशादस्मज्जमिमंकुमारंसहसे पिता-

महस्यामुष्यायणस्यगोत्रं प्राकृतं प्रापयाग्नेस्वाहा ।
कुलमन्यदाविशादस्मज्जमिमंकुमारमोजसे पिता-
महस्यामुष्यायणस्य गोत्रं प्राकृतं प्रापयाग्नेस्वाहा ॥
कुलमन्यदाविशादस्मज्जमिमं कुमारं बलायपिता-
महस्यामुष्यायणस्यगोत्रं प्राकृतंप्रापयाग्नेस्वाहा ।
कुलमन्यदाविशादस्मज्जमिमं कुमारं तेजसे पिता-
महस्यामुष्यायणस्य गोत्रं प्राकृतं प्रापयाग्ने स्वाहा ।
कुलमन्यदाविशादस्मज्जमिमं कुमारं वर्चसे पिता-
महस्यामुष्याणस्य गोत्रं प्राकृतं प्रापयाग्नेस्वाहा ।
कुलमन्यदाविशादस्मज्जमिमं कुमारं हरसे पिता-
महस्यामुष्यायणस्य गोत्रं प्राकृतं प्रापयाग्ने स्वाहा ।
कुलमन्यदाविशादस्मज्जमिमं कुमारं भ्राजसेपिता-
महस्यामुष्यायणस्य गोत्रं प्राकृतं प्रापयाग्ने स्वाहा ।
कुलमन्यदाविशादस्मज्जमिमं कुमारमिंद्रियाय पिता-
महस्यामुष्यायणस्य गोत्रं प्राकृतं प्रापयाग्नेस्वाहा ।
कुलमन्येति मन्त्रेण हुत्वैकादशसंख्यया ।
कृत्वा जपादि होमञ्च हरिद्रासलिलं ततः ॥३६६॥
पश्चात्तु मातृभिक्षार्थं प्रायश्चित्ताद्विधानतः ।
एवं कृते तस्य सूनोः मौञ्जी कर्मणि तत्परम् ॥३६७॥
पितामहस्य गोत्रेण संयुक्तो जातइत्यपि ।
सिद्धं भवति शास्त्रेण तत्प्रपौत्रस्य तत्परम् ॥३६८॥

यदि जातस्सुतः सोऽयं सम्यक्शुद्धो न संशयः ।
स योगकर्मणां योग्यस्तदाद्यत्वे हि तत्कुले ॥३९९॥
तद्योग्यता जायते च तावत् दत्तस्य संततिः ।
अयोग्यता कबलिता न्यंगनैच्यप्रपीडितः ॥४००॥
तद्दायाद्यंशसाम्यादि कुण्ठिता श्रीबहिष्कृतः ।
स्वजनैकप्रसादश्रीकामुकास्तज्जनाश्रिताः ॥४०१॥
कुर्वंती चातकी वृत्तिं प्रतिष्ठति हि भूतले ।
कर्मठत्वसजातित्वतत्समत्वादिसिद्धये ॥४०२॥
पित्रादीनां त्रयाणाञ्च क्रमोक्तेःसिद्धिरुत्तमा ।
यदा सञ्जायते सम्यक् प्रवरस्य च तत्कुले ॥४०३॥
तथैव साम्यसिद्धिःस्यात् अंशभाक्त्वञ्च जायते ।
ब्राह्मण्यञ्च समीचीनं तथा यागाधिकारिता ॥४०४॥
यथा पुत्रस्य तातस्य चोभयोर्भिन्नगोत्रता ।
तदेव त्रिदिनाशौचं संस्पष्टं मातुरेव च ॥४०५॥
गांधर्वादिविवाहैस्तैर्यदि माता विवाहिता ।
तदा पितुः स्यात्त्रिदिनं तन्मृतौ सूतकं मतम् ॥४०६॥
मातामहस्य गोत्रेण मातुः पिण्डोदकक्रियाः ।
कुर्वीत पुत्रिकापुत्र एवमाह प्रजापतिः ॥४०७॥
पितुश्चेत्सूतकं पूर्णं तथा मातामहस्य च ।
मातुलस्य च तत्पत्न्या यतस्तद्गोत्रयं स्मृतः ॥४०८॥
यत्र मातुर्विवाहे तु दानं जातन्तु(तत्स्मृतः)शास्त्रतः ।
तत्र सप्तपदाख्यं च कर्म संजायते स्वतः ॥४०९॥

स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहे सप्तमे पदे ।
लाजाहोमप्रधानाभ्यां प्रवेशो भर्तृगोत्रके ॥४१०॥
स्त्रीजाते सर्वकार्यैककर्तृत्वाभार ईरितः ।
नित्यं पराधीनता च न स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति ॥४११॥
बाल्ये पित्रोरधीना सा पत्युरेव तु यौवने ।
वार्धके तनयानाञ्च स्वातन्त्र्यं न कदाचन ॥४१२॥
कन्यादाता ब्रह्मलोकं पुत्रदो निरयं व्रजेत् ।
दाक्षिण्यमपि कारुण्यं कृपा यत्र प्रजायते ॥४१३॥
पितृबन्धुगुरूक्तिश्च तत्रापदि कुलस्य च ।
यदि स्यात् बहुपुत्रत्वं तदैकस्यैव केवलम् ॥४१४॥
स्वगोत्रिणे स्वान्यभ्रात्रे स्वकुलीनाय वै सते ।
नैच्यन्यङ्गैकरहितो लोभाशा परिवर्जितः ॥४१५॥
दीयमानस्य तस्यापि न्यंगनैच्ये यथातराम्(?) ।
न भवेतां तथालोच्य तस्य वृत्तिं तथादृढाम् ॥४१६॥
एवमेतादृशीं सम्यक् दृढयित्वेति लोकतः ।
राजतोऽपि विनिश्चित्य दानं कुर्यादिति श्रुतिः ॥४१७॥
एवं दत्तस्य पुत्रस्य काले बहुगते ततः ।
केषुचिच्छुभकृत्येषु मातामहविवादतः ॥४१८॥
शास्त्राणि भिन्नभिन्नानि बहूनि किल सन्ततम् ।
व्यक्तानि मतभेदेन तस्य मातामहद्वयम् ॥४१९॥
जनन्या जनकश्चेति जनको ग्राहकस्य च ।
त्रेधा विकल्पितो······बभूव किल केवलम् ॥४२०॥

विवादोऽयं परं त्वत्र तन्मात्रस्यैव जायते ।
न तस्य संततिः प्रोक्ता भिन्नगोत्रप्रदस्य चेत् ॥४२१॥
आत्रिपूर्षं तत्सुतस्य तेन साकं तु पैतृके ।
परं सपिण्डिमारभ्य कुमार्गः संभवेत्खलु ॥४२२॥
तेन तावत्तस्य कुले जातानामात्रिपूर्षतः ।
विप्रत्वहैन्यताज्ञाति भागसाम्यैक शून्यता ॥४२३॥
न्यङ्क्ता नैच्यतातीव तज्जनाश्रयता तथा ।
तद्बन्धुमित्रपुत्रादि जनचित्तानुवर्तिता ॥४२४॥
एता भवन्ति सततं तस्मात्पुत्रं पिताहृता ।
स्वल्पागतिं समीक्ष्यादौ न दद्याद्भिन्नगोत्रिणे ॥४२५॥
पश्चात्तु तावता गाढं बाधकं प्रभविष्यति ।
येन केनापि दुर्वारमाचतुष्टयपूरुषम् ॥४२६॥
सर्वदानानि सर्वैश्च कर्तव्यानि मनीषिभिः ।
शक्तौ सत्यां विशेषेण पुण्यकालेषु तेषु वै ॥४२७॥
वेदशास्त्रपुराणादि चोदितेषु युगादिषु ।
अर्धोदये महोदये चन्द्र सूर्योपरागके ॥४२८॥
धरादानं प्रशंसन्ति सर्वदानोत्तमोत्तमम् ।
धेनुदानं वाहदानं गजदानं तदा न सः ॥४२९॥
रथदानं वस्त्रदानं वार्षभं दानमेव च ।
शय्यादानन्तुलादानं कल्पवृक्षाख्यकं परम् ॥४३०॥
गोदानं रत्नदानञ्च पुष्पताम्बूलयोरपि ।
सुगंधं चन्दनमहो पवनोशीरसद्मनाम् ॥४३१॥

चूणकुङ्कुमतक्कोल महौषधजलौकसाम् ।
पद्मोत्पलरमाजाजिकह्लारहरिभूभुजाम् ॥४३२॥
गुड़ाज्यलवणक्षीरदधिकर्दमचूलिनाम् ।
हिरण्यरजतश्वेतकर्णिकाचटमालिनाम् ॥४३३॥
धनानामपि धान्यानां सप्तानां पंचकात्मनाम् ।
महाचन्दनकाष्ठानां कर्पूरैलामरीचिनाम् ॥४३४॥
दिव्यानां देवपुष्पाणां क्रमुकाणां विशेषतः ।
फलानामपि शाकानां भूषणानां विशेषतः ॥४३५॥
कम्बलानां च दिव्यानां द्विपटानां सुपक्षणाम् ।
उष्णीषोत्तरधार्याणां माध्यानां मुखवासनाम् ॥४३६॥
तिरस्करणिकानां च रज्जूनां दीर्घसूत्रिणाम् ।
शोभनोभयतो मुख्याः सवत्सायाः पृथकपुनः ॥४३७॥
गोसहस्रस्य चित्रस्य तिलपद्मस्य शूलिनः ।
शूलस्य दक्षिणामूर्त्तेरयसच्छागमेषयोः ॥४३८॥
हिरण्यगर्भसंज्ञस्य लांगलस्य कपालिनः ।
साशिश्राण(सलिंगस्य)महामूर्त्तें भस्मरुद्राक्षयोः पृथक्॥४३६
महालिङ्गस्य लिङ्गस्य बाणलिङ्गस्य कर्मणः ।
ताम्रसीसादिपात्राणां दासीदासादि देहिनाम् ॥४४०॥
पुनरन्यानि दानानि पात्रदत्तानि शास्त्रतः ।
कामनारहितानि स्युः ब्रह्मज्ञानाय केवलम् ॥४४१॥
पारमेश्वरतुल्यैकद्वारा नो चेत्तु वै पुनः ।
कृतानि कामतःसद्भिः तत्तत्कार्यकराण्यति ॥४४२॥

यद्यत्कामनया कर्म क्रियते तत्तु तत्पुनः।
सद्‍गमाच्छिद्रसगुणमलोभाशाठ्यसंयुतम् ॥४४३॥
मन्त्रतंत्रादिवैकल्यरहितं चेत्फलत्यदः।
यत्किंचिदङ्गलोपेऽपि काम्यं कर्म न सिध्यति ॥४४४॥
अप्यनेकाङ्गविकलं क्रियते पारमेश्वरम्।
तत्कर्म सफलं सद्यः भविष्यति न संशयः ॥४४५॥
तस्मात्सद्भिः सदा कार्यं कर्ममात्रं न संशयः(निरन्तरम्)।
परमेश्वरतुष्ट्यर्थं चित्तशुद्ध्यर्थमादृतः(मात्मनः) ॥४४६॥
स्वीयस्य दानं कुर्यात्तु नान्यदीयस्य वस्तुनः।
न्यायार्जितस्य द्रव्यस्य प्रदाने योग्यता भवेत् ॥४४७॥
अन्यायेनार्जितं द्रव्यं चौर्यव्यामोहनादिभिः।
संप्राप्तमागतश्चापि दानयोग्यानि चाचरेत् ॥४४८॥
कृतेन दानेन यथा परपीडा न जायते।
वृथा तथा प्रकुर्वीत दानं धर्माय तत्परः ॥४४९॥
परपीडाकरं दानं दातुस्तद्ग्राहकस्य च।
उभयोर्नरकायैव फलिष्यति न चान्यथा ॥४५०॥
दानेन यस्य कस्यापि यथा पीडा व्यथा तथा।
दुःखमादिश्च संमोहस्तथा कुर्यान्नचेद् वृथा ॥४५१॥
न सामान्यं धनं देयं अल्पं वा महदेव वा।
सामान्यवस्तुदानेन कलिं विंदति तत्क्षणात् ॥४५२॥
यत्संदिग्धं परास्वाद्यं संशयं वस्तु केवलम्।
अदेयमेव सततं यत्तद्धर्मैकभीरुणा ॥४५३॥

शुद्धं सत्वेन सुस्पष्टमनाकांक्ष्यं परैरपि।
यद्वस्तु दीयते तत्तु परलोकाय युज्यते ॥४५४॥
यद्वस्तु स्यात्परप्राप्यं कालेन शनकैस्तु तत्।
अदेयं सर्वथा प्रोक्तं चोरस्तद्ग्राहकश्च यः ॥४५५॥
क्रयश्चतादृशस्यैव वस्तुनः विधिचोदितः।
कर्त्तव्यत्वेन तद्भिन्नं वस्तुनो न कदाचन ॥४५६॥
राजतत्तुल्यतद्भृत्यतत्प्रेष्यपितृबन्धुभिः।
तत्समैर्बलवद्भिर्यद्दत्तं सिद्ध्यति संततम् ॥४५७॥
तद्भिन्नैर्दुर्बलैरन्यैः दत्तं यच्छास्त्रवर्त्मना।
विशुद्धागमनं प्राप्तं चेत्सिद्ध्यति न चेतरत् ॥४५८॥
यस्य प्रदानकर्तृत्वं शास्त्रागमसुनिश्चितम्।
तेनैव दत्तं सर्वत्र सिद्ध्यत्येव न चेतरत् ॥४५९॥
प्रतिग्रहेण लब्धाय भूमिग्रामोऽथ वर्णकः।
माद्याख्यस्सीमनामा वा विद्यासंभावनादितः ॥४६०॥
तेषां प्रतिग्राहयिता यजमानस्स एव हि।
कर्त्ता कारयिता चापि स्वामी गोप्ता प्रवर्त्ततः ॥४६१॥
स एव सर्वं कथितः निग्रहानुग्रहादिकृत्।
यदि तेन कृतास्तेषु वृत्तयो वर्णकादिषु ॥४६२॥
कालेन दत्तासद्यो वा ताः पुनःस्वेच्छयाऽथवा।
परप्रेरणया वापि स तासां पतिरेव हि ॥४६३॥
राज्ञा तथा कृताश्चेत्तु वृत्तयो द्विजहेतवे।
सामान्यतस्तदा कर्त्ता तत्र राजा प्रभुस्सदा ॥४६४॥

विशेषेण प्रदत्ताश्चेत्तत्तन्नाम्ना पृथक् पृथक् ।
अंशभेदेन तत्रापि तदा सर्वे तथा मताः ॥४६५॥
तावन्मात्रस्य कर्तारः मिलित्वा निखिला अपि ।
तस्मिन् ग्रामे तु कर्तारो निग्रहानुग्रहादिषु ॥४६६॥
तत्तत्स्ववृत्तिषु परं कर्तृत्वं पृथगुच्यते ।
स्ववृत्तिभिन्नवृत्तीनां न कर्त्तारस्तु ते स्मृताः ॥४६७॥
भूमेर्ग्रामादिरूपाया दत्तया स्वेन वान्यतः ।
प्रभुर्नराजा कथितः कर्त्तारोग्राहकाः स्मृताः ॥४६८॥
तेह्यावश्यकस्यकार्यस्यकर्त्तव्यत्वे ह्यवस्थिते ।
तदा राजैव तत्कार्यं कर्त्ता सम्यग्भवेद्ध्रुवम् ॥४६९॥
यतो हि जगतो राजा कर्त्ता दण्डयिता पिता ।
पालकश्च गुरुर्भीकृत् निग्रहानुग्रहैकभूः ॥४७०॥
एकद्वित्रिचतुर्वृत्तिमत्प्रभेदजनाश्रयः ।
ग्रामो यदि तदा तत्र तत्तन्मात्राधिकारिणः ॥४७१॥
नाधिकस्य तु कर्तारः भवेयुरिति शास्त्रहृत् ।
सामान्यबलवत्कार्ये कर्त्तव्यत्वेन चागते ॥४७२॥
सर्वे मिलित्वा कुर्वन्ति(र्वीरन्) एकबुद्ध्यैव नान्यथा ।
स स्वामिकग्राममध्ये बृहत्कार्ये निपातिते ॥४७३॥
स्वाम्युक्तवर्त्मना सर्वे तत्कार्यं साध्यमित्ययम् ।
पक्षस्तु सर्वशास्त्राणां तत्र चापि स एव हि ॥४७४॥
निर्वाहकः स्यादित्येव जाबालादिमतं परम् ।
अस्वामिकग्राममध्ये क्लृप्तद्विजनिरन्तरे ॥४७५॥

न भिन्नग्रामिणा कार्यः क्रीतवृत्ति परिग्रहः।
स्वीकाराक्त्रीतवृत्तेस्तु वृत्तिमद्भिर्विशेषतः।
तस्मिन्ग्रामे न चान्यैस्तु कृता यदि न सिद्ध्यति ॥४७६॥
ये प्रतिग्रहिणः पूर्वं साक्षात्कर्तृमुखात्परम्।
अत्युत्तमाः कर्त्तृतुल्याः तत्सकाशप्रतिग्रही ॥४७७॥
तत्तत्समो दुर्बलोऽयं यदि तेन समं कलौ।
विवदेत्कार्यकालेषु सत्कार्येऽसौ महात्मभिः ॥४७८॥
समानमपि वादं यः श्रुतं श्रुत्वा तु शक्तिमान्।
तन्निग्रहमकुर्वाणो दुर्गतिं प्रतिपद्यते ॥४७९॥
यदि स स्वामिको ग्रामस्तदा तन्मतपूर्वकम्।
दानमाधिं क्रयश्चापि कुर्वीतैव न चान्यथा ॥४८०॥
ग्रामःसस्वामिको यो वा तस्मिन्वै तदनुज्ञया।
क्रयादिदानकर्माणि कार्याणीति प्रचक्षते ॥४८१॥
पुत्रपौत्रज्ञातिबन्धुसामन्ताद्यभ्यनुज्ञया।
शुद्धचित्तेन यद्दत्तं तत्सिध्यति हि संततम् ॥४८२॥
अन्वये सति भूदानं सहसा वनमाचरेत्।
सर्वैरालोच्य सर्वेषां पर्याप्ता भूस्थिता यदि ॥४८३॥
स्वगोत्रिणां सपिण्डानां समालोच्यैव केवलम्।
वेदशास्त्रस्मृतिन्यायाविरोधेन ततः परम् ॥४८४॥
जनमत्या ज्ञातिमत्या बंधुमत्या सहादिषु।
सर्वेषां पश्यतामारात् न्यायाप्तधरणीं त्यजेत् ॥४४५॥
समीपज्ञातिदुष्टिश्चेद् भूदानाद्भिन्नगोत्रिणाम्।
शक्यते हि तदा कर्त्तुं तद्दानं तु न चेच्चरेत् ॥४८६॥

दौहित्रसाम्यमात्रा येविभक्ता ह्यनु तस्य कुम् ।
नेच्छेयुरेव धर्मेण तामिच्छन्तः पतन्त्यधः ॥४८७॥
विभागा ज्ञातयस्सर्वे भिन्नभिन्नाः स्मृताःपरम् ।
तत्तद्धनानां ते ते स्युःकर्तारश्चपृथगग्रहाः ॥४८८॥
अपुत्रस्य धनं ज्ञातेर्विभक्तस्याखिलं भवेत् ।
दौहित्रस्यैव धर्म्मेण न ज्ञातेस्तु कथंचन ॥४८९॥
ज्ञाती खलु सगोत्रस्य धनार्थं प्रेतकर्म यत् ।
तावन्मात्रं करोत्येव प्रत्यब्दश्च न चेतरत ॥४९०॥
दौहित्रश्चेद्धनाभावेऽप्यस्य सर्वेषु कर्मसु ।
पुत्रेण समतो नित्यं स्वविवाहानिलेऽद्भुते ॥४९१॥
असाधारणके मुख्येऽप्यग्नौकरणपूर्वकम् ।
सर्वश्राद्धानि नित्यानि करोत्येवाजुगुप्सितः ॥४९२॥
अमात्यो न तथा क्वापि किं करोति स्वगोत्रिणे ।
तस्मादभावे दौहित्रजनस्य किल तत्परम् ॥४९३॥
असुतस्य धनं तत्तु प्रत्यासन्नः सपिण्डकः ।
यो वा सतु गृह्णीयादिति वेदानुशासनम् ॥४९४॥
दौहित्राणामनेकेषां समवाये तदा किल ।
(श्राद्धानि नित्यानि करोत्ये वा जगुप्सितः) ।
यो वाऽत्यन्तं निर्धनः स्यात् सधर्मेण हरेद्धनम् ॥४९५॥
समवाये निर्धनानां सर्व एव यथांशतः ।
पुनश्च निर्धनेष्वेषु धनिनस्तस्यतन्मनः ॥४९६॥

यथा भवति (वदन्ति) तद्रीतिमनुसृत्य न चान्यथा ।
चरेयमिति सश्रीमान् कपिलो व्याजहार ह ॥४९७॥
दौहित्र एव सर्वेषां पुत्राणामुत्तमः स्मृतः ।
तत्समस्त्वौरसस्तज्जः सुतश्चापि तथाविधः ॥४९८॥
अपुत्रो बहुवृत्तिश्रीः विभक्तो ज्ञातिगोत्रिभिः ।
वृत्तिदानं प्रकुर्वाणो यथेच्छं कर्तुमर्हति ॥४९९॥
स्वग्रामज्ञातिसामन्तादायादानुमतेन वै ।
मेघपुष्पसुवर्णाभ्यां कार्यं भूदानमेककम् ॥५००॥
सर्वाण्यन्यानि दानानि शास्त्र स्वीयानि छंदतः ।
तुष्टये परमेशस्य कार्याण्येवान्वहं यथा ॥५०१॥
यथा वा कन्यकादाने गोत्रभिन्नमनन्तकम् ।
तथाच्युतपदप्राप्तिसाधनं कथितं तथा ॥५०२॥
स्वगोत्रम्मुख्यतो ज्ञेयं भूमिदानं पुरातनैः ।
कृतं कारयितश्चापि शास्त्रज्ञैरपि नैकधा ॥५०३॥
उक्तं प्रोक्तं प्रगीतं च सामादि त्रितयेन च ।
अभावे पुत्रयोर्वंशे भूमिदानं ततश्चरेत् ॥५०४॥
सति वंशे वृत्तिदानं क्रयो वा तस्य नाचरेत् ॥
जाता जनिष्यमाणाश्च गर्भस्थाश्चापि देहिनः ॥५०५॥
वृत्तिमेवाभिकांक्षन्ते तस्माद्वृत्तिं प्रपालयेत् ।
अन्वये सति पुत्रस्य पुत्रिकाया विशेषतः ॥५०६॥
वृत्तिरूहं भुवं मोहाद्दत्वा निरयभाग्भवेत् ।
विचक्षणो भूमिदाने शक्तस्तनयवर्जितः ॥५०७॥

सगोत्रेभ्यो विशेषेण दद्यात् भूमिं सदक्षिणाम् ।
भूमिदाने भ्रातृपुत्राः भ्रातरःपितरस्तथा ॥५०८॥
पितामहाः पितृव्याश्च प्रद्वेष्टारोऽपि पात्रताम् ।
प्रयान्ति च कृपादाज्जं प्रापकाः प्रभवन्त्यपि ॥५०९॥
तस्मात्संततिविच्छित्तौ भूमिदानं सगोत्रिषु ।
कुर्वीत धर्म्मतो गत्वा संप्रार्थ्यैनां दुरात्मनः ॥५१०॥
विशेषेण तु विद्वांसं त्यक्तवैरो हरिं स्मरन् ।
कुर्यादेव ततो याति तद्विष्णोःपरम पदम् ॥५११॥
निवारितो दानकाले न तद्दानं समाचरेत् ।
ज्ञातिपीड़ाकरं दानं महारौरवदायकम् ॥५१२॥
यज्ज्ञातिहृत्तुष्टिकरदानं शिवपदप्रदम् ।
विदुषो ज्ञातिबन्धून्वा स्वयमज्ञो बलापि वा ॥५१३॥
निगृह्य भूवृत्तिबन्धुदानं सद्गतिवारकम् ।
विभक्तेष्वपि विद्वत्सु भ्रातृतत्पुत्रकेष्वति ॥५१४॥
महत्सु सत्सु तिष्ठत्सु नरो नारीसमोऽपिवा ।
श्रोत्रियाश्रोत्रियौ मूढो विद्वान्वा वेदपारगः ॥५१५॥
यः कोऽपि भूमिदानं तत्तेभ्य एव समाचरेत् ।
सर्वो ज्ञातिजनो नित्यमसंततिधनार्थ्यति ॥५१६॥
तस्माद्रिक्थं भूमिरूपं ज्ञातये देयमेव हि ।
विभक्तरूपा विभवा मध्यप्राप्तसुवृत्तिका ॥५१७॥
बहुज्ञातिमती साध्वी मृयमाणापि सुव्रता ।
स्वलब्धभूमिं विनाज्ञातीनन्येभ्यो न निवेदयेत् ॥५१८॥

परं तद्विषये तूष्णीं कलहं नैव कारयेत् ।
विभक्ता विधवा साध्या दैवात्संप्राप्तसत्कुलाः ॥५१९॥
अवशादागतमहावृत्तिमत्यश्चतन्मुखात् ।
संप्राप्त्यैकमहागर्वाः कुमत्यो धर्मबुद्धितः ॥५२०॥
अधर्ममेव कुर्वन्त्यः स्वजनद्वेषतत्पराः ।
दानविक्रयकार्यैः क्रयोग्यता रहिता अपि ॥५२१॥
तत्कार्यकर्त्र्यो दुर्बोधमहिम्नायाः खलाश्रयाः ।
ता विलोक्य प्रयत्नेन धार्मिको नृपतिः स्वयम् ॥५२२॥
देशात्प्रवासयेत्सद्यः तत्प्रतिग्राहकानपि ।
विधवानामनाथानामज्ञातानां च केवलम् ॥५२३॥
पाकंकृतं तथा नाद्यात् सतीनामपि संततम् ।
रंडापाकं सदात्याज्यं प्रवदंतिमनीषिणः ॥५२४॥
रंडावहुविधाज्ञेयाः पाकायोग्याः सदा सताम् ।
अज्ञातानामका काचित् काचित्प्रज्ञातनामका ॥५२५॥
स्पृष्टास्पृष्टा नष्टसुता सत्पुत्रा चेति सूरिभिः ।
ता एता निखिला ख्याताः भूतानामधिकारकाः ॥५२६॥
पाकक्रिया दूरगाश्च भर्त्तव्यास्साधुवृत्तयः ।
या भर्तारं न जानाति साज्ञाता कथ्यते बुधैः ॥५२७॥
अत्यंतबाल्यसंप्राप्तवैधव्यात्यंतपापभूः ।
या विजानाति भर्तारं नान्यत्किमपि केवलम् ॥५२८॥
सा विज्ञातेति विख्याता विधवा सच्चरित्रका ।
रतिमात्रेण या भर्तुः वैधव्यं प्रतिपद्यते ॥५२९॥

सुखदोषनिमित्तेन स्पृष्टायाविधमुच्यते।
पश्चात्तु रजसो भर्त्तुः संगम्प्राप्य या वशात् ॥५३०॥
वैधव्यं समवाप्नोति सा स्पृष्टा विधवा परा।
नष्टप्रजा काचिदेवं विधवान्या मनीषिभिः ॥५३१॥
नष्टपुत्रेति सम्प्रोक्ता चायोग्या पाककर्मणि।
एवं सपुत्रिणी चापि स्वभर्त्तुर्मरणात्परम् ॥५३२॥
वैधव्यं समनुप्राप्ता सत्पुत्रविधवा स्मृता।
सपुत्रा विधवा या तु तया पाकः कृतस्तु यः ॥५३३॥
स स्वीकार्यो हि निखिलैः रण्डापाको न च स्मृतः।
सर्वा रण्डाःपाककृत्ये दूःषिता स्युर्मनीषिभिः ॥५३४॥
ताभिर्यदि कृताःपाकाः कर्मिणां ब्रह्मवादिनाम्।
त्रैवर्णिकानां गृहिणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ॥५३५॥
न भक्षणैकयोग्याः स्युर्नैवेद्याय च नाकिनाम्।
बलीनामपि होमानां नालमेवेति वेदहृत् ॥५३६॥
रण्डापाकेन यो मोहाद्देवतानां निवेदनम्।
होमं बलिं तथा भिक्षां कव्यं हव्यं न भोजनम् ॥५३७॥
ब्राह्मणानां स्वस्य चापि कुर्याद्वाकारयेदपि।
तत्सर्वं व्यर्थमेव स्याप्रत्युतप्रत्यवाय्यपि ॥५३८॥
भवत्येव विशेषेण तस्मात्तासां प्रमादतः।
त्यजेदेव विशेषेण पाकं कृत्स्नं विशेषतः ॥५३९॥
तत्कृतेन तु पाकेन यो मोहाज्ज्ञानवर्जितः।
श्राद्धं करोति पितरः तत्क्षणात्तस्य केवलम् ॥५४०॥

प्रपतन्त्यतिघोरेषु नरकेषु न संशयः।
रंडा वैदिककर्मा(?)णां सतां सुमहतामपि ॥५४१॥

सर्वथैवं न योग्यास्तास्तेषु कर्मसु तन्मुखम्।
कर्मादौ कर्ममध्ये वा सर्वथा नावलोकयेत् ॥५४२॥

अस्वातन्त्र्यं स्वतःस्त्रीणां सर्वशास्त्रैःप्रचोदितम्।
विधवानां विशेषेण रंडानामपि तत्र च ॥५४३॥

न कुत्रचित्सद्धर्मेषु यदि ताः पितृमातृतः।
भ्रातृतो भर्त्तृतो वापि भूमहद्भाग्यवत्तराः ॥५४४॥
तदा ताभिर्विशेषेण धनैस्वीयैः क्रमागतैः।
सतीपथैव संप्राप्तैर्यस्य कस्य च देहिनः ॥५४५॥

अपीडाजनकैरेव धर्मः कर्त्तुं हि शक्यते।
भूमिं वान्याखिलान्येव दानानि धनवाससाम् ॥५४६॥
भूषणानां च पात्राणां शय्याखट्वान्नसाधनाम्।
कुर्यादेवान्वहं भक्त्या दिव्यनामस्मृतिं पराम् ॥५४७॥

स्नानोपवासनियमगुरुशुश्रूषणादिकम्।
सद्गुरूक्तिवचः श्राव्यं पुराणश्रवणं तथा।
शक्तौ सत्यां तटाकादिप्रतिष्ठा सुरसद्मनाम् ॥५४८॥
वृक्षौघस्थापनं मार्गे तीर्थचर्यां तदा तदा।
कुर्यादेव स्वबन्धूक्तवचनान्महतामपि ॥५४९॥

भूमिन्नमखिलं दातुं तयैव किल शक्यते।
पितृतो यदि भूः प्राप्ता मातृतो भ्रातृतस्तथा ॥५५०॥

भर्त्तृतो वा तदा तां कुं स्वपश्चात्सा यथा पुनः ।
तत्तद्वर्गगता सम्यक् तथा यत्नेन भीतितः ॥५५१॥
कुर्यादेव न चेत्सेयं भूमिहर्त्र्यपि जायते ।
तीर्थकोटिसहस्रैस्तु व्रतकोटिशतैरपि ॥५५२॥
यज्ञकृच्छ्रसहस्रौघैः भूमिहन्त्री न शुद्ध्यति ।
न भूमिहरणात्पापमन्यत्किमपि न विद्यते ॥५५३॥
भूमिहर्त्रीं स्वयं राजा यत्नेन प्रविचार्य वै ।
सर्वस्वहरणं कृत्वा चोरदण्डेन दण्डयेत् ॥५५४॥
अपराधसहस्राणि कृतानि वनिताजनैः ।
क्षन्तव्यान्यखिलान्येव धरित्रीहरणं विना ॥५५५॥
कदाचिद्विधवासाध्वी सपुत्रा भर्त्तृभाग्यका ।
सोमपीथिन्यग्निचिच्च संजाता नष्टभर्त्तृका ॥५५६॥
बहुशिष्यधनाग्रामवती पतिमहत्ववतः ।
तादृशी कुलविच्छित्तौ कृत्स्नज्ञात्यौघबंधुभिः ॥५५७॥
संप्रार्थिता सर्वशिष्यैः पुनरन्यैर्महात्मभिः ।
वंशोद्धरणकार्याय महत्तत्सुकृताय च ॥५५८॥
सर्वज्ञातिमहाबन्धुजनमत्या सगोत्रिणम् ।
प्रत्यासन्नं सुतं कृत्वा स्वकुलं स्थापयेदिति ॥५५९॥
अतिगुह्यमिदं शास्त्रं प्रसिद्धं वेदशास्त्रयोः ।
कण्वकाश्यपकाणादकपिलैः समुदाहृतम् ॥५६०॥
तादृश्येव तथा कुर्यात् नान्याचारा तु लौकिका ।
या काचित्प्राकृतात्यल्पा तादृकृतत्करणे बहु ॥५६१॥

साधनं प्रवदाम्यद्य तदाद्यं तु महत्कुलम् ।
सुमहाधनसंपत्तिः सहस्राधिकगा परा ॥५६२॥
पश्चात्तु ग्रामरूपस्य भूमिभागस्य संस्थितिः ।
सुमहाशिष्यसंपत्तिः बन्धुसम्पत्तिरेव च ॥५६३॥
सर्वक्रतूनां सम्पत्तिः धर्मसम्पत्तिरीदृशी ।
सर्वेषामप्येकदैव सर्वमत्यैकसंपदा ।
संयुक्ताश्चेत्तथा कर्तुं तादृगग्निचितस्सतः ॥५६४॥
धर्मपत्न्याः संघटते न चेद्देवान्यदेहिनः ।
अयं हि तनयोद्धारः मथनान्मिथिलो यथा ॥५६५॥
पुराभवत्तथा चोक्तं आर्षः सर्वपुराणगः ।
उपमारहितः कोऽपि तादृश्यैव हि शक्यते ॥५६६॥
कर्तुं तथा तादृशेन चोपायेन च शक्यते ।
महद्भिस्तादृशैर्दिव्यैः पूर्वोक्तैरखिलैर्गुणैः ॥५६७॥
न चेदेकेन लोपेन सतीनामतिदुर्घटः ।
पुत्रोद्धार इति ज्ञेयः दरिद्राणां सुदूरतः ॥५६८॥
धनग्राममहाशिष्यबन्धुश्रीक्रतुशून्यतः ।
न शक्यते हि रंडायाः पुत्राद्यखिलसंपदः ॥५६९॥
रंडानां सततं धर्मः उदयात्परमेव वै ।
नित्यस्नानं वैद्यबंधुसंनिधावेव संततम् ॥५७०॥
निवासो गुह्यसंभाषा सच्छुश्रूषा सदाश्रयः ।
चतुर्थकालभुक्तिश्च दधिक्षीराज्यवर्जनम् ॥५७१॥

सुगन्धवस्त्रालंकारगीतादीनां विसर्जनम् ।
ताम्बूलाञ्जनपुष्पाणां सन्ततं दूरवर्जनम् ॥५७२॥
खट्वतल्पादिशयनं शरीरोद्वर्तनं स्रजम् ।
अथाऽञ्जनं चोष्णवारिस्नानमभ्यंजनं तथा ॥५७३॥
पुनरन्यानि सर्वाणि वस्तूनि न च कामयेत् ।
दुरालापं दुष्टचिंतां निग्रहानुग्रहार्थताम् ॥५७४॥
पुण्याधिकारकल्याणयज्ञकार्यादि कर्तृता ।
कुर्वती ताडनीया सा तत्स्वीयगुरुसज्जनैः ॥५७५॥
क्षारं च लवणं दिव्यं मधुरं सूपकंदरे ।
वर्जयित्वा विशेषेण तिक्तं कटुकमेव च ॥५७६॥
प्राशयेद्भोजयेन्नित्यं ग्रासार्धेनैव जीवनम् ।
आषष्टिवर्षपर्यंतमेवं कालं प्रयत्नतः ॥५७७॥
(विशेषानयनंकार्या पश्चात्कार्यानुगुण्यतः) ।
प्राणवृत्तिं प्रकुर्वीत वयसश्चरमे ततः ॥५७८॥
यथारुच्यशनं कुर्याद् गुरुवृत्तौ रता भवेत् ।
सा ज्ञातिगुरुबन्ध्वादिसच्चिन्ता निपुणा भवेत् ॥५७९॥
यदि गुर्वादिसच्चिन्ता रहितातीव केवलम् ।
याजमान्यं समाश्रित्य स्वीयान्भृत्यवराञ्जडान् ॥५८०॥
पितृभ्रात्रादिदुष्टौघान् परिवारान्विधाय च ।
व्याहादिकारिणीभूत्वा मदीयस्याखिलस्य वै ॥५८१॥
द्रव्यस्य भूमिमुख्यादेरहमेवाधिकारिणी ।
इत्येवं प्रवदन्ती वै बालरंडाधिका खला ॥५८२॥

दानादिव्यपदेशेन स्ववशस्थितमेदिनीम् ।
स्वजनैर्ग्राहयंत्येषा कुलघ्नी परिकीर्तिता ॥५८३॥

स्वभर्तृकुलसंजातविद्वज्जनविरोधिनी ।
तदीयवृत्तिभूभाग्य श्रीसंपद्विनिवारिणी ।
स्वभर्तृत्वैकसंबन्धमात्रेणैव पुरस्कृता ॥५८४॥

कुलप्रतिष्ठानाशाय पापैषात्र समागता ।
तामेनांधार्मिकोराजा धर्मान्न्यक्कृत्य सत्वरः ॥५८५॥

प्रवासयेच्छिक्षयेद्वा तद्वाक्यान्यन्यथा चरेत् ।
तदीयपरिवाराणां यथा शिक्षां समाचरेत् ॥५८६॥

तामुद्दिश्य च ये मूर्खा जीवंति वरसंज्ञिकाः ।
पुरुषःपशवास्तुच्छाः श्वाविदो वापि गर्दभाः ॥५८७॥

अज्ञाताख्यज्ञातिरंडाकृताभिस्तां(स्सां) मनीषिणः ।
एकोद्दिष्टे प्रशंसंति नवश्राद्धेषु षट्स्वपि ॥५८८॥

प्रज्ञाता रण्डयाचोन्नं (?) कृतं यत्तु विशेषतः ।
नम्र(व)श्राद्ध प्रशंसन्ति जीवश्राद्धे च सन्ततम् ॥५८९॥

श्मशानबलये चापि वेदिकाबलयेऽपि च ।
स्पृष्टास्पृष्टाख्यकाभ्यान्तु यद्वत्तं परिकल्पितम् ॥५९०॥

तद्योग्यं षोडशाख्यानां श्राद्धानां तद्गुणस्य च ।
वसुरुद्रगणद्वंद्वयोरप्येवंसुनिश्चितम् ॥५९१॥

अवशिष्टवृषोत्सर्गशास्त्रयोरपि तत्पुनः ।
एकोत्तराख्यश्राद्धस्य नष्टपुत्रा कृतं वरम् ॥५९२॥

जीवपुत्रा तु या नारी विधवेति न चोच्यते ।
पतिपुत्रविहीना या विधवेत्युच्यते बुधैः ॥५९३॥
पतेः सूनोर्विनाशेऽपि या नारी सोमपीथिनी ।
भर्त्राग्निचित्स्यात्पूर्वं वै तपस्विन्यपि केवलम् ॥५९४॥
महाकुलप्रविष्टा चेत् तादृशस्य तु पुत्रिका ।
अयाचकान्नदातीव विद्वज्जनमता सती ॥५९५॥
सा दंपती समा नित्यं सर्ववंद्या रमैव सा ।
तस्यास्स्यात्सर्ववेदोक्तं नित्यकर्मसु केवलम् ॥५९६॥
अधिकारस्तथा तस्मात्पुत्रस्यापि परिग्रहम् ।
प्रत्यासन्नं सपिण्डेषु विच्छित्तौ संततेस्तथा ॥५९७॥
विद्वद्बहुज्ञातिशिष्यबन्धूपकरणाय वै ।
प्रकर्तुं शक्यतेऽतीव तेषां प्रार्थनया परम् ॥५९८॥
याभिस्ताभिस्तद्भिन्नाभिः नारीभिः ब्रह्मचारिभिः ।
वर्णिभिर्गृहिभिर्वापि दूरपत्नीजनैरपि ॥५९९॥
पतिभिर्नष्टपत्नीकैः विधवाभेदबृन्दकैः ।
परिग्रहं तं पुत्राणां न कार्यं सर्वथैव तत् ॥६००॥
कृतो यदि तथा सूनू रंडागर्भसमुद्भवः ।
भवेदेव न संदेहः स इत्थं ब्रह्मवादिभिः ॥६०१॥
तत्प्रसूतिप्रजननयोग्यतापात्रयोरपि ।
पुत्रग्राहस्तदानीं च भविष्यति न चान्यथा ॥६०२॥
तत्प्रसूतिप्रजननयोग्यता ब्रह्मचारिणः ।
यतेर्वा व्रतिनोवापि विधवादेः कथं भवेत् ॥६०३॥

रंडाभिस्तादृशीभिस्तु कृतं पाकं विगर्हितम् ।
गृहीत्यजेद्विशेषेण दैवे पित्र्ये च कर्मणि ॥६०४
स्नुषा वा सोदरोवापि मातुलानी पितृष्वसा ।
मातृष्वसा ज्येष्ठपत्नी सोदरा वाथवा पुनः ॥६०५॥
पितृव्यपत्नीभगिनी तादृश्यो यदि संकटे ।
दैवपैतृककार्याय तासां पाकं न दुष्यति ॥६०६॥
निशाकृतो रंडपाकः न प्राश्यस्सर्वदाभवेत् ।
सर्वेषामपि वर्णानामाश्रमाणां विगर्हितः ॥६०७॥
पत्नीसहोदराश्वश्रूस्वसृमातृपृथग्भवाः ।
प्रजावती गुरुपत्नी पुरोहितसती यदि ॥६०८॥
श्यालकस्यसती दौहित्रस्यभार्या तथैव च ।
मातुलानी पितृव्यस्य पत्नी तस्यास्सहोदरी ॥६०९॥
मातुलस्यस्नुषा कन्या सपिण्डायाः समीपकाः ।
तादृश्यो यदि तासां च पाकं रात्रिकृतं तु यत् ॥६१०॥
भुक्त्वा तु संकटे विद्यात् मृत्युञ्जयमनुं शिवम् ।
अष्टोत्तरशतं जप्त्वा पुनः श्रीमान्भवेदयम् ॥६११॥
रंडा यदि स्नुषा तां वै श्वशुरोऽन्वहमेव वै ।
दानमानादिसत्कार्यैस्तन्मनः परितोषयन् ॥६१२॥
प्रपालयेत्तां यत्नेन स्वयं पत्नीप्रजायुतः ।
तत्पालनात्तत्प्रदानात्तन्मनस्तोषणादपि ॥६१३॥
जन्मजन्मसुदीर्घायुः प्रजावान् धनधान्यवान् ।
नित्यारोग्यो नित्यभव्यः नित्यश्रीमान्निराकुलः ॥६१४॥

भवत्येव न संदेहस्त तस्तत्तु तथाचरेत् ।
यः श्रीप्रजाधनपशुर्दीर्घायुर्भगवत्परः ॥६१५॥

स रण्डानां स्वकीयानां प्रपाल्यानां विशेषतः ।
तन्मनस्तोषणं कुर्यात्तद्याचितवसुप्रदः ॥६१६॥
भवेदेवान्वहं भित्वा मुक्तोऽयं तावता श्रिया ।
संवृद्धः प्रभवेदेव नात्रकार्याविचारणा ॥६१७॥

याः पाल्याःशास्त्रतो रंडाः विहितत्वेन चोदिताः ।
जामयस्ताः प्रकथिताः तद्दुःखाद्ग्रहिणोऽनिशम् ।
व्याधिदुःखंदरिद्रं च दौर्भाग्यमतिवर्धते ॥६१८॥

तादृङ्मातृस्वसृभ्रातृपत्नीपाकं कृतंक्षपा ।
प्राश्यंगत्यंतराभावात्तस्मिन्सत्यां न चाचरेत् ॥६१९॥
विश्वस्तया समासीनो वीतिहेतोर्महात्मभिः ।
श्मशानाग्निसमोज्ञेयो गृहिणो वैदिके जगुः ॥६२०॥

विश्वस्तया समासीत जलंभवनलेपने ।
पात्रपादक्षालनाय तण्डुलक्षालनाय वा ॥६२१॥

शाकवस्त्रक्षालनाय भवेद्वागोमयाम्भसे ।
तदानीतं जलं जातबालानां हायनान्तरे ॥६२२॥
यद्यु ष्णयित्वा स्नानाय कल्पयेयुस्तदान्यतु ।
बुद्धिरल्पा महामंदा तथायुश्च दिने दिने ॥६२३॥

भवेत्क्षीणंततस्तस्मात्तत्कर्म विनिवर्त्तयेत् ।
तदानीं तेन पयसा शुभकर्मसु मोहतः ॥६२४॥

नीराजनं प्रकुर्वन्ति ये वा ते दुःखभागिनः ।
कर्ता कारयिता तौ ते सर्वे स्युर्नात्र संशयः ॥६२५॥
तेषां तु सततं कर्म नित्यस्नानात्परं सदा ।
नामस्मृतिर्नित्यकर्मवृद्धब्राह्मणसेवनम् ॥६२६॥
देवगृहेरंगवल्ली करणं व्रतकर्मणाम् ।
अनुष्ठानं सतीवाक्यश्रवणं तत्समागमः ॥६२७॥
सत्यांशक्तौव्रीहि यवमाषमुद्गादिगोपनम् ॥६२८॥
(समीकरणमेतेषां पयोदध्याज्यादिरक्षणम्)
समीकरणमेतेषां वस्त्रकंचुकयानिनाम् ।
चूतसारंगचारुण्डशलाटूनां च खंडनम् ॥६२९॥
खंडितानां पुनस्तेषां लवणादिमुखैःपरैः ।
वस्तुभिर्योजनद्वारा तत्रक्षणमुखादिकम् ॥६३०॥
निखिलानामपक्वानां पैष्टा वहननादिकम् ।
चूर्णानामपि कल्कानां करणं कर्मकारकम् ॥६३१॥
पुनस्तेषु सदा प्रोक्तं चोष्यखाद्यादिवस्तुषु ।
भक्ष्यभोज्यादिषु तथा सर्ववस्तुषु संततम् ॥६३२॥
प्रावीण्यं प्रापणं नित्यं प्राकव्यं धर्म उच्यते ।
अतिरंडा महारंडा क्षुद्ररंडास्त्रिधापुनः ॥६३३॥
चोदिता यास्तु तासाञ्च स्वरूपं वर्ण्यतेऽधुना ।
अन्यगोत्रप्रदत्तस्य कलत्रं विधवा यदि ॥६३४॥
भवेत्तु शैशवेऽत्यंते सातिरंडा प्रकीर्तिता ।
दीर्घकालं तादृशेन भर्त्रास्थित्वा सुतं ततः ॥६३५॥

विश्वस्ता प्राप्य भवति महारंडेति साखिलैः ।
महद्भिः कथिता पापा निरीक्ष्या भद्रदूषिणी ॥६३६॥
सगोत्रदत्ततनयकलत्रं नष्टभर्तृकम् ।
असुतं पतिसंयोगरहितं स्यात्तदाख्यकम् ॥६३७॥
तिसृणामपि चैतासामन्वहं मनुरब्रवीत् ।
भक्षणे कवलानां वा स्वातन्त्र्यं नेति सर्वदा ॥६३८॥
नित्यास्वतंत्रं नारीणां विश्वस्तानां विशेषतः ।
तत्रापिबालरंडानामेवं सत्यत्र किं पुनः ॥६३६॥
स्थावरे क्रयदानादिकृत्येष्वासां तु दूरतः ।
अधिकारस्य(स्स)विज्ञेयः चोदितो निखिलागमैः ॥६४०॥
तस्मात्तु तत्कृतं राजा दानमादिं क्रयं तु वा ।
सर्वं मिथ्यापयित्वैव स्वस्थाने विनिवेशयेत् ॥६४१॥
रंडाकृतं भूमिदानं यत्तद्यज्ञोपवीतकम् ।
नीराजनं वेदमन्त्राशिषस्सिध्यन्ति भूतले ॥६४२॥
राजा प्रभुर्भूमिदाने तत्समस्सचिवादिकः ।
राजस्वीकृतभूभागो विप्रादिश्च भवेदपि ॥६४३॥
विशुद्धागमसंप्राप्त धरणीं सर्वजातयः ।
दानंकर्तुं शक्नुवन्ति विवादे रहिते यदि ॥६४४॥
विवादशून्यदत्ता या धरणीग्राहकस्य सा ।
सिद्ध्यत्यत्र पुनर्नोचेत् स्वीकृतापि न जीर्यते ॥६४५॥
दानादियोग्यतालब्धभूमिः पुंसो न च स्त्रियः ।
सर्वकृत्यस्य तंत्रस्य तस्यैव सततं भवेत् ॥६४६॥

भूस्त्री तस्याः प्रदानेऽस्याधिकारः पुंस उच्यते ।
न स्त्री स्त्रियं स्वयं दातुं कथं शक्नोति धर्मतः ॥६४७॥
पुंसश्चेद्वनितादानेऽधिकारो नित्य उच्यते ।
सर्वेषां सम्मतिश्चात्र मुख्यत्वेन निरूपितः ॥६४८॥
भर्तुः पुत्रस्यपौत्रस्य नप्तुः पित्रोर्मतेन चेत् ।
भूप्रदानेऽधिकारःस्यात् वनितायाश्च संततम् ॥६४६॥
इत्येवं धर्मतःप्रोचुः निर्विवादेन चेन्न तु ।
पुरुषस्यापि तद्दाने निर्विवादेऽधिकारिता ॥६५०॥
विवादेत्वधिकारित्वं न सिद्ध्यति कदाचन ॥६५१॥
(पित्रापुत्रेणयन्मुखैराप्तैः ब्रह्मचर्यात्परं परम्) ।
(ब्रह्मचर्यणधियानित्यं कृतान्यपिविवादेत्वधिका) ।
पित्रापुत्रेणभर्त्रा वा नप्त्रापौत्रेण वा सदा ॥६५२॥
स्त्रियस्सनाथाः कथिताः रंडाःस्युश्चेत्तुरोदिताः ।
अनाथा हि कथं तासां भुवोदानेऽधिकारिता ॥६५३॥
याजनेनाध्यापनेन प्रतिग्रहमुखेन च ।
विशुद्धागमसंप्राप्तभूवृत्तौ च सदा द्विजः ॥६५४॥
निवसन्नित्यकर्माणि कुर्वन्धर्मेण देवताः ।
संप्रीणयन्मुखैराप्तैः ब्रह्मचर्यात्परं परम् ॥६५५॥
ब्रह्मार्पणधिया नित्यं कृतान्यपि विभावयन् ।
पितॄणां तनयद्वारा तदृणं चर्तुसंगतः ॥६५६॥
अपाकुर्वन् शास्त्रमार्गात् कृतार्थः प्रभवेदपि ।
अश्रोत्रियो न म्रियेत नाहिताग्निरसोमपाः ॥६५७॥

अमंत्रदग्धो न भवेदमंत्रो न क्षणं भवेत् ।
अनाश्रमी क्षणं तिष्ठेत्पुत्रवांश्चेदनाश्रमी ॥६५८॥
न भवत्येव यदि सः श्रोत्रियोऽयं विचक्षणः ।
तथा.....तस्य सततं ब्रह्मवादित्वमेव वै ॥६५९॥
भवेन्नित्याहिताग्नित्वं विधुरत्वं च नैव हि ।
श्रोत्रियत्वात्पुत्रगतात्कृतकृत्यः पिता भवेत् ॥६६०॥
दशभार्योऽप्यपत्नीकस्त्वसौ तनयवर्जितः ।
तथाविधो दशसुतःस्वयमश्रोत्रियो यदि ॥६६१॥
भवेदजस्रःपत्नीकः श्रोत्रियश्चेदसौ ततः ।
नष्टभार्योऽपि न भवेदपत्नीकः कदाचन ॥६६२॥
तत्र चेत् ब्रह्ममेधाद्या याप्ययं तु विशेषतः ।
सपत्नीको ब्रह्मनिष्ठः सोमयाज्यपि चोदितः ॥६६३॥
पुत्रिणःश्रोत्रियस्यात्र नापत्नीकत्वमुच्यते ।
पत्नीवत्वं तु यज्ञस्य नेनेन्द्रस्यानुवाकतः ॥६६४॥
चोदितं श्रुतिवाक्येन तादृक्पत्नीत्वमस्य च ।
श्रोत्रियस्य सदास्त्वेव(?)विशेषेण पुनः किल ॥६६५॥
तद् ब्रह्ममेधाध्यायी चेदुपमारहितः परः ।
(संशयोवर्त्तते वृतं श्रोत्रियो तो मनीषिभिः) ॥६६६॥
(सपत्नीक इतिप्रोक्तः पुत्रवान् चेद्विशेषतः) ।
न पुत्रेण समोधर्मः न पुत्रेण सम क्रतुः ।
दर्शादिर्नाग्निहोत्रं च ज्योतिष्टोमादयः समाः ॥६६७॥

सर्वे सपुत्रतुलिताः जिताः पुत्रवताखिलाः।
भूर्भुवःस्वादयोलोकाः तपःकृच्छ्रा व्रतादयः ॥६६८॥
योगी व्रती पुत्रवान् स्यादतोनित्यमतंद्रितः।
तत्पुत्रोत्पत्तये यत्न मनोवाक्कायकर्मभिः ॥६६९॥
(स्वकीयदेवताध्यानं पूजातत्प्रार्थनादिभिः)।
अदृष्टयत्नशतकैरन्वहं कार्य एव वै ॥६७०॥
तदुत्पत्या क्षणान्मर्त्यो मुच्यते पैतृकादृणात्।
यद्यजाते तु तनये सर्वयत्नसहस्रतः ॥६७१॥
स्वभ्रातृजादिपुत्रेषु पुत्रमेकं परिग्रहेत्।
ज्येष्ठमन्त्यं वर्जयित्वा मध्यमेष्वेककं सुतम् ॥६७२॥
परिगृह्यविधानेन होमपूर्वादिना ततः।
जातकर्मादि कुर्वीत तेनैवास्य सुतो भवेत् ॥६७३॥
न चेत्तुगौणपुत्रः स्यात् गौणःस्यात्तनयो यदि।
तस्यैतत्कर्मकरणेकर्तृत्वं शास्त्रतो मतम ॥६७४॥
प्रत्यब्दकरणे चापि न तु दर्शादिकर्मसु।
ये भ्रातृसूनवो लोके कृतमौञ्ज्यादिका अपि ॥६७५॥
कृतदाराः संगृहीताः पुत्रत्वेन विपत्सुते।
तत्प्रेतकृत्यमात्रस्य तत्प्रत्यब्दस्य शास्त्रतः ॥६७६॥
कर्तारः प्रभवेयुर्वै न चान्येषां तु कर्मणाम्।
दर्शपातमुखादीनामतो भ्रातृसुतानपि ॥६७७॥
तदन्याद्भिन्नगोत्राद्वा यं कंचन गृणन्नरः।
तन्मतः पूरणं कृत्वा तत्पुत्रस्य च संविदम् ॥६७८॥

एवमेवं वृत्तिगेहक्षेत्रेष्वन्यसुनिश्चितं ।
येषु तेषु च सर्वेषु मर्यादेयं मया कृता ॥६७९॥
अद्यैवेति दृढं नूनं दृढयित्वा ततः परम् ।
स्वीकुर्याद्विधिनोक्तेन त्यक्त्वान्त्यं ज्येष्ठमेव च ॥६८०॥
मध्यमेकेन होमेन देवब्राह्मणसंनिधौ ।
राज्ञि बन्धुषु चावेद्य पितरौ तस्य केवलम् ॥६८१॥
भूषयित्वाप्रीणयित्वारत्नवस्त्रगृहादिभिः ।
तद्दारिद्र्यं वारयित्वा स्वीकुर्यात्तनयन्ततः ॥६८२॥
यद्यन्यगोत्रस्तनयः संग्राह्योद्यवशाद्भवेत् ।
कदाचिद्दैवयोगेन पश्चाज्जातस्तदौरसः ॥६८३॥
वयसा यं कनिष्ठोऽपि पितृकर्मसु केवलम् ।
ज्येष्ठत्वं समवाप्नोति न कानिष्ठ्यं कदाचन ॥६८४॥
सर्वथा दत्ततनयः वयोज्येष्ठः कृतक्रियः ।
सोमपास्त्वग्निचिच्चापि जातपुत्रोऽपि केवलम् ॥६८५॥
सर्ववेदनिधिःशास्त्रनिपुणोऽध्यात्मवित्तमः ।
तदौरसेन पुत्रेणानुपनीतेन केवलम् ॥६८६॥
अनभ्यस्ताक्षरेणापि न समःस्यादिति श्रुतिः ।
स एव पितृकार्येषु ज्यैष्ठ्यमाप्नोत्ययंतराम् (संशयम) ॥६८७॥
मन्त्रोच्चारणसामर्थ्याद्यभावेऽप्यस्य वै तदा ।
तत्कर्तृकंपुरस्कृत्य स्वयं दत्तः कनिष्ठवत् ॥६८८॥
कुर्वीत सर्वकृत्यानि धर्मोऽयं तादृशःस्मृतः ।
यानि प्रधानि(प्रधानानि)कर्माणि तत्रस्युस्तानि दत्तकः ॥६८९

तद्धस्तेनैव विधिना स्वमंत्रोक्त्या प्रचालयेत् ।
मर्यादेयं समाख्याता तत्क्रमे शास्त्रजालकैः ॥६६०॥
परंत्वत्रविशेषोऽस्ति यदि दत्तोऽन्यगोत्रजः ।
स्वीकृतस्तु तदापश्चाद्विभागे तुर्यभाग्भवेत् ॥६६१॥
सगोत्रश्चेदयंत्वत्रतनयः श्रीमतःसतः ।
तत्प्रदानासहिष्णुभ्यामतिप्रार्थनयावशात् ॥६६२॥
दत्तस्तत्स्वीकृतश्चेत्तु पुनश्चशपथादिभिः ।
पित्रादिकृतमर्यादः यथा वा स्यात्तथा भवेत् ॥६६३॥
तेनायं समभागेव न तुरीयांशभाग्भवेत् ।
पुनः कोऽपि विशेषोऽत्र स्पष्टमेव निरूप्यते ॥६६४॥
विभक्तं भ्रातरं दीनं दरिद्रं बन्धुमेव वा ।
अत्यंतकृपणं निस्वं पुत्री(त्रं?) दृष्ट्वा कृपापरः ॥६६५॥
तद्रक्षणाय तनयं स्वीयं दत्वा श्रियं पुनः ।
दत्ते समुद्धरेत्श्रीमान् ततस्तस्य च दैवतः ॥६६६॥
संजातस्तनयस्सोऽयमौरसो दुर्बलो भवेत् ।
दत्तपुत्रादिविज्ञेयः ज्येष्ठपत्नीसुतोऽप्ययम् ॥६६७॥
ज्येष्ठपत्नीसुतस्यैव चौरसत्वं प्रकीर्तितम् ।
विभागोऽपि तथा ज्ञेयः समत्वेनैव सर्वतः ॥६६८॥
औरसस्य च दत्तस्य न्यूनत्वाधिक्ययोस्तदा ।
यथागामस्तथैव स्यात् निर्णयो धर्मतो मतः ॥६६९॥
पुत्रग्राहकुसौभाग्यसंपच्छ्रीः प्राप्तये यदि ।
पुत्रत्वं प्रापितस्ताभ्यां दुर्बलः प्रभवेत्सुतः ॥७००॥

अपुत्रः प्रार्थनापूर्वं दत्तोऽयं यदि तत्सुतः ।
श्रीमानेव तदा सोऽयं समभागी भवेद्ध्रुवम् ॥७०१॥
भ्रातृपुत्रं ज्ञातिपुत्रः बन्धुपुत्रोऽथ वा धनी ।
निरपेक्षोऽस्य सौभाग्ये ग्राहकप्रार्थनादिभिः ॥७०२॥
पुत्रत्वं समनुप्राप्तः निर्धनस्य विशेषतः ।
दत्तश्च कृपया तूष्णीमौरसादधिकोऽप्यति ॥७०३॥
पुनस्सत्कुलजो न्यूनकुलाय यदि केवलम् ।
दत्तः स्यात्तु तदासोऽयं विभागे समुपस्थिते ॥७०४॥
तुल्यो भवेदौरसेन न पित्र्येषु तु सर्वदा ।
औरसो ज्यैष्ठ्यमाप्नोति पितृकर्मणि दत्ततः ॥७०५॥
वयसा चर्यया विद्याज्ञानाभ्यामधिकोऽपि वा ।
दत्तः पैतृककृत्येषु न्यूनएव भवेद्ध्रुवम् ॥७०६॥
जातेन्द्रियाणां दौर्बल्ये तु(दु)हिता तनये सति ।
अवशादसु (?) सन्देहो पुत्रग्रहणमुच्यते ॥७०७॥
पुत्रयोस्तनयाभावे नष्टयोरपि वै तयोः ।
पुत्रस्य कुर्याद्ग्रहणमिति वेदानुशासनम् ॥७०८॥
पौत्रे नप्तरि दौहित्रे सति वा पुत्रसंग्रहः ।
सर्वशास्त्रनिषिद्धःस्यात् न तस्मात्तत्समाचरेत् ॥७०९॥
आपन्निवारकस्सोऽयमापत्सापुत्रशून्यता ।
एक एव भवेन्नूनं दुहिता(तृ)तनयो मतः ॥७१०॥
दौहित्रे सतिपुत्रस्य ग्रहणं शास्त्रदूषितम् ।
कथं तदिति वा प्रोक्ते स्पष्टतश्च तदुच्यते ॥७११॥

दौहित्रोत्पत्तिमात्रेण तत्कुलद्वयसंभवाः।
उत्तारिताः सद्य एव भवेयुर्नात्रसंशयः ॥७१२॥
तामभ्यनुज्ञां भार्यायाः पुत्रसंग्रहहेतवे।
तद्दद्यात् सति दौहित्रे म्रियमाणः स्वयं पतिः ॥७१३॥
दौहित्रोत्पत्तिमात्रेण मातामह्यादिका स्तुताः।
दुहितुःस्यात्समुद्वीक्ष्य हर्षगद्गदया गिरा ॥७१४॥
प्रवदिष्यन्ति तां वाचं पितृलोकेऽतिसुन्दरे।
अस्माकसुतभिन्नास्ते बान्धवा निखिलाः शिवाः ॥७१५॥
तर्पणे ब्रह्मयज्ञादिनित्यकर्मसु सन्ततम्।
एकमेवाञ्जलिंनोवै भ्रातृतज्ज्ञातयो ददुः ॥७१६॥
अद्यास्मज्जलदो जातः (तो) वयमेतेन भूषिताः।
कृतार्था नितरां जाताः युष्मत्तुल्या अभूमहि ॥७१७॥
तस्मात्तद्दत्तमुदकमस्माकं परमामृतम्।
दधिसोमघृतक्षीरमेदोमाधुकसिन्धवः ॥७१८॥
नारायणपदप्राप्तिकारकाश्चातिपावनाः।
कुम्भीपाकमहाघोररौरवादिनिवारकाः ॥७१९॥
त्रयस्त्वञ्जलयः श्रीकाः शङ्खकुन्दवराङ्गिनः।
अस्मत्सर्वोत्तमत्वस्य प्रापकाः(सु)तुल्य शून्यकाः ॥७२०॥
यद्दीयतेऽस्मानुद्दिश्य चानेन भुवि नोऽमृतम्।
अत्यल्पमपि तन्मेरुमहामन्दरसंनिभम् ॥७२१॥
अक्षय्यं तु ततोऽनेन पुत्रादिः कोऽपिनैव हि।
दौहित्र एव नो लोके पुत्राणामुत्तमोत्तमः ॥७२२॥

तत्समस्त्व(त्वौ)रसस्तज्ज:(स्)तज्जश्चापि तथाविधः ।
इत्युक्त्वा नर्तनं चक्रुः मातामह्यादिकानगाः ॥७२३॥
दौहित्रजनने पूर्वं तस्माद्दौहित्रसंनिभः ।
पितॄणां तृप्तिदं(दो) कोऽपि नास्त्येव धरणीतले ॥७२४॥
मात्रादित्रयसाम्येन तर्पणे समुपस्थिते ।
तेषांत्र्यञ्जलिदस्सोऽयमेको दौहित्र उच्यते ॥७२५॥
तद्दत्तमुदकं तासां परं त्र्यञ्जलिसंख्यया ।
नवकं तत्पृथक्त्वेन महापद्मादिसंभवम् ॥७२६॥
तस्माज्जगति यो मोहात् प्रसक्तौ तर्पणस्य चेत् ।
दुहितातनयो मूढ:(स्) तासामेकादिकाञ्जलिम् ॥७२७॥
सामान्यनारी बुद्ध्या वै कुर्याद्दौहित्रपात्रतः ।
तासां शेवधिहर्ता स्यात् तच्छापस्यापि पात्रताम् ॥७२८॥
प्रयात्ययं सद्य एव तस्मात्तन्न तथाचरेत् ।
अत्र भूयः प्रवक्ष्यामि निष्कृष्टार्थमिदं रहः ॥७२९॥
सापत्नी जननी पत्न्योरन्वहं द्व्यञ्जली स्मृते ।
मातामही मातृवर्गद्वयं त्र्यञ्जलिभाजनम् ॥७३०॥
तर्पणेष्वखिलेष्वेनं (व) सर्वशास्त्रसुनिश्चितम् ।
दौहित्र्यपुत्रवान्नैव भवेल्लोके द्विजातिषु ॥७३१॥
विशेषेण समाख्यातः (तो) भर्तृपुत्रादयोऽवरः ।
सपिण्डोऽपि तथैवस्यात्तत्कथं चेतिचेत्तदा ॥७३२॥
निरूप्यते च सुस्पष्टं सपिण्डे खलु केवलम् ।
पितामहस्यावयवाः पित्रादिद्वारतोऽति वै ॥७३३॥

सुसंवृद्धाः नास्य तत्र स पितुः स्वस्य वा खलु ।
न सन्त्येव विशेषेण तन्मुखात्तु सपिण्डता ॥७३४॥
सपिण्डानां प्रकथिता नान्येन किल वर्त्मना ।
भ्रातृपुत्रेषु तेष्वेवं भ्रातुश्चापि पितुस्तथा ॥७३५॥
सन्तिह्यवयवास्तेन भ्राता तत्पुत्र एव च ।
मार्गेण स्वीय इत्युक्ताः नतुस्वावयवैरहो ॥७३६॥
दौहित्रे दुहितृद्वारा स्वकीयावयवोद्भवे ।
संबन्धस्त्वधिकः स्वस्य तथा तेषु न संभवेत् ॥७३७॥
संबन्धः कोऽपि सुस्पष्टः(स्)तस्मादेव तथादितः ।
दौहित्रो भ्रातृपुत्रादिभ्योऽयं स्वावयवादिभिः ॥७३८॥
(णामधिकोऽवयवादिभिः)
अधिकश्चेति सर्वेषु स्वकर्मसु धनादिषु ।
नैतस्य संग्रहः कार्यः जन्मनैवायमुच्यते ॥७३९॥
पुत्रत्वेन समश्चेति परश्चेति क्वचित्स्थले ।
अतः पुत्रत्वकरणं विरुद्धं न्यायशास्त्रयोः ॥७४०॥
दौहित्र जननादत्र परवि(?)वित्तैकमानसाः ।
विभक्ता ज्ञातयो दुष्टाः भवन्त्येवातिदुःखिनः ॥७४१॥
विभक्ताः पुत्रतज्ज्ञातिधनक्षेत्रादिवस्तुषु ।
तदुन्मुखाः सन्ततं ते कदापीति दुराशयाः ॥७४२॥
दौहित्रजननादेव केचिदत्र विवेकिनः ।
नेतः परमिदं नैव स्यादित्येव स्वचेतसि ॥७४३॥
निश्चित्य तूष्णीं तिष्ठन्ति केचित्त्वत्राजुगुप्सिताः ।
शास्त्रानभिज्ञा नितरां पामरा धर्मदूषकाः ॥७४४॥

येन केनाप्युपायेन परं तद्ग्रहणोन्मुखाः ।
दुरालापान्प्रकुर्वन्तः सज्जनैरपि निन्दिताः ॥७४५॥
दूषयन्तश्च तान्भूयः छी(धिक्) त्कृताश्चापि साधुभिः ।
न्यक्कृताः पण्डितैः सर्वैः सर्वत्रापि वृथैव हि ॥७४६॥
तद्दुर्यत्नादिशतकं कुर्वन्तश्च तदा तदा ।
दुष्टक्रियाश्चकुर्वन्तो लयं यान्त्येव केवलम् ॥७४७॥
सर्वत्र धर्मोमध्यस्थः कदाचित्कलिदोषतः ।
न सिद्ध्यति कलौ भूयः सिद्ध्यत्यपि पुनः क्वचित् ॥७४८॥
प्रायेण धर्मतो वृद्धिः ततो भद्राणि विन्दति ।
व्यवहारे च जयति सन्तो व्याकुलयत्यपि ॥७४६॥
परस्वान्यपि (दि) गृह्णाति समूलं च विनश्यति ।
सदैव धर्मः परमः सेव्यो नाधर्म उच्यते ॥७५०॥
धर्ममार्गेण सर्वैस्तैः गन्तव्यो नान्यमार्गतः ।
दौहित्रभिन्नं यं कंचित् विना ज्येष्ठं तथैककम् ॥७५१॥
संगृह्णीयाच्च तनयं मध्यस्थं ज्ञातिमेव वा ।
भर्त्रभ्यनुज्ञाभिन्नायाभ्यनुज्ञा पुत्रसंग्रहे ॥७५२॥
संगच्छते ज्ञात्यभावेतत्पुरस्तान्न युज्यते ।
ज्ञातिमत्याकृतं यत्तु पुत्रसंग्रहणादिकम् ॥७५३॥
विश्वस्तया धरादान मुखकृत्स्नं तु सिद्ध्यति ।
सर्वज्ञातिमतं कार्यं पुत्रसंग्रहणादिकम् ॥७५४॥
धारादिकं च नो चेत्तत् न कार्यं यदि तत्कृतम् ।
तादृशं धार्मिको राजा न्यायशास्त्रप्रदूषितम् ॥७५५॥

सद्यस्त्वन्यथयित्वैव शास्त्रीयेनैववर्त्मना ।
तत्कारयेज्ज्ञातिमुखसामीचीन्यं ततः पुनः ।
तद्यथा योग्यदण्डश्च तत्रमध्यम उच्यते ॥७५६॥
आद्यन्त्यावेव संत्याज्यौ बहुभ्रातृषु तत्सुतौ ।
मध्ये ज्येष्ठात् द्वितीयादि नियमो नेति चोचिरे ॥७५७॥
मोहाद्दत्तो ज्येष्ठसूनुः स्वयंदत्तोऽथवा जडः ।
पतितः सद्य एवस्यादुभयभ्रष्ट ईरितः ॥७५८॥
उपनीतेः परं तस्य विप्रत्वं तु न सिद्ध्यति ।
यदि ज्येष्ठसुतो दत्तः पितुर्वा पालकस्य वा ॥७५६॥
तत्कर्मयोग्यो नैवस्याद्यत्कृतं तेन तत्परम् ।
सलिलं पुण्यलोकैकमहापाषाणसंनिभम् ॥७६०॥
महारौववत्मार्ग्रथनयनं सत्क्रियौघहम् ।
न तत्समाचरेत्तस्मात्पुत्रदानग्रहौ द्वयम् ॥७६१॥
विधवावर्णिविधुरदूरभार्याय(प)तिव्रताः ।
न दद्युः प्रतिगृह्णीरन् अपि सूतकिनोऽपिवा ॥७६२॥
रजस्वला तत्पतिश्च कन्यकोऽनुपनीनकः ।
कौतुकी दीक्षितोवाऽपि श्राद्धकर्ता प्रदूषितः ॥५६३॥
बहिष्कृतो दूरपङ्क्तिभुक्तान्नो ग्रामरूपगम् ।
प्रायश्चित्ताद्युन्मुखश्च पुनरन्ये तथा विधाः ॥७६४॥
न दद्युः प्रतिगृह्णीरन् तनयं संशयभ्रमे ।
अहमेकसुतः पित्रोः दत्तोऽस्मीति वदन् पुनः ॥७६५॥
सभायां निर्भयं चोरः प्रसिद्धः कथितो बुधैः ।
पुत्रेण जातमात्रेण तातत्त्वाततत्परा ॥७६६॥

नन्दन्ति च प्रगायन्ति नटन्ति प्रनटन्ति च ।
उत्तारकोऽयमस्माकं संजातस्तनयोऽधुना ॥७६७॥
वदन्त एव परममानन्दं दैवमानुषम् ।
आरभ्य कृत्स्नं ब्राह्मं तद्विधिना श्रुतिनिरूपितम् ॥७६८॥
सद्यः प्राप्ता भवन्त्येव ब्रह्मानन्दस्तु सः परः ।
श्रुत्युक्तवर्त्मना साध्यः न केनान्येन सर्वथा ॥७६९॥
यस्य कस्यापि संप्रोक्तः तद्भिन्नानखिलान्वरान् ।
आनन्दास्तस्य संभूत्या दौहित्रस्येक्षणादितः ॥७७०॥
प्राप्ता भवेयुः पितरः तत्कुलद्वयतारकः ।
तनयो दुर्लभो नृणां जातमात्रेण तेन वै ॥७७१॥
एकोत्तरकुलं चापि सद्यस्तुष्टं भविष्यति ।
तादृशं तनयं त्वेनमेकं जातं सुतं जडः ॥७७२॥
धनाशयान्यं कुरुते यः पितृघ्नः स्मृतः स तु ।
कुतस्तथेति चेद्व्यक्तं सम्यगेवेदमुच्यते ॥७७३॥
सुतप्रदानोत्तरक्षणमात्रेणैव तेऽखिलाः ।
नष्टानन्दा भग्नकामाः ताडिता यमकिंकरैः ॥७७४॥
नीयन्ते नरकेष्वेव ते य उत्तारिताः पुरा ।
ग्राहकस्यापि पितरः तादृशांस्तान्पितॄन् वरान् ॥७७५॥
दृष्ट्वाति दुःखिताः सर्वे सहमानाश्च कश्मलम् ।
असह्यमिति घोरं तदीयं वै दुःसहं खरम् ॥७७६॥
पुनः पुनरुदीक्ष्यैव किमासीदिति केवलम् ।
अशक्नुवन्तस्तद्दुःखं स्वयं चापि तथाविधाः ॥७७७॥

भवेयुरेव नितरां मास्तु वंशस्य नोऽप्ययम् ।
इत्युक्त्वैनं दूषयन्ति नाङ्गीकुर्वन्ति तत्कृतम् ॥७७८॥
प्रदूषयन्ति तं दृष्ट्वा पलायनकृतत्वराः ।
तद्दत्तं यच्च तत् सर्वं वज्रपातोपमं खरम्(?) ॥७७९॥
अङ्गीकुर्वन्ति तस्मात्तं पितरो ग्राहकस्य च ।
तस्मादेकसुतो दत्तो ग्राहकेण प्रदापितः ॥७८०॥
उभयोर्वंशयोश्चापि पितॄणां नरकप्रदः ।
तस्मादेकं सुतं दत्तपुत्रत्वेन कदाचन ॥७८१॥
न स्वीकुर्यादतस्तेन न किंचित्स्यात्प्रयोजनम् ।
तथा कनिष्ठं तनयं स्त्रीदत्तं वैधवं शिशुम् ॥७८२॥
पुरुषेण प्रदत्तं वा कन्यावर्णियति (?) प्रदम् ।
व्रात्यदत्तं सूतकिना प्रदत्तं कन्यया तथा ॥७८३॥
अनुवीतप्रदत्तं च सापत्नीमातृदत्तकम् ।
पितृव्यदत्तं तत्पत्न्या प्रदत्तं भगिनीप्रदम् ॥७८४॥
पितामहादिभिर्दत्तं ज्ञातिदत्तं सगोत्रिभिः ।
प्रदत्तं येन केनापि पुत्रत्वेन कथञ्चन ॥७८५॥
न स्वीकुर्याच्छास्त्रदुष्टास्त एते तनया जडाः ।
प्रदातुर्ग्राहकस्यापि महादुर्गतिदायकाः ॥७८६॥
मामकस्तनयो जातस्तावकस्त्वधुना मम ।
संमत्यैवायमभवदिति वाक्येन तत्क्षणात् ॥७८७॥
पुत्रघ्नः प्रभवेत्सद्यः वीरहेति निगद्यते ।
तत्स्वीकर्ता भ्रूणहा स्यात् तद्दत्तो ब्रह्महा परः ॥७८८॥

एवं त्रयाणामेकस्य तनयस्य परिग्रहे ।
प्रत्यवायो महानुक्तः तस्मात्तत्कर्म नाचरेत् ॥७८६॥
जडमूढान्धमत्ता ये मूकक्लीबाभिशस्तराः ।
पतिताः पामराश्चापि न स्वीकार्या विशेषतः ॥७६०॥
ज्येष्ठपुत्राः पितॄणां स्युःवल्लभाः जगतीतले ।
यथा तथा कनिष्ठाश्च मातॄणामतिवल्लभाः ॥७६१॥
अतः कनिष्ठास्तनयाः निन्दितास्स्युस्तथैव हि ।
पुत्रग्रहणकार्येषु यदि दत्तो मृताः सुतः ॥७६२॥
पुनः पुत्रं न गृह्णीयादेकस्यैव सुतस्य वै ।
ग्रहणं शास्त्रविहितं न द्वितीयस्य सर्वथा ॥७६३॥
अपविद्धस्ततोग्राह्यो यदि भूयः सुते मनः ।
निर्दुष्टपुत्रा जगति त्रय एव प्रकीर्तिताः ॥७६४॥
औरसः पुत्रिकापुत्रः अपविद्धश्च सूरिभिः ।
अन्ये तु तनया भूयः भूतले स्युर्जुगुप्सिताः ॥७६५॥
असत्कुलप्रसूतानां क्षेत्रजातिसुताः स्मृताः ।
महाकुलप्रसूतानां त्रय एव पुरोदिताः ॥७६६॥
जगुप्सा सा प्रकथिता स्वस्मिन्पश्यति जीवति ।
पित्रादिषु स्वकीयेषु सत्सुजीवत्सुतत्परः ॥७६७॥
परस्मै पुत्रकार्याय धर्मपत्न्यर्पणं किमु ।
न्याय्यं युक्तं सच्चरित्रं सर्वैस्तत्प्रविचार्यताम् ॥७६८॥
पांसुलानां विटानां वा सा वृत्तिरजुगुप्सिता ।
याति घोरा वागवर्ण्या स्वभार्यान्यनिवेदनम् ॥७६६॥

विना जुगुप्सां ह्रीं घोरां ह्रियं भीतिं दुरासदाम् ।
परसंगाप्तसद्‌गर्भनारी (?) ग्रहणतां भुवि ॥८००॥
सम्पाद्य चापिगार्हस्थ्यं लोकानां पश्यतां पुरः ।
परवीर्यैकसंजातगर्भिणीं स्वकलत्रतः ॥८०१॥
ते जायन्ते तादृशानां पाकाः पद्मनिभेक्षणाः ।
कानीनपौनर्भवादित्तनया न जुगुप्सिताः ॥८०२॥
किंवा न जाने तद्यूयं विवाहानन्तरं क्षणात् ।
मुहूर्ताद्याममात्राद्वा यामद्वयमत एव वा ॥८०३॥
(अन्हो) अह्नो दिनात्तद्‌द्वितीयाद्वितीयात्तस्य तत्परम् ।
पक्षान्तमासाद्दतो(र्)मासात् तृतीयाद्वा चतुष्टयम् ॥८०४॥
पञ्चषेभ्योऽपि मासेभ्यो डिम्बानां जननादहो ।
द्विपात्पशूनां सालज्जालक्ष्यते न च किं पुनः ॥८०५॥
ते चापि मनुजैः साम्यं संप्राप्य च ततः परम् ।
यूयं वयं च मनुजाः समा एवेति वादिनः ॥८०६॥
वागक्षीकर्णनासादि सर्वावयवसंयुताः ।
निर्लज्जाः सर्वकार्यैकनिपुणास्त इमे पुनः ॥८०७॥
महात्मनः(त्मानं)सत्कुलीनान् हेलयन्ति हसन्ति च ।
पुनर्निराकरिष्यन्ति व्यवहारेषु सन्ततम् ॥८०८॥
पराजयन्ति कुप्यन्ति तादृशैरखिलं जगत् ।
व्याप्तमानंति बहुना तादृशान्निखिलान्जनान् ॥८०९॥
व्यवहारेषु समतः संप्राप्ताः सज्जनैस्सह ।
तुच्छान् दुरात्मनो दुष्टान् धार्मिको नृपतिः स्वयम ॥८१०॥

पराजयेत्तान्धर्मेण न्यायेनापि समागतान् ।
अब्राह्मणं ब्राह्मणेन व्यवहाराय चागतम् ॥८११॥
अपि न्यायगतं राजा व्यवहारे पराजयेत् ।
एवमश्रोत्रियं राजा श्रोत्रियेण सभासु चेत् ॥८१२॥
तुच्छानतुच्छैः समतः सद्भिस्सत्कुलसंभवैः ।
बाढं विवदतो नित्यं भीषयित्वा पराजयेत् ॥८१३॥
दुर्बलेन स्वामिनैवं विवदन्तं सभासु चेत् ।
दुर्बलं बलिनं पोष्यं मदान्धो दुर्जनाश्रयात् ॥८१४॥
सद्भिः सोऽयं विगर्हःस्यात् राज्ञे प्रोक्ता यथास्य तु ।
शान्तिर्गर्वस्य महतः प्रभवेद्वै समष्टितः ॥८१५॥
अश्रोत्रियश्रोत्रिययोः विवादे समुपस्थिते ।
तदात्वश्रोत्रियन्यायसत्पथस्थेऽपि केवलम् ॥८१६॥
यथा वा श्रोत्रियजयः भवेत्सद्यः (स्) तथा वदेत् ।
नित्यं सर्वत्र पूज्योऽसौ श्रोत्रियस्तेन तं तराम् ॥८१७॥
नावमन्येत्पूजयित्वा प्रेषयेदेव सन्ततम् ।
स्वसारं भगिनीं पत्नीं मातरं तनयां तु वा ॥८१८॥
तावकीमभिगन्तास्मीत्यहं वादिनमुद्धतम् ।
विवादे श्रोत्रियं दृष्ट्वा श्रोत्रियं सद्य एव वै ॥८१९॥
कपोलयोस्ताडयित्वाछीत्कृत्य (धिक्कृत्य) च दिनत्रयात् ।
परं निरोधादुद्धृत्ययथाशक्ति पणानपि ॥८२०॥
चतुर्विंशतिसंख्याकान् द्विगुणं वा चतुर्गुणम् ।
तस्यापि द्विगुणंभूयः शतं वा तद्द्वयं तु वा ॥८२१॥

तस्यशक्तेरानुगुण्यात् समं संप्रेक्ष्य धर्मतः।
दण्डरूपेण कृत्वास्य पश्चात्तं मोचयेन्नृपः ॥८२२॥
यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनैव पराजितः।
तमायान्तं पुनर्जित्वा दापयेद्द्विगुणं दमम् ॥८२३॥
सदस्यदूषकं तूष्णीं ग्रामदूषणतत्परम्।
अनपेक्ष्यस्वापराधं स्वकार्यवृजिने तथा ॥८२४॥
नृपतिर्धार्मिकः सद्यः पणानष्टशतं हरेत्।
सकाशात्तस्य विधिना न चेद्दोषमवाप्नुयात् ॥८२५॥
समुद्दिश्यस्वकार्यं यः तूष्णीकं वेद सर्वतः।
अश्रोत्रियः स्वयं (तद्वत्) सत्कर्मत्वेन विशेषतः ॥८२६॥
विद्यमानो मन्यमानः स्वयमस्यैव केवलम्।
सच्छ्रोत्रियाः समुद्वीक्ष्य विवादे सति केवलम् ॥८२७॥
पूजाभोजनकालेषु स्वस्यानाह्वानकारणात्।
तदुद्भवनिरोद्धारं कृतशापं तथाविधम् ॥८२८॥
यत्नेनैवाहयित्वैनं सभामध्ये परीक्षया।
न्यक्कृत्य विधिना सम्यकुद्धी(धिक्)कृत्यैव ततः पुनः ॥८२९
नैतादृशमितः कर्म परं स्यात्तु त्वया भवेत्।
इति भीत्या समायुक्तं कृत्वैनं निश्चयेन वै ॥८३०॥
विंशोत्तरं शतपणान् हरेत्तस्मान्न संशयः।
यो भुक्तिकाले विप्राणां स्वकामैकपुरस्कृतः ॥८३१॥
निरोधं कुरुते मूढः तस्यदण्डश्चपेटिका।
फ(प)णाःस्युर्द्वादश पुनः उत्सवेषु पुनः किल ॥८३२॥

विशेषतः क्रतुषु च निरोधे मौढ्यतस्तराम् ।
स्वपुरस्कारतोऽतीव समष्ट्या तस्य निग्रहः ॥८३३॥
राज्ञो निवेद्य पश्चात्तु ताडयित्वा कपोलयोः ।
सर्वस्वहरणं कृत्वा तमेनं राष्ट्रतो नयेत् ॥८३४॥
ग्राममध्ये स्वशुद्ध्यर्थमपकीर्त्यैकशुद्धये ।
क्रियाविशेषान् कुर्वन्तः मूढान् पण्डितमानिनः ॥८३५॥
शनैः कालेन महता धराधीशो महामनाः ।
शास्त्रविद्भ्यो विनिश्चित्य तत्कार्याणि ततः परम् ॥८३६॥
एतदर्थं त्वया चैवमेतत्तत्समनुष्ठितम् ।
किलेतिवचनं प्रोक्त्वास्वी(धिक्)कृत्य च विशेषतः ॥८३७॥
तस्य शक्तेरनुगुणो दण्डो ग्राह्यो विशेषतः ।
ततः पुनरिदं वाक्यमेवमेतादृशं लघु ॥८३८॥
त्वया न कार्यं कर्मेति बोधयित्वा विशेषतः ।
विसर्जयच्छिक्षयित्वा तथा तद्बोधकानपि ॥८३९॥
समष्ट्या बहवो भूयः एकं निरपराधिनम् ।
हठात्कारेण तूष्णीकं कार्यकाले समागते ॥८४०॥
बाधयेयुर्विवदमानास्तज्ज्ञात्वा धर्मतो नृपः ।
शिक्षयेदेव विधिना ज्ञात्वा तत्कार्य(?)वर्त्म च ॥८४१॥
पृथक् पृथक् सम्यगेव शनैर्वा तत्परं तु तत् ।
एकं चेच्छ्रोत्रियग्रामे तदीयां पूज्यतां पराम् ॥८४२॥
महत्वं व्यपदेश्यं च गुरुत्वमधिकं तथा ।
आचार्यत्वं पटुत्वं वैशा(र)द्य(म)अनश्वरम् ॥८४३॥

विद्याधिक्यं च संप्रेक्ष्य तस्मिन्निरपराधिनि ।
अत्यन्तासहमानास्ते तूष्णीकं तदुपर्यथ ॥८४४॥
आरोपयित्वाऽन्योऽन्यं वै दुर्गुणा न तदीयगान् ।
समष्टथैव ग्रामिणो वै बहवो मौढ्यमास्थिताः ॥८४५॥
विद्याकर्मादिभिर्हीनाः दूषयेयुर्यदा तदा ।
धार्मिको नृपतिः श्रीमान् बहूनां तानि पृष्टतः(?) ॥८४६॥
कृत्वा वचांसि तत्पश्चात्तमेव श्रोत्रियं परम् ।
कृत्वैव सम्यक् तत्पूर्वं तमेवैनं प्रपूजयेत् ॥८४७॥
शतानामपि मूढानां वचनं नैव कारयेत् ।
तथा पुनस्सहस्राणामयुतानां विशेषतः ॥८४८॥
किमस्ति वचने तस्मिन् तूष्णीके तदुरोपमे ।
वचनं तच्छ्रोत्रियस्य वेदशास्त्रविनिश्चितम् ॥८४९॥
संश्राव्य सर्वदा सर्वैः सर्वलोकोपकारकम् ।
ये वा विरोधिनस्तस्य ते सर्वे दण्डभागिनः ॥८५०॥
भवेयुरेव सततं मूढा वेदविरोधिनः ।
यत्करोति श्रोत्रियोऽसौ वचने नैव तत्परम् ॥८५१॥
न तत्कर्तुं मूढशतं किं शक्तं प्रभवेदहो ।
यो भुक्तिसमये मौख्यात् ब्राह्मणानां समर्पितम् ॥८५२॥
दत्तं तथा प्रोक्षितं च मन्त्रेण परिषेचितम् ।
विघातयेद्दूषयेद्वा पांसुभिर्भस्मभिर्मृदा ॥८५३॥
उच्छिष्टेन पुरीषेण तथा तं सद्य एव वै ।
ग्राहयित्वा विशेषेण निगलेन च संवृतम् ॥८५४॥

मासर्त्वयनरूपेण विप्रसंख्यानुरूपतः ।
कारयित्वा ततः पश्चात् एकविप्रस्य षट्शतम् ॥८५५॥

पणान् दण्डं गृहीत्वा च सर्वेषां तत्र वै तथा ।
भोक्तुं समुपविष्टानां पृथगेवं निरीक्ष्य वै ॥८५६॥

सर्वान् पणान् तान्स्वीकृत्य तां वृत्तिमुपहृत्य च ।
तद्ग्रामिभ्योऽथ वा तस्य तत्प्रत्यर्थिन एव वा ॥८५७॥

देशादुच्चाटयित्वाथ दद्यादेवाविशङ्कतः ।
विप्रवृत्तिस्तु विप्रेभ्यः एव देया न तु स्वयम् ॥८५८॥

हरेद्राजा धर्मपरः हरन्सद्यः पतेदधः ।
एवं शूद्रश्चरेत्कोऽपि तस्य दण्डो वधस्ततः ॥८५९॥

छित्वा हस्तौ प्रथमतः निगले वसतिस्सदा ।
राज्ञानिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाक्रोशकारिणम् ॥८६०॥

तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं तत्पत्नीकृतसङ्गकम् ।
छित्वा जिह्वां च शिश्नं च सद्यो दूराद्विसर्जयेत् ॥८६१॥

स्वजनैर्दूषितः सद्भिः भोजनादिषु कर्मसु ।
मोहयित्वा तदा यत्नादवशाच्चाप्यचिन्तितम् ॥८६२॥

समागतश्च समये विवादेनैव केवलम् ।
दुराशया भोक्तुकामः दूरीकुर्वन्परान्द्विजान् ॥८६३॥

दापनीयस्त्वसौ सम्यक् चतुर्विंशतिकान् पणान् ।
स आगतो यदि वयं भोक्तुं यत्र च यत्र च ॥८६४॥

तत्र तत्र च गच्छामः(मो) न भुजिष्यामहे ततः ।
इत्यस्मिन् सङ्कटेऽर्धे तु विवादायागतो यदि ॥८६५॥
भुक्तिकाले दण्डनीयः नान्यकाले तदुक्तितः ।
भोजनेषु ब्राह्मणानां विवादे तु परस्परम् ॥८६६॥
संजाते सद्य एवास्य शान्तिःकार्या न चेद्वृथा ।
हानिस्सुमहती घोरा जायते चोभयत्र तु ॥८६७॥
विवादे तादृशे शक्तः श्रोत्रियश्चेद्विशेषवित् ।
बहुभिस्तु विशेषेणाविद्यैरश्रोत्रियैर्युतः ॥८६८॥
यदि स्युः श्रोत्रियास्सन्तः बहवस्तत्र तैस्समम् ।
अश्रोत्रियस्त्वं यं चैकः विवदेन्न तु धर्मतः ॥८६९॥
परेषां तु सहायेन तद्वाक्यश्रवणादिना ।
न कर्म कुर्यात्किमपि साहसं वचनं तथा ॥८७०॥
न वदेन्नापि तूष्णीकं किं तु तानखिलान्द्विजान् ।
संश्रित्यैव प्रणतया च प्रियोक्त्या स्ववशान्नयेत् ॥८७१॥
तानेतानखिलान्नो चेद्धानिरस्यैव जायते ।
बहुब्राह्मणविद्वेषः तद्दुःखकरणं वृथा ॥८७२॥
श्रेयसो न भवेदेव तस्मान्नतु तथा चरेत् ।
अधिकान् श्रोत्रियान् कुर्यात् न्यूनानश्रोत्रियान्सदा ॥८७३॥
कर्मणा मनसा वाचा प्रयत्नेन समाचरेत् ।
ब्राह्मणानर्चयेन्नित्यं ब्राह्मणानेव तोषयेत् ॥८७४॥
भोजयेद्ब्राह्मणानेव दद्यात्तेभ्योऽनिशं धनम् ।
सर्वदेवमयो विप्रः सर्ववेदमयो द्विजः ॥८७५॥

सर्वक्रतुस्वरूपश्च सर्वतीर्थसदाश्रयः ।
सर्वव्रतानि कृच्छ्राणि तपांसि ब्राह्मणः स्मृतः ॥८७६॥
सर्वे धर्मास्स एवस्याच्छ्राद्धानि नियमा अपि ।
ब्राह्मणेन विना किंचिदभिप्रेतं न सिद्ध्यति ॥८७७॥
तस्मान्न ब्राह्मणसमं किं भूतमिह विद्यते ।
यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ॥८७८॥
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ।
ब्राह्मणो जङ्गमं तीर्थं प्रवक्ता ब्राह्मणस्सुरः ॥८७९॥
अदाहकः पावकोऽयं चाक्षषो वायुरुच्यते ।
पद्मबन्धुरयं प्रोक्तः संत्यक्तास्तमयोदयः ॥८८०॥
सुपात्रं सर्वदा नाना शुभानामास्पदः पदः ।
अभाग्याज्ञानरोगाश्रीःमृत्युदारिद्र्यमारकः ॥८८१॥
अकर्तुमन्यथाकर्तुं कर्तुं सर्वं विचक्षणः ।
दुर्वर्णानपि सद्वर्णानवशात् कुरुते क्षणात् ॥८८२॥
नैतस्मादधिकं तुल्यं वस्त्वस्ति जगतीतले ।
हिरण्यगर्भत्रितयदानमात्रेण तत्क्षणात् ॥८८३॥
विप्रत्वं परमाप्नोति वृषलो नात्र संशयः ।
तत् षोडशमहादानप्रविष्टैकस्य वाडवे ॥८८४॥
करणादेव शेषाणां दानानां करणे पुनः ।
शूद्रादेर्वेदमन्त्रैस्ते सम्यक्कारयितुर्यथा ॥८८५॥
विधानतस्तुप्रभवेत् तत्तु विप्रमुखेन चेत् ।
क्षत्रादि मुखतश्चेत्तु न युक्तं प्रभवेद्धि तत् ॥८८६॥

तुलामादौ गोसहस्रं कल्पवृक्षादिकं तु वा ।
शूद्रेण प्रथमं दानममन्त्रकमधार्मिकम् ॥८८७॥
कृतं चेत् तत्परं सर्वं मुखाद्विप्रस्य चेत्स्मृतम् ।
वेदोक्तेनैव मार्गेण क्षत्रियादिमुखेन चेत् ॥८८८॥

विप्रैश्चतुः षष्टिसंख्यैः ऋत्विग्भिः वृषलोऽपि सन् ।
द्वितीयादीनि दानानि तत्र ब्राह्मणसंनिधौ ॥८८९॥
वेदोक्तेनैव मार्गेण कुर्यादेवाविचारयन् ।
महादानस्य तस्मा(स्या)स्य कारणादेव केवलम् ॥८९०॥

एकस्यापि ततः सद्यः तच्छिष्टे दानकर्मणि ।
वेदमार्गेण शक्नोति कर्तुं तत्कर्म तादृशम् ॥८९१॥
न साक्षाद्वेदमन्त्रोक्तीः तस्य संगच्छतेतराम् ।
ब्राह्मणस्य मुखेनैव तदुक्तिस्तस्य तत्र वै ॥८९२॥
संगच्छते विशेषेण न तु स्वस्य विधीयते ।
त्रिवारं तेषु सर्वेषु कृतेषु तु ततः परम् ॥८९३॥
तदुक्तावधिकारोऽपि सम्यक् संगच्छतेऽस्य तु ।
यो वा दानानि सर्वाणि महान्ति चरमे वयः ॥८९४॥

करोति भक्त्या शूद्रोऽपि तत्क्षणात्तेन कायतः ।
विष्णुलोकं प्रयात्येव महिम्ना तस्य केवलम् ॥८९५॥
हिरण्यगर्भदानस्य चतुर्वारकृतस्य तु ।
महिम्ना वृषलस्यापि मौञ्ज्यामधिकृतिर्भवेत् ॥८९६॥

ततोऽपि कृतया मौञ्ज्या शूद्रो ब्राह्मण्यमृच्छति ।
तुलाष्टादशधाज्ञेया तत्रादौ राजता स्मृता ॥८६७॥
चामीकरमयी पश्चात्त्रपुसीसकयोरपि ।
औदुम्बरमयी पश्चात् कार्पासपटयोरपि ॥८६८॥
गुडाज्यलवणंक्षीरदधिशाकमयाः पराः ।
माध्वीकतिलतैलानां पैल्वाकी धान्यराशिभिः ॥८६९॥
चरमा सा प्रकथिता सप्तधान्यैः पृथक् पृथक् ।
ग्राम्यैरपि तथारण्यैः विकल्पेन मनीषिभिः ॥६००॥
चरमा सा तुला ज्ञेया चतुर्दशविधैकका ।
ग्राहकस्य ब्राह्मणस्य सद्योरक्षस्त्वदायिनी ॥६०१॥
प्रायश्चित्तापनोद्या सा न भवेदेव सर्वथा ।
सर्वाण्यपि च दानानि तुलादीनि तु षोडश ॥६०२॥
तादृशान्येव सर्वाणि नात्र कार्या विचारणा ।
कर्तुस्सद्यस्सर्वपापनाशद्वारैव केवलम् ॥६०३॥
मुक्तिदान्येव सर्वेषां वर्णानामविशेषतः ।
एतानि चरमे काले यो वा मर्त्यो महामनाः ॥६०४॥
मध्ये तेषां तुलादीनामप्येकं दानमुत्तमम् ।
करोति सद्यो मुक्तिं तां ब्रह्मसायुज्यलक्षणम् ॥६०५॥
अवशादेव मनुजो लभते नात्र संशयः ।
चरमे जन्मनि नरस्तानि दानानि मानवः ॥६०६॥
करोत्येव न चान्यस्मिन् रहस्यं तन्मयोदितम् ।
दानं महत्तथैकेषामप्येकं भक्तिमान्नरः ॥६०७॥

दशायां च रमायां तु कुर्याद्वापि तदेव हि।
फलं तु लभते दिव्यं ब्रह्मसायुज्यलक्षणम् ॥६०८॥
हैरण्यगर्भं तद्दान (नं) गोमूत्रं प्रथमं स्मृतम्।
गोमयोदकसंज्ञं तत् (द्) द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥६०९॥
दधिपूरितमन्यत्तु तृतीयमिति तद्विदुः।
क्षीरपूरितमन्यत्तु चतुर्थं पापभञ्जकम् ॥६१०॥
घृतेन पूरितं प्राहुः पञ्चपातकनाशनम्।
तैलं हिरण्यगर्भाख्यं ततो भिन्नं प्रचक्षते ॥६११॥
मधुना पूरितं पुण्यमत्यन्ताज्ञानवारकम्।
तथेक्षुरससंपूर्णं महारौरवभीतिहम् ॥६१२॥
नारिकेलोदकैः पूर्णं तथाम्भःपूर्णमेककम्।
हैरण्यगर्भं चरमं प्राहुर्दिव्या महर्षयः ॥६१३॥
एवं दशविधं प्रोक्तं दानं पापापनोदकम्।
हैरण्यगर्भसंज्ञं तत् ग्राहकस्यातिभीतिहम् ॥६१४॥
तद्ब्रह्माण्डकटाहाख्यं दानं सर्वार्थदायकम्।
चतुर्दशविधं प्रोक्तं भूर्भुवस्वादिभिः पदैः ॥६१५॥
अतुलादिपदैश्चापि संयुक्तं सर्वसिद्धिदम्।
महादानं महाभूतिदायकं पापवृन्दहम् ॥६१६॥
एषां यदेककं वापि कृतं चेन्निखिलं कृतम्।
तत्तत्कामनया चेत्तु चरेदेव तथा तथा ॥६१७॥
तूष्णीकं परमेशस्य तुष्ट्यै चेत्कृतं तु तत्।
कर्तुःस्सायुज्यदं सद्यः तथापि तु पुनः परम् ॥६१८॥

रहस्यमेकं वक्ष्यामि ग्राहकस्त्वस्य केवलम् ।
रक्षस्त्वं समवाप्नोति दाता सायुज्यमृच्छति ॥६१६॥
गोसहस्रमतिश्लाघ्यं गोसत्रशतसन्निभम् ।
नीलादिभेदतस्तत्तु सप्तरूपं प्रचक्षते ॥६२०॥
स्वर्णलाङ्गलसंज्ञं तदपरं दानमेककम् ।
मन्वादिभिर्विरचितं दातुस्सर्वफलप्रदम् ॥६२१॥
नैतेन तुल्यमन्यत्तु दानं दानोत्तमोत्तमम् ।
कामधेन्वाख्यकं पश्चादेकं सर्वगुणान्वितम् ॥६२२॥
हरिश्चन्द्रादिभिर्घोरैः राजभिः समनुष्ठितम् ।
सर्वयज्वौघविनुतमपरं दानमेककम् ॥६२३॥
कल्पवृक्षाख्यकं देवदेवस्य परमात्मनः ।
अतिसंप्रीतिजनकं सद्यः कैवल्यदायकम् ॥६२४॥
एवं महाधरादानं गोमेधशतसंनिभम् ।
सर्वाण्येतानि दानानि कर्त्तुरेव त्रिपूर्वकम् ॥६२५॥
पूर्वोक्तफलदं ज्ञेयं नान्यस्येति सुनिश्चितम् ।
एवं सर्वाणि दानानि दशपञ्च च केवलम् ॥६२६॥
नवमं कन्यकादानदातुस्तद्ग्राहकस्य च ।
चन्द्रमण्डलपर्यन्तं यवराशिः कृता यदि ॥६२७॥
सूर्यमण्डलपर्यन्तं तिलराशि(ः)कृता यदि ।
(अ) तद्रौ शिवलोकपर्यन्तस्सर्षपा राशिरुत्तमा ॥६२८॥
सप्तर्षिलोकपर्यन्तं वालुका राशिरुत्तमा ।
कृतस्त्वासां तु या संख्या तावद्वर्षसहस्रकान् ॥६२६॥

दशानामपि पूर्वेषां दशानामपि पूर्ववत् ।
पितुः स्वस्य तथा पश्चात्तत्पितुस्तत्पितुस्तथा ॥६३०॥

एकोत्तरशतानां च कुलानां महतामपि ।
पितॄणामपि सर्वेषां नरकोत्तारपूर्वकम् ॥६३१॥

तच्छाश्वतब्रह्मलोकावाप्तिकारकमुच्यते ।
दातुस्तु सद्यो विज्ञानद्वारैव पुनरेव वै ॥६३२॥

तद्ब्रह्मसायुज्यनामा मुक्तिकारकमेव वै ।
तस्मान्नैतत् समं दानं धर्मो वै तत्परः पुनः ॥६३३॥

सदैवैतत्समं दानं लक्ष्मीनारायणप्रियम् ।
महासन्ततिसंवृद्धिकारकं कथितं महत् ॥६३४॥

यथैतदेतत् परमं निश्शेषपितृतारकम् ।
कुर्याद्दानं प्रशंसन्ति तथा तत्तनयस्य च ॥६३५॥

दानं पितॄणामत्यन्तकलिदुर्गार्तिकारकम् (?) ।
पूर्ववत् कालसंख्या च वेदितव्या विशेषतः ॥६३६॥

अस्मिन्नर्थे न सन्देहः एवमाह महर्षयः ।
यतये कन्यकादानं रसदानं च वर्णिनः ॥६३७॥

भिक्षादानं गृहस्थाय त्रयमेतद्विगर्हितम् ।
तथार्थिनं मस्करिणं वर्णिनं चान्नकामुकम् ॥६३८॥

भिक्षार्थिनं गृहस्थं च सद्यो राष्ट्रात्प्रवासयेत् ।
तूष्णीं भिक्षां गृणन् ग्रामे वसन्तान्भक्षयन्वृथा ॥६३९॥

विनैव वेदाध्ययनं ब्रह्मचारी विशेषतः ।
दण्डनीयः प्रयत्नेन ताडनीयस्तदा तदा ॥६४०॥
राष्ट्राद्दु (द्वासयेत्तथ्वा) वेदाध्ययनतत्परम् ।
नित्यंभिक्षार्थिनोयत्नात् शाकसूपरसादिभिः ॥६४१॥
भिक्षाप्रदानात्परतः तत्समाप्ति समाचरेत् ।
तावन्मात्रेण ते वेदाः सर्वे शास्त्राणि चाङ्गकैः ॥६४२॥
तथा स्मृति पुराणानि (सेतिहासानि सर्वशः) ।
वर्णिभुक्तौ‥पसूपरसाद्यदधिगोरसाः ॥६४३॥
हाटकक्षितिगोरत्नगजवाहा भवन्ति वै ।
गृहस्थस्य प्रतिदिनं गुह्यो धर्मः स्वयं महान् ॥६४४॥
यतेर्वा वर्णिनोदत्ताः लवणव्यञ्जनादयः ।
भुक्तिकालेऽन्वहं नृणां ग्रहिणः कामधेनवः ॥६४५॥
कल्पवृक्षा भवेयुर्हि किं चैते रत्नसानवः ।
कन्याभूस्वर्णरत्नाश्वगजवाहनसंचयाः ॥६४६॥
यतिवर्णि प्रदत्तास्ते गृहिणो नरकप्रदाः ।
भवेयुर्नात्र सन्देहः तभ्यां(स्यां) दद्यादतो न तान् ॥६४७॥
गृहिणं त्वन्नभिक्षायै समागतमुदीक्ष्य ना ।
द्वितीयेऽहनि हुंकृत्य दूरमुद्वासयेद्ध्रुवम् ॥६४८॥
प्रथमेऽह्नि चेदज्ञः किं कार्यं क्रियते त्वया ।
नेतः परं न कार्यं स्यादित्युक्त्वा तां प्रदापयेत् ॥६४९॥
गच्छेत्यु(द्दु)घाटयेत्तूष्णीं द्वितीयेऽहनि चच्छवै ।
याचन्तं तण्डुलान् ब्रह्मचारिणं यतिमेव वा ॥६५०॥

दृष्ट्वा विलोक्य मार्तण्डं पुण्डरीकाक्षमुच्चरेत् ।
ताम्बूलं धरणिं धान्यं यतिवर्ण्यैः कदाचन ॥६५१॥
जातरूपं न दद्याच्च सुगन्धकुसुमस्रजम् ।
तण्डुलान् बालरण्डायै न दद्यात्तु कदाचन ॥६५२॥
आगतायै भिक्षुकायै करमात्राधिकान्ननु ।
तासां नित्यं धान्यमेव प्रदेयं करपूरितम् ॥६५३॥
यदि पञ्चाशदधिकसंवत्सरपरा पुनः ।
तदा तण्डुलयोग्यापि भवेदिति भृगोर्मतम् ॥६५४॥
व्रतश्राद्धनिमित्तेन याचितो यदि वा त्वया ।
तत्पूर्तिमात्रदानेन गयाश्राद्धफलं भवेत् ॥६५५॥
विधवाभिरनाथाभिः वस्त्राय यदि याचितः ।
तन्मनः पूरणं कुर्वन्नश्वमेधफलं भवेत् ॥६५६॥
षष्टिवर्षात्परं तासामनाथानां तु याचने ।
भिक्षायामधिकारोऽस्ति तत्पूर्वं नेति चाङ्गिराः ॥६५७॥
वर्णिने यतये कन्यादानं शास्त्रविगर्हितम् ।
विशेषेण धराताम्बूलद्वयं नरकप्रदम् ॥६५८॥
अपि यत्नात् श्राद्धदिने वर्णिने दैवरूपिणे ।
देया स्याद्दक्षिणा तस्मै न ताम्बूलमिति श्रुतिः ॥६५९॥
व्रतिने कन्यकादानं रसदानं (तु) पुत्रिणे ।
यागार्थिनेऽन्नदानं च कोटियज्ञफलप्रदम् ॥६६०॥
वैश्वदेवावसाने तु ब्राह्मणो यश्च कश्चन(कश्चन) ।
क्षुधार्ता पात्रभूतस्य स्त्रियोऽन्तर्वत्न्य एव च ॥६६१॥

कन्यका विधुरा बालाः तीर्थादिव्रतचारकाः ।
रण्डाश्च विधवास्सर्वे वर्णास्तेऽपि चतुर्विधाः ॥६६२॥
अन्नदानैकपात्राणि चण्डालान्तानि सूरिभिः ।
कथितानि महाभागैः क्षुत्क्षामापन्नपात्रता ॥६६३॥
महादानानि चामूनि तुलादीन्यद्युना पुनः ।
आर्द्र कृष्णाजिनादीनि प्रायश्चित्तादिकैरपि ॥६६४॥
अनिवर्त्यानि घोराणि ग्राहकस्यैव सर्वगा ।
तस्मात् स्वोदरपूर्त्यर्थं गुरुद्रोहादिकं खरम् ॥६६५॥
पितृदेवसखिद्रोहं कुर्याद्वापदि निर्भयम् ।
न तुलादिमहादानद्रव्यं सर्वात्मना स्पृशेत् ॥६६६॥
देवब्राह्मणगोमांसं मातृमांसं सुरादिकम् ।
भक्षयेदापदि पुनः तत्र द्रव्यं न(सं)स्पृशेत् ॥६६७॥
गुरुपत्नीं च भगिनीं भ्रातृपत्नीं सुतामपि ।
कदाचित् कामतोगच्छेत् तुलाद्रव्यं तु न स्पृशेत् ॥६६८॥
प्रकुर्यान्मद्यपानं वा गोमांसं वापि भक्षयेत् ।
कुर्याद्वा ब्रह्महत्यां च भ्रूणहत्यां तथा विधाम् ॥६६९॥
वीरहत्यां तु वा कुर्यात् तुलाद्रव्यं तु न स्पृशेत् ।
अथ वा मातरं गच्छेत् तुलाद्रव्यं तु न स्पृशेत् ॥६७०॥
प्रायश्चित्तशतैश्चापि तीर्थकोटिशतैरपि ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रचान्द्राद्यैः तद्रक्षस्त्वं न नश्यति ॥६७१॥
तर्हि तेषां पुनः प्रायश्चित्तशास्त्रं वृथा भवेत् ।
इत्युक्ते सति तस्यापि प्रत्युत्तरमिहोच्यते ॥६७२॥

आदौ प्रतिवसन्तस्य वसन्ते सोमयाजिनः ।
संकल्पकाल आढ्यस्य दैवान्नष्टश्रिया पुनः ॥६७३॥
तद्विच्छित्तिर्दशायां चेद्येन केनाप्युपायतः ।
कर्त्तव्यत्वेन चोक्तस्य सामर्थ्यात्करणे तथा ॥६७४॥
तस्य प्रतिवसन्तस्य तादृशं दानमेककम् ।
प्रतिगृह्य विधानेन तद्द्रव्यस्य तुरीयकम् ॥६७५॥
त्यागं कृत्वा चित्तमपि तेन द्रव्येण तत्परम् ।
अनुष्ठितस्सप्ततन्तुः यदि तद्वत्सु चाखिलम् ॥६७६॥
विनियुक्तं तत्र सममात्र एवान्य तादृशः ।
तद्द्रव्यं तत्प्रदं न स्यादेव यागाय यत्कृतम् ॥६७७॥
तत्सर्वं तस्य दोषाय न भवेदेव सर्वथा ।
व्रतसंवत्सरं यावज्जीवं चैव विधानतः ॥६७८॥
संकल्पितस्य यज्ञस्य विषये ब्राह्मणस्य चेत् ।
सर्वप्रतिग्रहेणापि न दोष इति सा श्रुतिः ॥६७९॥
भ्रष्टाद्वा पतिताद्वापि पाषण्डान्नास्तिकादपि ।
चण्डालाद्यवनान्म्लेच्छात्प्रतिगृह्यापि तं क्रतुम् ॥६८०॥
यजेत विधिवद्विप्रएवमेव वपंस्तथा ।
दौर्ब्राह्मण्यविनाशाय विच्छित्तौ वेदिवेदयोः ॥६८१॥
अतिपापादतिखलादतिनीचादतन्द्रितः ।
सकाशाद्वसु संगृह्य येन केन प्रकारतः ॥६८२॥
अग्निष्टोमस्त्वनुष्ठेयः प्रथमोऽयं क्रतुर्भवेत् ।
तस्यानुष्ठानमात्रेण दौर्ब्राह्मण्यं विनश्यति ॥६८३॥

अत्यग्निष्टोममुख्यान्तान् क्रमात् षट्छदितः परम् ।
सद्द्रव्येणैव विधिना न्यायलब्धेन धर्मवित् ॥६८४॥
यजेतव्यं पुरोक्तेन न मार्गेण कदाचन ।
दौर्ब्राह्मण्ये परिहृते येन केन प्रकारतः ॥६८५॥

तदुत्तरक्रमाणां चेदनुष्ठानस्य शून्यतः ।
अभावात्प्रत्यवायस्य करणं मास्तु पूर्ववत् ॥६८६॥
कर्मणो यस्य वा लोके समनुष्ठानशून्यतः ।
प्रभवेत्प्रत्यवायोऽयं कर्मणस्तस्य केवलम् ॥६८७॥
अत्यन्तावश्यकत्वेन कर्तव्यत्वं प्रकीर्त्तितम् ।
तद्भिन्नानां कर्मणश्चेत् करणेऽभ्युदयं परम् ॥६८८॥
पुनस्त्वकरणे तेषां प्रत्यवायो न विद्यते ।
पञ्चपातकभिन्नानां पातकानां द्विजन्मनाम् ॥६८६॥
गायत्री जप एवस्यान्निष्कृतिः शास्त्रसंमता ।
शतं सहस्रमयुतं नियुतं न्यर्बुदं तथा ॥६६०॥
तत्तत्कार्यानुगुण्येन व्याहृतीनां जपोऽथवा ।
सोमातिरेकादिषु च महादानादिषु क्वचित् ॥६६१॥

उपनीतिः पुनरपि क्रूरकर्मसु केवलम् ।
परगर्भादिकं चापि कार्यमेवेति निष्कृतौ ॥६६२॥

प्रवदन्ति महात्मानः नदीस्नानादिकानि च ।
कृच्छ्रप्रतिनिधित्वेन केचिदाहुश्च पापिनाम् ॥६६३॥

अनुग्रहाय सौलभ्यकारणाय च तादृशे।
पुरुषसूक्तं च नी(न)मकं शिवसंकल्पकं तथा ॥६६४॥
रौद्रवैष्णवगायत्र्या शाखा चोपनिषत्तु वा।
त्रियम्बकमिदं विष्णुपादकास्तारकाः स्मृताः ॥६६५॥
सर्वेष्वपि च कृत्येषु कपिलेनेदमीरितम्।
धर्मशास्त्रं महासारं सर्वलोकोपकारकम्।
पठन् भक्त्याद्विजो नित्यमश्वमेधफलं लभेत्॥ ६६६॥

॥ इति कपिलस्मृतिस्समाप्ता ॥

ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

॥ श्री गणेशायनमः ॥

* वाधूलस्मृतिः *

नित्यकर्मविधिवर्णनम्

वाधूलं मुनिमासीनमभिगम्य महर्षयः
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥
भगवन् ब्राह्मणादीनामाचारं वद तत्वतः ।
तच्छ्रुत्वा मुनि शार्दूलस्तानृषीन् प्राह धर्मवित् ॥ २ ॥
ब्राह्मान्मुहूर्तादारभ्य त्रिकाले विहितं तथा ।
नित्यनैमित्तिकं चैव प्रवक्ष्यामि यथामति ॥ ३ ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते त्यक्तनिद्रः प्रसन्नधीः ।
प्रक्षाल्य पादावाचम्य हरिसंकीर्तनं चरेत् ॥ ४ ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते निद्रां च कुरुते सर्वदा तु यः ।
अशुचिं तं विजानीयादनर्हः सर्वकर्मसु ॥ ५ ॥
नक्षत्रज्योतिरारभ्य सूर्यस्योदयनं प्रति ।
प्रातः सन्ध्येति तां प्राहुः श्रुतयो मुनिसत्तमाः ॥ ६ ॥
प्रातः सन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि ।
सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामर्धास्तमित भास्कराम् ॥७॥
दिवा सन्ध्यासु कर्णस्थो ब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः ।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे तु रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ॥ ८ ॥

अवगुण्ठितसर्वाङ्गः तृणैराच्छाद्य मेदिनीम् ।
घ्राणास्ये वाससाच्छाद्य मलमूत्रं त्यजेद्बुधः ॥ ९ ॥
अप्रावृत्य शिरो यस्तु विण्मूत्रं सृजति द्विजः ।
तच्छिरः शतधा भूयादिति वेदाः शपन्ति तम् ॥१०॥
उत्थाय वामहस्तेन गृहीत्वा चोर्ध्वमेहनम् ।
शौचदेशमथाभ्येत्य कुर्याच्छौचं मृदम्बुभिः ॥११॥
अरत्निमात्रमुत्सृज्य कुर्याच्छौचमनुद्धृते ।
पश्चात्तच्छोधयेत्तीर्थमन्यथा न शुचिर्भवेत् ॥१२॥
विट्छौचं प्रथमं कुर्यान्मूत्रशौचं ततः परम् ।
पादशौचं ततः कुर्यात् करशौचं ततः परम् ॥१३॥
पञ्चधा लिङ्गशौचं स्याद्गुदशौचं त्रिवेष्टितम् ।
पादयोर्लिङ्गवच्छौचं हस्तयोस्तु चतुर्गुणम् ॥१४॥
एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं तु वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥१५॥
यद्दिवा विहितं शौचं तदर्धं निशि कीर्तितम् ।
तदर्धमातुरे प्रोक्तमातुरस्यार्धमध्वनि ॥१६॥
विण्मूत्रकरणात्पूर्वमादद्यान्मृत्तिकां तदा ।
अदद्दानस्तु तां पश्चात्सवासा जलमाविशेत् ॥१७॥
आर्द्रामलकमात्रास्तु ग्रासा इन्दुव्रते स्मृताः ।
तथैवाहुतयः सर्वाः शौचार्थे याश्च मृत्तिकाः ॥१८॥
शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥१९॥

शौचे यत्नः सदा कार्यः तन्मूलो हि द्विजः स्मृतः।
शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फला क्रियाः ॥२०॥
अन्तर्जानुः शुचौ देश उपविष्ट उदङ्मुखः।
प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ॥२१॥
गोकर्णाकृतिहस्तेन माषमग्नजलं पिबेत्।
तन्न्यूनमधिकं पीत्वा सुरापानसमं भवेत् ॥२२॥
संहताङ्गुलिना तोयं गृहीत्वा पाणिना द्विजः।
मुक्तांगुष्ठकनिष्ठे तु शिष्टेनाचमनं भवेत् ॥२३॥
उपविश्य शुचौ देशे प्राङ्मुखो ब्रह्मसूत्रधृत् (क्)।
बद्धचूडः कुशकरो द्विजः शुचिरुपस्पृशेत् ॥२४॥
अप्सु प्राप्तासु हृदयं ब्राह्मणः शुद्धतामियात्।
राजन्यः कण्ठतालुस्पृक् वैश्यः शूद्रः तथा स्त्रियः ॥२५॥
सपवित्रेण हस्तेन कुर्यादाचमनक्रियाम्।
नोच्छिष्टं तत्पवित्रं तु भुक्त्वोच्छिष्टं तु वर्जयेत् ॥२६॥
कुशहस्तः पिबेत्तोयं कुशहस्तः सदाऽऽचमेत्।
सग्रन्थिकुशहस्तस्तु न कदाचिदुपस्पृशेत् ॥२७॥
प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे सन्तीति मनुरब्रवीत् ॥२८॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि समाचम्य विशुध्यति।
पश्चिमे पुनराचम्य याम्या स्नानेन शुध्यति ॥२९॥
आर्द्रवासा जले कुर्यात् तर्पणाचमनं जपम्।
शुष्कवासाः स्थले कुर्यात्तर्पणाचमनं जपम् ॥३०॥

आम्रेक्षु(ख)ण्डताम्बूलचर्वणे सोमपानके ।
विष्ण्वङ्घ्रितोयपाने च नाद्यन्ताचमनं भवेत् ॥३१॥
विष्णुपादोद्भवं तीर्थं पीत्वा न क्षालयेत्करम् ।
क्षालयेद्यदि मोहेन पञ्चपातकमाप्नुयात् ॥३२॥
उपवासदिने यस्तु दन्तधावनकृन्नरः ।
स घोरं नरकं याति व्याघ्रभक्षा(क्ष)श्चतुर्युगम् ॥३३॥
प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च मुखं चाद्भिः समाहितः ।
आचम्य प्राङ्मुखः पश्चाद्दन्तधावनमाचरेत् ॥३४॥
आयुर्बलं यशोवर्चः प्रजाः पशुवसूनि च ।
ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनस्पते ॥३५॥
यस्तु गण्डूषसमये तर्जन्या वक्त्रशोधनम् ।
कुर्वीत यदि मूढात्मा नरके पतति द्विजः ॥३६॥
अलाभे दन्तकाष्ठानां प्रतिषिद्धदिनेष्वपि ।
अपां षोडशगण्डूषैः मुखशुद्धिर्भविष्यति ॥३७॥
प्रतिपत्पर्वषष्ठीषु नवमी द्वादशी तथा ।
दन्तानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमं कुलम् ॥३८॥
सुरया लिप्तदेहोऽपि प्रायश्चित्तीयते द्विजः ।
प्रातरभ्यक्तदेहस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥३९॥
तैलाभ्यङ्गं महाराज ब्राह्मणानां करोति यः ।
स स्नातोऽब्दशतं साङ्गं गङ्गायां नात्र संशयः ॥४०॥
द्रव्यान्तरयुतं तैलं न कदाचन दुष्यति ।
तैलमाज्येन संसिक्तं ग्रहणेऽपि न दूष्यति ॥४१॥

छायामन्त्यश्वपाकानां स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् ।
चत्वारिंशत्पदादूर्ध्वं छायादोषो न विद्यते ॥४२॥
अस्पृश्यस्पर्शने चैव त्रयोदशनिमज्जनम् ।
आचम्य प्रयतः पश्चात्स्नानं विधिवदाचरेत् ॥४३॥
ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता ।
कथं तस्या भवेच्छौचं शुध्यते केन कर्मणा ॥४४॥
चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्या तु तां स्त्रियम् ।
सा सचैलावगाह्यापः स्नात्वा स्नात्वा पुनः स्पृशेत् ॥४५॥
दश द्वादशकृत्वो वा ह्याचामेच्च पुनः पुनः ।
अन्ते च वाससां त्यागः ततः शुद्धा भवेत्तु सा ॥४६॥
दद्याच्छक्त्या ततो दानं पुण्याहेन विशुध्यति ।
आर्तवाभिप्लुते नार्यौ संभाषेतां मिथो यदि ॥४७॥
उपवासं तयोराहुरशुद्धौ शुद्धिकारणम् ।
शावे च सूतके चैव ह्यन्तरा चेद्ऋतुर्भवेत् ॥४८॥
अस्नात्वा भोजनं कुर्याद् भुक्त्वा चोपवसेदहः ।
उत्सवे वासुदेवस्य यः स्नाति स्पर्शशङ्कया ॥४९॥
स्वर्गस्थाः पितरस्तस्य पतन्ति नरके क्षणात् ।
अस्पृश्यस्पर्शने वान्तौ अश्रुपाते क्षुते भगे ॥५०॥
स्नानं नैमित्तिकं ज्ञेयं देवर्षिपितृवर्जितम् ।
स्वधुन्यम्भः समानिस्युः सर्वाण्यम्भांसि भूतले ॥५१॥
कूपस्थान्यपि सोमार्कग्रहणे नात्र संशयः ।
अश्रोत्रियः श्रोत्रियो वा अपात्रं पात्रमेव वा ॥५२॥

विप्रब्रुवो वा विप्रो वा ग्रहणे दानमर्हति ।
सर्वं भूमिसमं दानं सर्वो ब्रह्मसमो द्विजः ॥५३॥
सर्वं गङ्गासमं तोयं ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
प्रातराचमनं कृत्वा शौचं कृत्वा यथाविधि ॥५४॥
दन्तशौचं ततः कृत्वा प्रातः स्नानं समाचरेत् ।
द्वौ हस्तौ युग्मतः कृत्वा पूरयेदुदकाञ्जलिम् ॥५५॥
गोशृङ्गमात्रमुद्धृत्य जलमध्ये जलं क्षिपेत् ।
येन तीर्थेन गृह्णीयात् तेन दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥५६॥
अन्यतीर्थेन गृह्णीयात्तत्तोयं रुधिरं भवेत् ।
पूर्वाशाभिमुखो देवानुत्तराभिमुखस्त्वृषीन् ॥५७॥
पितॄंस्तु दक्षिणास्यस्तु जलमध्ये तु तर्पयेत् ।
स्नानार्थमभिगच्छन्तं देवाः पितृगणैः सह ॥५८॥
वायुभूतास्तु गच्छन्ति तृषार्ताः सलिलार्थिनः ।
तस्मान्न पीडयेद्वस्त्रमकृत्वा पितृतर्पणम् ॥५९॥
निराशास्ते निवर्तन्ते वस्त्रनिष्पीडने कृते ।
तस्मान्न पीडयेद्वस्त्रं ये के च इति मन्त्रतः ॥६०॥
वस्त्रं चतुर्गुणीकृत्य निष्पीड्य च जलाद्बहिः ।
वामप्रकोष्ठे निक्षिप्य द्विराचम्य शुचिर्भवेत् ॥६१॥
मनुष्यतर्पणे चैव स्नानवस्त्रनिपीडने ।
निवीती तु भवेद्विप्रस्तथा मूत्रपुरीषयोः ॥६२॥
नदीषु देवखातेषु गिरिप्रस्रवणेषु च ।
स्नानं प्रतिदिनं कुर्यात् सर्वकर्मप्रसिद्धये ॥६३॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाद्वै कदाचन ।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥६४॥
अन्यायोपात्तवित्तस्य पतितस्य च वार्धुषेः ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्यं समाचरेत् ॥६५॥
अन्त्यजैः खानिताः कूपाः तटाका वाप्य एव च ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥६६॥
परकीयनिपानेषु यदि स्नायात्कथंचन ।
सप्तपिण्डान् समुद्धृत्य तत्र स्नानं समाचरेत् ॥६७॥
लालास्वेदसमाकीर्णः शयनादुत्थितः पुमान् ।
अशुचिं तं विजानीयादनर्हः सर्वकर्मसु ॥६८॥
स्नानमूलाः क्रियाः सर्वाः सन्ध्योपासनमेव च ।
स्नानाचारविहीनस्य सर्वाः स्युः निष्फलाः क्रियाः ॥६९॥
उपव्यु(षस्यु)षसि यत्स्नानं सन्ध्यायामुदितेऽपि वा ।
प्राजापत्येन तत्तुल्यं महापातकनाशनम् ॥७०॥
स्नानवस्त्रेण यः कुर्याद्देहस्य परिमार्जनम् ।
शुनालीढं भवेद्गात्रं पुनः स्नानेन शुध्यति ॥७१॥
उषः काले भानुवारे यो नरः स्नानमाचरेत् ।
माघस्नानसहस्राणि गङ्गायमुनसङ्गमे ॥७२॥
जन्मर्क्षे वैधृतौ पुण्ये व्यतीपाते च संक्रमे ।
अमायां च नदीस्नानं कुलकोटिं समुद्धरेत् ॥७३॥
अकृत्यमपि कुर्वाणो भुञ्जानोऽपि यतस्ततः ।
कदाचिन्नारकं दुःखं प्रातःस्नायी न पश्यति ॥७४॥

विना स्नानेन यो भुङ्क्ते स मलाशी न संशयः ।
अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते ह्यजयः पूयशोणितम् ॥७५॥
अहुताशी कृमिं भुङ्क्ते ह्यदाता विषमश्नुते ।
संकल्पसूक्तपठनं मार्जनं चाघमर्षणम् ॥७६॥
देवर्षितर्पणं चैव स्नानं पञ्चाङ्गमिष्यते ।
हिरण्यशृङ्गमित्युक्त्वा जलं समवगाहयेत् ॥७७॥
सुमित्रा इत्युदाहृत्य स्वात्मानमभिषेचयेत् ।
दुर्मित्रा इत्युदाहृत्य मृत्स्थाने जलमुत्सृजेत् ॥७८॥
योऽस्मान् द्वेष्टीत्युदाहृत्य तथा तत्र जलं क्षिपेत् ।
यं च वयं द्विष्म इति पुनस्तत्र जलं क्षिपेत् ॥७९॥
एवं त्रिमृत्तिकास्नाने जलमञ्जलिनोत्सृजेत् ।
नमोऽग्नयेति मन्त्रेण नमस्कुर्यात् जलं ततः ॥८०॥
यदपामित्यमेध्यांशं निरस्येद्दक्षिणे जलम् ।
अत्याशनादितिद्वाभ्यां त्रिरालोड्य तु पाणिना ॥८१॥
चतुरश्रं तीर्थपीठं पाणिनोल्लिख्य वारिषु ।
नन्दिनीत्यादिनामानि बद्धाञ्जलिपुटो भवेत् ॥८२॥
आवाहयामि त्वां देवि स्नानार्थमिह सुन्दरि ।
एहि गङ्गे नमस्तुभ्यं सर्वतीर्थसमन्विते ॥८३॥
इमं मेगङ्ग इत्युक्त्वा पुण्यतीर्थानि च स्मरेत् ।
आपो अस्मानीतिऋचामुक्त्वा मज्जनमाचरेत् ॥८४॥
आपोहिष्ठादिभिर्मन्त्रैरभिप्रोक्ष्य च वारिभिः ।
ततो नारायणं स्मृत्वा प्रजपेदघमर्षणम् ॥८५॥

अघमर्षणसूक्तस्य ऋषिरेवाघमर्षणः।
छन्दोऽनुष्टुप् तथा देवो भाववृत्तोऽधिदेवता ॥८६॥
त्रिवारमष्टवारं वा निमज्ज्यात्तज्जले जपेत्।
एवंभूतस्य मन्त्रेण पुनः प्रोक्षणमाचरेत् ॥८७॥
आर्द्रं ज्वलति मन्त्रेण प्राशयेन्मत्रितं जलम्।
अकार्यकार्यमन्त्रं तु पुनः मज्जन् जले जपेत् ॥८८॥
तद्विष्णोरिति मन्त्रेण मज्जेदप्सु पुनः पुनः।
गायत्री वैष्णवी ह्येषा विष्णोः संस्मरणाय वै ॥८९॥
प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चाभक्ष्यभक्षणम्।
तद्विष्णोरित्यपां मध्ये सकृज्जप्त्वा विशुध्यति ॥९०॥
उत्तीर्य च द्विराचम्य देवादींस्तर्पयेत्ततः।
ऊर्जं वहन्तीरिति च तृप्यतेतिस्थले क्षिपेत् ॥९१॥
स्नानवस्त्रेणहस्तेन यो द्विजोऽङ्गं प्रमार्जति।
तथा भवति तत्स्नानं पुनः स्नानेन शुध्यति ॥९२॥
मार्जयेद्वस्त्रशेषेण नोत्तरीयेण वा शिरः।
न च निर्धुनुयात्केशान् न तिष्ठन् परिमार्जयेत् ॥९४॥
स्नानं कृत्वार्द्रवस्त्रं तु ऊर्ध्वमुदा(त्ता)रयेद्द्विजः।
स्नानवस्त्रमधस्ताच्चेत्पुनः स्नानेन शुध्यति ॥९५॥
प्रातः सन्ध्यामुपासीत वस्त्रसंशोधपूर्विकाम्।
उपास्य मध्यमां सन्ध्यां वस्त्रनिष्पीडनं परम् ॥९६॥
स्नानमूलाः क्रियाः सर्वाः सन्ध्योपासनमेव च।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्नानं कुर्यादतन्द्रितः ॥९७॥

प्रातरुत्थाय यो विप्रः प्रातःस्नायी सदा भवेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥९८॥
अन्तराच्छाद्य कौपीनं वाससी परिधाय च ।
उत्तरीयं समादद्यात् तद्विना नाचरेत्क्रियाः ॥
यज्ञोपवीतवद्धार्यमुत्तरीयं सदा द्विजैः ।
वन्दने तर्पणे चैव कक्ष्यामेव च धारयेत् ॥९९॥
मुखजानामूर्ध्वपुण्ड्रं तिलकं बाहुजन्मनाम् ।
पदाकारमूरुजानां त्रिपुण्ड्रं पादजन्मनाम् ॥१००॥

धृतोर्ध्वपुण्ड्रः परमीशितारं
विष्णुं परं ध्यायति महात्मा ।
स्वरेण मन्त्रेण सदा हृदिस्थितं
परात्परं यन्महतो महान्तम् ॥१०१॥

महोपनिषदि प्रोक्तमूर्ध्वपुण्ड्रं परं शुभम् ।

धृतोर्ध्वपुण्ड्रः कृतचक्रधारी
नारायणं सांख्ययोगाधिगम्यम् ।
ज्ञात्वा विमुच्येत नरः समस्तैः
संसारपाशैरिह चैति विष्णुम् ॥१०२॥

अथर्वशिरसि प्रोक्तमूर्ध्वपुण्ड्रविधिं द्विजा ।
प्रवक्ष्यामि हितार्थं वो भवपापप्रणाशनम् ॥१०३॥
हरेः पादाकृतिं रम्यमात्मनश्च हिताय वै ।
मध्येछिन्दन्नूर्ध्वपुण्ड्रं यो धारयति सर्वदा ॥१०४॥

स परस्य प्रियोनित्यं पुण्यभाक् मुक्तिभाग्भवेत् ।
चतुरङ्गुलमूर्ध्वाग्रं द्व्यङ्गुलं विस्तृतं मृदा ॥१०५॥
द्विजः पुण्ड्रमृजुं सौम्यं सान्तरालं तु धारयेत् ।
ऊर्ध्वगत्यां तु यस्येच्छा तस्योर्ध्वं पुण्ड्रमुच्यते ॥१०६॥
ऊर्ध्वगत्यां तु देवत्वं स प्राप्नोति न संशयः ।
पर्वताग्रे नदीतीरे विष्णुक्षेत्रे विशेषतः ॥१०७॥
सिन्धुतीरेऽथ वल्मीके तुलसीमूलमाश्रिते ।
मृद एतास्तु संग्राह्या वर्ज्याश्चान्याश्च मृत्तिकाः ॥१०८॥
श्यामं शान्तिकरं प्रोक्तं रक्तं वश्यकरं भवेत् ।
श्रीकरं पीतमित्याहुर्मोक्षदं श्वेतमुच्यते ॥१०९॥
अङ्गुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तो मध्यमा पुष्करी भवेत् ।
अनामिकान्नदा नित्यं तर्जनी मुक्तिभुक्तिदा ॥११०॥
अभिषिक्तं तु यच्चूर्णं विष्णुबिम्बे तु यो नरः ।
हारिद्रं धारयेन्नित्यं सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥१११॥
अनागतां तु ये पूर्वां अनतीतां तु पश्चिमाम् ।
सन्ध्यां नोपासते विप्राः कथं ते ब्राह्मणाः स्मृताः ॥११२॥
यावन्तोऽस्यां पृथिव्यां तु विकर्मस्था द्विजातयः ।
तेषां हि पावनार्थाय सन्ध्या सृष्टा स्वयंभुवा ॥११३॥
गायत्री नाम पूर्वाह्णे सावित्री मध्यमे दिने ।
सरस्वती च सायाह्ने सैव सन्ध्या त्रिधा स्मृता ॥११४॥
प्रतिग्रहादन्नदोषात्पातकादुपपातकात् ।
गायत्री प्रोच्यते यस्मात् गायन्तं त्रायते यतः ॥११५॥

सवितृद्योतनाच्चैव सावित्री परिकीर्तिता।
जगतः प्रसवित्री च सा वाग्रूपत्वात्सरस्वती ॥११६॥
आपोहिष्ठेत्यृचा कुर्यान्मार्जनं तु कुशोदकैः।
प्रतिप्रणवसंयुक्तं क्षिपेद्वारि पदे पदे ॥११७॥
विप्रुषोऽष्टौ क्षिपेदूर्ध्वमधो यस्य क्षयाय च।
संवत्सरकृतं पापं मार्जनान्ते विनश्यति ॥११८॥
रजस्तमो मोहजातान् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिजान्।
वाङ्मनःकायजान् दोषान्नवैतान् नवभिर्दहेत् ॥११९॥
नवप्रणवयुक्तेन ह्यापो हिष्ठेत्यृचेन च।
संवत्सरकृतं पापं मार्जनान्ते विनश्यति ॥१२०॥
ऋगन्ते मार्जनं कुर्यात् पादान्ते वा समाहितः।
तृचस्यान्तेऽथवा कुर्याच्छिष्टानां मतमीदृशम् ॥१२१॥
पश्चादुभाभ्यां हस्ताभ्यां परिषिच्य यथाक्रमम्।
सूर्यश्चेति जलं पीत्वा दधिक्रावेति मार्जयेत् ॥१२२॥
पश्चादुभाभ्यां हस्ताभ्यां ह्यादायापः समाहितः।
रवेरभिमुखस्तिष्ठन् तारव्याहृति पूर्वया ॥१२३॥
गायत्र्या चाभिमन्त्र्याथ निक्षिपेद्द्विजसत्तमः।
तिष्ठन् पादौ समौकृत्वा जलेनाञ्जलिपूरणम् ॥१२४॥
गोश्रृङ्गमात्रमुत्सृज्य जलमध्ये जलं क्षिपेत्।
सायं काले तु यो विप्रो जलेत्वर्घ्यं विनिक्षिपेत् ॥१२५॥
स मूढो नरकं याति यावदाभूतसंप्लवम्।
यत्र सन्ध्यां प्रकुर्वीत तत्रैव जपमाचरेत् ॥१२६॥

अन्यत्र तु जपं कुर्वन् पुनः सन्ध्यां समाचरेत् ।
वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ॥१२७॥
स्नातकव्रतलोपे च दिनमेकमभोजनम् ।
अर्घ्यप्रदानतः पूर्वमुदयास्तमये सति ॥१२८॥
गायत्र्यष्टशतं जप्यं प्रायश्चित्तं द्विजातिभिः ।
तत्र प्रातरतिक्रामेदुपवासोऽहरुच्यते ॥१२९॥
तथा सायमतिक्रामेद्रात्रिं चोपवसेद्द्विजः ।
यदद्यकच्चं वृत्रहन् प्रातरर्घ्यमनुस्मृतः ॥१३०॥
उच्छेदभीतिमध्याह्ने प्रायश्चित्तार्घ्य उच्यते ।
न तस्येति च सायाह्ने ततोऽन्नमुपसंहरेत् ॥१३१॥
सूतके मृतके वापि सन्ध्याकर्म न संत्यजेत् ।
मनसोच्चारयेन्मन्त्रान् प्राणायाममृते द्विजः ॥१३२॥
प्रणवेन तु संयुक्ता व्याहृतीः सप्त नित्यशः ।
सावित्रीं शिरसा सार्धं मनसा त्रिःपठेद्द्विजः ॥१३३॥
देवार्चने जपे होमे स्वाध्याये श्राद्धकर्मणि ।
स्नाने दाने तथा ध्याने प्राणायामास्त्रयस्त्रयः ॥१३४॥
आदावन्ते च गायत्र्या प्राणायामास्त्रयस्त्रयः ।
सन्ध्यायामर्घ्यदाने च प्राणायामाः सकृत्सकृत् ॥१३५॥
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु तथैव च कनिष्ठया ।
प्राणायामस्तु कर्तव्यः मध्यमां तर्जनीं विना ॥१३६॥
तर्जनीं मध्यमांस्पृष्ट्वा जपन् शूद्रसमो भवेत् ।
कृत्वोत्तानौ करौ प्रातः सायंचाधोमुखौ करौ ॥१३७॥

मध्येस्कन्धभुजाभ्यां तु जप एवमुदाहृतः ।
अधोहस्तं तु पैशाचं मध्यहस्तं तु राक्षसम् ॥१३८॥
बद्धहस्तं तु गान्धर्वमूर्ध्वहस्तं तु दैवतम् ।
प्रदक्षिणे प्रणामे च पूजायां हवने जपे ॥१३९॥
न कण्ठावृतवस्त्रः स्याद्दर्शने गुरुदेवयोः ।
दर्भहीना च या सन्ध्या यच्च दानं विनोदकम् ॥१४०॥
असंख्यातं च यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ।
जपस्य गणनां प्राहुः पद्माक्षैः भक्तिवर्धनम् ॥१४१॥
जपेत्तु तुलसीकाष्ठैः फलमक्षयमश्नुते ।
अच्छिन्नपादा गायत्री ब्रह्महत्यां प्रयच्छति ॥१४२॥
छिन्नपादा तु गायत्री ब्रह्महत्यां व्यपोहति ।
गृहस्थो ब्रह्मचारी च शतमष्टोत्तरं जपेत् ॥१४३॥
वानप्रस्थो यतिश्चैव जपेदष्टसहस्रकम् ।
प्रस्थधान्यं चतुःषष्टेराहुतेः परिकीर्तितम् ॥१४४॥
तिलानां तु तदर्धं स्यात्तदर्धं स्याद्घृतस्य (?) च ।
आत्मारूढाप्सु मज्जेद्वा वदेद्वा पतितादिभिः ॥१४५॥
अथवा योषितं गच्छेदनृतौ काममोहितः ।
वदन्त्येषु निमित्तेषु केचिदग्निविनाशनम् ॥१४६॥
आपस्तम्बस्य तन्नेष्टमात्मारूढः सदा शुचिः ।
यस्य भार्या विदूरस्था पतिता वा रजस्वला ॥१४७॥
अनिष्टा प्रतिकूला वा तस्याः प्रतिनिधौ क्रिया ।
अन्ये कुशमयीं पत्नीं कृत्वा तु प्रतिरूपिकाम् ॥१४८॥

केचिच्छरमयीं पत्नीं नित्यकर्मणि कारयेत् ।
होमार्थं गोघृतं ग्राह्यं तदलाभे तु माहिषम् ॥१४६॥
आजं वा तदलाभे तु साक्षात्तैलं ग्रहिष्यते ।
यः शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रं करोति चेत् ॥१५०॥
दाता तत्फलमाप्नोति कर्ता तु नरकं व्रजेत् ।
ऋत्विजस्ते हि शूद्राः स्युः ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥१५१॥
मेरुमन्दरतुल्यानि वाजपेयशतानि च ।
कन्याकोटिप्रदानं च समं सामयिकाहुतेः ॥१५२॥
कृतदारो न वै तिष्ठेत् क्षणमप्यग्निना विना ।
तिष्ठेत चेद्द्विजो ब्राह्मं त्यक्त्वा तु पतितो भवेत् ॥१५३॥
समिदात्मसमारूढो द्विकालमहुतस्तथा ।
धारणाग्निश्चतुर्वारं स वह्निर्लौकिको भवेत् ॥१५४॥

आरोपिताग्नेः समिधस्तु नाशे
सीमादिलंघे च पराग्निवेश ।
अयाश्च मन्त्रेण चतुर्गृहीत्वा
तेनैव मन्त्रेण सकृज्जुहोति ॥१५५॥

ब्रह्मयज्ञे जपेत्सूक्तं पौरुषं चिन्तयन् हरिम् ।
स सर्वान् जपते वेदान् सांगोपांगविधानतः ॥१५६॥
वेदाक्षराणि यावन्ति नियुञ्ज्यादर्थकारणात् ।
तावतीं ब्रह्महत्यां वै वेदविक्रय्यवाप्नुयात् ॥१५७॥
प्रख्यापनं प्राध्ययमं प्रश्नपूर्वं प्रतिग्रहः ।
याजनाध्यापने वादः षड्विधो वेदविक्रयः ॥१५८॥

आरवारे च शौक्रे च मन्वादिषु युगादिषु ।
नाहरेत्तुलसीपत्रं मध्याह्नात्परतस्ततः ॥१५९॥
संक्रान्त्यां पक्षयोरन्ते द्वादश्यां निशिसन्ध्ययोः ।
तुलसीं ये विचिन्वन्ति ते कृन्तन्ति हरेः शिरः ॥१६०॥
तीर्थे पापं न कुर्वीत न कुर्याच्च प्रतिग्रहम् ।
दुर्जरं पातकं तीर्थे दुर्जरश्च प्रतिग्रहः ॥१६१॥
ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कथंचन ॥१६२॥
यो राज्ञः प्रतिगृह्यैव शोचितव्ये प्रहृष्यति ।
न जानाति किलात्मानं विष्ठाकूपे निपातितम् ॥१६३॥
तृणं वा यदि वा काष्ठं मूलं वा यदि वा फलम् ।
अनापृष्ट्वैव गृह्णीयाद्धस्तच्छेदनमर्हति ॥१६४॥
वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तृणानि च ।
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥१६५॥
भ्रूणहत्यां प्रसिद्धिं (वाधुषिं) च तुलायां समतोलयन् ।
प्रतिष्ठद्भ्रूणहा कोट्यां वार्धुषिः समकम्पत ॥१६६॥
अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ।
अन्यत्र कुलदा (पा) (टां) षण्डपतितेभ्यः(स्)तथा द्विषः ।
महापातकिनश्चोरादम्बष्ठाद्भिषजस्तथा ।
मृगयोः (टा)पिशुनाच्चैव नादद्यादाहृतं द्विजः ॥१६७॥
कुलदा(पा) षण्डपतितवैरिभ्यः काकिणीमपि ।
उद्यतामपि गृह्णीयाद्दापद्यपि कदाचन ॥१६८॥

परार्थे तिलहोतारं परार्थे मन्त्रजापिनम् ।
मातापित्रोरपोष्टारं दृष्ट्वा चक्षुर्निमीलयेत् ॥१६६॥
कुक्कुटश्वानमार्जारान् पोषयन्ति दिनत्रयम् ।
इह ज्ज्न्मनि शूद्रत्वं मृतः श्वा चाभिजायते ॥१७०॥
परहिंसारताः क्रूराः परदारपरायणाः ।
परद्रव्यापहारी च चण्डाला यस्तु निर्दयः ॥१७१॥
नगरे पट्टणे वापि द्वादशाब्दं तु यो वसेत् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१७२॥
राजाश्रयेण यो मर्त्यो द्वादशाब्दं वसेद्यदि ।
जीवमानो भवेच्छूद्रः नात्र कार्या विचारणा ॥१७३॥
अनृतात्स्वसमुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥१७४॥
यस्मिन् देशे यदा काले यन्मुहूर्ते च यद्दिने ।
हानिर्वृद्धिर्यशो लाभः तत्तथा न तदन्यथा ॥१७५॥
अज्ञात्वा धर्मशास्त्राणि प्रायश्चित्तं वदन्ति ये ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्त्रमधिगच्छति ॥१७६॥
चत्वारो वा त्रयो वापि यद्ब्रूयुर्वेदपारगाः ।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरस्तु सहस्रशः ॥१७७॥
ये पठन्ति द्विजा वेदं पञ्चयज्ञरताश्च ये ।
त्रैलोक्यं तारयन्त्येते पञ्चेन्द्रियरता अपि ॥१७८॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥१७६॥

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
याजनाध्यापनादीनां न तु शय्यासनाशनात् ॥१८०॥
सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति संप्राप्ते तु कलौ युगे।
नानुतिष्टन्ति वेदोक्तं पाषण्डोपहता जनाः ॥१८१॥
षष्ठ्यष्टमीहरिदिनं द्वादशी च चतुर्दशी।
पर्वद्वयं च संक्रान्तिः श्राद्धाहो जन्मतारका ॥१८२॥
श्रवणव्रतकालश्च विशेषदिवसास्तथा।
एते काला निषिद्धाःस्युः भद्रे मैथुन कर्मणि ॥१८३॥
कृते संभाष्य पतति त्रेतायां दर्शनेन तु।
द्वापरे त्वन्नमादाय कलौ पतति कर्मणा ॥१८४॥
चतुर्दश्यष्टमी चैव ह्यमावास्या तु पूर्णिमा।
सर्वाण्येतानि विप्रेन्द्राः रविसंक्रान्तिरेव च ॥१८५॥
अर्थार्थी यानि कर्माणि करोति कृपणो जनः।
तान्येव यदि धर्मार्थं कुर्वन् को दुःखभाग्भवेत् ॥१८६॥
चैत्यवृक्षंचितायूप(धूमं) च(चा)ण्डालं वेदविक्रयम्।
अज्ञानात्स्पृशते यस्तु सचैलो जलमाविशेत् ॥१८७॥
इक्षूनपः फलं मूलं ताम्बूलं पयऔषधम्।
विक्रयित्वापि कर्तव्या स्नानदानादिका क्रिया ॥१८८॥
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञा यस्तामुल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी ममद्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥१८९॥
विष्णुना तु पुरा गीतमेवं तत्तु मयेरितम्।
श्रुतिस्मृती तु विप्राणां चक्षुषी द्वे विनिर्मिते ॥१९०॥

काणस्तत्रैकया हीनो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः ।
चर्मखण्डनभक्षाणां शुनाघ्रातमरोचकम् ॥१६१॥
पापपूरितदेहानां धर्मशास्त्रमरोचकम् ।
अहेरिव क्षुणाद्भीतः स(म्मा)न्मानान्मरणादिव ॥१६२॥

कुणपादिव च स्त्रीभ्यः तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
शान्तं दान्तं जितक्रोधं जितात्मानं जितेन्द्रियम् ॥१६३॥
तमग्र्यं ब्राह्मणं मन्ये शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः ।
ब्राह्मणस्य च देहोऽयं नोपभोगाय कल्पते ॥१६४॥
इह क्लेशाय महते प्रेत्यानन्तसुखाय च ।
दर्शे तिलोदकं दद्याच्छुष्कवासा जलाद्बहिः ॥१६५॥
आर्द्रवस्त्रो यदि तदा निराशाः पितरो गताः ।
शिलातले पटे पत्रे रोमस्थानेषु कुत्रचित् ॥१६६॥
ते तिलाः कृमितुल्याःस्युस्तत्तोयं रुधिरं भवेत् ।
अङ्गुष्ठोदरमूले तु तिलान्निक्षिप्य तर्पयेत् ।
ते तिला मेरुतुल्यास्स्युस्तत्तोयं सागरोपमम् ॥१६७॥

पानीयमप्यत्र तिलैर्विमिश्रं
दद्यात्पितृभ्यः प्रयतो मनुष्यः ।
श्राद्धं कृतं तेन समा सहस्रं
रहस्यमेतत्पितरो वदन्ति ॥१६८॥

मासिके च सपिण्डे च प्रतिसंवत्सरे तथा ।
व्यर्थं भवति तच्छ्राद्धं वासुदेवं विना कृतम् ॥१६९॥

जपस्तपः श्राद्धकर्म स्वाध्यायादिकमेव च ।
व्यर्थं भवति तत्सर्वमूर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम् ॥२००॥
श्राद्धं कृत्वा परदिने न द्विजान् भोजयेद्यदि ।
तच्छ्राद्धमासुरं लोके प्रवदन्ति विपश्चितः ॥२०१॥
श्राद्धं कृत्वा परदिने ब्राह्मणान् भोजयेद्यदि ।
देवाश्च पितरस्तुष्टाः कर्तुः कुर्वन्ति संपदः ॥२०२॥
श्राद्धे पाकमुपक्रम्य नान्दीश्राद्धं विवाहके ।
व्रतं चरति संकल्पे सूतकं तु न दोषकृत् ॥२०३॥
श्राद्ध तु विकिरं दत्वा नाचामेन्मतिविभ्रमात् ।
पितरस्तस्य षण्मासं चण्डालोच्छिष्टभोजनाः ॥२०४॥
सहोदराणां पुत्राणां पितुरेकदिने तथा ।
श्राद्धे निमन्त्रणं वर्ज्यं क्षुरकर्म तथैव च ॥२०५॥
विधुरं च यतिं चैव सगोत्रं ब्रह्मचारिणम् ।
देवार्थे वरयेद्विद्वान् न पित्रर्थे कदाचन ॥२०६॥
वासांसि वाससी वासो यो ददाति पितुर्दिने ।
तन्तु संख्यातवर्षेण देवलोके महीयते ॥२०७॥
अभिश्रवणहीनं तु यः श्राद्धं कुरुते नरः ।
तदन्नं मांससदृशं तद्रसं सुरया समम् ॥२०८॥
उदक्यायाः पतिं तावत्सूतिकायाः पतिं तथा ।
भाण्डस्पर्शनपर्यन्तं पैतृके वर्जयेत्सुधीः ॥२०९॥
विभक्ता भ्रातरः सर्वे स्वस्वार्जितधनाः शनैः ।
दर्शाब्दिकं तथा पित्रोः श्राद्धं कुर्यात्पृथक् पृथक् ॥२१०॥

संन्यासीबहुभक्षश्च वैद्यो वैखानसस्तथा ।
गर्भवान्वेदहीनश्च दानं श्राद्धं च वर्जयेत् ॥२११॥
स्नाने दाने जपे होमे स्वाध्याये पितृकर्मणि ।
देवताराधने चैव त्याज्यदोषो न विद्यते ॥२१२॥
प्रत्याब्दिके शतं जप्यं मासिके स्यात् द्विषट्शतम् ।
सपिण्डे त्रिसहस्रं स्याच्छ्राद्धं त्रिंशसहस्रकम् ॥२१३॥
मासिके पक्षमेकं स्यादाब्दिके च तदर्धकम् ।
एकोद्दिष्टे वत्सरं स्यात् षाण्मासं तु सपिण्डने ॥२१४॥
महालये त्रिरात्रं स्यात् श्राद्धे त्वाकालिकं भवेत् ।
श्राद्धान्नं तिलहोमं च दूरयात्रां प्रतिग्रहम् ॥२१५॥
सिन्धुस्नानं गयाश्राद्धं वपनं शवधारणम् ।
पर्वतारोहणं चैव गर्भकर्ता तु वर्जयेत् ॥२१६॥
गर्भकर्ता तु यो विप्रो षण्मासाभ्यन्तरे यदि ।
श्राद्धान्नादीनि कुर्वाणो क्षिप्रमेव विनश्यति ॥२१७॥
मध्यंदिने हढाङ्गो यः स्नानं त्यक्त्वार्चयेद्धरिम् ।
वैश्वदेवं च यः कुर्यात् स गुल्मव्याधिपीडितः ॥२१८॥
पितरस्तत्र मोदन्ते गीयन्ते(?) च पितामहाः ।
प्रपितामहाश्च नृत्यन्ते श्रोत्रिये गृहमागते ॥॥२१९॥
देशान्तरे दुरन्नानां प्रायश्चित्तद्वयं स्मृतम् ।
समुद्रगानदीस्नानं शिष्टागारेषु भोजनम् ॥२२०॥
अनाचारस्य विप्रस्य पतितान्नं यतेस्तथा ।
शूद्रान्नं विधवान्नं च श्वमांससदृशं भवेत् ॥२२१॥

योमोहादथवाऽऽलस्यातकृत्वा(श्री)केशवार्चनम् ।
भुङ्क्ते स याति नरकं श्वानयोनिषु जायते ॥२२२॥
अनृतं मद्यगन्धं च दिवास्वापं च मैथुनम् ।
पुनाति वृषलस्यान्नं सायं सन्ध्या बहिर्जले(बहिष्कृता) ।२२३
स्नानं सन्ध्यां जपं होमं स्वाध्यायं पितृतर्पणम् ।
देवताराधनं चैव वैश्वदेवं यथाविधि ।
न कुर्याद्यदि मोहेन स चण्डालो न संशयः ॥२२४॥

॥ इति वाधूलस्मृतिः समाप्ता ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

* विश्वामित्रस्मृतिः *

अथ प्रथमोऽध्याय

नित्यनैमित्तिककर्मणांवर्णनम्

सहस्रदलपङ्कजे सकलशीतरश्मिप्रभे ।
वराभयकराम्बुजं विमलगन्धपुष्पाम्बरम् ॥
प्रसन्नवदनेक्षणं सकलदेवतारूपिणं ।
स्मरेच्छिरसिपावनं तदविधानपूर्वं गुरुम् ॥ १ ॥

आह्निकम्

चतुःपञ्चघटीमानं मुहूर्तं ब्रह्मसंज्ञितम् ।
पञ्चपञ्चघटी ज्ञेया उषःकाल इतीष्यते ॥ २ ॥
ऋतुबाणघटीमानमरुणोदयसंज्ञितम् ।
उषः पञ्चघटीमानं प्रातःकाल इति स्मृतः ॥ ३ ॥
एवं ज्ञात्वा प्रभाते तु नित्यकर्म समाचरेत् ।
नित्यनैमित्तिके काम्ये कृते काले तु सत्फलम् ॥ ४ ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय कृत्वा शौचं समाहितः ।
स्नानं कुर्यादुषःकाले आत्मार्थमरुणोदये ॥ ५ ॥
प्रातःकाल जपं कुर्यान्नित्यनैमित्तिकं विदुः ।
रश्मिमन्तं समालोक्य उपस्थानं समाचरेत् ॥ ६ ॥

॥ सन्ध्यायां मुख्यकालातिक्रमे दोषः ॥

कालातीतं न कर्तव्यं कर्तव्यं कालसंयुतम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन काले कर्म समाचरेत् ॥ ७ ॥
उक्तकाले तु यत्कर्म प्रमादादकृतं यदि ॥ ८ ॥
त्रिसहस्रजपं कुर्यात्प्रायश्चित्तं विधीयते ।
तथा प्रोक्तं प्राणायामद्वयत्रिकम् ॥ ९ ॥
अथवा जपमात्रेण कालातीतेन दोषभाक् ।
त्रिसहस्रं सहस्रं वा त्रिशतं शतमेव वा ॥१०॥
अनुलोमविलोमाभ्यां जप्त्वादपाप क्षयो भवेत् ।
उक्तकाले व्यतीते तु उपाधिश्च प्रमाणकम् ॥११॥
अनुलोमविलोमाभ्यां सहस्रजपमाचरेत् ।
देहस्वस्थवता(स्त्यवता,येन स्वस्थचित्तवताऽपि च ॥१२
कालोऽतिक्रम्यते नित्यं तस्य पापो न गण्यते ।
स सर्वमार्गविभ्रष्टस्तिर्यक्त्वं समवाप्नुयात् ॥१३॥
तस्य दर्शनमात्रेण सचैलः स्नानमाचरेत् ।
असम्बद्धप्रलापेन दुःसङ्गेनापि निद्रया ॥१४॥
अतिक्रामन्ति ये कालं ते नरा ब्रह्मघातिनः ।
नित्यकर्माखिलं यस्तु उक्तकाले समाचरेत् ॥१५॥
जित्वा स सकलांल्लोकान् अन्ते विष्णुपुरं व्रजेत् ।
प्रत्यहं प्रातरुत्थाय स्नानं सन्ध्यां समाप्य(विधाय)च ॥१६॥
यथाशक्ति जपेद्विद्वान् स मुक्तो नात्र संशयः ।
यामे चान्त्ये च सर्वर्यां नाडीनां पञ्चकं द्विजः ॥१७॥

प्रातःकाल इति ज्ञात्वा नित्यकर्म समाचरेत् ।
कर्मकालो दिनान्ते तु पादंन्यूनंघटीत्रयम् ॥१८॥
बिम्बं दृष्ट्वा त्यजेदर्घ्यं जपेदातारकोदये ।
षण्मतेषु समाप्तेषु तत्तन्मन्त्रानुसारतः ॥१९॥
नित्यकर्माणि यः कुर्यात्कर्मसिद्धिं लभेन्नरः (त सः) ।

अनुक्तकाले कृतकर्म निष्फलं
अकालवृष्टिः पतिता यथा भुवि ॥
उप्तानि बीजानि विनिष्फलानि वा-
करोत्यकालः कृतकर्मनिष्फलः ॥२०॥
नियुक्तकर्माणि नियुक्तकाले
कृतानि सद्यस्सुखसिद्धिदानि ।
यथोप्तबीजानि यथा फलानि
काले हि वृष्टिर्भुवि जीवनानि ॥२१॥

सन्ध्यात्रितयलक्षणम्

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका
अधमा सूर्यसहिता प्रातस्सन्ध्या त्रिधा मता ॥२२॥
उत्तमा पूर्वसूर्या च मध्यमा मध्यसूर्यका ।
अधमा पश्चिमादित्या मध्यसन्ध्या त्रिधा मता ॥२३॥
उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा ।
अधमा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधा मता ॥२४॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि नित्यं कर्म न सन्त्यजेत् ।
तत्रापि कालनियमादर्घ्यदानं विशिष्यते ॥२५॥

सन्ध्यात्रये पूर्वमुखो द्विजन्मा
त्रिधैवशुद्धाचमनं प्रकुर्यात्।
उदङ्मुखोवापि समाचरेन्न
तद्दक्षिणापश्चिमयोःकदापि ॥२६॥
सन्ध्यास्नानं परित्यज्य विद्याभ्यासं करोति यः।
तस्य विद्याविनाशःस्यादधर्मोभवति ध्रुवम् ॥२७॥
गुरूपदेशविधिना स्नानं सन्ध्यां समाचरेत्।
वेदादिसर्वविद्यार्थज्ञानसंपत्तिसाधनम् ॥२८॥
इत्येषाद्विजवर्णानां विद्याभ्यासविधिःक्रमात्।
अन्यथा योऽभ्यसेद्विद्यां तस्य विद्या न सिध्यति ॥२६॥
यस्सन्ध्यां कालतः प्राप्तां अतिक्रमति दुर्मतिः।
भ्रूणहत्यामवाप्नोति काकयोनौ प्रजायते ॥३०॥
यथाशक्त्याचरेत्सन्ध्यां कालेऽह्ना(द्व्य)फलमाप्नुयात्।
काले तस्मात्प्रयत्नेन नित्यकर्म समाचरेत् ॥३१॥
आचारो द्विविधः प्रोक्तः सोपाधिरनुपाधिकः।
सोपाधिर्गुणमात्रः स्यान्मुख्यःस्यादनुपाधिकः ॥३२॥
उपाधौ समनुप्राप्ते गौणाचारं समाचरेत्।
अनुपाधौ च दुर्बुद्ध्या गौणाचारं करोति यः ॥३३॥
स दारिद्रमवाप्नोति महारोगः प्रजायते।
अपवादो महान् दोषो सम्भवेज्जन्मजन्मनि ॥३४॥
मुख्याचारं परित्यज्य गौणाचारं करोति यः।
तस्य कर्माणि धर्माश्च निर्जिताः स्युर्न संशयः ॥३५॥

मुख्याचारो महान्श्रेष्ठो मुमुक्षोरुपपादकः (कारकः)।
यथाकालं द्विजः कुर्यान्मुख्याचारं विधीयते ॥३६॥
स्वगुरुं पूजयत्येवमुपचारैश्च पञ्चभिः।
सद्भक्त्या संहितामेतां विश्वामित्रस्स(प्र)कल्पयेत् ॥३७॥
प्रातरुत्थाय यो विप्रः स्वात्ममूलस्थकुण्डलीम्।
प्रबोध्यो सु प्रभातायां गायत्री तत्र चिन्तयेत् ॥३८॥
कुण्डलिन्यां समुद्भूतां गायत्रीं प्राणधारिणीम्।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥३६॥
अष्टधा कुण्डलीज्ञेया द्वात्रिंशद् वर्णसंख्यया।
एवं ज्ञात्वा प्रभातायां षडाधारे तथा न्यसेत् ॥४०॥
षडाधारेषु षट्कुक्षिं विन्यसेच्चतुरक्षरम्।
आदिप्रणवसंयुक्तं षट्कुक्षिं विन्यसेत्क्रमात् ॥४१॥
सहस्रदलमध्यस्था सफला स चतुर्यका।
सोऽहं हंसेति विज्ञेया संकल्पज्ञानपूर्वकम् ॥४२॥
अस्य संकल्पमात्रेण सर्वं पापैः प्रमुच्यते।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशोजपः ॥४३॥
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतो न भविष्यति।
समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ॥४४॥
विष्णुपत्नी नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।
अतितीक्ष्णमहाकाय कल्पान्तदहनोपमः ॥४५॥
भैरवाय नमस्तुभ्यमनुज्ञां दातुमर्हसि।
अथोत्थाय बहिर्गत्वा विण्मूत्रादि त्यजेद्द्विजः ॥४६॥

ग्रामाद्दक्षिणदिग्भागे शतधन्वन्तरावधि ।
देवाश्च ऋषयश्चैव गणनाथाश्च योगिनः ॥४७॥
गच्छन्तु देवताः सर्वा अत्र शौचं करोम्यहम् ।
प्रथमं च शिरोवेष्टं निवीतं च द्वितीयकम् ॥४८॥
दिग्दर्शनं तृतीयं स्यात् अन्तर्धानं चतुर्थकम् ।
मौनन्तु पञ्चकं ज्ञेयं पुरीषं षष्ठमेव च ।
सप्तमं मृत्तिकाधानं उदकं चाष्टमं स्मृतम् ॥४९॥
मुष्टिमात्रतृणं दत्त्वा रात्रौ नेद्दक्षिणामुखः ।
दिवाचोदङ्मुखः कुर्याच्छौचं कर्म समाहितः ॥५०॥
वामदक्षिणकर्णस्थ उपवीतं च धारयेत् ।
क्रमान्मूत्र पुरीषे च कुर्याच्छौचं द्विजोत्तमः ॥५१॥
यथाविध्युक्तमार्गेण कुर्यादुद्धृतवारिणा ।
कूपकुल्या तटाकादिजलैः शौचं करोति यः ॥५२॥
कल्पकोटिशतैर्वापि नरकान्न निवर्तते ।
एकालिङ्गे करे तिस्रः पञ्चापाने तथैव च ॥५३॥
पादद्वये चतुः संख्या एतच्छौचं विधीयते ।
एतद्धर्मो गृहस्थस्य इतरेषां पृथक्पृथक् ॥५४॥
स्मार्तानां द्विगुणं कुर्यात् वनस्थस्त्रिगुणं तथा ।
चतुर्गुणं यतीनां च त्रयाणां भेद ईरतिः ॥५५॥
दुर्गन्धत्यागपर्यन्तं कृत्वा शौचं समाहितः ॥५६॥

॥ दन्तधावनम् ॥

क्षीरकाष्ठेन कुर्वीत दन्तधावनमग्रजः ।
तृणपर्णैस्सदा कुर्यादमा (मे) एकादशीं विना ॥॥५७

तयोरपि च कुर्वीत जम्बूप्लक्षाम्लपर्णकैः ।
आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाःपशुवसूनि च ॥५८॥
ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनस्पते ।
निष्ठीवनं च गण्डूषं वायव्याभिमुखो नरः ॥५९॥
ईशानाभिमुखो भूत्वा वायव्यान्ते समुत्सृजेत् ।
अङ्गारवालुकाभिश्च भस्मांगुलिनखैरपि ॥६०॥
इष्टकालोष्टपाषाणैर्न कुर्याद्दन्तधावनम् ।
खदिरश्च करञ्जश्च कदम्बश्च वटस्तथा ॥६१॥
वेणुश्चतिन्तिडीप्लक्षा वाम्रनिम्बे तथैव च ।
अपामार्गश्च बिल्वश्च अर्कश्चौदुम्बरस्तथा ॥६२॥
एते प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि ।
यथाशक्त्यनुसारेण दन्तधावनमाचरेत् ॥६३॥
ततो नदीं समागम्य गङ्गाध्यानपुरस्सरम् ।

॥ आचमनम् ॥

स्वसूत्रोक्तविधानेन कुर्यादाचमनत्रयम् ।
वामहस्ते जलं नीत्वा त्रिर्व्याहृत्याभिमन्त्रितम् ॥६४॥
आकृष्य दक्षिणे भागे रेचयेद्वाममार्गतः ।
स्ववामभागमालोक्य वज्रपाषाणतस्त्यजेत् ॥६५॥
पुनः शुद्धाम्बुनाचम्य ततः स्नानं समाचरेत् ।
नाभिमात्रे जलेस्थित्वा त्रिवारं स्नानमाचरेत् ॥६६॥

॥ स्नानभेदाः ॥

प्राणायामत्रयं कुर्यात् दशप्रणवसंयुतम् ।
उल्लिखेन्मार्जनं यन्त्रं स्नानयन्त्रं समुल्लिखेत् ॥६७॥

गङ्गामंत्रेण चावाह्य सलिलोपरि (द्भव) मुद्रया ।
वह्निमण्डलमालिख्य जलमध्येसबिन्दुकम् ॥६८॥

मायाबीजं समुल्लिख्य दण्डेषु व्याहृतित्रयम् ।
ततश्शुद्धाम्बुनाचम्य प्राणायामत्रयं तथा ॥६९॥

देशकालौ च सङ्कीर्त्य गायत्रीध्यानपूर्वकम् ।
सूक्तेन मार्जनं कुर्याद्यथाशास्त्रोक्तमार्गतः ॥७०॥

अघमर्षणमन्त्रण स्नायात्पञ्चाङ्गपूर्वकम् ।
सङ्कल्पं सूक्तपाठं च मार्जनं चाघमर्षणम् ॥७१॥

देवादितर्पणं चैव स्नानं पञ्चाङ्गलक्षणम् ।
शिरःस्नानं गलस्नानं कटिस्नानं तथैव च ॥७२॥

आजानुपादपर्यन्तं मन्त्रस्नानं चतुर्विधम् ।
तकाराद्यष्टभिर्वर्णैः शिरसि प्रोक्ष्यमान सैः
(शिरःस्नानं समारेत्) ॥७३॥

भकाराद्यष्टभिर्वर्णैः कण्ठस्नानं समाचरेत् ।
सकाराद्यष्टभिर्वर्णैः कटिस्नानं समाचरेत् ॥७४॥

पकाराद्यष्टभिर्वर्णैः जानुपादे समाचरेत् ।
एवं विज्ञानमात्रेण गङ्गास्नानशतं फलम् ॥७५॥

मन्त्रस्नानं विना विप्रो जलस्नानं करोति यः ।
मनोनिर्मलता तस्य नास्ति हि श्रुतिचोदितम् ॥७६॥

श्रोत्रे नासाक्षिणी बद्ध्वा सहसान्तर्जले प्लुतः ।
मग्नं कृत्वा पठेन्मन्त्रं यावद्वायुनिरोधनम् ॥७७॥

ततः स्नानत्रयं कुर्याच्छिरोव्याहृतिपूर्वकम् ।
त्रिकालं त्रिविधं स्नायाद्वारुणं मृत्तिकायुतम् ॥७८॥
पश्चादर्द्रकमिति प्रोक्तं क्रमात्स्थानत्रयं बुधैः ।
शिरस्तनुर्द्वादशधा प्रोक्षयेच्छङ्खमुद्रया ॥७९॥
व्याहृत्यादिशिरोऽन्त्येन मनुना द्विजसत्तमः ।
षट्संख्यं ब्रह्मरन्ध्रे तु त्रित्रिसंख्यं भुजद्वये ॥८०॥
मूलमन्त्रं च मनसा पूजयेत्पञ्चपूजनैः ।
ब्रह्म(देव)र्षिपितृतुष्ट्यर्थं त्रिश्चतुर्धैव तर्पयेत् ॥८१॥
व्याहृत्यैककया युक्तैः प्रणवादिनमोऽन्तकैः ।
तत्तच्छब्दैस्तर्पयेत्तु तुर्यैस्त्रैलोक्यसंयुतैः ॥८२॥
यस्तर्पणं विना स्नायात्सलिले मत्स्यवद्भवेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन यथोक्तं स्नानमाचरेत् ॥८३॥
यन्मया दूषितं तोयं शारीरमलनाशनात् ।
तस्य पापविशुद्ध्यर्थं यक्ष्माणं तर्पयाम्यहम् ॥८४॥
इति त्रिरञ्जलिं दत्वा यक्ष्मप्रियकरं बहिः ।
ततस्तीरं समागम्य गायत्रीकवचं पठेत् ॥८५॥

गुणा दशस्नानकृतो हि पुंसो
रूपं च तेजश्च बलं च शौचम् ।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं
दुःस्वप्ननाशं च तपश्च मेधा ॥८६॥

स्नानार्थं प्रस्थितं विप्रं देवा पितृगणैस्सह ।
तृष्णार्ताश्च(षार्ता)समायान्ति न स्नायान्नरकं व्रजेत् ॥८७॥

मध्याह्ने मृत्तिकास्नानं कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ।
प्रातस्सायाह्नसमये न कुर्यान्मृत्तिकाक्रियाम् ॥८८॥

॥ वस्त्रधारणम् ॥

सूत्रेण ग्रथितं सूच्या खण्डं चित्रं तथैव च ।
विचित्रपुत्तलीवस्त्रमन्यवस्त्रं न धारयेत् ॥८९॥
एतत्समस्तमित्युक्तं पट्टवस्त्रं न दोषभाक् ।
और्णवस्त्राणि सर्वाणि न दोषो धारयेद्बुधः ॥९०॥
प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं वानप्रस्थगृहस्थयोः ।
यतेस्त्रिषवणं स्नानमसकृत्तु ब्रह्मचारिणाम् ॥९१॥
प्रोक्ष्य वासोपसंयोज्य प्रणवादिषडक्षरैः ।
शुद्धधौतं परिग्राह्यं षट्कच्छविधिधर्मकम् ॥९२॥
कच्छद्वयं वस्त्रमध्ये तच्छृङ्गेषु (च) चतुष्टयम् ।
एवं क्रमेण बध्नीयाल्लक्षणं श्रुतिचोदितम् ॥९३॥
भोजनोत्तरनिर्माल्यं प्रक्षाल्यद्विजसत्तमः ।
सायंसन्ध्यां प्रकुर्वीत अन्यथा ब्रह्मघातकः ॥९४॥
प्रातर्मध्याह्नयोः स्नात्वा पृथक्सन्ध्यां समाचरेत् ।
एष धर्मो गृहस्थस्य योगिनां प्रातरेव हि ॥९५॥

॥ प्राणायामः ॥

उषःकाले प्रशस्तं स्याद्योगिनां वायुधारणम् ।
गङ्गाद्वारे ततःस्नात्वा स्थित्वा ब्रह्मदिनत्रयम् ।
तत्फलं समवाप्नोति द्विजो वायुनिरःधरुः(तः) ॥९६॥

तत्रापि कुम्भकं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत्।
सूर्योदयं समारभ्य घटिकाद्वादशोपरि ॥९७॥
ब्रह्मयज्ञाङ्कस्नानं अपराह्णे तु तर्पयेत्।
सङ्कल्प्य ब्रह्मयज्ञं च यथाशक्ति समाचरेत् ॥९८॥
माध्याह्निकं प्रकुर्वीत जपान्ते तर्पयेत्तथा।
यन्त्रहीनं जलस्नानं बीजहीनं तु यन्त्रकम् ॥९९॥
बिन्दुहीनं तु यद्बीजं वृथा स्नानं न संशयः।
मन्त्रहीनो जले स्नात्वा सन्ध्यावन्दनमाचरेत् ॥१००॥
अशुचेस्तस्यमनसो मलिनं नैव गच्छति।
मन्त्रयन्त्रविहीनो यः स्नानं सन्ध्यां करोति चेत् ॥१०१॥
विफलं मन्त्रतेजस्स्यात्सत्यं सत्यं न संशयः।
पञ्चस्नानं विना येन सायं सन्ध्या कृता यदि ॥१०२॥
तस्य पापं न गच्छेत यथा सूर्येऽस्तगे तमः।
परिधाय शुभं वस्त्रं तिलकं धारयेत्ततः ॥१०३॥

॥ पुण्ड्धारणम् ॥

गुरूपदेशमार्गेण अन्यथा धर्मघातकः।
मृद्वारिचन्दनं भस्म वामहस्ते निधापयेत् ॥१०४॥
त्रिकोणयन्त्रंसंलेख्य मध्ये मायां स बिन्दुकाम्।
कोणाग्रे प्रणवं लेख्यं दण्डेषु व्याहृतित्रयम् ॥१०५॥
अभिमन्त्र्य तु गायत्रं मन्त्रराजं दशावधि।
ललाटे तिलकं कुर्याद्गुरुपूजापुरस्सरम् ॥१०७॥

मन्त्रयन्त्रविहीनं यत्तिलकं यदि धारयेत् ।
तन्मुखं शववद्भाति ब्रह्मतेजो न विद्यते ॥१०८॥
तिलकं यत्र संयुक्तं मन्त्रसंयुक्तमेव च ।
ललाटे यत्र दृश्येत तत्तेजो ब्रह्मनामकम् ॥१०९॥
प्रणवं चोर्ध्वपुण्ड्रं च त्रिपदा च त्रिपुण्डकम् ।
ललाटे यस्य दृश्यन्ते(वर्तन्ते)तेजस्वि (स्वी)ब्रह्मदो भवेत् ११०
ओमापोज्योतिमन्त्रेण शिखाबन्धनमाचरेत् ।
स्वसूत्रोक्तविधानेन सन्ध्यावन्दनमाचरेत् ।
अन्यथा यस्तु कुरुते आसुरीं तनुमाप्नुयात् ॥१११॥
मयाकृते मूत्रपुरीषशौच-
प्रक्षालयगण्डूषणमेहने च ।
वस्त्रस्यसंक्षालनके च दुष्कृतं
क्षमस्व गङ्गे मम सुप्रसन्ना ॥११२॥
त्रिकोणमध्ये ह्रींकारं कोणाग्रे प्रणवं लिखेत् ।
दण्डेषु व्याहृतिश्चैव उल्लिखेदुदके तथा ॥११३॥
प्रणवेनर्बाहिर्वेष्ट्य जलं पीत्वाऽथ मार्जयेत् ।
तथैवविन्यसेत्सन्ध्यां अन्यथा शूद्रवद्भवेत् ॥११४॥

इति श्रीविश्वामित्रसंहितायां आन्हिकविधियोगोनाम
प्रथमोऽध्यायः ।

अथ द्वितीयोऽध्याय

आचमनविधिवर्णनम्

जलमध्ये वामकरे दक्षिणे कर्णवत्कृती ।
आदौ गुरुं नमस्कृत्य पश्चादाचमनं चरेत् ॥ १ ॥
प्रागाचामेदमृतंस्यात् सोम्यायां सोमपाभवेत् ।
पश्चान्मुखोरक्तपास्यात् सुरापो(पी)दक्षिणामुखः ॥ २ ॥
चतुर्विंशतिनामानि तत्तदंगानि संस्पृशेत् ।
विन्यसेत्केशवादीनि पौराणाचमनं भवेत् ॥ ३ ॥
तकारादियकारान्तैः चतुर्विंशति वर्णकैः ।
संस्पृशेत्तत्तदंगानि स्मार्तमाचमनं चरेत् ॥ ४ ॥
देव्यापादैस्त्रिराचम्य अविलगैर्नवभिः स्पृशेत् ।
सप्तव्याहृतिगायत्री शिरस्तुर्यस्तदागमम (?) ॥ ५ ॥
त्रिधाचाचमनं प्रोक्तं पौराणं स्मार्तमागमं ।
श्रौतं च मानसं चेति पंचधा प्रोच्यते पुनः ॥ ६ ॥
संध्याप्रारम्भकालेषु कुर्यादाचमनत्रयं ।
संहृताङ्गुलिहस्तेन ब्रह्मतीर्थे पिबेज्जलं ॥ ७ ॥
मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यां शेषेणाचमनं भवेत् ।
गोकर्णाकृतिहस्तेन माषमात्रं जलं पिबेत् ॥ ८ ॥
न्यूनातिरिक्तमात्रेण तज्जलं सुरयासमं ।
आदौचान्ते च मंत्रैश्च क्रमादाचमनं चरेत् ॥ ९ ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणानि पर्यायेणविलोमतः ।
अङ्गुलित्रयसंयुक्तं मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठकं ॥१०॥

गोकर्णाकृतिरित्याहुः ब्राह्मकर्म प्रकीर्तितं ।
हस्तमध्यस्थ सलिलं पीतशेषं न संत्यजेत् ॥११॥
क्वचित्त्यागं क्वचित्पानं कुर्याद्दुर्ब्राह्मणं विदुः ।
केशवादित्रयेणापो माषदध्नं पिबेत्क्रमात् ॥१२॥
गोविन्दमग्रतोन्यस्य सौषुम्ने विष्णुमेव च ।
मधुसूदनमादित्ये सुधांशौ च त्रिविक्रमं ॥१३॥
अग्रतो वामनं चैव श्रीधरं हस्तयोस्तथा ।
हृषीकेशं पद्मनाभं उभयोः पादयोर्न्यसेत् ॥१४॥
दामोदरं ब्रह्मरन्ध्रे नामसंकर्षणस्य च ।
न्यसेद्वा नासिकामध्ये चास्यान्ते वा विनिर्दिशेत् ॥१५॥
विन्यसेद्दक्षनासायां वासुदेवं तथैव च ।
प्रद्युम्नं विन्न्यसेद्वामे अनिरुद्धं तु दक्षिणे ॥१६॥
पुरुषोत्तमं वामनेत्रे दक्षकर्णे(ह्य) अधोक्षजम् ।
नारसिहं वामकर्णे नाभावच्युतमेव वा ॥१७॥
जनार्दनं हृदि न्यस्य ब्रह्मरंध्रेत्युपेन्द्रकं ।
विन्न्यसेच्च हरिं कृष्णं भुजे दक्षे च वामके ॥१८॥
पौराणं स्मार्तमित्येतत् क्षत्रियाणां विधीयते ॥१९॥
परित्वागिर्वणोगिर इमा भवन्तु विश्वतो ।
वृद्धायुमनुवृद्धयो तुष्टाभवन्तु जुष्टयः ॥२०॥
पुण्यस्त्रोणां तथा ज्ञेयं शूद्राणां नाममात्रकं ।
शुद्धाचमानां त्रिविधं प्रकारं
कुर्यात्त्रिसंध्यापि(सु) समस्तकर्मसु ।

आरम्भणं केशवनाम युक्तं

श्रुति स्मृतिभ्यां द्विविधं तथोच्यते ॥२१॥

देवतीर्थेन संगृह्य ब्रह्मतीर्थे जलं पिबेत्।

मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यां गोकर्णाकृति रुच्यते ॥२२॥

वर्तमादौ विधिपूर्वकर्मनित्य त्रिकालं प्रयतैश्च नित्यं।

श्रुतिस्मृतिप्रोक्त पुराणमार्गं तस्माद्विशुद्धाचमनं विशिष्टं ।२३

नाम्नामादौ च वर्णानां पादादौ ॐ समुच्चरेत्।

नमोऽतं विन्यसेन्मंत्र कुर्याच्छुद्धो भवेत्त्रिधा ॥२४॥

चतुर्विंशति पादानि चतुर्विंशतिवर्णकं।

चतुर्विंशति नामानि प्रणवादिनमोन्तकं ॥२५॥

वैश्यानां तु नमोन्तस्य अन्येषां वर्णमात्रकं।

पुण्यस्त्रीणां नमोऽन्तंस्यात विशेषात्केशवादिषु ॥२६॥

शूद्राणां विधवानां च नाममात्रं जलक्रिया।

सुवासिन्यां नमोन्तं च द्विराचम्य विशुद्ध्यति ॥२७॥

नमोंतं त्रिविधं ज्ञेयं प्रणवं त्रिविधं तथा।

एवमेव त्रिराचम्य कर्मादौ तत्समाचरेत् ॥२८॥

अन्यथा हि कृतं यत्तु आचमनं तु निष्फलं।

कराग्रपंचांगुलि पूर्ण मुद्रा सकेशवाद्यै रनुवर्तनीया।

निष्ठीवने (तथा) प्रसुप्ते च परिधानेऽश्रुपातने।

पञ्चश्रोत्रेषुचाचामेच्छ्रोत्रं वा दक्षिणं स्पृशेत् ॥२९॥

भोजनादौ च भुक्त्यन्ते गोकर्णाकृतिपाणिना।

आपोऽशनं पिबेन्नित्यमन्यथा(?) चेन्नदर्भकम् ॥३०॥

नासापुटे (ह्य) अक्षकर्णं प्रजपद्व्याहृतित्रयम् ।
विस्पृशेच्छ्रोत्रमानं च इत्येवं श्रुतिचोदितम् ॥३१॥
ह्रस्वदीर्घप्लुतैर्युक्ता प्रणवं मनसा स्मरेत् ।
मानसाचमनं कुर्यान्मनोद्देशविधिक्रमात् ॥३२॥
त्रिभिः पादैरपः पीत्वा आपोहिष्ठाग्रतोन्यसेत् ।

॥ मार्जनम् ॥

ता न ऊर्जे च सौषुम्ने रदन्महेरणाय च ।
यो वः शिवतमस्सोमे तस्य भाजयतोऽग्रतः ॥३३॥
उशतीर्हस्तयोश्चैव वक्षे तस्माअरंन्यसेत् ।
यस्यक्षयाय वामे वा ह्यापो जनयथा शिरः ॥३४॥
नासान्ते भूपदं न्यस्य भुवः पादं तु दक्षिणे ।
सुवः पादं वामभागे महः पादं तु दक्षिणे ॥३५॥
जनः पादं वामनेत्रे तपः पादं तु दक्षिणे ।
सत्यं पादं वामकरे नाभौ देव्यादिपादकम् ॥३६॥
न्यसेद्द्वितीयं हृदये ब्रह्मरन्ध्रे तृतीयकम् ।
विन्यसेद्दक्षिणभुजे खमापो ज्योतिरेव च ॥३७॥
तुर्यपादं न्यसेद्वामे भुजे श्रुत्युक्ततः क्रमात् ।
श्रुत्याचमनमेभिर्यो हरेः कुर्याद्द्विजोत्तमः ॥३८॥
स सर्वपापमुक्तःस्यात्स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ।
पादत्रयं नवपदं सप्तलोकास्तथैव च ॥३९॥
पुनः पादत्रयं शीर्षं तुर्यं श्रौतमितीरितम् ।
तुर्यपादं शिरः पादं गायत्री त्रिपदा सह ॥४०॥

सप्तव्याहृतयश्चैव नवपादं त्रिपादकम् ।
चतुर्विंशतिपादानि न तत्स्थानेषु विन्यसेत् ॥४१॥
त्रीण्यादौ नव सप्तधा त्रीणिद्वे च श्रुतीरितम् ।
गायत्रीं(मुच्चरन्)त्रद्ध्वापोहिष्ठा नवभिः स्पृशेत् ॥४२॥
सप्तव्याहृतिभिश्चैव गायत्रीत्रिपदैः स्पृशेत् ।
शिरः पदा तु व्यपदा चतुर्विंशतिभिः स्पृशेत् ॥४३॥
श्रुत्याचमनमेतद्धि विश्वामित्रादिभिः स्मृतम् ।
नाम वर्णं च पादं च भूर्भुवः (स्व) रोमिति ॥४४॥
पञ्चाचमनं चैतानि प्रोक्तं स्वच्छन्दसां गणैः ।
तिसृभिश्च व्याहृतिभिः शिरश्चक्षूंषि नासिके ॥४५॥
श्रोत्रद्वयं च हृदये संस्पृशेच्चाथ वारिणा ।

॥ आचमनम् ॥

त्रिराचामेदिति त्रेधा परिमृद्येति च त्रिधा ।
एकः सकृदुपस्पृशेदित्येवं श्रुतिचोदितम् ॥४६॥
ब्रह्मयज्ञे त्रिधाचामेच्छ्रुतिस्मृतिपुराणकैः ।
द्विर्ज्ञेया परिमृज्यात्र ताल्वोर्हस्तेन मार्जयेत् ॥४७॥
सकृज्जलं तु प्रणवेनांगुष्ठेनोपस्पृशेत् ।
अन्याः कुल्योपसंस्पृष्टाः निष्फलं कर्म तद्भवेत् ॥४८॥
चतुर्विंशति पादानि चतुर्विंशति वर्णकम् ।
चतुर्विंशतिनामानि त्रिधाचामेद्यथाविधि ॥४९॥
तथा द्विः परिमृज्येति चन्द्रसूर्यौ स्वरौ स्पृशेत् ।
उपस्पृशेत्सुषुम्ना च ब्रह्मयज्ञे सकृज्जलैः ॥५०॥

ब्रह्मयज्ञे त्रिराचामेच्छ्रौतं स्मार्तं पुराणकम् ।
परिमृज्य त्रिधाताल्वोर्हस्तेन परिमार्जने ॥५१॥

उपस्पृशेत्प्रधानाङ्गं प्रणवेन सकृज्जपेत् ।
भोजने भवने दाने स्नाने दाने प्रतिग्रहे ॥५२॥

सन्ध्यात्रये च निद्रायां तथा वस्त्रस्य धारणे ।
पूर्वः (म्) पञ्चभिराचामेत् तथा रथ्योपसर्पणे ॥५३॥

आदौ श्रौतं तथाचामे ततः स्मार्ताचमानकम् ।
ततः पौराणमाचामे नित्यं श्राद्धे विधीयते ॥५४॥

पुराणं श्राद्धकाले च श्राद्धान्ते स्मार्तमुच्यते ।
पार्वणि श्रौतमाचामे न्यासः श्राद्धे विलोमतः ॥५५॥

पुरश्चर्या च दीक्षायां मूलमन्त्रेण केवलम् ।
दुर्दानं दुष्प्रतिग्राहं दुरन्नं दुष्टभाषणम् ॥५६॥

दुरालापादिकथनं दुष्टस्त्रीभिश्च सङ्गमम् ।
चाण्डालजातिसंस्पर्शं मलिनीकरणादिकम् ॥५७॥

सद्यो हरति सर्वं च विधानाचान्तमात्रतः ।

इति विश्वामित्र स्मृतौ शुद्धाचमनयोगोनाम
द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

प्राणायामविधिवर्णनम्

॥ प्राणायामः ॥

देहिनां चैव सर्वेषां देहे ध्यानं समंन्यसेत् ।
तत्रापि द्विजवर्णानां प्राणायामं समं न्यसेत् ॥ १ ॥
प्राणायामत्रयं प्रातः सन्ध्याकाले समाचरेत् ।
प्राणापानसमायुक्तं प्राणायाम इति स्मृतम् ॥ २ ॥
उत्तमं नवधा चैव षोढा मध्यममुच्यते ।
अभिमन्त्रीयमित्याहुः प्राणायामस्य लक्षणम् ॥ ३ ॥
सप्तव्याहृतिभिश्चापि प्रणवादिरनुक्रमात् ।
गायत्र्या शिरसा चैव प्राणायामो विधीयते ॥ ४ ॥
बिन्दुप्राणविसर्गैक्यं गायत्रं बिन्दुसंहितम् ।
शिरोव्याहृतिसंयुक्तं प्राणायामे स्पृशेत्तथा(त्रिशस्त्रिधा) ॥५॥
आदौ कुम्भकमाश्रित्य रेचपूरकवर्जितम् ।
व्याहृत्यादिशिरोऽन्तं च प्राणायामं समाचरेत् ॥ ६ ॥
नित्ये नैमित्तिके काम्ये सर्वदा सर्वकर्मसु ।
आदौ कुम्भकमाश्रित्य रेचपूरे विसर्जयेत् ॥ ७ ॥
सन्ध्याकाले होमकाले ब्रह्मयज्ञे तथैव च ।
आदौ कुम्भकविज्ञेयं(माश्रित्य)प्राणायामं समाचरेत् ॥८॥
प्राणापानसमानबिन्दुसहितं बन्धत्रये संयुतं ।
सप्तव्याहृतिबिन्दु संपुटपरं देवादिपादत्रयम् ॥ ९ ॥

गायत्रीं शिरसा त्रिनाडिसहितामूढाद्वयर्द्धं परं।
शुद्धं केवल(ने चल) कुम्भकं प्रतिदिनं ध्यायामि तत्त्वं
परम् (पदम्) ॥१०॥

दश प्रणवगायत्र्या इडा पिङ्गलवर्जितम्।
कुम्भं सुषुम्नया कुर्यान्मन्त्रस्मरणपूर्वकम् ॥११॥
अधमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामविधिः स्मृतः ॥१२॥
आयासो रेचकः पूरो ह्यनायासस्तु कुम्भकः।
अनभ्यासे विषं शास्त्रं अभ्यासे त्वमृतं भवेत् ॥१३॥
उत्तमं त्रिगुणं प्रोक्तं मध्यमं द्विगुणं तथा।
अधमं न वदेत्यार्यैः (?) प्राणायाम इतीरितः ॥१४॥
प्रणवादि नमोऽन्तं च मात्रा चेत्यभिधीयते।
पञ्चद्वादशसंयुक्तां मात्रां मात्राविदो विदुः ॥१५॥
अंगुष्ठानामिकाभ्यां तु प्राणायामं यतिश्चरेत्।
नासिकं वननं चैव वानस्थस्य तथैव हि ॥१६॥
वकार इति पञ्चैते वर्णाः पञ्च च नोदिता।
लं पृथिव्यात्मने गन्धान् हमाकाशात्मने सुमम् ॥१७॥
यं वाय्वात्मने धूपं दीप मग्न्यात्मने नमः।
निवेदयेच्च नैवेद्यं वकारममृतात्मने ॥१८॥
पञ्चभूतात्मिकामेतां पूजां मानसिकीं यजेत्।
सिद्धासनसमं नास्ति न कुम्भकेवलात्परम् ॥१९॥

नन्द दृष्टि समानास्ति प्राणवायुनिरोधने।
अन्तश्चक्षुर्बहिस्तेजो अधस्थाप्य सुखासनं।
कृत्वा(शा,साम्यं शरीरस्य प्राणायामं समाचरेत् ॥२०॥
सर्वेषामेव जन्तूनां कर्तव्यं सुखमासनम्।
तत्रापि मानसः श्रेष्ठ स्तत्रापि द्विज उच्यते ॥२१॥
सन्ध्या प्राचैव ध्येया च वनस्थस्य तथैव हि।
सम्यक्पञ्चांगुलीभिश्च बद्ध्वा नासापुटं गृही।
शनैश्शनैश्च निश्शब्दं प्राणायामं समाचरेत् ॥२२॥
पञ्चांगुलीभिर्नासां च बद्ध्वा वायुं निरुध्य च।
आकृष्यधारयेदग्निं प्राणायामं समभ्यसेत् ॥२३॥
प्राणायामं तथा ज्ञात्वा स्नापयेच्चिन्मयं शिवम्।
तदादौ मानसं कुर्यात्सम्यक्केवलकुम्भकम् ॥२४॥
पञ्चभूतात्मिकां चैव पूजांमानसिकीं स्मरेत्।
पूजामानससंयुक्तः प्राणायामफलं लभेत् ॥२५॥
पञ्चपूजां विना यस्तु प्राणायामं करोति चेत्।
तस्य निष्फलितं कर्म विश्वामित्रेण भाषितम् ॥२६॥
लकारश्चभकारश्च(हकारश्च)यकारो रेफ एव च।
वकार(चकार) इति पञ्चैते वर्णाः पञ्चार्चनोदिताः ॥२७॥
लं पृथिव्यात्मने गन्धान् हमाकाशात्मने सुमम्।
यं वाय्वात्मने धूपं दीपमग्न्यात्मने चरम् ॥२८॥
निवेदयेच्च नैवेद्यं वकारममृतात्मने।
पञ्चभूतात्मिकामेतां पूजां मानसिकीं यजेत् ॥२९॥

सिद्धासनसमं नास्ति न कुम्भात्केवलात्परम्(केवलं)।
नन्ददृष्टिसमा नास्ति प्राणवायुनिरोधने ॥३०॥
अन्तस्तेजो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनम्।
कृत्वा साम्यं शरीरस्य प्राणायामं समभ्यसेत्
(समाचरेत्) ॥३१॥

सर्वेषामेव जन्तूनां कर्तव्यं सुखमासनम्।
तत्रापि मानसः श्रेष्ठस्तत्रापि द्विज उच्यते ॥३२॥
सन्ध्याप्रारम्भसमये कुक्कुटासनमुच्यते।
जानुमध्यस्थबाहुस्सन् प्राणायामं समाचरेत् ॥३३॥
चन्द्रासने समासीनः चन्द्रबिम्बसमप्रभे।
पूर्णदृष्टिस्तु कुर्वीत प्राणायामं हृदम्बुजे ॥३४॥
त्रिकोणमध्ये बिन्दुश्च प्रणवस्त्रिपदान्वितः।
स्त्रीपुमान्मार्जयेन्नित्यं पञ्चपूजाविधानतः ॥३५॥
पञ्चपूजानुसारेण प्राणायामफलं लभेत्।
पञ्चपूजां न कुर्वीत निष्फलं श्रुतिघातकम् ॥३६॥
प्राणायामे च संप्राप्ते पूजां मानसिकीं यजेत्।
विशेषां सिद्धिमाप्नोति न कुर्यान्निष्फलं भवेत् ॥३७॥
अस्त्रप्रयोगकाण्डे (काले) तु प्राणायामबलं बलम्।
प्राणायामं बलं कुर्यादुपसंहारकर्मणि ॥३८॥
प्रयोगे चोपसंहारे प्राणायामं तु कुम्भकम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामं समाचरेत् ॥३९॥

प्राणायामं विना यस्तु सन्ध्यावन्दनमाचरेत् ।
सर्वधर्मपरित्यागी स महापातकी भवेत् ॥४०॥
निगमागममन्त्राणां प्राणायामस्तु साधकम् ।
निगमागममन्त्रेषु मूलमन्त्रैश्च केवलम् ॥४१॥
मनसा गणनापूर्वं प्राणायामविदो विदुः ।
स्थूलस्थूलादिवर्णं च युक्तायुक्तादिवर्णकम् ॥४२॥
प्राणापानादिसंयुक्तं प्राणायामं समभ्यसेत् ।
ब्रह्मविद्या महाविद्या सप्तकोट्यमृता भुवि ॥४३॥
तज्जपेन्मूलमनुभिः प्राणायामो विधीयते ।
भूरादिव्याहृतिस्सप्त(प्रजल्पं सर्व)प्रजल्पस्सार्ववर्त्मना ॥४४॥
तथा विलोममार्गेण प्राणायामं समाचरेत् ।
व्याहृतिःस्सप्तगायत्रीं शिरसा शिखयायुताम् ॥४५॥
अनुलोमविलोमाभ्यां प्राणायामं जपेद्द्विजः ।
ओं सुव र्भुव र्भू ह्मब्रं तं मृ सो र ती ज्यो पो मां
ओं त्र्याद्चोप्र नः यो यो धि । हि म धी स्य
व दे र्गो भ यं णी रे र्व तु वि सत् त (?) । त्यं स
ओं पः त ओं नः ज ओं हः म ओं हं म ओं
वः सु ओं वः भूः ओं भूः ओम् ।
मन्त्रराजं महातत्त्वमनुलोमविलोमतः ।
प्राणायामं प्रकुर्वीत महापातकनाशनम् ॥४६॥
महापातकनाशाय महारोगहराय (क्षयाय) च ।
दुःखदारिद्र्यनाशाय प्राणायामफलं विदुः ॥४७॥

दशप्रणवगायत्रीमनुलोमविलोमतः ।
स्मरन् शतत्रयं सम्यक्प्राणायामं समाचरेत् ॥४८॥

अविहितकृतदोषं राजसेवातिदोषं
करकृतमपिदोषं क्रूरकर्मादिदोषम् ।
हृदिकृतपरदोषं पापसंसर्गदोषं
हरति सकलदोषं मन्त्रराजं(जो)विलोमम्(मः)॥४६

ब्रह्महत्यादिपापानि अगम्यागमनादिकम् ।
अभोज्यभोजनादीनि अग्राह्यग्रहणादिकम् ॥५०॥
तत्सर्वं नाशमाप्नोति पूर्वोक्तैर्वायुरोधनैः ।
किमत्र बहुनोक्तेन मन्त्रराजोऽमितप्रदः ॥५१॥
दशप्रणवगायत्र्या विनियोगरतो(हतो)द्विजः ।
प्राणायाममकुर्वाणो अवकीर्णी भवेत्तु सः ॥५२॥
सर्वाण्यसंभावितानि विपरीतान्यनेकशः ।
नियमेन कृतैः काले प्राणायामैर्व्यपोहति ॥५३॥
मन्त्रराजं चतुष्षष्टिं द्वात्रिंशच्चतदर्धकम् ।
तदर्धमधमं ज्ञेयं प्राणायामं समाचरेत् ॥५४॥
मन्त्रराजं परार्धं च प्राणायामं करोति यः ।
तस्य निष्फलितं मन्त्रं पुनस्संस्कारमर्हति ॥५५॥
षट्त्रिंवर्णात्मकं मन्त्रं परार्धं यो निरोधयेत् ।
इह जन्मनि शूद्रत्वं जन्मन्यग्रे वियोनिजः ॥५६॥
अनुक्तविधिनामन्त्रं प्राणायामं करोति यः ।
तस्यायुष्यविनाशाय जन्मनीह दरिद्रता ॥५७॥

तत्तन्मूलं विनामन्त्रं प्राणायामं चरेद्यदि ।
सङ्कल्पा निष्फलं यान्ति विघ्नं कुर्वन्ति देवताः ॥५८॥
उपक्रमोपसंहारकारिपादो द्विधाकृतः ।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं निष्फलं भवेत् ॥५९॥
प्राणायामं स्मरेदन्यं जपमन्यद्वृथा क्रिया ।
यः करोति समूढात्मा द्विविधे निष्फलो मनुः ॥६०॥
पादार्धं पादमात्रं च द्विपादं च त्रिपादकम् ।
चतुः पादं(ष्पदं)पञ्चपादं(पदं)षट्पादं(पदं) सप्तपादकम् ॥६१
अष्टपादं(अष्टा पदं)नवपदमशीतिं च शतं तथा ।
तत्तन्मूलं समाश्रित्य प्राणायामो विधीयते ॥६२॥
निगमादिषु सर्वेषु आगमादौ तथैव च ।
तत्तन्मूलं प्रतिग्राह्यं प्राणायामं प्रकल्पयेत् ॥६३॥
एकाक्षरं द्व्यक्षरं च त्र्यक्षरं चाधिकं च वा ।
सर्वथा मूलमन्त्रेण प्राणायामं समाचरेत् ॥६४॥
चार्वाकशैवगाणेश (सौर) वैष्णवशाक्तिकाः ।
तेषां जपे तन्मूलैश्च प्राणायामान् समाचरेत् ॥६५॥
श्रौतहोमे दशावृत्तिः सायं प्रातस्तथैव च ।
पक्षहोमे पञ्चदश पशुबन्धे च विंशतिः ॥६६॥
प्रायश्चित्ते चतुर्विंशदृत्विजश्चैकविंशतिः ।
यत्र कुत्र प्रमादश्च प्राणायामास्त्रयोदशः ॥६७॥
औपासनद्वये चैव प्राणायामाश्चतुर्दश ।
सायं प्रातश्च मध्याह्ने प्राणायामास्तु षोडश ॥६८॥

वैश्वदेवं प्रकुर्वीत दशपूर्वान् दशापरान् ।
यत्र यत्रैव सङ्कल्पः तत्र तत्र द्वयान्वितम् ॥६९॥
प्राणायामं प्रकुर्वीत दशपूर्वान् दशापरान् ।
गर्भाधानं समारभ्य आधानान्तं विधीयते ॥७०॥
विक्रीणीते परार्थं यो जपं वै दैवतार्चनम् ।
परार्थं प्रतिघातं च कुर्याद्दुर्ब्राह्मणं विदुः ॥७१॥
प्रमादेनाप्रयत्नेन कदाचित्क्रियते यदि ।
अनुलोमविलोमाभ्यां मन्त्रराजं शतावधि ॥७२॥
दशप्रणवगायत्री द्विषट्कं प्राणरोधनम् ।
वर्णमालां जपेन्मत्रं शान्तिपाठं समाचरेत् ॥७३॥

अनृतवचनदोषं दुष्टसंसर्गदोषं
अविहितकृतदोषं दुर्दुरान्नादिदोषम् ।
अहमिति दुरहं चासद्द्विजानामयूयं(थं)
हरति सकलदोषं मन्त्रराजो विलोमः ॥७४॥

स्नानं सन्ध्या मुक्तकाले द्विजो यः
कुर्यान्नित्यं सर्वदोषं निहन्यात् ।
त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेव प्रभावः
तेनावश्यं प्राप्यते सद्विवेकः ॥७५॥

शतं त्रिलोकं त्रिशतं त्रिलोकं
पादं त्रिलोकं त्रिपदं त्रिलोकम् ।

तारं त्रिलोकं त्रिशतं तुरीयं
सव्यापसव्यावदनस्य रोधम् ॥७६॥

इति विश्वामित्रस्मृतौ प्राणायामविधानं (विधियोगे) नाम
तृतीयोऽध्यायः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

मार्जनम्

पादं पादं क्षिपेन्मूर्ध्नि प्रीतिप्रणवसंयुताम् ।
निक्षिपेदष्टपादं तु अधो यस्य क्षयाय च ॥ १ ॥
अष्टाक्षरं नवपदं पादादौ ब्रह्महा भवेत् ।
पादान्तं मार्जनं कुर्यादश्वमेधफलं लभेत् ॥ २ ॥
यस्य क्षयाय पादं तु आपश्शुन्धन्तु यत्पदम् ।
भूमौ पदो विनिक्षिप्य इतरं मूर्ध्निचाचरेत् ॥ ३ ॥
पादादौ प्रणवं चोक्त्वा पादान्ते मार्जनं भवेत् ।
ऋगादौ प्रणवं चोक्त्वा ऋगन्तं(न्ते) मार्जनं भवेत् ॥४॥
आपोहीति द्विनवकं दधिमात्रे द्विमार्जनम् ।
अङ्गुष्ठेनोदकं स्पृष्ट्वा पादमात्रेण मार्जयेत् ॥ ५ ॥
अर्धमन्त्रं पूर्णमन्त्रं मार्जनं द्विविधं विदुः ।
रजस्सत्त्वतमोजातान् मनोवाक्कायजांस्तथा ॥ ६ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याथ नवैतान्नवभिर्दहेत् ।
दधि द्विमार्जनं मन्त्रं हिरण्यादिचतुष्टयम् ॥ ७ ॥
कामक्रोधादिषड्वर्गं यद्यत्सर्वं विनाशनम् ।
पादमन्त्रं चार्घ्यमन्त्रं पूर्णमन्त्रं विशेषतः ॥ ८ ॥
सर्वेषामेव वर्णानां त्रिविधं मार्जनं यजेत् ।
चतुर्विंशति गायत्री वर्णसंख्यानुसारतः ॥ ९ ॥
ऋक्शाखोक्तेन मार्गेण मार्जनानि समाचरेत् ।
ऋग्यजुस्सामशाखानामेवं मार्जनलक्षणम् ॥१०॥
आश्वलायनशाखानां मार्जनक्रम उच्यते ।
आपो हिष्ठादिनवकं शंनोदेवी द्विमार्जनम् ॥११॥
अप्सुमे त्रीणि चोक्तानि ऋतं चेत्येवमेव हि ।
त्र्यृचस्य च नवर्चस्य अब्लिङ्गं द्विविधं भवेत् ॥१२॥
पादादौ प्रणवं चोक्त्वा पादान्ते मार्जयेद्द्विजः ।
ऋतं च मन्त्रस्यादौ च मार्जनानि समाचरेत् ॥१३॥
शन्नो देवी समारभ्य गायत्री शिरसः क्रमात् ।
ऋगादौ प्रणवञ्चोक्त्वा मार्जनम्परिकल्पयेत् ॥१४॥
अप्सुमे च समारभ्य भुवैन्तं मार्जनत्रयम् ।
तत्रापि प्रणवं चोक्त्वा मार्जनानि समाचरेत् ॥१६॥
सुरान्तं मार्जयेद्भूमौ चतुर्विंशतिमार्जनम् ।
पादशोऽष्टादशोक्तानि त्रिपदाभ्यां द्विमार्जने ॥१७॥
षड्विधे क्रमशस्त्रीणि ऋक्त्रयेणैव मार्जनम् ।
यस्य क्षयाय च पदोअधोऽर्ध्वं भुवि निक्षिपेत् ॥१८॥

एकविंशति मूर्ध्निस्यात् त्रि(पादो)भुवि मार्जयेत् ।
अङ्गुष्ठाज्जलमादाय मन्त्रान्ते मार्जनं यजेत् ॥१८॥

पादौ भूमौ त्रिवारं स्यान्मूर्ध्नि स्यादेकविंशतिः ।
अष्टाक्षरं नवपदं पादादौ ब्रह्महा भवेत् ॥१९॥

पादान्ते मार्जनं कुर्यादश्वमेधफलं लभेत् ।
रजस्सत्त्वं तमोजातं मनोवाक्कायजं तथा ॥२०॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यर्थं नवैतान्नवभिर्दहेत् ।
नवप्रणव युक्तेन आपोहीतित्यृचेन च ॥२१॥

संवत्सरकृतं पापं पुनर्मार्जनतो दहेत् ।
शन्नोदेवी समारभ्य षड्भिश्चाथोसुवोऽन्तकैः ॥२२॥

अरिषड्वर्गपापानि नाशयेन्मार्जनानि च ।
अप्सुमे च समारभ्य ज्योक्चसूर्यान्तमार्जनम् ॥२३॥

इदमापस्समारभ्य ऋषभं मेह्यन्तमार्जनम् ।
पयस्वानग्न आरभ्य(भुवे) हुवेऽन्तं मार्जनं तथा ॥२४॥

ऋतं च सत्यमारभ्य अन्तरिक्षमथो सुवः ।
पर्यन्तं मार्जयेद्भूमौ गृह्योक्तविधिना द्विजः ॥२५॥

इत्येवं मार्जनं कृत्वा सन्ध्यावन्दनमाचरेत् ।
मन्त्रलिङ्गं विना प्रोक्तं(पूर्वं)मार्जनं यः करोति हि ॥२६॥

तस्य पापमगण्यं स्यान्मार्जनं निष्फलं भवेत् ।
मन्त्रलिङ्गं यथाशास्त्रं मार्जनं परिकल्पयेत् ॥२७॥

सर्वपापविनिर्मुक्तः स्पृष्ट्वा (स्पृष्ट्वा) स्पृष्टिर्न विद्यते ।

इति विश्वामित्रस्मृतौ मार्जनयोगोनाम
चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

सार्घ्यदानगायत्रीमाहात्म्यवर्णनम्

॥ अर्घ्यदानम् ॥

सन्ध्यावन्दनवेलायां दद्यादर्घ्यत्रयं द्विजः ।
सायंप्रातः समानंस्यान्मध्याह्ने तु पृथक्क्रिया ॥१॥
एकं मध्याह्नकाले च सायंप्रातस्त्रयस्त्रयः ।
एवं ज्ञात्वा त्यजेदर्घ्य लुप्तनक्षत्रपूर्वकम् ॥२॥
एकं शस्त्रास्त्रनाशाय चिरं वाहननाशने ।
असुराणां वधायैकं दद्यादर्घ्यत्रयं क्रमात् ॥३॥
असुराणां वधादूर्ध्वं प्रायश्चित्तार्घ्यकं परम् ।
पृथ्वीप्रदक्षिणं कृत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४॥
सन्ध्यावन्दनवेलायां प्रायश्चित्तार्घ्यमीरितम् ।
दद्यात्केवलगायत्र्या मूढो ह्यर्घ्यं तु यो द्विजः ॥५॥
स वै दुर्ब्राह्मणो नाम सर्वकर्मबहिष्कृतः ।
ब्रह्मास्त्रं यो न जानाति स विप्रश्शूद्र एव हि ॥६॥

तस्य कर्मादिकं ज्ञानं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ।
बीजमन्त्रं तु गायत्र्याः प्राण इत्यभिधीयते ॥७॥
देहस्तु पिण्ड इत्युक्तो संज्ञाकवच एव हि ।
सर्वाङ्गानि पदो मन्त्रः सर्वमन्त्रेष्वयं विधिः ॥८॥
अस्त्रं वृष्टिरिति प्रोक्तं गायत्रीन्यासिरुच्यते ।
एतत्षण्मन्त्रकं ज्ञात्वा दद्यादर्घ्यं विधानतः ॥९॥
प्रणवो बीजमन्त्रः स्याद् गायत्र्यास्सर्वदा मतः ।
पिण्डमन्त्रं तुरीयं स्याद्गायत्रीसंज्ञितं परम् ॥१०॥
नारायणं मूलमन्त्रं संज्ञामन्त्रं भवेत्सदा ।
ओमापो ज्योतिरित्येतत्पदमन्त्रमितीरितम् ॥११॥
ओं तत्सवितुरित्येषा गायत्रीहृन्महामुने ।
एतदेव हि गायत्री विप्राणां मुक्तिदायिनी ॥१२॥
ब्रह्मास्त्रं बीजमित्याहुः शर्म स्याद्ब्रह्मदण्डकम् ।
कीलकं ब्रह्मशीर्षं स्याद्धृष्यादिन्यासपूर्वकम् ॥१३॥
भान्तं वह्निसमायुक्तं व्योमानलसमन्वितम् ।
मेषद्वयं दन्तयुक्तं हालाहलमतः परम् ॥१४॥
खनाद्यं वायुपूर्वं स्याद्दत्तयुग्ममथापरम् ।
सरसामक्षपर्यायहान्तं भूर्भु(वस्त मतः परम् ॥१५॥
अम्बरं वायुसंयुक्तं अरिं मर्दय मर्दय ।
प्रज्वलेति द्विरुच्चार्य परमेतत्परं ततः ॥१६॥
तत्त्रिपादं प्रयोक्तव्यं गायत्रीमध्यमन्त्रतः ।
पदत्रयं प्रयोक्तव्यमेतद्ब्रह्मस्मृतीरितम् ॥१७॥

असुराणां वधार्थाय अर्घ्यकाले द्विजन्मनाम्।
प्रोक्तं ब्रह्मास्त्रमेतद्धै सन्ध्यावन्दनकर्मसु ॥१८॥
कर्मार्थं काममोक्षादि ब्रह्मास्त्रेणैव लभ्यते।
ब्रह्मदण्डं तथा वक्ष्ये सर्वशस्त्रास्त्रनाशनम् ॥१९॥
गायत्रीं सम्यगुच्चार्य परोरजसि संयुतम्।
एतद्धै ब्रह्मदण्डं स्यात्सर्वशस्त्रास्त्रभक्षणम् ॥२०॥
सर्ववाहननाशार्थं वच्म्यस्त्रं ब्रह्मशीर्षकम्।
गायत्रीं पूर्णमुच्चार्य मूलमन्त्रं ततो वदेत् ॥२१॥
ब्रह्मशीर्षकमेतद्धि सर्ववाहननाशनम्।
आधारादि समुद्धृत्य सुषुम्नामार्गनिर्गमे ॥२२॥
सम्यगाचम्य तां देवं ब्रह्मब्रह्माण्डभेदिनीम्।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ॥२३॥
परमात्मेति गायत्रीमनुलोमक्रमान्न्यसेत्।
अघोरास्त्राय शार्ङ्गाय नाराचाय सुदर्शन ॥२४॥
प्रतिलोमक्रमान्न्यसेत्।

॥ प्रायश्चित्तार्घ्यम् ॥

एकं मध्याह्नकाले च प्रायश्चित्तार्घ्यमुच्यते।
अर्घ्यद्वयं तु मध्याह्ने तथ्यमेतन्महामुने ॥२५॥
अर्घ्यत्रयप्रयोगार्थं प्रायश्चित्तं चतुष्टयम्।
सायंप्रातर्द्विजातीनामेवमेष विधिः क्रमात् ॥२६॥
ब्रह्मास्त्रं ब्रह्मदण्डं च ब्रह्मशीर्षं तथैव च।
अर्घ्यत्रयप्रयोगार्थमेवमेतदुदाहृतम ॥२७॥

शीर्षंचेति मनुत्रयम् ।

पर्यायेण समुच्चार्य पिबेदञ्जलिना जलम् ।
विलोमेन च गायत्रीं बीजयुक्तां सतुर्यकाम् ॥२८॥
शिरसा शिरसा युक्तं चतुर्धार्घ्यं विनिक्षिपेत् ।
अस्त्रदण्डशिरोयुक्तं हंसमन्त्रं समुच्चरेत् ॥२९॥
शस्त्रवाहनरक्षोघ्नं एकाञ्जलिजलं क्षिपेत् ।
प्रायश्चित्तद्वितीयार्घ्यमसुराणां वधाय च ॥३०॥
प्रदक्षिणं चरेत्पृथ्व्याः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
हंसस्येति मनुं विप्रो ब्रह्मदत्तं समाचरेत् ॥३१॥
शिरोदण्डास्त्र(सं)युक्तं निक्षिपेद्रविसंमुखे ।
उपमन्त्रं वदन् पूर्वमस्त्रदण्डंशिरस्तथा ॥३२॥
चतुर्मन्त्रं सम्यगुच्चार्य अर्घ्यमेकं विनिक्षिपेत् ।
उपमन्त्रं समुच्चार्य शिरोऽन्तं श्रेयसंयुतम् ॥३३॥
अर्घ्यमेकं तु मध्याह्ने सत्यमुक्तं महामुने ।
तर्जन्यङ्गुष्ठसंयोगो राक्षसी मुद्रिका भवेत् ॥३४॥
राक्षसीमुद्रिकादत्तं तत्तोयं रुधिरं भवेत् ।
निक्षिपेद्यदि मूढात्मा रौरवं नरकं व्रजेत् ॥३५॥
अङ्गुष्ठच्छायया तोयं देवतामुद्रिका भवेत् ।
(इत्थं करणेन लोकस्य) सर्वपापक्षयो भवेत् ।
एवं विज्ञाय यो दद्यादर्घ्यं सम्यक्सुधीरितम् ॥३६॥
अन्तरिक्षमथो स्वाहा आपश्शुन्धन्तु मैनसः ।
इति मन्त्रेण यो भागे मार्जयित्वाचमेत् ॥३७॥

वायव्यास्त्रेण नववारं प्राणायामं कुर्यात् ।
उत्तमं नववारं स्यान्मध्यमं ऋतुसंख्यकम् ॥३८॥
अधमं त्रयमित्याहुः प्राणायामस्य लक्षणम् ।
प्राणायामबलोपेतमुपसंहारमाचरेत् ॥३९॥
ततस्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामं समाचरेत् ।

अस्य श्रीवायव्यास्त्रमन्त्रस्य, ब्रह्मा ऋषिः, गायत्री छन्दः महाभूतवायुर्देवता । यं बीजं, स्वाहा शक्तिः जगत्सृष्टिरिति कीलकम् । ब्रह्मास्त्रप्रयोगार्थं वायव्यास्त्रप्रयोगे विनियोगः । यामङ्गुष्ठाभ्यां नमः यीं तर्जनीभ्यां स्वाहा । यूं मध्यमाभ्यां वषट् । यैं अनामिकाभ्यां हुम् । यः (यों) औं कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् । यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् । एवं हृदयादिन्यासः । लोकत्रयेण दिग्बन्धः ॥

ध्यानम्

चञ्चत्करं कृष्णमृगाधिरूढं
बाणेषुधी चापगदे दधानम् ।
भुजैश्चतुर्भिर्जगदादिकारणं
चैतन्यरूपं प्रणमामि वायुम् ॥४०॥

आवायव्यया वायव्योर्वा वायया वा हन हन हुं फट् स्वाहा इति त्रिवारं जपेत् । पुनर्मन्त्रंवादि नव वा प्राणानायम्य पञ्चोपचारैरभ्यर्च्य श्रीसूर्यनारायणप्रीत्यर्थं अर्घ्यप्रदानं करिष्ये इति सङ्कल्प्य अर्घ्य-

प्रदानमन्त्रस्य सवितृ भगवानृषिः अनुष्टुपछन्दः, श्रीसूर्यनारायणो देवता ब्रह्मास्त्रं बीजं, ब्रह्मदण्डं शक्तिः। ब्रह्मशीर्षं कीलकं, श्रीसूर्यनारायणप्रीत्यर्थे अर्घ्यप्रदाने विनियोगः। तत्सवितुः ब्रह्मात्मनेऽङ्गुष्ठाभ्यां नमः। वरेण्यं विष्णवात्मने तर्जनीभ्यां स्वाहा भर्गोदेवस्यरुद्रात्मनेमध्यमाभ्यां वषट्। धीमहि ईश्वरात्मने अनामिकाभ्यां हुम्। धियो योनस्सदाशिवात्मने कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। प्रचोदयात् परमात्मने करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। लोकत्रयेणेति दिग्बन्धः। ध्यानम्—

सर्वतोरणमध्यस्थं मण्डलान्तर्व्यवस्थितम्।
ब्रह्मायुतसहस्रस्य सत्सन्तानकारणम् ॥४१॥
चिन्तयेत्परमात्मानमिव(वो)ऊर्ध्वं न च निक्षिपेत्।
उत्तिष्ठ देवि गन्तव्यं पुनरागमनाय च ॥४२॥

अञ्जलिना जलमादाय गायत्रीं मालादारभ्य नासापुटे वा उत्तीर्याञ्जलौ निक्षिप्यार्घ्यप्रयोगं कुर्यात्। धाम्नो धाम्नो राजन्नितो—च हरोऽसि पाप्मानं मे विद्धि आश्वलायनं यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभिसूर्यं सर्वन्तदिन्द्र ते वशेइति प्रातः। आपस्तम्बस्य हिरण्यगभस्स—म इति प्रातः। गर्भोऽसि पाप्मानं मे विद्धि। आश्वलायनस्य प्रातः देवीमदितिं जोहवीमि मध्यंदिन···उदिता सूर्यस्य राये चित्रवारुणा

सर्वताते शं तोकाय तनयाय शंयोः। आपस्तम्बस्य यः प्राणतो—मेति मध्याह्ने। उत्के तदभश्रुत्। मघं वृषभं न सूर्यापनं अस्तारमेषि सूर्य। आपस्तम्बस्य य आत्मदामेति। सायाह्ने। पुनर्नववारं प्राणानायम्य पञ्चोपचारैरभ्यर्च्य असुरवधप्रायश्चित्तार्थं चतुर्थार्घ्यप्रदानं करिष्ये इति सङ्कल्प्य वाग्भवकामराजशक्तिबीजसहितं विलोमगायत्रीसहितं शिरःशिखासहितं सतुरीयं चतुर्थार्घ्यं दद्यात्। पुनर्नववारं प्राणानायम्य पञ्चोपचारमभ्यर्च्य। अस्य श्री अस्त्रोपसंहारमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्रीछन्दः विलोमगायत्री देवता ब्रह्म बीजं ह्रीं शक्तिः हूं कीलकम् अस्त्रोपसंहरणार्थे विनियोगः। अघोरास्त्राय शार्ङ्गाय नाराचाय सुदर्शनाय ह्रां धियो यो नः अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। अघोरादि चतुष्टय परियुक्तं तर्जनीभ्यां शिरसे स्वाहा। अघोरादिचतुष्टयसहितं हूं मध्यमाभ्यां वषट्। अघोरादिचतुष्टयसहितं ह्रैं भर्गो देवस्य ओं अनामिकाभ्यां हुंम्। अघोरादिचतुष्टय सहितं ह्रैं वरेण्यं ह्रीं कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। अघोरादिचतुष्टयसहितं तत्सवितुरों करतलकरपृष्ठाभ्यां हुं फट्ः। एवं हृदयादिन्यासः। ओं भूर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः।

ध्यानम्

सोऽहमर्कमहं ज्योतिरर्कज्योतिरहं शिवः।
आत्मज्योतिरहं शुक्रः सर्वज्योतिरसो महिम् (ऽमृतम्) ४३॥
आगत्य देवि तिष्ठ त्वं प्रविश्य हृययंमम।
अङ्कुशं मुद्रया नासा पुटं हृदयेनाभिस्पृशेत्।
विलोमगायत्रीं त्रिवारं जपेत्। असावादित्यो
ब्रह्म पञ्चोपचारैरभ्यर्च्य पुनर्वायव्यास्त्रं न्यसेत्।
इति त्रिकाले समानमन्त्रं अघोरास्त्राय शार्ङ्गाय
नाराचाय सुदर्शनम्।
मायाषड्दीर्घगायत्री प्रतिलोम न्यसेत् क्रमात्।
लकारं च हकारं च यकारं रेफसंज्ञकं ॥४४॥
वकारमिति विख्यातं पञ्चभूतात्मकं यजेत्।
इति पञ्चमोऽध्यायः।

अथ षष्ठोऽध्यायः

द्विविधजपलक्षणम्

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मन्यासध्यानपुरस्सरम्।
यथाशक्ति जपं कुर्यात्सन्ध्याङ्गो जपईरितः॥ १॥
नदीतीरे सरित्कोष्ठे पर्वताग्रे विशेषतः।
शिवविष्णुसमं देवा गायत्रीजपमाचरेत् ॥ २॥
नैमित्तिकं च काम्यं च द्विविधं जपलक्षणम्।

॥ भूशुद्धिः ॥

भूशुद्ध्याधारशुद्धिं च विलिखेद्गुरुमार्गतः ।
शुद्धो भूमौ लिखेद्यन्त्रं प्रणवादिषडक्षरैः ॥ ३ ॥
आधाराख्यं च संप्रोक्तं प्रार्थयेत्पृथिवीमिमाम् ।
अपसर्पन्तु ये भूता ये भूता दिवि संस्थिताः ॥ ४ ॥
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ।
पृथिवि(थ्वि)त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुनाधृता ॥५॥
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम् ।
प्रणवाद्यैश्च षड्वर्णैर्दशवाराभिमन्त्रितम् ॥ ६ ॥
शुद्धभूमौ जलं प्रोक्ष्य विलिखेद्यन्त्रमुत्तमम् ।
त्रिकोणाग्रे वह्निबीजं मध्ये मायां सबिन्दुकम् ॥ ७ ॥
युतं तन्त्रं जपस्थाने लिखेत्क्रमात् ।
चतुरश्रं हस्तमानं सुदृढं मृदु निर्मलम् ।
तस्योपरि समासीनो गायत्रीजपमाचरेत् ॥ ८ ॥
कृत्वा मूलेन भूशुद्धिं भूतशुद्धिं समाचरेत् ।
शोषदाहप्लवं कुर्यात् प्रणवादिषडक्षरैः ॥ ९ ॥
पार्थिवं शतमेकं च वकारं द्विशतं तथा ।
त्रिशतं वह्निबीजं च वायुबीजं चतुश्शतम् ॥१०॥
आकाशं पञ्चशतकं भूतशुद्धिरिति क्रमात् ।
प्रणवादि नमोऽन्तं च वृद्धिरेकोत्तरं शतम् ॥११॥
प्राणायामं च पञ्चार्णैः कुर्याद्भूभूतशोधनम् ।
मूलाधारं समारभ्य गायत्रीं तुर्यया सह ॥१२॥

ऊर्ध्वनास्यां(सां)समायोज्य गायत्रीं तत्र विन्यसेत् ।
अस्त्रमन्त्रेण कुर्वीत रक्षादिबन्धनं दिशाम् ॥१३॥
उपपातकरो(गा)णां महापातकनाशनम् ।
कामक्रोधादिषड्वर्गं पापं कुक्षौ विचिन्तयेत् ॥१४॥
खड्गचर्मधरं कृष्णं पिङ्गलश्मश्रुलोचनम् ।
उकारान्तःस्थितद्वीपं ज्वालाकार हुताशनम् ॥१५॥
प्रतिष्ठाप्य ततः कामं शक्तिना वायुना (सह) ।
शक्तिबीजात्मकं ज्वाला त्रितयेन विनिर्दहेत् ॥१६॥
कर्पूरमिव सुज्वालाशेषं कुर्यात्समाहितः ।
ओं यं नमः शोषणं कुर्यात् । ओं इं नमः इत्यग्नि-
बीजेन दहनं कृत्वा । ओं वं नमः इत्यमृतबीजेन
प्लावनं कृत्वा लं नमः इति षण्णवत्यङ्गुलप्रमाणेनाव-
यवादिकं त्यक्त्वा । ओं हं नमः इत्याकाशबीजेन
सर्वसंज्ञाभासप्रतिष्ठापनं कुर्यात् ।
पादादिजानुपर्यन्तं पृथ्वीमण्डलसंज्ञि(ज्ञ)क(त)म् ।
जान्वादिकटिपर्यन्तं जलमण्डलसंज्ञि(ज्ञ)क(त)म् ॥१७॥
कद्या(क्ष)दिकटिपर्यन्तं वह्निमण्डल संज्ञि(ज्ञ) (त) कम् ।
हृदादिकर्णपर्यन्तं वायुमण्डलसंज्ञि(ज्ञ)(त)कम् ॥१८॥
कर्णादिब्रह्मरन्ध्रान्तं नभोमण्डलसंज्ञि(ज्ञ) (त) कम् ।
पाञ्चभौतिकमित्येतच्छोधनं समुदाहृतम् ॥१९॥
गुदादिद्व्यङ्गुलादूर्ध्वं(मे)ढ्या(ढ्रा)दिद्व्यङ्गुलादतः ।
सुषुम्नामूलमन्त्रेण वा (?) दि चतुरक्षरैः ॥२०॥

विलसितकनकप्रभं पद्मं ध्यात्वा तत्र विद्युल्लतायां कुलकुण्डलिनीं सुषुम्नावर्तषट्पत्रभेदक्रमेण ब्रह्मरन्ध्रं नीत्वा तत्र कुलसहस्रकर्णिकामध्यस्थितसंम्पूर्ण-गायत्रीं ओङ्कारस्वरूपपरमात्मनि शिवे लीनां कुर्यात् ।

पाशमायाङ्कुशैर्बीजप्रणवादिनमोऽन्तकैः ।
प्राणायामं प्रकुर्वीत एवमष्टोत्तरं शतम् ॥२१॥
पञ्चपूजां प्रकुर्वीत स्वात्मनो हंसरूपिणः ।
सोऽहं भावेन युञ्जीयादाकाशाद्रविमंडले ॥२२॥
आकृष्य धारयेद्देवीं(प्राणस्थापन) प्राणस्नापनमाचरेत् ।
हृदिस्थजीवं चैतन्यं हंस इत्यक्षरद्वयम् ॥२३॥
सोऽहं भावेन संपूज्य पञ्चपूजानुसारतः ।
उक्तसंख्याप्रकारेण प्राणायामं समाचरेत् ॥२४॥
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
ऋषयः कथितास्तस्य छन्दांसि निगमत्रयम् ॥२५॥
देवता प्राणशक्तिःस्याद्बीजं शक्तिश्च कीलकम् ।
पाशादित्रितयं प्राणस्थापने विनियुज्यते ॥२६॥
बीजराजं पाशबीजं चैतन्यं चाङ्कुशं तथा ।
हंसद्वयं ततः पश्चात्पञ्चाशद्वर्णमन्त्रतः ॥२७॥
नादैस्संपुटितैः क्रमात् ।
वर्गैश्च यादिक्षान्तार्णैः(स)नत्याभ्यां संपुटीकृतैः ।
पञ्चविंशतितत्त्वैश्च कराङ्गन्यासमाचरेत् ॥२८॥

प्रणवं प्राणशक्तिं च पाशमायाङ्कुशानि च।
तृतीयस्वरसंयुक्तं यादिहान्तं समुच्चरन् ॥२६॥
मम प्राणा इरात्यादि वह्निजायान्तमुच्चरेत्।
पाशादित्रितयं प्राणशक्तिं तारं समुच्चरन् ॥३०॥
इमं मन्त्रं सकृज्जप्त्वा प्राणस्थापनमाचरेत्।

॥ अङ्गन्यासः ॥

करेण हृदयं स्पृष्ट्वा गुरोराज्ञानुसारतः।
जपेन्मन्त्रमिदं सम्यग्दशवारं यथाविधि ॥३१॥
स्वस्य शाखोदितं प्राणसूक्तं वारत्रयं जपेत्।
प्राणसूक्तं त्रिरावृत्त्या आद्यन्तं प्रणवं युतम् ॥३२॥
प्राणायामं प्रकुर्वीत पिण्डब्रह्माण्डसंयमे।

मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं प्रवालपद्मरागमयदण्डानुकारिणीम् अखण्डमुज्ज्वलन्तीं सविस्मयां अखिलदुरिततिमिरनिरस्तपटीयसीं ज्योतिर्मयीं त्रिपदां सतुरीयमन्त्रराजानुवर्तितेजः पुञ्जपञ्जरीकृतज्योतिर्मयस्वरूपिणीं यावच्छ्वांसस्पृशशरीरदृशासनं कुर्यात्।

हकारं प्रणवो ज्ञेयः सकारं प्रकृतिस्तथा ॥३३॥
प्राणायामं प्रकुर्वीत मातृकावर्णकैः क्रमात्।
करशुद्धिश्च कर्तव्या षड्दीर्घस्वरसंयुतैः ॥३४॥
ऋष्यादिषट्कं विन्यस्य कराङ्गन्यासमाचरेत्।
ऋषिं मूर्ध्नि न्यसेत्पूर्वं मुखे छन्द उदीरितम् ॥३५॥

देवता हृदि विन्यस्य नाभौ बीजमिति स्मृतम् ।
आधारे विन्यसेच्छक्तिं कीलकं पादयोर्न्यसेत् ॥३६॥
ऋषिर्ब्रह्मा समाख्यातो गायत्री छन्द उच्यते ।
देवो बहिर्मातृका स्याद्धलो बीजानि च स्वरा ॥३७॥
शक्तयश्च समाख्याता नमः कीलकमुच्यते ।
द्वाभ्यां द्वाभ्यां हकारादिवर्णाभ्यां संपुटीकृतैः ॥३८॥
कादिवर्णैस्तत्त्वयुक्तैः कराङ्गन्यासमाचरेत् ।
त्रिलोकैर्बन्धनं ध्यानं योनिमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥३९॥

पञ्चाशदक्षरविनिर्मितदेहयष्टिं
फालेक्षणां हृतहिमांशुकलाभिरामाम् ।
मुद्राक्षसूत्रमणिपुस्तकयोनि(ग)हस्तां
वर्णेश्वरीं नमत कुण्डहिमांशुगौरीम् ॥४०॥

केशान्ते मुखमण्डले नयनयोः श्रोत्रद्वये नासयोः ।
दन्तोष्ठद्वयदन्तपङ्क्तियुगले मूर्ध्न्यासने तु स्वरान् ॥४१॥
दोः पत्सन्धितदग्रपादयुगले पृष्ठे च नाभ्यन्तरे ।
याद्यर्णानपि सप्तधातुषु तथा प्राणेषु जातानि तु ॥४२॥
ततोऽन्तर्मातृकान्यासं कुर्याद्विध्युक्तमार्गतः ।
तारत्रयेण कुर्वीत प्राणायामं समाहितः ॥३३॥
ऋषिश्छन्दो देवता च बीजं शक्तिश्च कीलकम् ।
ब्रह्मा च लिपिर्गायत्री ततोऽन्तर्मातृका मता ॥४४॥
वाग्भवं शक्तिबीजं च श्रीबीजं च त्रयं तथा ।
तारत्रयमिति ख्यातं ज्ञात्वा न्यासं समाचरेत् ॥४५॥

करन्यासं हृदिन्यासं कुर्यात्तारत्रयेण च ।
अनुलोमविलोमाभ्यां त्रिलोकैर्बन्धनं दिशाम् ॥४६॥

॥ मुद्राः ॥

कृत्वा ध्यात्वा महायोनिमुद्रां सन्दर्शयेत्ततः ।
पञ्चाशन्निजदेहजाक्षर भवैर्नानाविधैः कर्मभिः ॥४७॥
बह्वर्थैः पदवाक्य(दा)नजनकैरङ्गैश्च संभावितैः ।
साभिप्रायचिदर्थकर्मफलदानन्तैरसङ्गैरिदं ॥४८॥
विश्वव्याप्यचिदात्मनाहमहमित्युज्जृम्भसे मात्रके ।
एवमुक्तविधानेन विन्यसेन्मातृकाद्वयम् ॥४९॥
आवाहनादिभेदैश्च दश मुद्राः प्रदर्शयेत् ।
आवाहनासने यो जुहुयाद्धविष्यं घृतसंयुतम् ॥५०॥
अथवा तण्डुलेनापि नित्यकर्म समाचरेत् ।
अनाघ्रातत्रयं कृत्वा गायत्रीदशकं जपेत् ॥५१॥
प्रणवाद्यन्तमध्यस्थं होमान्ते च विधीयते ।
चतुर्विंशतिवर्णानि जपेत् पारायणे मनुः(म्) ॥५२॥
जपे पारायणे चैव युक्तं च विरलं क्रमात् ।
चतुरक्षरसंयुक्तं कराङ्गन्यासमाचरेत् ॥५३॥
तुर्यपादं विनान्यासमाद्यन्तं प्रणवैस्सह ।
व्याहृतित्रयमुच्चार्यगायत्रीचतुरक्षरम् ॥५४॥
पुनर्व्याहृतिमुच्चार्य कराङ्गन्यासमाचरेत् ।
पादं पादं द्विभागं च प्रतिप्रणवसंपुटम् ॥५५॥

करान्ङ्गन्यासंसंयोगे षट्पदा त्रिपदा भवेत् ।
अङ्गुष्ठादिचतुर्वर्णमनुलोमक्रमेण च ॥५६॥
हृदयादिचतुर्वर्णं क्रमेणैव विलोमता ।
चतुर्वर्णं विना यस्तु विपर्यासं न्यसेद्यदि ॥५७॥
स विपत्तिं समाप्नोति सत्यं सत्यं न संशयः ।
अस्त्राय फडिति न्यासमापादतलमस्तकम् ॥५८॥
षण्णवत्यात्मके देहे प्रकाशार्थं प्रचोदयात् ।
लोकत्रयेण दिग्बन्धं ततो मन्त्राः(न्)प्रदर्शयेत् ॥५९॥
हंससिंहासनं वह्निर्विश्वयोनिस्तथैव च ।
खेचरी कुण्डलीकुण्डं सप्तव्याहृतिमुद्रिका ॥६०॥
सुमुखं संपुटं चैव विततं विस्तृतं तथा ।
द्विमुखं त्रिमुखं चैव चतुःपञ्चमुखं तथा ॥६१॥
षण्मुखाधोमुखं चैव व्यापकाञ्जलिकं तथा ।
शकटं यमपाशं च ग्रथितं(चोन्मु)सम्मुखोन्मुखम् ॥६२॥
प्रलम्बं मुष्टिकं चैव मत्स्यकूर्मवराहकौ ।
सिंहाक्रान्तां महाक्रान्तं मुद्गरं पल्लवं तथा ॥६३॥
एते मुद्राश्चतुर्विंशा गायत्री सुप्रतिष्ठिता ।
इति मुद्रां न जानाति गायत्री निष्फला भवेत् ॥६४॥
ध्यानं मुक्ताविद्रुम हेमनीलधवलच्छायैर्मुखैः— भजे ।
तारं तुर्यपादं चोक्त्वा बीजशक्ति च कीलकम् ॥६५॥
त्रीणि त्रीणि त्रिधाप्रोक्तं क्रमादृष्यादिकं न्यसेत् ।
पूर्णगायत्रिया देव्याः प्रसादे विनियुज्यते ॥६६॥

बीजशक्त्यादिकीलानां अनुलोमविलोमतः ।
आदौ प्रणवसंयुक्तं कराङ्गन्यासमाचरेत् ॥६७॥
प्रणवान्तस्त्रिलोकैश्च कुर्याद्दिग्बन्धनं ततः ।

ध्यानं – यद्देवास्सुरपूजितारुणनिभं हेमार्कताराग‌णैः
पुन्नागाम्बुजनागपुष्पवकुलैः (वासा) दिभिः पूजितम् ।
नित्यं धातृसमस्तदीप्तिकरणं कालाग्निरुद्रोपमं,
तत्संहारकरं नमामि सततं पातालषष्ठं मुखम् ।
शिखायोनिर्महायोगी सुरश्चाप्युपमस्तनि (के) ।
लिङ्गमुद्रामहामुद्रांञ्जलिरित्यष्टमुद्रिका ॥६८॥
प्रातर्मध्याह्नकाले तु तुर्यपादं दशांशकम् ।
सायंकाले चतुष्पादसहितं जपमाचरेत् ॥६९॥
सुरभिर्ज्ञानवैराग्ये योनिः शङ्खोऽथपङ्कजम् ।
लिङ्गं निर्वाणमुद्राऽष्टौ जपान्ते परिकल्पयेत् ॥७०॥

चक्रे – अत्र ग्रन्थपातः क्रमात् ।

ऋक्शाखोक्तेन विधिना योगे तु विलोमतः ।
विना प्रयोगजाप्ये तु अनुलोम न विद्यते ॥७१॥

इति विश्वामित्रस्मृतौनानाप्रयोगविधानं
नामषष्ठोऽध्यायः ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

उपस्थानविधिवर्णनम्

॥ उपस्थानम् ॥

अथातस्संप्रवक्ष्यामि उपस्थानविधिं क्रमात् ।
ऋक्शाखोक्तेन विधिना जातवेदस इत्यृचम् ॥ १ ॥
प्रातःकाले च सायाह्ने जपेच्चेत्युक्तमार्गतः ।
मध्याह्ने च पृथक्सन्ध्या योदित्यं जातवेदसम् ॥ २ ॥
सहस्रपरमां देवीं मध्याह्ने च जले द्विजः ।
सूर्यावलोकनं कुर्वन् दुर्गोपस्थानमाचरेत् ॥ ३ ॥
सायाह्न सूर्यमालोक्य दद्यादर्घ्यचतुष्टयम् ।
ऋक्षप्रकाशपर्यन्तं जपेदेवं चतुष्पदाम् ॥ ४ ॥
जातवेदस इत्येषां प्रातस्सायमृचं जपेत् ।
जलान्ते विधिवत्कुर्यात् उपस्थानं समाहितः ॥ ५ ॥
हंसमन्त्रं समुच्चार्य गायत्रीं त्रिपदां वदन् ।
अर्घ्यमेकं तु मध्याह्ने ऋग्यजुस्सामवेदिनाम् ॥ ६ ॥
प्रायश्चित्तं द्वितीयार्घ्यं असुराणां वधाय च ।
अर्घ्यद्वयं तु मध्याह्ने सर्वेषामेवमेव हि ॥ ७ ॥
अर्घ्यप्रदानात्परतो गायत्रीं पूर्ववज्जपेत् ।
आवर्तनं गते सूर्ये उपस्थानं समाचरेत् ॥ ८ ॥
उदित्यमिति मन्त्रेण ऋक्शाखोक्तविधिक्रमात् ।
मध्यंदिने रविध्याने प्रातस्सायाह्नवद्भवेत् ॥ ९ ॥

कृत्वा माध्याह्निकीं सन्ध्यां त्रयोदशघटीपरम् ।
आवर्तनान्तं प्रजपेदुपस्थानं ततः परम् ॥१०॥
नित्यं जाप्यं विना यस्तु उपस्थानं करोति चेत् ।
सौरमन्त्रैश्च सकलैः गायत्रीजपपूर्वकम् ॥११॥
प्रत्यगासूर्यमालोक्य उपस्थानं समाचरेत् ।
उदयेऽस्तमये जप्त्वा दुर्गोपस्थानमाचरेत् ॥१२॥
मध्यन्दिने जपान्ते च सूर्योपस्थानमाचरेत् ।
आश्वलायनगृह्योक्तमृग्यजुस्सामशाखिनाम् ॥१३॥
जपोपस्थानयोरन्ते सौरं पञ्चार्चनं यजेत् ।

प्रभान्तमुद्यत्प्रतिभास्यमानो
बिम्बं समालोक्य कृतोदितो वदेत् ।
मन्त्रस्य चार्षादिकृचं च याजुषैः
शाखान्तरोक्तास्तु(समु) उपासनीयाः ॥१४॥

त्रिपदाजपसाद्गुण्यं तुर्याजाप्यं दशांशकम् ।
तुर्यपादं विना जाप्यं कुरुते निष्फलं भवेत् ॥१५॥
मित्रस्य चर्षणीमन्त्रं याजुषोपासनक्रमात् ।
प्रातर्जपान्ते गायत्र्याः सूर्योपस्थानमाचरेत् ॥१६॥
आसत्येनेति मन्त्रेण षड्चोक्तविधानतः ।
मध्यन्दिने रविं ध्यायेज्जपान्ते विधिवत्क्रमात् ॥१७॥
सायं भानोरस्तमयाद्द्विघटी कर्मसंयमे ।
ऋक्षप्रकाशपर्यन्तं जपन् देवीं मनोहराम् ॥१८॥

लुप्तं सूर्यं समालोक्य दिगुपस्थानमाचरेत् ।
सूक्तं वारुणमस्ते च इमंमादि पठेन्मनुम् ॥१९॥
प्रियासूक्तं समुच्चार्य देवीं ध्यायेच्चतुष्पदाम् ।
पञ्चोपचारैरभ्यर्च्य गायत्रीं तुर्यया सह ॥२०॥

इति विश्वामित्रस्मृतौ उपस्थानंनाम
सप्तमोऽध्यायः ।

अथ अष्टमोऽध्यायः

देवयज्ञादिविधानवर्णनम्

॥ वैश्वदेवम् ॥

देवयज्ञादिकं वक्ष्ये गृह्योक्तविधिना ततः ।
कोद्रवान्मासुरान्माषान् मसूरांश्चकुलुत्थजान् ॥ १ ॥
लवणं च कटुद्रव्यं वैश्वदेवे विवर्जयेत् ।
नीवारान्वंशजं धान्यं गोधूमान् तण्डुलांस्तदा ॥ २ ॥
कन्दमूलफलादीनि दधिक्षीरघृतादिकम् ।
प्रत्यहं वैश्वदेवार्थं कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥ ३ ॥
गृहस्थो वैश्वदेवस्य कर्म प्रारभते यदा ।
गृहे सिद्धान्नमादाय दधिक्षीरघृतान्वितम् ॥ ४ ॥
जपासने स्वकार्यार्थं सर्वेभ्यः पचने द्विजः ।
यो हि यत्तद्धुनेदग्नौ गायत्रीमंत्रपूर्वकम् ॥ ५ ॥

दिवा सूर्याय रात्रौ चेदग्नये च हुवेद्धविः ।
प्रजापतय इत्येकामुभयोराहुतिं हुनेत्(?) ॥ ६ ॥
प्रणवव्याहृतिभिश्च हुत्वामन्त्रैः स्वशाखिभिः ।
भूतेभ्यश्चबलिंदद्यात्
आयुष्कामो दिवारात्रौ शूपाकारं बलिं हरे ।
मृत्युरोगविनाशार्थं नराकारं बलिं हरेत् ॥ ८ ॥
काम्ये कर्मणि वाक्ये च बलिं वल्मीकवद्धरेत् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं पुत्रान्पौत्रान्पशूंश्च यः ॥ ६ ॥
काङ्क्षते स च मोक्षार्थी चक्राकारं बलिं हरेत् ।
धर्मार्थकाममोक्षार्थं व्यजने च बलिं हरेत् ॥१०॥
पञ्चवैतेषु विप्राणां मुख्यमेतच्चतुर्थकम् ।
प्रथमं चोपवीतं स्याद्द्वितीयं च निवीतिकम् ॥११॥
तृतीयं पितृमेधार्थं वैश्वदेवे विधीयते ।
तण्डुलोदकसंयुक्तं पाकं कुर्याद्विशेषतः ॥१२॥
तप्तोदकस्य मध्ये तु तण्डुलं नैव पाचयेत् ।
तप्तोदकस्य मध्ये तु तण्डुलं पाचयेद्यदि ॥१३॥
तण्डुलं गरलं ज्ञेयं तुल्यं गोमांसभक्षणम् ।
अन्नं पर्युषितं भोज्यं स्नेहाक्तं चिरसंस्थितम् ॥१४॥
अस्नेहा अपि गोधूमा यवा गोरसमिश्रिताः ।
पाकमध्ये घृतं दत्वा पाकादुत्तीर्य यत्नतः ॥१५॥
तस्योपरि घृतं क्षिप्त्वा भागान् कुर्याद्विशेषतः ।
यज्ञार्थे देवपूजार्थे विप्रार्थे बलिकर्मणि ॥१६॥

पृथक्पाकं न कुर्वीत वैश्वदेवे विशेषतः ।
हविष्यान्नं कुशैः कार्यं पञ्चभागान्द्विजोत्तम ॥१७॥
अभिघार्य च तान् भागान् पूर्वं पश्चाद्घुतेन च ।
प्राणायामान्प्रकुर्वीत पञ्चपूजापुरस्सरम् ॥१८॥
देशकालौ च संकीर्त्य ततः कर्म समाचरेत् ।
षड्भिराद्यैः प्रतिमन्त्रं हस्तेन जुहुयात्ततः ॥१६॥
मनःस्था(खानि)स्थिरां कृत्वा स्वयं ज्ञानाग्निनापचेत् ।
स्वधर्मनिरतो यस्तु स्वयंपाकी स उच्यते ॥२०॥
अमन्त्रं वा समन्त्रं वा वैश्वदेवं न सन्त्यजेत् ।
वैश्वदेवस्य करणादन्नदोषैर्न लिप्यते ॥२१॥
प्रातर्मध्याह्नकाले च होमं कुर्याद्यथाविधि ।
सायंकाले तथा कुर्याद्धविष्यं तण्डुलं द्विधा ॥२२॥
विधाय प्रत्यहं पाकं हुत्वा देवार्पणं हविः ।
हुत्वा दत्वा च यो भुङ्क्ते स्वयंपाकी स उच्यते ॥२३॥
पञ्चसूनापनुत्त्यर्थं प्रायश्चित्ते हुनेद्धविः ।
पवित्रमन्यं (न्नं) तज्जातं नास्ति चेदपवित्रता ॥२४॥
एकपार्श्वेद्विधा होमौ न कुर्याद्वैश्वदैविकम् ।
कदाचित्कुरुते यस्तु उपोष्य व्रतमाचरेत् ॥२५॥
परेऽहनि समुत्थाय स्नानं कृत्वा यथाविधि ।
पाकं कुर्याद्विधानेन होमं कुर्यात्षडक्षरैः ॥२६॥
भूर्भुवस्सुवरित्येतैः हुनेत्प्रणवपूर्वकम् ।
अष्टोत्तरशतं चैव स्वसूत्रोक्तविधानतः ॥२७॥

वैश्वदेवं ततः कुर्यात्क्रमेणैव यथाविधि ।
बलिदानं ततः कुर्यात्प्रायश्चित्तं विधीयते ॥२८॥
सूतकद्वयसंप्राप्तौ नित्यहोमं परित्यजेत् ।
पारायणं प्रकुर्वीत वाचकोपांशुवर्जितम् ॥२९॥
एकादशेऽह्नि संप्राप्ते पृथक्पाकं प्रकल्पयेत् ।
वैश्वदेवं प्रकुर्वीत बलिकर्म यथाविधि ॥३०॥
प्रेतश्राद्धे पृथक्पाकं वैश्वदेवं समाचरेत् ।
क्षये दर्शे च पक्षे च एकपाको विधीयते ॥३१॥
प्रेतश्राद्धे विना येन पृथक्पाकः कृतो यदि ।
राक्षसाः प्रतिगृह्णन्ति पाककर्ता पतत्यधः ॥३२॥
वैश्वदेवप्र(करणस्य) कालस्यात्र विनिर्णयम् ।
सूर्योदयं समारभ्य घटिकाःस्युश्चतुर्दश ॥३३॥
घटिका पञ्चदश च षोडश स्युः ततः परम् ।
ततस्सप्तदश प्रोक्ताः ततश्चाष्टादश स्मृताः ॥३४॥
सङ्गमान्ते ब्रह्मयज्ञं कुर्यात्स्नानपुरस्सरम् ।
मध्यसन्ध्यां तर्पणं च वैश्वदेवमिति क्रमात् ॥३५॥
मध्यकाले तु मध्याह्ने दक्षिणायनगे रवौ ।
वश्वदेवं प्रकुर्वीत मध्यकालाच्च पूर्वतः ॥३६॥
मध्याह्नान्ते वैश्वदेवं घटिकानवकात्परम् ।
उत्तरायणगे सूर्ये वैश्वदेवं समाचरेत् ॥३७॥
चतुर्दशघटीभ्यस्तु मार्तण्डस्योदयावधि ।
परतस्तर्पणं कृत्वा वैश्वदेवं समाचरेत् ॥३८॥

ऋतुत्रयाख्यविधिना दक्षिणोत्तरमार्गयोः ।
सूर्योदयं समारभ्य घटिकाद्व्यष्टकात्परम् ॥३९॥
तर्पणान्तेऽस्य विधिना वैश्वदेवं समाचरेत् ।
योगिनां वैश्वदेवस्य कालनिर्णय उच्यते ॥४०॥
याममध्ये न होतव्यं याममुग्मं न लङ्घयेत् ।
योगिनां वैश्वदेवस्य काल एष उदाहृतः ॥४१॥
अन्यथा यस्तु कुरुते योगी भ्रष्टोऽभिजायते ।
योगिनां वैश्वदेवस्य मुख्यो विधिरुदाहृतः ॥४२॥
बलिक्रियां समुत्सृज्य कुर्यान्नित्यं षडाहुतिम् ।
नान्तर्बलिक्रियां कुर्याद्वाह्य एको बलिःस्मृतः ॥४३॥
षड्भिराद्यैर्हुनेदन्नं इति कौषातकिस्मृतः ।
तस्माद्धुनेद्विधानेन वैश्वदेवं श्रुतीरितम् ॥४४॥
वैश्वदेवस्याकरणाद्दोषं भिक्षुर्व्यपोहति ।
भिक्षोर्नदानं दोषं तु वैश्वदेवं व्यपोहति ॥४५॥
अकृत्वा वंश्वदेवं तु भिक्षौ भिक्षार्थमागते ।
उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षां दत्वा विसर्जयेत् ॥४६॥
काष्ठभारगतेनापि घृतकुम्भशतेन च ।
अतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थकः ॥४७॥
दूरादतिथयो यस्य गृहं प्राप्य सुतोषिताः ।
सद्गृहस्थ इति प्रोक्तश्शेषाः स्नुगृहरक्षकाः ॥४८॥
वैश्वदेवं विनापाको यस्तु सप्रत्यनामकः ।
तं पाकं ब्राह्मणो भुङ्क्ते स सद्यः पतितो भवेत् ॥४९॥

वैश्वदेवाकृताद्दोषाच्छक्तो भिक्षुर्व्यपोहितुम् ।
पादुकायोगपट्टं च पवित्रं चित्रकम्बलम् ॥५०॥
स्वाहां स्वधां वैश्वदेवे तर्जन्यां रजतं तथा ।
वर्जयेज्जीवपितृकः कुर्यान्नित्यं षडाहुतीः ॥५१॥
यदि पित्रा समाज्ञप्तो वैश्वदेवं समाचरेत् ।
असंस्कृतान्ननैवेद्यं स्थावरेषु गृहेषु च ॥५२॥
स्वाहाकारं विना यस्तु कुरुते ब्रह्मराक्षसः ।
चराचरादिदेवानां हविष्यान्नं निवेदयेत् ॥५३॥
पञ्चसूनापनुत्त्यर्थं वैश्वदेवं विधाय च ।
पञ्चसूनापनुत्त्यर्थं प्रायश्चित्तं हुनेद्धविः ॥५४॥
तत्परं देवताभ्यस्तु नैवेद्यं परिकल्पयेत् ।
वैश्वदेवार्पणं येन द्विजदेवार्पणं हविः ॥५५॥
कुर्वन्ति ते महापापात्तद्धविः क्रिमिसङ्कुलम् ।
रण्डावन्ध्याकृतः पाको बधिरामूकयोस्तथा ॥५६॥
निष्फलायाश्च गुर्विण्या न भोक्तव्यं कदाचन ।
रण्डापञ्चविधं ज्ञात्वा प्रयत्नेन परित्यजेत् ॥५७॥
श्मशाने चितिसंयुक्ते प्रज्वाल्याभीष्टकाष्ठवत् ।
कन्या वैधव्यमापन्ना वीरेत्याचक्षते बुधैः ॥५८॥
रोहिणी विधवा भर्ता सा रण्डेत्यभिधीयते ।
दुर्भगा दशवर्षा या सा कन्या समुदीरिता ॥५९॥
रजसः परतस्सा तु यातुकी विधवा भवेत् ।
असन्ततिश्च या नारी सा रण्डेत्यभिधीयते ॥६०॥

नानाभावैः प्रयत्नेन रण्डापाकं परित्यजेत् ।
वीररण्डा कुण्डरण्डा बालपुत्राह्यपुत्रिणी ॥६१॥
तासां पाको न भोक्तव्यो भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ।
अस्नाता विधवा चण्डी पक्काशी माससूतकी ॥६२॥
पञ्चपक्कान्त्यजेद्विप्रः तत्रैष्यं च परित्यजेत् ।
पाकं कृत्वा प्रयत्नेन ह्यभुक्त्वा भोजने विषम् ॥६३॥
रण्डापाकं महापापं वैश्वदेवे परित्यजेत् ।
नाहुतं पाकमश्नीयादनैवेद्यं स मन्यते ॥६४॥
रण्डापाकं विषं क्रूरं अहुत्वान्नं तथा विषम् ।
द्विविधं यन्त्रसंयुक्तं तदन्नं कालकूटकम्
नाना भावैः प्रयत्नेन रण्डापाकं परित्यजेत् ।
प्रमादात्प्राप्यते चान्नं प्राणायामांश्चतुर्दश ॥६६॥
कुर्यात्कुम्भकमार्गेण न्यासध्यानपुरस्सरम् ।
मन्त्रराजहविर्भागं प्रथमं वैश्वदेविकम् ॥६७॥
कृत्वा श्राद्धं प्रकुर्वीत नित्यनैमित्तिकं चरेत् ।
श्राद्धाग्नौ करणात्पूर्वं वैश्वदेवं विधाय च ॥६८॥
ततोऽग्नौ करणं कुर्यादन्यथा श्राद्धघातकः ।
वैश्वदेवं विना यस्तु श्राद्धकर्म समाचरेत् ॥६९॥
वृथा श्राद्धं भवेत्तस्य रौरवं नरकं व्रजेत् ।
नित्यनैमित्तिके श्राद्धे पक्त्वा चान्नं प्रयत्नतः ॥७०॥
ततो होमं प्रकुर्वीत ब्राह्मणान् भोजयेत्ततः ।
यदग्नौ करणं कुर्याद्वैश्वदेवपुरस्सरम् ॥७१॥

ब्रह्मार्पणं हविस्तत्स्यात्पितॄणां दत्तमक्षयम् ।
देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च ऋषिभ्यश्च तथा हविः ॥७२॥
आदौ वह्निमुखे दत्तं तृप्त्यै भवति नान्यथा ।
यस्त्वग्नौ न हुतं चान्नं दैवे पित्र्ये प्रयच्छति ॥७३॥
गोत्रपान्नं भवत्येव वृथा श्राद्धं न संशयः ।
नित्यश्राद्धे गयाश्राद्धे तीर्थश्राद्धे तथैव च ॥७४॥
वैश्वदेवं हुनेदादौ ततः श्राद्धं समाचरेत् ।
स्वाहाकारेण हुत्वादौ स्वधाकारेण वै ततः ॥७५॥
एवं होमत्रयं कृत्वा ततः श्राद्धं समाचरेत् ।
वैश्वदेवविषये :—

हविष्यमन्नं घृतसङ्कुलं च
वह्नौ समांशं जुहुयात्त्रियामम् ।
द्वयोत्तरं त्रिजति(?) युग्मसंज्ञं
ओङ्कारमादौ प्रतिमन्त्रयुक्तम् ॥७६॥

रसयुक्तं हविष्यं स्याद्घृतयुक्तं तथो(थौ)दनम् ।
ब्राह्मणो वैश्वदेवार्थं कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥७७॥
अन्यस्य चेद्रसं त्यक्त्वा वैश्वदेवं करोति यः ।
देवेभ्यश्शापमाप्नोति दरिद्रो भवति ध्रुवम् ॥७८॥
सुपक्वं रससंयुक्तं राजान्नं घृतसंयुतम् ।
तद्धविष्यमिति ज्ञातं सुप्रीतास्त्रिदशादशः ॥७९॥
पर्वद्वये समायोगे ।
श्राद्धान्ते वैश्वदेवार्थं पाकं कृत्वाप्रयत्नतः ॥८०॥

हुत्वा दत्त्वा च भुक्त्वा च द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ।
देवानां च ऋषीणां च पितॄणां च विशेषतः ॥८१॥
पर्यायेण प्रदातव्यं श्राद्धकाले हविर्द्विजैः ।
देवर्षिपितृतुष्ट्यर्थमेकपाको विधीयते ॥८२॥
पृथक्पाको न कर्तव्यः कृतश्चेत्पतितो भवेत् ।
अकृत्वान्नं तु नैवेद्यं यः कुर्यात्क्रिमिसङ्कुलम् ॥८३॥
होमं कृत्वा प्रयत्नेन वैश्वदेवंप्रकल्पयेत् ।

इति विश्वामित्रस्मृतौ वैश्वदेव प्रकरणंनाम
सप्तमोऽध्यायः समाप्त ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

* लोहितस्मृतिः *
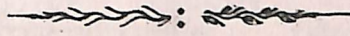
विवाहाग्नौस्मार्तकर्मविधानवर्णनम्

लोहितं सर्ववेदान्ततत्त्वज्ञं न्यायवित्तमाः ।
सामान्यज्ञानसंजातसंशयास्सर्व वस्तुषु ॥ १ ॥
विशेषं परिपप्रच्छुः भार्यापुत्रधनादिषु ।
स्मार्तं कर्म विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहंगृही ॥ २ ॥
इत्यत्र विद्यमानोऽग्नि शब्दोऽयं संशयास्पदम् ।
प्रधानलाजहोमाग्निः विवाहाग्निरितिस्मृतः ॥ ३ ॥
सोऽयं नित्यत्वधार्यत्वविहितो हि यतो मतः ।
विवाहपचनाग्निश्चेत्प्रकृतेन समञ्जसः ॥ ४ ॥
तस्योत्तरत्र कार्येषु विनियोगैकशून्यतः ।
प्रधानहोमाग्नौ तत्र पुनस्संशय ऐककः ॥ ५ ॥
आद्याग्नौ वा द्वितीयाग्नौ तृतीयाद्यनलेऽपि वा ।
अथ वा स्याच्चतुर्थाग्नौ पञ्चमाग्नौ न चेत्तथा ॥ ६ ॥
सर्वत्रैवाविशेषेण कुर्वीत प्रत्यहं गृहीः ।
एवं पुनस्तथा पश्चात्क्षत्रियाद्यनलेषु वा ॥ ७ ॥
केन द्रव्येण भूयश्च कथं मन्त्राश्च के पुनः ।
इत्येवं संशये जाते निश्चयं वच्मि वोऽद्य तु ॥ ८ ॥

॥ बहुभार्यस्यौपासनादौ विशेषः ॥

ब्रह्मचर्यनिवृत्तिस्सा यस्यास्समुदपद्यत ।
धर्मपत्नी सैव लोके कथिता तत्समा च सा ॥ ९ ॥
भर्तुरर्धशरीरा च सर्वधर्मसमाश्रया ।
तद्विवाहसमुद्भूतो वह्निर्निखिलकर्मणाम् ॥१०॥
मन्त्रपूतो वेदजन्यः सर्वयागैकसाधकः ।
स एव हि प्रधानाग्निः ब्राह्मणस्यमहात्मनः ॥११॥
द्वितीयाद्यग्नयः शिष्टाः दुर्बलास्तत्समान तु ।
न ते वैदिककृत्यस्य तूष्णीका एव केवलम् ॥१२॥
धर्मपत्नीवीतिहोत्रे स्मार्तं कर्माखिलं चरेत् ।
द्वितीयापत्न्यग्निषु चेत्तूष्णीकं कृत्स्नकर्म तत् ॥१३॥
वेदोक्तमन्त्रतन्त्राणि न भवेयुः कदाचन ।
प्रत्यग्नावपि यत्नेन सायं प्रातस्समाहितः ॥१४॥
वेदोक्तमन्त्रैरखिलैः कुर्यादौपासनं बुधः ।
राजन्याद्यबलाग्नीनां नित्यमौपासनं तु तत् ॥१५॥
ब्राह्मणेन तु कर्तव्यं व्रीहिभिर्न तु तण्डुलैः ।
शूद्रकन्यौपासनं तु ब्राह्मणेन विपश्चिता ॥१६॥
यवैरमन्त्रकं नित्यं कर्तव्यमिति काश्यपः ।
पञ्चपत्न्यो ब्राह्मणस्य स्वजातो धर्मतो मताः ॥१७॥
राजन्यवैश्ययोश्चापि स्वजातावेव वै तथा ।
त्रैवर्णिकानां सततं धर्मपत्नीधनञ्जयम् ॥१८॥

प्राथम्येन पुरस्कृत्य वैदिकानि प्रचालयेत्।
पितृश्राद्धेषु सर्वेषु प्रथमेष्वेव पञ्चसु ॥१९॥
तदग्नौ करणं कुर्यात् विशेषोऽयमथोच्यते।
धर्मपत्न्यनिले कुर्यात् मन्त्रवत्तद्विधानतः ॥२०॥
चतुर्ष्वन्येष्वमन्त्रेण हुनेदिति मनोर्मतम्।
एवं पितुश्च मरणे प्रथमाग्नौ सुतेन वै ॥२१॥
सर्वा आहुतयः कार्याः तन्मन्त्रैरखिलैरपि।
पश्चाद्द्वितीयाद्यनले तूष्णीकं ताः स्रुवाहुतीः ॥२२॥
कुर्यादेव समन्त्रास्ते तत्रस्युस्सर्वथैव हि।
सर्वे मन्त्राश्च धर्माश्च क्रियास्तन्त्राणि सूरिभिः ॥२३॥
धर्मपत्न्यनलावेव कर्तव्यत्वेन चोदिताः।
क्षत्रियाद्यबलावह्निविशेषायेऽस्यतेऽभवन् ॥२४॥
तान् सर्वान्दीप्यमानेऽस्मिन् क्रमात्तूष्णीं तु निर्वपेत्।
सर्वेष्वग्निषु तस्माद्वै यावज्जीवं विधानतः ॥२५॥
स्मार्तकर्माणि कुर्वीत चौपासनमुखान्यपि।
सजातिवह्निषु सदा तदौपासनमात्रकम् ॥२६॥
आन्तं समन्त्रकं नित्यं स्थालीपाकं तथैव च।
सर्वं श्राद्धादिकं शिष्टं यद्वा नैमित्तिकं भवेत् ॥२७॥
तत्र सर्वत्र सततं प्रथमाग्नौ समन्त्रकम्।
इतराग्निष्वमन्त्रं स्याद्वैश्वदेवं यथारुचि ॥२८॥
सर्वोत्तमा धर्मपत्नी तग्निश्च तथाविधः।
तत्प्राधान्येन कुर्वीत कर्म चौपासनं सदा ॥२९॥

क्रमेणेतरकर्माणि न व्यत्यासेन तच्चरेत् ।
पृथङ्नित्यं तथाकर्तुमशक्तश्चेद्विचक्षणः ॥३०॥

॥ अनेकाग्निसंसर्गः ॥

सर्वेषामपि वह्नीनां संसर्गं विधिनाचरेत् ।
संसर्गे तु कृते होमे चैको वह्निस्ततो भवेत् ॥३१॥
ततो होमे कृते तावन्मात्रेणैव समन्त्रकम् ।
सर्वत्रापि कृतं सम्यग्भवत्येव न संशयः ॥३२॥
धर्मपत्नीवीतिहोत्रे प्रधानेऽस्मिन्यथाविधि ।
क्रमेणैव स्थापयित्वा हुत्वाममन्त्रैस्तुतैरति(पि) ॥३३॥
योजयेत्तेन विधिना नान्यावह्नौ कदाचन ।
प्राधान्येन प्रधानाग्निं कृत्वा तस्मिन् परानशुचीन् ॥३४॥
योजयेत्समिताद्यैस्तु चरुधर्मेण धर्मवित् ।
कदाचिन्मोहतो यो वा द्वितीयाद्यनलेषुचेत् ॥३५॥
संसर्गं कुरुते मूढः प्रधानमितरास्तु वा ।
सर्वे नष्टाह्यग्नयस्ते लौकिकत्वं भजन्ति हि ॥३६॥
तद्दोषशमनायाथ पुनरग्निं यथाविधि ।
प्रतिष्ठाप्याखिलैर्दारैरुपविश्य यथाक्रमम् ॥३७॥
प्रधानहोमं कुर्वीत लाजहोमं च पूर्ववत् ।
पत्नीसंख्याविधानेन पश्चात्तत्सिद्धिरीरिता ॥३८॥
अन्यथा दोषमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ।
श्रौताग्नौ विद्यमाने स्वायतने तु तदान्वहम् ॥३९॥

सायंप्रातर्होमकाले धर्मपत्न्यास्सदैव हि ।
सीमोल्लङ्घनमात्रेण सद्योऽग्निर्लौकिको भवेत् ॥४०॥
तदधीनो यतो वह्निस्तथा तस्मात्प्रयत्नतः ।
तां धर्मपत्नीं तत्सीम्नः तत्कालोल्लङ्घनं यथा ॥४१॥
न करोत्येव सा यत्नात्तथा यत्नेन बोधयेत् ।
कदाचिद्यदि सा मोहादवशाद्दुःखपीडनैः ॥४२॥
सीमान्तरं प्रविष्टास्यात्पुनस्सन्धानमाचरेत् ।
अपस्मारादिना सा चेदभिभूतावशा भवेत् ॥४३॥
निरोधयेद्गृहेष्वेव नो चेदग्निस्तु लौकिकः ।

॥ ज्येष्ठादिपत्नीनां तत्सुतानां च ज्यैष्ठ्यकानिष्ठ्यविचारः ॥

धमपत्नी वयोन्यूना द्वितीया वयसाधिका ॥४४॥
धर्मपत्न्येव सततं ज्यैष्ठ्यमर्हति कर्मसु ।
वयोधिका द्वितीया सा सदा कानिष्ठ्यभागिनी ॥४५॥
भवेदेवेतिनिखिलाः प्राहुस्ते ब्रह्मवादिनः ।
द्वितीयादिसुतोज्येष्ठः वयसा कर्मशीलतः ॥४६॥
अधिकोऽप्याहिताग्निर्वा जातपुत्रो बहुश्रुतः ।
न ज्येष्ठपत्नीतनयान्मौञ्जीविरहितादपि ॥४७॥
न समो धर्मतः प्रोक्तः सोऽयमेवौरसः परः ।
आत्मजश्चापि कथितो द्वितीयादिसुतास्तुते ॥४८॥
कामजा इति हि प्रोक्ताः श्रुतिस्मृत्यर्थदर्शिभिः ।
एतेनैव प्रकथिता स्तृतीया तुर्यकादयः ॥४९॥

ज्यैष्ठ्यकानिष्ठ्यधर्मेषु न्यूनाधिक्येष्वपि स्फुटम् ।
धर्मपत्नीसुतेनैव स दत्तो भिन्नगोत्रजः ॥५०॥
तुर्यभागीति कथितः न द्वितीयादिसूनुना ।
विशेषोऽत्रापि भूयश्च पालको यद्यकिञ्चनः ॥५१॥
महाचारित्रबन्धुत्वशुश्रूषाद्यनुवर्तनैः ।
श्रीमन्नामतितुष्टाभ्यां पितृभ्यां प्रीतिपूर्वकम् ॥५२॥

॥ दत्तपुत्रविषयः ॥

कृपया दत्तपुत्रः श्रीभूमिक्षेत्रादि भाग्यवान् ।
बहुलो जातपुत्रश्च शनैः कालेन वै तदा ॥५३॥
वृद्धिं तां परमां प्राप्तस्तत्सून्वोश्च ततः परम् ।
तुल्यो भागः प्रकथितो न विवादः कदात्र वै ॥५४॥
तत्रापि जैष्ठ्यकानिष्ठ्ये मात्रीचात्मजहेतुतः ।
विवदन् चात्र यः पापी राष्ट्रात्सद्यस्स एव हि ॥५५॥
निर्वास्यस्ताडनीयश्च राज्ञा वै धर्म भीरुणा ।
एतेन सर्वदत्तानां पुत्राणामयमेव वै ॥५६॥
न्यायः प्रकथितस्सद्भिः एवं सत्यत्र केवलम् ।
एवं हि निश्चयो ज्ञेयः यो वा लोके त्वकिञ्चनः ॥५७॥
परश्रियं समुद्वीक्ष्य महिमानं च पूज्यताम् ।
तत्साम्यप्राप्तयेऽतीव कालमुद्वीक्ष्य केवलम् ॥५८॥
परापुत्रत्वदुःखज्ञो भूत्वा पश्चात्स्वयं शनैः ।
युवाभ्यां तनयं स्वीयं प्रदास्यामीति तौ तराम् ॥५९॥

संप्रार्थ्य यत्नात्संबोध्य समाश्रित्य च बन्धुभिः ।
मित्रैराप्तैर्बोधयित्वा तदीयैर्ज्ञातिसज्जनैः ॥६०॥
स्वपुत्रं प्रददेत्ताभ्यां अपुत्राभ्यां तदिच्छया ।
सोऽयमेव सुतः प्रोक्तस्तुर्यभाग्यौरसेन वै ॥६१॥
पश्चाज्जातेन धर्मेण हेयापुत्रस्तुतात्यशः ? ।
भवत्येव च सर्वत्र नचेद्दत्तः पुनर्यदि ॥६२॥
विद्याश्रीधनभाग्यैस्तु समो वाभ्यधिकोऽथ वा ।
भ्राता सगोत्रस्तत्कामरहितः पुष्कलात्मवान् ॥६३॥
अपुत्रप्रार्थनापूर्वं दानधर्मैकवर्त्मना ।
पुत्रं जनानां पुरतो ग्राहयामास केवलम् ॥६४॥
शपथैरतुलैर्घोरै राजबन्ध्वादिजल्पितैः ।
सपुत्रस्तेन तुलितः रिक्थद्रव्यक्षमादिषु ? ॥६५॥
अधिकोऽपि कदाचित्स्यादौरसान्न तु तत्कृतौ ।
पैतृके तु स एव स्याज्ज्येष्ठोऽयं वयसा तराम् ॥६६॥
न्यूनोऽपि तादृशो दत्तः समोऽभ्यधिक एव वा ।
कानिष्ठ्यमेव लभते न तु ज्यैष्ठ्यं कथंचन ॥६७॥
प्रेतकृत्यैकभिन्नेषु विभागादिषु तादृशः ।
औरसेन समः प्रोक्तः तादृशो यदि वा पुनः ॥६८॥
....प्सादीकोग्राम भूमिजनताधनशेवधेः ।
स एवार्हति सर्वस्वप्रदानादिषु केवलम् ॥६९॥
स्वामित्वं च तदाधिक्यं तत्कर्तृत्वं तदीशताम् ।
न्यूनत्वं दत्तमात्रेण लभते किल केवलम् ॥७०॥

किं तु तज्जन्मजनकक्रियाभिः पूर्वसंविदैः ।
ग्राहकस्यावश्यकत्वनावश्यत्वमुखैः परैः ॥७१॥
कृत्यैश्चरित्रैः सुस्पष्टं प्रभवेत्स्वयमेव वै ।
विद्वद्दत्तसुतोपायसंपादितमहाधने ॥७२॥
किमौरसस्य समता तुर्यता वेति वै जगुः ।
तत्राब्रुवन्धर्मपरा महान्तो ब्रह्मवादिनः ॥७३॥
दत्तः स्वप्रार्थनापूर्वप्राप्तपुत्रत्ववान्यदि ।
भिन्नगोत्रः पुनश्चापि तुर्यभाक् तु स एव हि ॥७४॥
औरसेन समोनायं स्वयमेवागतो यतः ।
पालकप्रार्थनाधिक्य या च सा शपथादिभिः ॥७५॥
प्रदानशपथप्रोक्तिमर्यादावाक्यसूक्तिभिः ।
स्वगोत्रसङ्गृहीतो यः प्रत्यासन्नोऽति सुन्दरः ॥७६॥
कापेयरहितस्सूनुः तत्समत्वेन कल्पितः ।
विद्वद्दत्तसुतोपायसंपादितमहाधने ॥७७॥
विभागेच्छा पालकौरसस्यजाता तदाकिल ।
संपादकेच्छनियतां साम्यंशश्च विधीरितः ॥७८॥
अत्रौरसः प्रकथितः धर्मपत्नीसमुद्भवः ।
द्वितीयादिसुतास्सर्वे सूनुपुत्रादिशब्दिताः ॥७९॥
भवन्त्येवात्र सततमौरसत्वं न तेषु तु ।
एतादृशीयं मर्यादा धर्मपत्नीस्थितौ तदा ॥८०॥
द्वितीयादिसमुद्भूतपुत्राणामिति निर्णयः ।
धर्मपत्न्यां तु नष्टायां पश्चात्स्याद्या विवाहिता ॥८१॥

सा चापि धर्मपत्नीत्वं प्राप्नोत्येवाचिरात्खलु ।
तस्यामपि च नष्टायां पुनर्याऽस्याद्विवाहिता ॥८२॥
कुले समाने सा चापि धर्मपत्नीत्वमर्हति ।
ज्येष्ठायां विद्यमानायां या द्वितीया विवाहिता ॥८३॥
पुत्रार्थं सापि काले न पुत्रिणी चेत्तथा भवेत् ।
तथा न चेद्रोगिनी स्यादाप्नोति पुरुषप्रसूः ॥८४॥
यत्नेन धर्मपत्नीत्वमनवाप्यंसुनिर्मलम् ।
बहुकालसुता भावद्धर्मपत्नी द्वितीययोः ॥८५॥
पुत्रसङ्ग्रहणे जाते द्वितीया पुत्रिणी यदि ।
तदापि तनयस्सोऽयं औरसो न भवेदपि ॥८६॥
आत्मजत्वं दत्तपुत्रे अङ्गादङ्गेति मन्त्रतः ।
यतो निक्षिप्तवान् तातः परसंजातविग्रहे ॥८७॥
ततो द्वितीयासंभूतः तनयस्तादृशो न तु ।
किं त्वयं कामजः कोऽपि सुतपुत्रादिवाच्यता ॥८८॥
तस्मिन् तिष्ठति बाढं सा नौरसत्वं प्रतिष्ठति ।
आत्मजत्वं च मुख्येन गौणत्वेनाखिलं तु तत् ॥८९॥
प्रतिष्ठत्येव किं तेन नौरसेन समो भवेत् ।
ज्येष्ठाद्वितीययोरारात्पित्रापुत्रकृताः परः ॥९०॥
उपनीतस्ततोज्येष्ठा मृता तस्याः क्रियां च सः ।
अकरोद्दत्तपुत्रस्तु ततः कालेन सा परा ॥९१॥
पुत्रं प्रासूत सोऽयंचेद्दत्तोऽन्यकुलजोऽपि सन् ।
तत्समांशी भवेदेव नात्रकार्या विचारणा ॥९२॥

ज्येष्ठाद्वितीययोराराात्तातेन च स्वीकृतः सुतः।
सगोत्रो वाऽसगोत्रो वा कृतमौञ्ज्यादिसत्क्रियः ॥९३॥

मृता द्वितीया तस्यास्तु चकार प्रेतकृत्यकम्।
दत्तोऽयं स्वेन धर्मेण मृताया मातुरेव हि ॥९४॥
पश्चात्कालेन सा ज्येष्टा प्रासूत यदि पुत्रकम्।
सोऽपिपुत्रोऽपि ते नैव तुल्य इत्येव सूरिभिः ॥९५॥

कथितो हि महाभागैः तस्मात्कर्म तथाविधम्।
तादृक्कर्मकरो मुख्यो भवत्येव तु तादृशं ॥९६॥
कर्म सद्भिः प्रकथितं तत्कर्तादुर्बलोऽप्ययम्।
प्रबलः सद्य एव स्यादौरसेन समोऽप्यतः ॥९७॥
एवं सत्यत्र भूयश्च निश्चयं वच्मिचैककम्।
दत्तपुत्रादत्तपुत्रसन्निधाने पितृक्रिया ॥९८॥
अदत्तपुत्रेणैव स्यात्कर्तव्याऽन्येन नैव हि।

॥ धर्मपत्न्याः प्राबल्यम् ॥

ज्येष्ठपत्न्येव सा पत्नी धर्मपत्न्यपि सा परा ॥९९॥
मुख्योवैदिककृत्यानां नान्या तत्सदृशी भवेत्।
धर्मपत्नीसमुद्भूत औरसश्चात्मजश्च सः ॥१००॥

वंशोद्धरणकर्तृत्वसर्वधर्मसमाश्रयः।
न तत्समः परस्तात्तु तदन्ये कामजाः स्मृताः ॥१०१॥
सर्वे धर्मा धर्मपत्न्याः सकाशात्संभवन्ति हि।
पाकयज्ञाः सप्त तेऽपि हविर्यज्ञास्तथैव च ॥१०२॥

सोमसंस्थास्सप्तसंस्थाः नित्यनैमित्तिकास्सवाः ।
सहस्रसंख्याः काम्याश्च यज्ञेष्टिपशुकादयः ॥१०३॥
अहीनाः क्रतवश्चापि सत्रास्ते विविधाः पुनः ।
धर्मपत्न्यनलाज्जातास्तेषामौपासनस्य तु ॥१०४॥
प्रथमः कथितस्सद्भिः मुखं प्रवर उत्तमः ।
तत्समो विद्यते भूमौ मूलभूतश्चकारणम् ॥१०५॥
तादृशस्यास्य करणं धर्मपत्न्येव मुख्यभूः ।
तदधीना वह्नयः स्युस्तस्मात्सा सन्ध्ययोर्द्वयोः ॥१०६॥
सीमासन्धिप्रदेशेषु न गच्छेदेव सर्वथा ।
नदीपाथः परंपारं न गच्छेदेव सर्वथा ॥१०७॥
यदि मोहेन सा गच्छेद्वह्नयस्सद्य एव वै ।
लौकिकत्वं प्राप्नुवन्ति तस्मात्तु सरितं नदीम् ॥१०८॥
महानदीमल्पनदीं यत्नान्नातिक्रमेत वै ।
नद्युत्तरणमात्रेण धर्मपत्न्या विशेषतः ॥१०९॥
पत्नीमात्रस्य सामान्यात्सजातेरपि केवलम् ।
पक्षवन्तो वह्नयस्ते प्रद्रवन्त्याशु तत्क्षणात् ॥११०॥
तस्मादत्यल्पसलिलकुल्यागोष्पदमात्रकाः ।
सरित्स्नानाय गन्तव्या न भवेत्तु तया किल ॥१११॥
यदि मोहेन सा पत्नी अत्यल्पसलिलामपि ।
कुल्यारूपामतिस्वल्पविशालां पादमात्रतः ॥११२॥
सुसन्तरेयां हेलार्थं लङ्घयेन्नतु सर्वदा ।
स्रवन्त्या अपि तादृश्याः परे पारेऽतिबाल्यतः ॥११३॥

अप्येकपादं पूर्वं वा निक्षिपेत्तावतैव हि।
पुनस्सन्धानमित्युक्तं वह्नेरस्येति तज्जगुः ॥११४॥
धर्मपत्न्यतिरिक्तानां तादृशो नियमो न हि।
संसर्गहोमात्परतः पत्नीनामिति निश्चयः ॥११५॥
संसर्गहोमो यावत्तु न कृतः स्यात्तदा पुनः।
तावत्तु तासां स्वाग्नीनां अवनायायमेव वै ॥११६॥
नियमः कथितस्सद्भिः संसर्गात्परतः पुनः।
एतादृशस्तु नियमः त्वत्यन्तावश्यको न तु ॥११७॥
तस्माद्द्वितीयादि भार्या विशेषाणां च सानिशम्।
शरणं विश्रमस्थानं सर्ववैदिककर्मणः ॥११८॥
यदि सा स्यात्समीचीना धर्मपत्नी सती शिवा।
तया समुत्तारिताः स्युः सर्वाभार्याः परास्तुयाः ॥११९॥
यदि सा स्यादप्रगल्भा कर्माज्ञा कर्मनाशनी।
धर्मस्यसिद्धिर्नास्यस्यादित्येवं धर्ममानसम् ॥१२०॥
अथापि तस्य यो वह्निः सदा रक्ष्यश्च सूक्ष्मतः।
स हि प्रधानो धर्मस्य मुख्यश्चौपासनः शिवः ॥१२१॥
तस्मिन्नेवौपासनेऽन्यवह्नयश्शास्त्रवर्त्मनाः।
संयोज्यास्तदभावे तु द्वितीयाद्यनलेऽल्पके ॥१२२॥
स्थालीपाकं पितृश्राद्धं आधानं सोम एव वा।
कर्तुं न शक्यतेऽतीव कृतं यद्यकृतं भवेत् ॥१२३॥
प्रथमायां धर्मपत्न्यां दूरगायां कदाचन।
एतेषु श्राद्धकृत्येषु सद्यस्सन्धानकर्म तत् ॥१२४॥

कृत्वा तस्मिन्वीतिहोत्रे तानि कर्माणि चाचरेत् ।
द्वितीयाद्यनलेष्वेवं विद्यमानेषु चेत्पुनः ॥१२५॥
अमन्त्रकेण होतव्यं अन्यथा कर्म नश्यति ।
कंचित्कालं धर्मपत्नी स्वधर्मेणस्थिता ततः ॥१२६॥
चित्तव्यामोहरुक्क्रोधोऽपस्मारादिकुबुद्धिभिः ।
भर्तारमपि संलङ्घ्य भ्रष्टा तुच्छातिचारिणी ॥१२७॥
जाता यदि तदा तस्यास्तमग्निं धार्य धर्मतः ।
विद्यमानं समिग्निष्ठमथवात्मनि संस्थितम् ॥१२८॥
तत्तत्कालेषु संप्राप्तश्राद्धेषु च तथा पुनः ।
पित्रोश्च मातामहयोर्दर्शादिषु च कृत्स्नशः ॥१२९॥
नित्यनैमित्तिकेष्वेवं स्थालीपाकेषु मन्त्रतः ।
हुत्वाज्यं व्याहृतीभिर्वै सर्वचित्तप्रपूर्वकम् ॥१३०॥
तस्मिन्नेव प्रधानाग्नौ तानि कर्माणि चाचरेत् ।
अतिदुष्टेति या वत्सा त्यज्यते मन्त्रसंस्कृता ॥१३१॥
ते नैव वह्निना दाहं प्राप्यते घटताडनात् ।
तावत्तस्मिन् पावके तु तद्भर्ता पितुराब्दिकम् ॥१३२॥
स्थालीपाकं तथा धानं यच्चान्यदपि वैदिकम् ।
संप्राप्तमखिलं कुर्याद्विवाहो यदि वा पुनः ॥१३३॥
घटप्रहरणाभावे कर्तव्यत्वेन निश्चितः ।
तस्मिन्वह्नौ विद्यमाने समिध्यात्मनि वा सदा ॥१३४॥
विद्यमानं मन्त्रमुखात् पुनस्सन्धाय वा ततः ।
तस्मिन्वह्नौ विवाहोऽयं द्वितीयो मन्त्रपूर्वकः ॥१३५॥

कर्तव्यत्वेन विहितो न चेद्वानन्तरं पुनः ।
तस्मिन्नेव च संसर्गहोमं कुर्याद्यथाविधि ॥१३६॥
किमर्थमेवमिति चेत्सा भ्रष्टापितदुद्भवः ।
वह्निशिवो न संन्त्याज्यः आत्मगाम्येव वै यतः ॥१३७॥
सोऽयमेव प्रधानोऽग्निः यजमानस्य केवलम् ।
गार्हस्थ्यदायकः श्रीमान् ब्रह्मचयनिवारकः ॥१३८॥
प्रबलस्तेन कथितस्तस्मिन् सति ततः शिवे ।
मुख्याग्नावात्मनि परे तमनादृत्य केवलम् ॥१३९॥
वह्निं गार्हस्थ्यदं दिव्यं पत्नीप्रद्वेषतो जडः ।
यदा पत्नी गता भ्रष्टा तदा सोऽपिविभावसुः ॥१४०॥
नष्ट एवेतिनिश्चित्य दुर्बुद्धा शास्त्रवर्त्म तत् ।
अज्ञात्वेव जडो जाड्यं प्राप्य दुष्टधिया वृथा ॥१४१॥
द्वितीयाग्निमुखाद्यद्यत्कर्म भ्रान्त्या करोतिचेत् ।
व्यर्थमेव भवेन्नूनं फलदं न भवेदपि ॥१४२॥
श्राद्धादित्यागदोषाय पात्रमेव भवेद्ध्रुवम् ।
सति तस्मिन्प्रधानाग्नौ वात्मन्यत्राशुशुक्षणौ ॥१४३॥
द्वितीयाद्यनले लौकिकत्वेनैव समे स्थिते ।
अमन्त्रेणैव होतव्ये समन्त्रेण कृतं तु चेत् ॥१४४॥
व्यत्यासेन कृतं तच्च तूष्णीकं प्रभविष्यति ।
पित्रोः श्राद्धे तथा व्यर्थे जाते तत्परमेव वै ॥१४५॥
सद्यश्चण्डालता सा स्यादनिवार्या सुरैरपि ।
पुनर्मोहेन तस्मिन्वै द्वितीयाद्यनलेऽल्पके ॥१४६॥

प्राधान्येनैव निश्चित्य तानि कर्माणि मोहतः।
कृतानि चेद्वैदिकानि का वा तस्य गतिर्भवेत् ॥१४७॥
आदावेकां गतिं कृत्वा पूर्वाग्नेश्शास्त्रवर्त्मना।
स्वीकारं वा नचेत्त्यागं पश्चात्कुर्यात्सवादिकम् ॥१४८॥
इत्येवं केचन प्राहुराचार्या ब्रह्मवादिनः।
वस्तुतस्त्वत्र निष्कर्षं प्रवदामि सुखाय वै ॥१४९॥
आत्मस्थं वैदिकाग्निं तं भ्रष्टायै न कदाचन।
दातुं वै शक्यते तूष्णीं दत्तश्चेदाशुशुक्षणिः ॥१५०॥
तादृशायै शपत्येनं घटध्वंसात्परं क्रुधा।
सप्राणां पतितां भार्यां समुद्दिश्यैव पावकम् ॥१५१॥
शुद्धमात्मैकशरणं बुद्धिपूर्वं कथं शुचिम्।
दातुमिच्छत्ययं मूढः मामित्येवं सुदुःखितः ॥१५२॥
भवत्ययं वायुसखा तस्मात्तां घटताडने।
लौकिकेन दहेद्वैश्वानरेणैव न चान्यतः ॥१५३॥
पश्चात्पूर्वोत्थिते वह्नौ स्वात्मन्येवस्थितेशिवे।
द्वितीयासंभवं वह्निं संसृज्य विधिवत्ततः ॥१५४॥
तस्मिन्नेवानले सर्वं कर्मजातं तु वैदिकम्।
कुर्यादेव विधानेन न चेद्दोषो महान् भवेत् ॥१५५॥
दुश्चरित्रात्पूर्वमेव समुद्भूतस्सुतः शुभः।
निर्दोष एव स्वीकार्यः सैव त्याज्या मनीषिभिः ॥१५६॥
तदूर्ध्वं चेत्समुद्भूतः तस्या गर्भात्तु शावकः।
सतां ग्राह्यस्तु न भवेदिति वेदान्तशासनम् ॥१५७॥

घटप्रहारात्परतः तत्प्रकृत्या च तां ततः।
दग्ध्वाश्राद्धं च निर्वर्त्य सकृदेव स्वयं ततः ॥१५८॥
शुद्धो भवेन्नचेत्तूष्णीं स्थितेऽस्मिन्वै तथा किल।
श्रौतस्मार्तादिकृत्यानां नाधिकारी भवेदयम् ॥१५९॥
भ्रष्टायां पतितायां वा स्वैरिण्यां यदि दैवतः।
जातायामपि तत्पत्न्यां त्यागं कुर्यादतन्द्रितः ॥१६०॥
शास्त्रमार्गेण विधिना तमग्निं परिगृह्य वै।
त्यक्त्वा तां विधिना पश्चाद्भूयो धर्मार्थमेव वै ॥१६१॥
आहरेद्विधिवद्दारान् अग्नींश्चैवाविलम्बयन्।
पञ्चाग्नयो ब्राह्मणस्य पञ्चदाराश्चशास्त्रतः ॥१६२॥
स्वाजातौ विहितास्सद्भिः तेषु दारेषुधर्मतः।
ऋतुगाम्येव तु भवेत्तादृशेन हि कर्मणा ॥१६३॥
अयं भवेद्ब्रह्मचारी सदा नित्यविशेषणः।
प्रजार्थं मैथुनं कुर्वन् ताभिस्संप्रार्थयन्नति ॥१६४॥
पुनः कुर्वंस्तथा नापि च्यवते ब्रह्मचर्यतः।
ब्रह्मचर्यैकसंसिद्धिः पत्नीपञ्चकसंस्थितौ ॥१६५॥
सिध्यते ब्राह्मणस्यैव ऋतुकालाभिगामितः।
स्त्रीकामपूर्तिकरणाद्ब्रह्मचर्यं कदाचन ॥१६६॥
मो(क्ष)षमाप्नोति नैवेति ते प्राहुर्ब्रह्मवादिनः।
पत्नीनां करणं प्रोक्तं पञ्चानां स्यात्कृते युगे ॥१६७॥
चातुर्वर्ण्यविवाहोऽपि मांसेन श्राद्धसत्क्रिया।
अश्वालम्भो गवालम्भः भार्यान्तरपरिग्रहः ॥१६८॥

देवरादिसुतोत्पत्तिः   विधवागर्भधारणम् ।
एवमादीनि चान्यानि कर्माणि न कलौ क्षितौ ॥१६९॥

॥ द्वादशविधपुत्राः ॥

प्रशस्तानीति नोचुर्हि तथा द्वादशपुत्रकान् ।
तत्रादौ क्षेत्रजो दुष्टः स्वपत्न्यामन्यसंभवः ॥१७०॥
सगोत्रेणेतरेणापि तावुभौ शास्त्रनिन्दितौ ।
स्वस्मिन्व्याध्यादिना ग्रस्ते सति सान्येन सङ्गता ॥१७१॥
येन केनचिदज्ञाता गर्भं धृत्वा रहस्यति ।
प्रसूते यं सुतं सोऽयं सुतो गूढजनामकः ॥१७२॥
पितृमात्रेण संज्ञातजननो व्यभिचारजः ।
पितृणां सर्वनरकप्रदः पापालयः खलः ॥१७३॥
बन्ध्वबन्धुप्रभेदेन द्विविधोऽयं च कथ्यते ।
या विवाहात्पूर्वमेव जारसङ्गतितः किल ॥१७४॥
गर्भेधृतेऽथ तच्चिह्नैर्ज्ञात्वा सत्वरमेव वै ।
विवाहितातपितृभ्यां हि दत्वा वै यस्य कस्यचित् ॥१७५॥
अकीर्त्यैकभयात्सद्यः सा प्रसूते तु यं सुतम् ।
कानीन इति विख्यातः पुनश्चायं तथा परः ॥१७६॥
प्रकारान्तरतः प्रोक्तः सूते कन्यैव यं सुतम् ।
सोऽयं तथाविधश्चापि प्रथितस्तेन दुर्जनैः ॥१७७॥
तन्माता पतिता पश्चाद्यस्य कस्य विवाहिता ।
कुलघ्नी सच्चरित्रेव गुह्यपापातिनिन्दिता ॥१७८॥

तुच्छेन येनकेनापि भर्तृरूपेण सङ्गता।
तज्जायापतिभावं च पश्यतां धारयन्त्यपि ॥१७९॥

....तं चापि तनयं स्वीकृत्य च ततः पुनः।
पालयन्त्यपि निर्दुष्टपुत्रवत्पृथिवीतले ॥१८०॥
साध्वीषु च सतीष्वेवाहं काचिदिति वादिनी।
स्वसुतानां सत्कुलेषु बहुकाले गते शनैः ॥१८१॥
दूरदेशस्थितैर्बन्धुजातै...वन्ध्यमायया।
विद्यमानातिचपला तेन पुत्रेण सत्कुलान् ॥१८२॥
महात्मनो नाशयन्ती तत्पुत्रस्तादृशो ह्ययम्।
कानीनस्त्वपरः पापी निन्दितो ब्राह्मणोत्तमैः ॥१८३॥

अक्षतायां क्षतायां च जातौ...र्भगौ मतौ।
तौ चापि निन्दितौ पापौ पुत्रबाह्यौ प्रकीर्तितौ ॥१८४॥
अकीर्तिकारकौ बन्धुजनानां दूषितौ खलौ।
अतिनैच्यं गतौ हेयौ धर्मशास्त्रप्रदूषितौ ॥१८५॥
पितृदोषैकजननौ न योग्यौ यस्य कस्यचित्।

॥ दत्तस्यौरससमभागः॥

दत्तः पितृभ्यां दत्ताख्यः सापेक्षाभ्यां च सद्विधः।
तथैव निरपेक्षाभ्यां तत्राद्यस्तु तुरीयभाक्।
तत्तो यो निरपेक्षाभ्यां सकाशात्पालकस्य वै ॥१८६॥
सोऽयं वै समभागी स्यात्पश्चाज्जातौ रसेन वै।
दम्पत्योरेव तद्दानेऽधिकारस्तत्प्रतिग्रहे ॥१८७॥

दम्पत्योरेव नान्यस्य यतेर्वा ब्रह्मचारिणः ।
अकलत्रस्थतत्सामीप्याकलत्रस्य वा तथा ॥१८८॥
विधवाया नाधिकारः प्रदानग्रहणेऽपि वा ।
वानप्रस्थस्याशुचेर्वानुपनीतेः कदाचन ॥१८९॥
तद्वत्सूतकिनश्चापि व्रतिनोनाधिकारता ।
विक्रीतः कथितश्चैवं पितृभ्यां तादृशैरपि ॥१९०॥
निर्वाहकेण ज्येष्ठेन पितृव्येण तथैव च ।
पितामहेन तत्पत्न्या तथा मातामहेन च ॥१९१॥
स्वयं क्रीतश्च कथितः पुत्रः कृत्रिमसंज्ञिकः ।
स्वयंदत्तस्तु दत्तात्मा स्वपोषणपरः खलः ॥१९२॥
सहोढजस्तथाप्यन्यः पुत्रः शास्त्रैकनिन्दितः ।
गर्भेविन्नोन्यज्ञहेतुः पितृणां नरकप्रदः ॥१९३॥
स कानीनः पुनरपि स्वगोत्रेण समुद्भवः ।
अतिपापी स चण्डालादधिकोऽश्चाव्य एव सः ॥१९४॥
स्मरणीयो न वाच्योऽयं वंशमज्जनकारकः ।
अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितस्सुतः ॥१९५॥
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ।
हैन्यन्यज्ञैकनिलयः पुत्रोऽयं कश्चनस्मृतः ॥१९६॥
पितृभ्यां यस्समुत्सृष्टः महादोषसमुद्भवः ।
ग्राहकेण स्वीकृतो यः सोपविद्ध इतीरितः ॥१९७॥
त एते निखिलाः पुत्राः सूत्रकारैर्महात्मभिः ।
दुःखादनङ्गीकृताःस्युः महान्यायैकसंभवाः ॥१९८॥

चरमस्त्वपविद्धस्तु कृताकृत इतीरितः।
तस्माद्द्वावेव तौ प्रोक्तौ तनयौ शास्त्रविश्रुतौ ॥१९९॥
नरकोत्तारकौ सद्यो जन्मनैव न कर्मणा।
आत्मजश्चापिदौहित्रः समानौ पैतृकेऽनिशम् ॥२००॥
कदाचिदधिकश्चापि दौहित्रस्तनयादति।
दौहित्रात्तनयस्तद्वदधिकः केषु कर्मसु ॥२०१॥
औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः।
पुत्रभावोयस्य वा स्यात्कदाचित्केन कारणात् ॥२०२॥
पुत्रसङ्ग्रहणं सद्यः कर्तुमाशु न शक्यते।
चिरकालप्रतीक्षादौ तत्पित्रोः कामपूरणम् ॥२०३॥
तत्प्रार्थितप्रदानस्य शपथोक्त्यादिकं ततः।
जनानां पुरतो होमः पश्चाच्छपथवाचनम् ॥२०४॥
तस्यैतस्य तु कृत्स्नस्य तत्तत्काले शनैः शनैः।
अत्यन्तदुःखं सुक्रूरमनुभूय स भार्यकः ॥२०५॥
तं सङ्गृह्य विधानेन जातकर्मादिकं च तत्।
कृत्वोत्सव नु भूय तस्य मौञ्ज्यादिपुस्वयम् ॥२०६॥
पश्चाज्जाते धर्मपत्न्यां तनये वा तदैव वै।
द्वितीयायां तृतीयायां स्वकीयोत्पत्तिमात्रतः ॥२०७॥
पूर्वकालगृहीतं तं कुमारं शुद्धचेतसम्।
अपि तूष्णीं द्वेष्टि किल तस्मादन्यसुतं हठात् ॥२०८॥
सङ्गृह्यचोभयत्रापि भ्रष्टं कृत्वा स्वयं ततः।
अत्यन्नपातकावासमिथ्यावाक्यविशेषकान् ॥२०९॥

तमुद्दिश्यदिवारात्रं प्रलपन् दुर्मनाः परम् ।
राजाज्ञापान्त्रभूतश्च सज्जनैरतिदूषितः ॥२१०॥
संलंघ्यन् मित्रवाक्यानि बन्धुवाक्यानि भूरिशः ।
तृणीकुर्वन् दुष्टवाक्यसहस्त्रेणायमल्पकः ॥२११॥
तुच्छो दूष्यः प्रभवति तन्मध्ये च पुनः पुनः ।
ताडितो धिक्कृतो राजकीयैः पुंभिः प्रदूषितः ॥२१२॥
हेयभूतश्च भवति तस्मात्पुत्रस्य सङ्ग्रहम् ।
प्रकुर्वन्त्येव विद्वांसः पुत्राभावे तु मुख्यतः ॥२१३॥
दौहित्रे सति सोऽयं स्यात्पुत्रतुल्यस्ततोऽधिकः ।
न तस्य होमः कर्तव्यो ग्रहणं न च मन्त्रतः ॥२१४॥
क्रियाः काश्चिन्न सन्त्यत्र जातकर्मादिकाः पराः ।
तनयोत्पत्तिसमयेस्वर्णदानादिकं परम् ॥२१५॥
यद्यत्तदेतदखिलं यत्नसाध्यं न विद्यते ।
स वा नूनं कृते किञ्चित् पुनरप्यतिवार्धके ॥२१६॥
अस्यैव पुरतो दैवात्पुत्रे जातेऽथवा तदा ।
जातं तमेनं दौहित्रो मातुलो मम संप्रति ॥२१७॥
संजातइति सन्तोषपूर्वकं तोषयिष्यति ।
तयोश्चित्तं स्वबन्धूनां पश्चाज्जातोऽप्ययं शिशुः ॥२१८॥
संजातमात्रः परमः सर्वप्राणेन सन्ततम् ।
प्रपालयति स्वप्राणाधिकतो मानयन्नति ॥२१९॥
मानितः पालितः सम्यक्तेनैवं सति सोऽप्यति ।
प्रीत्यैव सततं पश्यन्प्रतिष्ठत्येव सर्वदा ॥२२०॥

तस्माद्दौहित्रतुलितो नास्ति पुत्रो जगत्त्रये ।

॥ दौहित्रेसति पुत्रप्रतिग्रहाभावः ॥

दौहित्रोत्पत्तिमात्रेण तत्कुलद्वयसंभवाः ॥२२१॥
उत्तारितास्सद्य एव भवेयुर्नात्र संशयः ।
तामभ्यनुज्ञां भार्यायाः पुत्रसङ्ग्रहहेतवे ॥२२२॥
न दद्यात्सति दौहित्रे म्रियमाणः स्वयंपतिः ।
आपन्निवारकस्सोऽयं आपत्सापुत्रशून्यता ॥२२३॥
एक एव भवेन्नूनं दुहितातनयोऽखिलैः ।
दौहित्रे सति पुत्रस्य ग्रहणं न समाचरेत् ॥२२४॥
अजातपुत्रस्तेनैव पुत्र्ययं धर्मतो मतः ।
अविभक्तो ज्ञातिभिर्यस्त्वपुत्रो दैवयोगतः ॥२२५॥
मृतश्चेत्तस्य ते सर्वे तन्मुखेनैव तत्क्रियाः ।
मन्त्रैः कारयितव्याः स्युरन्यथा पापभागिनः ॥२२६॥
ज्ञातयः प्रभवन्त्येव तत्क्रियामात्रतोऽस्य वै ।
तद्द्रव्यभाक्त्वं न भवेत् अविभक्ता यतस्तु ते ॥२२७॥
विभक्तास्ते खलु तदा भवेयुर्यदि तेन वै ।
मृते न चेत्तेषां ज्ञातीनां तु न किञ्चन ॥२२८॥
लेशमात्रं हि किमपि धर्मतो न भवेद्ध्रुवम् ।
द्रव्यं मृतस्य यद्वा तत्सर्वं पुत्रीसुतस्य वै ॥२२९॥
स्वीयमेव भवेन्नूनं तस्माज्जातेऽखिला भुवि ।
दौहित्रे भग्नमनसः नष्टकामा गतश्रियः ॥२३०॥

भवन्ति किल भूयोऽपि केचिद्दुष्टजनास्तराम् ।
परद्रव्यापहर्तारः नित्यचौर्यैकवृत्तयः ॥२३१॥
कथं ज्ञातेर्विभक्तस्य धनं तूष्णीं दुराशयाः ।
कदा केन वरिष्याम इतिचिन्ता समन्विताः ॥२३२॥
अनृतानि च वाक्यानि प्रलपन्तस्ततस्ततः ।
सतां प्रद्वेषिणोऽतीव वर्तन्ते पापिनो जडाः ॥२३३॥
तान्नित्यं धार्मिको राजा विचार्य शठबुद्धिकान् ।
धर्मेण चारमुखतः तया व्याभाषणादिना ॥२३४॥
तेषां परेषां विदुषां धर्मज्ञानां मिथोक्तितः ।
विचार सूक्ष्मयाबुद्ध्या समालोच्य ततः परम् ॥२३५॥
स्वीकृत्य दण्डयित्वा च छीत्कृत्य च तदा तदा ।
राष्ट्रात्प्रवासयेद्दुष्टान सन्तस्सम्यक्प्रपूजयेत् ॥२३६॥
दानमानादिना नित्यं तेनास्य सुमहात्मनः ।
भूतिर्यशो भगश्चायुर्वर्धन्तेऽन्वहमञ्जसा ॥२३७॥
अपुत्रधनमात्रे स्युर्ज्ञातयो नित्यमेव वै ।
दौहित्राजनने यत्नाद्धतुं यत्ता भवन्ति वै ॥२३८॥
दौहित्रजनने सद्यो नष्टकामास्तथा पुनः ।
निशानित्यदुःखाश्च कश्मलं प्राप्नुवन्ति च ॥२३९॥
श्वश्रूश्वशुरयोः पित्रोः पत्यभावे ततः पुनः ।
अभ्यनुज्ञाप्रदानेऽस्या अपुत्रिण्या विपद्यपि ॥२४०॥
सङ्गच्छते कदाचित्तु पुत्रग्रहणकर्मणः ।
अधिकारो मनुप्रोक्तः आपत्सापुत्रशून्यता ॥२४१॥

आपन्निवारकस्सोऽयं दौहित्रस्तस्य चोदितः।
विधवा या पितृभ्रातृकृता पुत्रग्रहे तु या ॥२४२॥
अभ्यनुज्ञा ज्ञातिमता चेद्बन्धूनां च ग्रामिणाम्।
जनानामपि शिष्याणां श्रोतृणामपि कृत्स्नशः ॥२४३॥
युक्तत्वेनैककण्ठ्याच्चेत्तथास्त्विवति मनोर्मतम्।
तदा तु ग्रहणं ज्ञातेर्नान्यस्य तु कथंचन ॥२४४॥
कदाचिदपि पुत्रस्य ग्रहणे समुपस्थिते।
अपुत्रिणोस्तदाभ्रातृमध्येज्येष्ठान्त्ययोः किल ॥२४५॥
एकस्य ग्रहणं कार्यं धर्मतो यस्य कस्य वा।
ग्रहणं त्वेकपुत्रस्य सर्वेषामप्यसम्मतम् ॥२४६॥
न ज्येष्ठस्य कनिष्ठस्य पङ्गोर्मूकस्यरोगिणः।
अन्धस्य बधिरस्यापि क्लीबस्य शिवत्रिणोऽपि वा ॥२४७॥
ग्रहणं नैव कुर्वीत कुर्याद्यदि वृथैव सः।
औरसैरपि तैः पुत्रैः पङ्गुमूकादिभिर्जडैः ॥२४८॥
निरंशैर्वेदमन्त्रैकन (?) धिकारनिदानकैः।
निष्प्रयोजनकैः तुच्छैः नाममात्रैकभाजनैः ॥२४९॥
भरणीयैरन्नपानप्रदानमुखतस्तराम्।
प्रयोजनं किमप्यस्ति तदुत्पन्नैः कथंचन ॥२५०॥
वर्गत्रयात्परं तेषां मूकाद्यौरससन्ततौ।
भवेद्ब्राह्मण्यपौष्कल्यं तत्पूर्वं तस्य खर्वता ॥२५१॥
मन्त्राद्युच्चारणाभावात्तत्क्रियाणां च लोपतः।
तथा तावत्प्रकथितं धर्मज्ञैस्तैर्महात्मभिः ॥२५२॥

ज्ञातिमत्या कृता बन्धुसामन्तजनसम्मता ।
सा चेद्भर्तृकृतानुज्ञा पुत्रग्रहणहेतवे ॥२५३॥
फलत्येवेति धर्मज्ञा न चेत्तु न तु सिध्यति ।
ज्ञातिमत्या कृतं यत्तु पुत्रसङ्ग्रहणादिकम् ॥२५४॥
धरादानक्रयाद्येवं वैश्वस्तं तत्तु सिध्यति ।
सर्वज्ञातिमतं यत्तद्दानं विश्वस्तया कृतम् ॥२५५॥
धारं धाराकृतं चेत्तु सिध्यत्यत्र न चेन्न तु ।
दानकालनिषिद्धं यद्दानं धारं रहः कृतम् ॥२५६॥
देशान्तरकृतं चापि न सिध्यत्येव सर्वथा ।
रण्डान्यदेशरचितभूमिदानं महात्मभिः ॥२५७॥
तच्चौर्यकृत्यमित्येव निश्चितं शास्त्रवर्त्मना ।
अपुत्रपुत्रग्रहणं दौहित्राजनने भवेत् ॥२५८॥
दौहित्रजननादूर्ध्वं तदप्रामाणिकं भवेत् ।
यावन्नृणां विभक्तानां दौहित्रोत्पत्तियोग्यता ॥२५९॥
तावत्तु तस्य स्वीकारे योग्यतापि न जायते ।
जातेन्द्रियाणां दौर्बल्ये दौहित्रे सति सङ्कटे ॥२६०॥
अवशादसुसन्देहे पुत्रग्रहणमिष्यते ।
एकस्य पञ्चषेष्वस्य ग्रहणं ज्येष्ठखर्वयोः ॥२६१॥
विहितो यस्य कस्यापि मध्य एकस्य सङ्ग्रहः ।
न तत्र ज्यैष्ठ्यकानिष्ठ्यनियमो मनुना स्मृतः ॥२६२॥
ग्रहणं त्रिषु मध्यस्य त्रयाणां पञ्चसु स्मृतम् ।
त्रयाणां षट्सु खर्वो वा ज्येष्ठो वा नियमो न हि ॥२६३॥

त्रिषु पञ्चसु षट्स्वेवं भ्रातृष्वाद्यान्त्ययोश्च न ।
मध्य एकः त्रयश्चत्वारः स्युरत्रेति वै जगुः ॥२६४॥

सङ्ग्राह्येष्वाद्य एकः स्यादग्राह्यो ज्येष्ठो द्वितीयकः ।
तृतीयो वा विधानेन न द्वौ सर्वात्मना स्मृतौ ॥२६५॥

आद्यान्त्यावेव संत्याज्यौ बहुभ्रातृषु तत्सुतौ ।
मध्ये ज्येष्ठद्वितीयादि नियमो नेति चोचिरे ॥२६६॥

यदि मोहाज्ज्येष्ठपुत्रो दत्तस्स्याच्चेत्ततः स्वयम् ।
कृतमौञ्जीविवाहोऽपि जनकस्य सुतो भवेत् ॥२६७॥

न पालकक्रियायोग्यो न गृह्णीयादतस्त्विमम् ।
यः कृतो दत्तहोमस्स तूष्णीकं स्यान्न संशयः ॥२६८॥

दत्तोऽयं बालिशो भ्रष्टो ग्राहकस्य सुतो न तु ।
जनकस्य सुतस्सोऽयं इत्युक्ते तं प्रवक्ष्यपि ॥२६९॥

न कर्मयोग्यस्तस्यापि किं तु तूष्णीं ततः परम् ।
क्रयक्रीतद्रव्यसमः तृणकाष्ठमृदादिभिः ॥२७०॥

तुलितो न क्रियायोग्यो यतस्त्यक्तश्च तेन वै ।
अनेकजायासञ्जातपुत्रानेकस्य चेदपि ॥२७१॥

जायानामग्रजस्त्याज्यः कनिष्ठोऽपि तथैव हि ।
ज्येष्ठान्त्ययोस्तु ये मध्याः संजातास्तनयास्तु ते ॥२७२॥

ग्राह्यास्तत्र विशेषेण ज्यैष्ठ्यकानिष्ठ्यसंभवः ।
नियमोनेति तत्र स्यादिति सर्वमतं तराम् ॥२७३॥

॥ एकपुत्रस्य स्वीकरणनिषेधः ॥

यद्येकपुत्रो दत्तश्चेदात्मानं ग्राहकं ततम् ।
मातृद्वयं तत्क्षणेन नरके पातयिष्यति ॥२७४॥

उभयोस्तातयोश्चापि जनन्योरपि कर्मणि ।
नाधिकारी भवेत्तस्मादुभयभ्रष्ट ईरितः ॥२७५॥
प्रदानसमये स्वस्य सन्तु भ्रातृषु तत्परम् ।
नष्टेषु तेषु चेदवशिष्टो यदि भवेदयम् ॥२७६॥
उभयोः कर्मकर्ता स्यात्तदा तद्रिक्थभाग्यपि ।
एकपुत्रोऽहमित्येवं वदन् दत्तश्च साम्प्रतम् ॥२७७॥

सभायां व्यवहारेषु बहिष्कार्यो विचक्षणैः ।
विधवासङ्गृहीतोऽहमिति जल्पन् सभासु चेत् ॥२७८॥
(च)ळ्पेटिकाप्रदानेन छी(धिक्)त्कार्यस्सद्य एव वै ।
विधुरेण प्रदत्तोऽस्मि दूरभार्येण वै तदा ॥२७९॥
तथैव सङ्गृहीतोऽहं वदन्नेवं तु निर्भयम् ।
स दूरीकरणीयः स्याच्चोरवत्तु विशेषतः ॥२८०॥
वर्णिना यतिनापत्सु दत्तोऽहं मातृमात्रतः ।
पितृमात्रेण दत्तोऽस्मि सङ्गृहीतोऽहमित्यपि ॥२८१॥

सद्भिस्सभासु विवदन् दुश्चरित्रः परस्वहृत् ।
निर्लज्जया न्यङ्गहीनः सज्जनाकृतिमावहन् ॥२८२॥

पूर्वोत्तरविरुद्धं तद्विवदन्प्रलपन्नति ।
तस्य तत्प्रतिवाक्येषु यो वै तं निग्रहं शनैः ॥२८३॥

विरोधान्विविधान् सम्यक् संगृह्य व ततः पुनः ।
प्रदूषयेत्तिरस्कृत्य देशादुच्चाटयेदपि ॥२८४॥

दुष्टनिग्रहमात्रेण तद्देशस्य महीपतेः ।
तत्रत्यानां च सर्वेषां सर्वश्रेयो महद्भवेत् ॥२८५॥

ज्येष्ठोऽहमेकतनयः पितृभ्यां पुनरेव वै ।
दत्तोऽन्याभ्यामिति च वै विवदन्परिक्थके ॥२८६॥

पुत्रत्वहेतुना सोऽयं प्रसिद्धस्तस्करो मतः ।
कुतस्तथेति सन्देहे तच्चसम्यङ्निरूप्यते ॥२८७॥

न दानार्हो ज्येष्ठपुत्रः कदाचिदपि वा भवेत् ।
तत्रापि चैकस्सुतरां तत्क्रियानधिकार्यपि ॥२८८॥

एवमेव परे चापि तनयाः परिरिक्थके ।
विवादमतिकुर्वन्तो दौहित्रादिषु तासु च ॥२८९॥

॥ विधवास्वीकृतपुत्र (दण्डं) ॥

तनयासु विभक्तानां प्रत्तासु विधवासु च ।
दत्तपुत्रोऽहमस्मीति सपिण्डोऽहं सगोत्र्यति ॥२९०॥

सम्बन्धो भवतां को वा भिन्नगोत्रिधनेऽति वै ।
प्रलपन्तः केन दत्त इत्युक्ते निर्भयान्विताः ॥२९१॥

निर्लज्जा मातृदत्ताः स्मः विश्वस्ताः स्वीकृताः खराः ।
अभ्यनुज्ञाकृतस्वीकारा वै तद्भर्तृ वाक्यतः ॥२९२॥

वयं तद्गोत्रसंभूता अस्माकं तद्धनं महत् ।
न्यायेन निखिलं स्याद्धि सुतादौहित्रयोः कथम् ॥२९३॥

स्थितयोः परगोत्रत्वे तद्धनं तु भविष्यति ।
इति शास्त्रविरुद्धानि वाक्यान्यन्यानि वा पुनः ॥२६४॥
सभासु वै प्रलपतो सद्योदेशात्प्रवासयेत् ।
पुत्रभिन्नादन्यगोत्रदत्तसाहस्रकात्तराम ॥२६५॥
अधिको दुहितासूनुः सर्वशास्त्रैस्तथोदितः ।
कुतस्तथेति चोक्ते तु प्रवदामि च तत्पु(त्स्फु)टम् ॥२६६॥

॥ दौहित्रप्रशंसा ॥

दुहिता(तृ)तनयो लोके सर्वेषां सर्वकर्मसु ।
नित्यं मातामहादीनां तत्पत्नीनां च पुत्रवत् ॥२६७॥
करोति हि स्वपितृभिस्समत्वेन समन्त्रतः ।
दर्शादीन्यपि नित्यानि तथा नैमित्तिकान्यपि ॥२६८॥
सर्वश्राद्धानि काम्यानि मासिश्राद्धादिकान्यपि ।
श्राद्धप्रतिनिधित्वेन क्रियमाणेसु कर्मसु ॥२६९॥
तर्पणेष्वपि सर्वेषु नित्यस्नानादिकर्मसु ।
पितृवर्गसमत्वेन वर्गं मातामहस्य वै ॥३००॥
मातृवर्गेण तुलितं तत्पत्नीनां त्रिकं तथा ।
को वा सपिण्डो यजते को वा भ्राता च तत्समः ॥३०१॥
तत्सुतः तस्य पौत्रो वा कदाचित्तस्य कर्मणि ।
कृते कार्यवशात्पश्चात्प्रतिसंवत्सरं ततः ॥३०२॥
लौकिकाग्नौ श्राद्धमात्रं तद्दिने स्वागते तदा ।
श्राद्धमात्रं तु तत्पत्न्याः अपि तूष्णीं करोति हि ॥३०३॥

अकृते वा तस्य दोषः शास्त्रतो नास्ति केवलम् ।
मृताद्विशेषलाभश्चेदस्य तेन तु पश्यताम् ॥३०४॥
सतां चित्तसमाधानकार्याय किल तत्तथा ।
अकीर्तिभीत्या न प्रीत्या तथास्य करणं परम् ॥३०५॥
दौहित्रमात्रस्य तु चेल्लोके सर्वत्र केवलम् ।
तत्कर्मण्यकृतेऽनेन मुख्यकर्त्रा कृतेऽपि च ॥३०६॥
सर्वशास्त्रोक्तमार्गेण यथा पुत्रस्य सन्ततम् ।
सर्वश्राद्धैककरणमौपासनशुचौ हितः ॥३०७॥
तथास्यापि स्मृतं तूष्णीं तदीयद्रविणादिके ।
स्वल्पेकस्मिन्नभावेऽपि किञ्चिद्वा विहिनेन वै ॥३०८॥
तदीयसर्वश्राद्धानि गयातीर्थाष्टकादिषु ।
नान्दीदधिघृतारण्यकक्षेष्विभतृणादिषु ॥३०९॥
तान्यजन्नेव विधिना तत्पत्नीरपि तत्समम् ।
वर्तते राजते तस्मादपिकिञ्चिद्धनं विना ॥३१०॥
तमजानन्नपि तदा शास्त्रमर्यादया वशात् ।
तत्किं वेत्यविचार्यैव तादृशानेन कः समः ॥३११॥
कर्मकर्ता प्रकथितो नैतेनान्यो महीतले ।
तुलितस्तनयस्सद्भिर्विचार्यं च पुनः पुनः ॥३१२॥
नास्ति सूनोश्शतगुणो दौहित्रो गयनामकः ।
खड्गपात्रं तिलादर्भास्तथा नैपालकम्बलः ॥३१३॥
गोधूमाः कण्टकिफलं माषामुद्गायवा जलम् ।
गव्यं तद्रजतं गाङ्गं शिवनिर्माल्यमच्युतम् ॥३१४॥

कुतपः श्रोत्रियो वीरोभ्रूणोब्रह्म सनातनम् ।
उपमारहितास्सर्वे त एते पितृवल्लभाः ॥३१५॥

पुत्रदत्ताच्छतगुणा विनापाञ्जलयो नृणाम् ।
तद्दौहित्रेणसंत्यक्ता अक्षय्याः प्रीतिकारकाः ॥३१६॥
मृतानां कथितास्सद्भिर्नित्यनैमित्तिकादिषु ।
ततः प्रत्यब्दभिन्नेषु सर्वश्राद्धेषु सन्ततम् ॥३१७॥
स्वपितुर्वर्गसाम्येन जननीपितृवर्गके ।
स्वामातृवर्गसाम्येन तन्मातृत्रयकस्य च ॥३१८॥
समर्चनं प्रकुरुते दौहित्रोऽयं सुताधिकः ।
कश्चिद्गीतः प्रसिद्धोऽत्र तालभ्यपत्न्या पुरास्फुटः ॥३१९॥
सपत्नीतनययं दृष्ट्वा विवादे तनयं प्रति ।
अयं तवानुजो मह्यं द्व्यञ्जलीदो हि तर्पणे ॥३२०॥
ब्रह्मयज्ञेन दर्शादिश्राद्धेषु तु न किञ्चन ।
भागिनेयस्तु ते वत्स वत्सोऽयं सर्वकर्मसु ॥३२१॥
पैतृकेषु प्रसक्तेषु स्वमातृकुलसाम्यतः ।
मद्वर्गस्य समग्रस्य त्र्यञ्जलीदो हि कोऽत्रमे ॥३२२॥
आवयोः प्रवरः प्रोक्तः को वा त्वं वद मे स्फुटम् ।
इति मातुर्वचः श्रुत्वा वत्सस्तु सुमहानृषिः ॥३२३॥
सपत्नीतनयात्तस्या दौहिमधिकं तराम् ।

॥ दौहित्रत्रैविध्यम् ॥

शास्त्रविन्मन्यते नूनं समालोच्य स्वचेतसा ॥३२४॥

तन्मातामहगोत्र्येकः दौहित्रोऽन्यस्ततः परः ।
निर्दोषस्त्रिविधोज्ञेयः तमेनं प्रवदामि च ॥३२५॥
कन्याप्रदानसमये तेन मातामहेन वै ।
प्रोक्त एवं यदि तदा सोऽयमाद्योऽयमीरितः ॥३२६॥
अपुत्रोऽहं प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भविष्यति ॥३२७॥
एवं द्वितीयो विज्ञेयः कालेऽस्मिन्नेव केवलम् ।
भङ्ग्यन्तरेणचेत्प्रोक्तः दौहित्रः कोऽपिकथ्यते ॥३२८॥
अपुत्रोऽहं प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यां भवानपि ।
पुत्रार्थी चेदिहोत्पन्नः स नौ पुत्रो भविष्यति ॥३२९॥
अस्य गोत्रद्वयं ज्ञेयं तद्वंशस्य ततः परम् ।
गोत्रद्वयं च सङ्ग्राह्यं विवाहादिषु कर्मसु ॥३३०॥
एतादृगभिसन्ध्येकरहितेन यदि त्वसौ ।
कन्यकायाः प्रदत्तायाः तजयो दुहितुः पुनः ॥३३१॥
तातगोत्र्येव विज्ञेय एवं स त्रिविधो मतः ।
त्रिविधोऽपि समो ज्ञेयो दौहित्रोऽयमकल्मषः ॥३३२॥
वर्गद्वयोद्धारकश्च सर्ववर्णैकसम्मतः ।
तमेवं वीक्ष्य दौहित्रं विभक्तज्ञातिसञ्ज्ञयः ॥३३३॥
वर्द्धमानं श्रिया दीप्त्या वर्चसा भ्राजसौजसा ।
यशसा कान्तिदाक्षिण्यसौजन्यादिगुणादिभिः ॥३३४॥
निष्कारणं वृथा मोहात्प्रकुप्यति हि केवलम् ।
प्रतिग्रहो वा होमो वा दौहित्रस्य विधीयते ॥३३५॥

जननादेव दौहित्रः (स) तत्कुलद्वयतारकः ।
रौरवस्सर्वकृत्यानां पितॄणामतितृप्तिकृत् ॥३३६॥
निवारको दुर्गतेश्च तारकस्ततयस्स च ।
द्रव्याभावे क्रियाभावे मन्त्राभावे तथैव च ॥३३७॥
विप्राभावे धनाभावे शक्त्यभावेऽथवा पुनः ।
सर्वाभावेऽपि यत्नेन दौहित्रस्य सुमेधसः ॥३३८॥
श्रोत्रियस्यास्य तज्ज्ञर्घिमात्रेणैव च तत्क्षणात् ।
पितॄणां नित्यतृप्तिस्स्यादक्षय्या नात्र संशयः ॥३३९॥
तच्छ्राद्धदेवतानां वा श्राद्धकर्तुरथापि वा ।
दौहित्र इति विज्ञेयः कर्तॄणामस्य वा पुनः ॥३४०॥
अमादिकानां श्राद्धानां प्रकृतित्वेन केवलम् ।
प्रोक्तानां पुनरन्येषां मनुभाटस्य तत्परम् ॥३४१॥
युगाद्यानां तथा पश्चान्महालयपकस्य च ।
अष्टकान्वष्टकानां च द्वादशानां तथैव च ॥३४२॥
गजच्छायातीर्थदधिघृतानामेकमेव वै ।
उपायः कथितस्सद्भिर्दौहित्रस्यास्य भोजनम् ॥३४३॥
लब्धद्रव्येण लघुना येन केन यथा तथा ।
सर्वाभावे तस्यभुक्तिमात्रेणैव परं कृतम् ॥३४४॥
सम्यग्भवति नास्त्यत्र संशयस्त्वणुमात्रकः ।
प्रत्यब्दमात्रमेकं तद्विध्युक्तेन परं स्मृतम् ॥३४५॥
कर्तव्यत्वेन विद्वद्भिः निश्चितं ब्रह्मवादिभिः ।
अन्नेनैव दक्षिणया होमेन ब्राह्मणैस्सह ॥३४६॥

अग्नौ करणतो वापि पिण्डदानेन धर्मतः ।
तदङ्गतर्पणेनैवं पित्रोः प्रत्यब्दमेककम् ॥३४७॥
अत्यन्तावश्यकत्वेन कर्तव्यत्वेन चोदितम् ।
अत्यन्तापदि च त्याज्यं न भवेदेव सर्वदा ॥३४८॥

॥ प्रत्याब्दिकाकरणेप्रत्यवायः ॥

यदि त्यक्तं तद्भवते तत्क्षणादेव केवलम् ।
पतितः स्यान्न सन्देहः तस्मात्तत्तु विधानतः ॥३४९॥
सर्वप्राणेन कुर्याद्वै ब्राह्मण्यस्यास्य सिद्धये ।
यदलभ्यं वस्तु तस्य प्राप्तये मासपक्षयोः ॥३५०॥
पूर्वमेव यतन् बाढं येन केन प्रकारतः ।
तत्संपाद्य प्रयत्नेन गोपयेत्तस्य कर्मणः ॥३५१॥
जलानि तण्डुलामाषा मुद्गाश्शाकद्वयं कृतम् ।
पत्राणि दक्षिणां शक्त्या पात्राण्येतानि वाडवाः ॥३५२॥
मन्त्रज्ञाः श्राद्धकार्याय दशप्रोक्ता मनीषिभिः ।
एतेषामेकलोपेऽपि न श्राद्धं सुकृतं भवेत् ॥३५३॥
जलाभावे किमपि तन् न सिध्यत्येव सर्वदा ।
तानि यत्र समृद्धानि तत्र श्राद्धं हि सिध्यति ॥३५४॥
तथैव तण्डुलाभावे न प्रत्यब्दकथा भवेत् ।
तण्डुलाश्चहिरण्यं च प्रधानद्रव्यमुच्यते ॥३५५॥
कार्यमात्रस्य कृत्स्नस्य किमुत श्राद्धकर्मणः ।
तद्द्वयं प्रथमं यत्नात्सङ्गृह्याति प्रयत्नतः ॥३५६॥

तत्कर्तव्यं यत्र कुत्र मृतेऽहन्येव नान्यतः।
तदभावे लोपएव भवेदेव तु तत्पुनः ॥३५७॥
मुद्गाभावे माषमात्रैः कर्तुं सूपाय शक्यते।
माषाभावे त्वङ्गलोपो भवेदेव न संशयः ॥३५८॥
महापदि कदाचित्तु तेन लोपेन तत्पुनः।
शक्यते हि तथा कर्तुं न त्याज्यं तत्तु तेन वै ॥३५९॥
एषा हि चोदनाप्रोक्ता सुमहाचौर्यवर्त्मना।
शाकाश्शाकौ तथा शाकः पृथक्त्वेन मनीषिभिः ॥३६०॥
कीकटादिषु तच्छून्ये न त्याज्यं श्राद्धकर्म तत्।
पयोदधिघृतक्षीरसूपभक्ष्यादिसंभवे ॥३६१॥
शाकाभावे विशेषेण बाधकं न भवेदिति।
लौकिकानां वैदिकानां च महदुक्तिर्महत्तरा ॥३६२॥
लौकिकोक्तिर्वैदिकोक्तिः स्वीकार्ये वैदिकेऽपि च।
भविष्यति कदाचित्तु चापत्कल्पं तदुच्यते ॥३६३॥

॥ श्राद्धद्रव्याभावे अनुकल्पः ॥

घृतस्य दुर्लभे जाते कदाचित्सङ्कटे खरे।
देशनाशे राष्ट्रनाशे महावर्षादिदुर्घटे ॥३६४॥
तैलं प्रतिनिधिस्तस्य दुर्लभे तस्य चागते।
तस्य प्रतिनिधिस्त्वाज्यं दुर्लभे तु द्वयोरति(पि) ॥३६५॥
पयः प्रतिनिधिः प्रोक्तं तस्य प्रतिनिधिर्दधि।
सर्वेषामपि चैतेषां दुर्लभे किं पुनस्त्विति ॥३६६॥

परं चिन्तयतां तत्र महादेवः प्रजापतिः ।
स्वयमागत्य चोवाच सर्वलोकहिताय वै ॥३६७॥
पिष्टं जलेन संयोज्य लोडयित्वा विशेषतः ।
तेन पिष्टजलेनैव होमकार्यादिकं चरेत् ॥३६८॥
लब्धेन मधुना वापि सर्वकार्याणि साधयेत् ।
फलपत्रादिसुद्रव्यैरन्नेन च तदा किल ॥३६९॥
श्राद्धादीन्यपिकार्याणि न त्याज्यानि मनीषिभिः ।
मासप्रयत्नदुर्लभ्ये तदा कुर्याद्यया तथा ॥३७०॥
अष्टानां भुक्तिपत्राणां दुर्लभेसति तत्परम् ।
श्राद्धकार्याय मृत्पात्रं कथितं यत्तु तत्सदा ॥३७१॥
संलब्धं कथितं श्रीमन् तेन तत्साधयेत्तराम् ।
आपत्सुपत्रालाभे तु लभ्यते यत्तु तेन तत् ॥३७२॥
साधयेदिति सर्वेषां संमतिः परमा स्मृता ।
विप्राभावे तु सर्वत्र दर्भमुष्टिषु तत्पितॄन् ॥३७३॥
सुरानपि विधानेन मन्त्रैरावाह्य भूतले ।
कृत्वा तां निखिलामर्चां अग्नौ करणमेव च ॥३७४॥
अन्नत्यागं च तत्कृत्वा सव तत्परिषेचनम् ।
आपोशनादिका कृत्वा मन्त्रमात्रेण चाहुतीः ॥३७५॥
पश्चापि जप्त्वा विधिना चाभिश्रवणमेव च ।
उत्तरापोशनं(णं) कृत्वा मन्त्रैः पूर्ववदेव वै ॥३७६॥
पिण्डप्रदानं निर्वर्त्य तत्सर्वं सलिले क्षिपेत् ।
तच्छेषं च ततो भुक्त्वा तर्पणं च परेऽहनि ॥३७७॥

कुर्यादेव विधानेन दक्षिणां तां ततः परम् ।
यस्मै कस्मैचिद्विप्राय दद्यादिति हि सा श्रुतिः ॥३७८॥
अस्वाधीनानि पात्राणि परेषां पूर्वमेव वै ।
त्रिदिनादेव स्वाधीना स कृत्वा तैः ततः परम् ॥३७९॥
तैः श्राद्धं तु ततः कुर्यात्सद्यो लब्ध्वाऽथवाऽऽपदि ।
यथाकथंचित्कुर्याच्च तेन चापि विधानतः ॥३८०॥
कृतमेव भवेन्नूनं नात्र कार्या विचारणा ।
मृत्पात्राणि तु चेत्तानि पात्राभावेऽथवा पुनः ॥३८१॥
कबलं कबलं हस्ते यावद्द्वात्रिंशदाहुतीः ।
प्राणायेत्यादिभिस्सर्वैः षडावृत्या ततः पुनः ॥३८२॥
तुरीयपञ्चमाभ्यां च सप्तमावृत्ति कर्मणि ।
पूरयित्वावृत्तिभेदं तां वृत्तिं तत्रकर्मणि ॥३८३॥
श्राद्धाख्ये कारयेद्विद्वान् ब्राह्मणानामनापदि ।
एवं कृत्वा सद्य एव सर्वभ्रष्टा भवेदपि ॥३८४॥
वेदहन्ता शास्त्रहन्ता मर्यादामारकश्च सः ।
पितृघ्नो विप्रहन्ता च भवेदेव न संशयः ॥३८५॥
आपत्कल्पोक्तमर्यादाः शास्त्राणि विविधान्यति ।
अनापत्सु न गृह्णीयात् गृह्णन् तानि पतेदधः ॥३८६॥
येन केन प्रकारेण पित्रोः श्राद्धं विधानतः ।
अन्नेनैव प्रकुर्वीत नान्येन तु कदाचन ॥३८७॥
तदन्नमतिशुद्धं यद्योग्यं तच्छ्राद्धकर्मणि ।
अतिशुद्धत्वमन्नस्य सद्द्रव्येणैव केवलम् ॥३८८॥

संपादितस्य भवति नासद् द्रव्येण तद्भवेत् ।
न्यायार्जितस्य द्रव्यस्य सत्त्वं प्रकथितं बुधैः ॥३८९॥
तदन्यायार्जितं द्रव्यं असदित्येव सूरिभिः ।
कथितं सत्कर्मजालायोग्यं(?) निरयभीतिदम् ॥३९०॥
तत्सद्द्रव्यं ब्राह्मणस्य याजनाध्यापनादिभिः ।
सम्प्राप्तं यद्विशेषेण स्वीयोर्वीसंभवं च यत् ॥३९१॥
धान्यादिकं शाकमूलशलाटुफलमूलकम् ।
न्यायार्जितमितिप्रोक्तं योग्यं सत्कर्मणां सदा ॥३९२॥
महादानादिसंप्राप्तं गजदानादिनागतम् ।
कुमा(ला)ध्यस्थ्यादिनाप्राप्तं ग्रामसामान्यजादिकम् ॥३९३॥
शौद्रं सौतं राथकारं तार्क्षं त्वाष्ट्रं तथैणवम् ।
मालाकारीयमाम्बष्ठं तौन्नवायं(तान्तुवायं)च सौचिकम् ३९४
कौलकं सौचिकं नाटं शैलूषं भारतं तथा ।
पामरं जाल्मकं गाधं चाण्डालं यावनं तथा ॥३९५॥
म्लैच्छं हौणं कौङ्कणं वा भृतकाध्यापनादिभिः ।
आद्यश्राद्धादिसंप्राप्तं स्वामिद्रोहादिनागतम् ॥३९६॥
चौर्यानृतसमुद्भूतं दुष्टयाजनसङ्गतम् ।
अहीनक्रतुसंलब्धं कन्यकाविक्रयोत्थितम् ॥३९७॥
निक्षेपवार्धुष्यगतं यदन्यच्छास्त्रनिन्दितम् ।
तदेतदखिलं द्रव्यमसमीचीनमुच्यते ॥३९८॥
समीचीनं तदेव स्यात् सच्छ्रोत्रियमुखागतम् ।
एकविंशतिसंख्याकक्रतुदक्षिणया तथा ॥३९९॥

प्रीतिदत्तं श्राद्धकालमहसंभावनादितः ।
संप्राप्तं याञ्चया प्राप्तं शनकैश्शनकैरपि ॥४००॥
खलभव्यसुतोत्पत्तिपुराणस्मृतिपाठकैः ।
पठन्तैरपि तत्प्रीत्या संप्राप्तमवशात्तदा ॥४०१॥
दक्षिणादानरूपेण सदस्यादिमुखेन च ।
सोमप्रवाकादिमुखादुत्सवादिमुखेन च ॥४०२॥
संप्राप्तमवशाद्दैवात्संप्राप्तं न्यायवर्त्मना ।
मधुपर्कादिरूपेण समागतमनीश्वरात् ॥४०३॥
यच्चान्यदखिलं भूयस्सद्द्रव्यमिति तद्विदुः ।
असद्द्रव्यकृतं श्राद्धं पितॄणां निरयप्रदम् ॥४०४॥
ततोऽल्पेनापि सद्द्रव्यसमानीतैकवस्तुभिः ।
स्वपत्नीहस्तरचितपाकैरत्यन्तपावनैः ॥४०५॥
भावशुद्धेन मनसा तादृशेनान्धसा च तत् ।
निर्वर्त्यमेकं प्रत्यब्दं मन्त्रपूतं च तातयोः ॥४०६॥

॥ श्राद्धे पाककर्तारः ॥

तत्रादौ पाककर्त्र्येका धर्मपत्नी तथापराः ।
कुलपत्न्योऽनन्यजाति संभवाः स्युः प्रजावती ॥४०७॥
मातरो ज्ञातिपत्न्यश्च पितृष्वस्रादिकाः पराः ।
भार्याः स्वसारःश्वश्रूश्च मातुलान्यस्तथैव च ॥४०८॥
अत्याराद्बन्धुपत्न्यश्च गुरुपत्न्यस्तथाविधाः ।
आनुकूल्येन निर्दिष्टास्सर्वाभावे स्वयं वरः ॥४०९॥

पाककर्मणि संप्रोक्तस्सत्सु दारेषु तत्पुरः ।
न तत्कर्मणि निर्दिष्टो यजमानोऽपि तत्र च ॥४१०॥
यदि कर्ता ब्रह्मचारी तदा पाकं प्रयत्नतः ।
न कुर्यादेव विधिना तस्य पाके कदाचन ॥४११॥
अधिकारोऽस्ति धर्मेण वनस्थस्य यतेरपि ।
ब्रह्मचारी यतिर्वापि यस्मिन्देशे यदा तदा ॥४१२॥
पचनं कुरुते मोहात्तद्राष्ट्रं तत्क्षणात्परम् ।
श्रियादिरहितं सर्वदेववेदसुरद्विजैः ॥४१३॥
तीर्थैः पुण्यैः पवित्रैश्च सप्ततन्तुमुखादिभिः ।
प्रवर्जितं विशेषेण भवेद्दूरीकृतं तथा ॥४१४॥
नष्टं भ्रष्टं प्रभग्नं च भ्रान्तनष्टमृगद्विजम् ।
निर्मानुष्यं शुष्कजलं आशताब्दाद्भविष्यति ॥४१५॥
पाकभिन्नानि कार्याणि सर्वाण्येवाविशेषतः ।
गुरोर्नित्यं ब्रह्मचारी कर्तुं शक्नोति सन्ततम् ॥४१६॥
विना पाकं तमेकं तु कार्याण्यन्यानि यानि वा ।
तदुक्तानि प्रकुर्वीत यतिश्चापि तथैव हि ॥४१७॥
वर्णिना यतिना पाके कृता भूमिस्तथा तराम् ।
भीता दग्धा प्रणष्टा च कम्पितास्यान्न संशयः ॥४१८॥
तस्मात्तु यदि वर्णीस्याच्छ्राद्धकर्ता तदा किल ।
तन्माता तस्य भगिनी याश्चकाश्चन तास्तु वै ॥४१९॥
बन्धुपत्न्योमित्रपत्न्यः गुरुपत्न्यादिकाः स्मृताः ।
पाककर्त्र्यो नराः स्वीयाः कीर्तिता न स्वयं कदा ॥४२०॥

सर्वश्राद्धेषु सर्वत्र रण्डापाको विशेषतः ।
गर्हितः स्यात्तथा वन्ध्यापाकोऽपि परिकीर्तितः ॥४२१॥

स्वसा माता तथा श्वश्रूर्मातुलानीसुता पिता ।
पितृव्यपत्नी वा भार्या भगिनी वा तथाविधा ॥४२२॥
कर्त्रीणां तु पुरोक्तानामभावे विधवा अपि ।
एता ग्राह्याः पाककार्ये श्राद्धकर्मणि सङ्कटे ॥४२३॥

ज्ञातिभार्याश्च निखिलाः प्रत्यासन्नास्तथाविधाः ।
सपिण्डभार्यास्साध्व्यश्चेद्ग्राह्या एवेति शण्डिलः ॥४२४॥
श्राद्धपाकक्रियायास्ताः प्राह श्रीमानसौ महान् ।
पुत्रिणीनां न रण्डात्वं निखिलैर्निश्चितं पुरा ॥४२५॥

वन्ध्यात्वं जातपुत्राणां न कदाचन विद्यते ।
कन्यकानुपनीतानां न कर्मार्हत्वमूचिरे ॥४२६॥

॥ मृतकार्यकर्तुरनुकल्पनिषेधः ॥

सति कर्त्रन्तरेभूयो न चेत्तेषां तु कर्तृता ।
अस्त्येवेति तदा प्राह मृतकार्ये विशेषतः ॥४२७॥
स्वधानिनयनादेव मन्त्रकार्याखिलामता ।
अथवा तद्व्रतःकक्षान्तरनिष्ठस्तु कश्चन ॥४२८॥

तत्कार्यमखिलं कुर्यात्तेन तत्सुकृतं भवेत् ।
विनैव वरणं तूष्णीं कर्तुःस्वस्य स्वयं यदि ॥४२९॥
तत्कर्तव्यत्वेन कुर्यात्कर्म तत्स्यान्निरर्थकम् ।
यस्य कस्यापि नष्टस्य दूरे कर्तरि संस्थिते ॥४३०॥

॥ कर्त्तावृतस्याधिकारः ॥

तत्कर्तव्यत्वेन नान्यः कर्म कुर्यात्तथा यदि ।
पुनः करणमित्येव निश्चितं त्वादितो यथा ॥४३१॥

अतद्वृतकृतं कर्माकृतमेवेति सूरिभिः ।
यतस्सुनिश्चितं तद्धि करणं पुनरर्हति ॥४३२॥
तादृशेष्वेव कृत्येषु रण्डानां पाककर्तृता ।
न तद्भिन्नेषु पित्र्येषु चैत्रं सति यदाऽवशात् ॥४३३॥

मोहात्तत्कृतपाकेन कृतं श्राद्धं तदा पुनः ।
परेऽहन्येव कुर्वीत स्नुषापाकेन तत्सुतः ॥४३४॥
ज्ञाताज्ञातेति रण्डे द्वे स्पृष्टास्पृष्टे परे तथा ।
पतिं जानाति या ज्ञाता प्रथमा सा प्रकीर्तिता ॥४३५॥

तत्राज्ञातेति या सेयं न जानाति पतिं स्वकम् ।
अत्यन्तपापा सा ज्ञाता यस्याः स्पर्शात्परं तदा ॥४३६॥
सुखदोषेण मरणं तद्भर्ता प्रतिपद्यते ।
सा स्पृष्टेति हि विख्याता ह्यलब्ध्वा तद्रतिं परम् ॥४३७॥

रजसोऽप्यश्नुते घोरं वैधव्यं पापजं महत् ।
सास्पृष्टेति समाख्यातास्ता एताः पूर्वजन्मनि ॥४३८॥
नग्नश्राद्धे नवश्राद्धे लोष्टब्राह्मणभोजने ।
आद्यश्राद्धे च भोक्तारः प्रत्यक्षान्नं विनाशुचिम् ॥४३९॥

क्रमेणैव महापापाः सप्तानां जन्मनां पुरा ।
अग्नौ प्रथमतः कृत्वा होमरूपेण कर्म तत् ॥४४०॥

समाप्य विधिवद्भूयः यथा सङ्कल्पपूर्वकम् ।
सम्यग्विप्रमुखेनापि तादृक्कर्मचतुष्टयम् ॥४४१॥
प्रकर्तव्यं प्रयत्नेन न चेत्तु ब्राह्मणो वृथा ।
अधः पतेदेवतरां नेहामुत्र च निष्कृतिः ॥४४२॥
तस्य भोक्तुः प्रकथिता तादृक्प्रेतक्रियासु वै ।
विनाग्निमादितो विप्रमुखेन क्रियमाणके ॥४४३॥
प्राथम्येनैव तद्भोक्तुः पुलाकानां तु संख्यया ।
ज्ञातादिराण्डजन्मानि भवेयुरिति वै विधिः ॥४४४॥

॥ विधवानांनिन्दा ॥

श्रीमान्प्रजापतिः प्राहः सर्वलोकपितामहः ।
तादृश्य एतास्सुक्रूराः क्रूरचित्तामहाजडाः ॥४४५॥
दयादाक्षिण्यसौभाग्यक्षान्तिदान्तिबहिष्कृताः ।
क्रूरातिक्रूरसुक्रूरतमा इति जगत्त्रये ॥४४६॥
जन्मनैव हि विख्यातास्तादृशीनां सदा क्षयः ।
पितरौ भ्रातरस्तज्जाः पितृगेहे प्रकीर्तिताः ॥४४७॥
पतिगेहे तु तत्तातभ्रातरस्तज्जतज्जनाः ।
अप्येवं सति सर्वत्र न स्वातन्त्र्यकथा सदा ॥४४८॥
तासां प्रकथिता सद्भिः एवं सति पितृगृहे ।
पित्रोस्तु कृपयापाल्यास्तत्कोष्ठजनितोऽन्वहम् ॥४४९॥
भ्रात्रादीनामपि तथा तज्जातानां तथैव च ।
एतद्भिन्नेन केनापि सम्बन्धेन न चैव हि ॥४५०॥

परं तु तत्र लोकानां पश्यतां तास्तथाविधाः ।
अनाथा इव भान्त्येता न तु तत्कृपया तराम् ॥४५१॥
एतादृशी लोकरीतिस्तत्र भर्तृनिकेतने ।
अत्यन्तपारवश्यं तत् सुस्पष्टं लोकवर्त्मतः ॥४५२॥
गतानां तत्र निर्लज्जं पुरस्कारैकवर्जनात् ।
हैन्यमादौ जायते हि शनैः कालेन तत्परम् ॥४५३॥
भागांशादिप्रभमूलकलहेन निकृष्टता ।
स्वयमेवोत्पद्यते च जाते चैवं विशेषतः ॥४५४॥
शापरोदनहुङ्कार त्वङ्कारादिककश्मले ।
समुत्थिते सङ्कटेऽस्मिन् मिथयोः पश्यतां पुरः ॥४५५॥
किं कार्यमिति तैः प्रोक्ते तामेनात्ताश्च वीक्ष्य वै ।
तत्परं दीयते चेति प्रतिज्ञाप्य ततः परम् ॥४५६॥
यच्छास्त्रेणैव विहितं तावन्मात्रं तदा तदा ।
अस्माभिर्दीयते चेति नान्यत्किमपि क्षुल्लकम् ॥४५७॥
धर्मतोऽस्यास्तु रण्डाया मध्याह्नेऽन्वहमेव वै ।
सार्धत्रिकरसंपूर्णास्तण्डुला लवणं समित् ॥४५८॥
वसनंत्रिपणकक्रीतं त्रिमासानां तथैव च ।
एतावदेव साध्वीनां चोदितं विधवाशनम् ॥४५९॥
प्रदेयं शास्त्रमार्गेण चैतस्मादधिकं न हि ।
इत्येवमुक्त्वा वचनं तावन्मात्रे ततः पुनः ॥४६०॥
दत्तेथ(ध) नालमेतन्मे चेति रोदनपूर्वकम् ।
द्वारे निरुद्धे ज्ञातेस्तु तत्र सन्तस्तु केचन ॥४६१॥

किमेतदिति तूष्णीकं सन्ततं पश्यतां पुरः ।
उभयैः क्रियते चेति हन्तसम्प्रतिमास्त्विवति ॥४६२॥
तत्कोष्ठपूरणे यावत्तावद्देयमिति क्व वा ।
गच्छेदियमिति प्रोक्त्वा चैतावद्वत्सरस्य राः(?)॥४६३॥
देया भवद्भिरित्येवं भूमिरूपेण वा पुनः ।
निबन्धद्रव्यरूपेण धान्यरूपेण वाथवा ॥४६४॥
भवेत्कालेन निष्कर्षः एवं सत्यत्र केवलम् ।
तस्यानिकृष्टता घोरा प्रसिद्धा जगतीतले ॥४६५॥
सिद्धापि नात्र विशयः तस्मिन् भर्तृकुलेऽन्वहम् ।
संप्राप्तजीवनांशायाः एवं यत्नेन कालतः ॥४६६॥
पश्चान्निवासो भवने परेषां चेद्भवेद्यदि ।
अयशो महदेवस्याद्भ्रात्रादीनां गृहेष्वपि ॥४६७॥
तत्कलत्रादिजनताप्रद्वेषः पुनरेककः ।
परगेहनिवासोत्थप्रत्यवायो महानपि ॥४६८॥
जायते हि विशेषेण विश्वस्ताया व्रतं तु सः ।
सन्त्यक्तभर्तृगेहाया निवासो भर्तृमन्दिरे ॥४६९॥
अन्वहं कृच्छ्रफलदं ज्ञातिचित्तानुवर्तनात् ।
स्वभर्तृशयनस्थानपालनान्वेषणादितः ॥४७०॥
ब्रह्मचर्यं महत्त्वं च सौजन्यमति वर्धते ।
तत्पुण्यतीर्थनिखिलसर्वकृच्छ्रव्रतान्यपि ॥४७१॥
प्राप्तान्येव भवन्त्यस्यास्तस्मात्तत्रैव भक्तितः ।
येन केनाप्युपायेन भर्तृज्ञातिजनाश्रयम् ॥४७२॥

॥ रण्डाया अस्वातन्त्र्यम् ॥

कृत्वा तत्रैव निवसेद्दत्तांशाप्यनुसृत्य तान् ।
तत्रैव मरणे चेत्तु गङ्गातीरमृतौ तु या ॥४७३॥

श्रेयसी कथिता सद्भिः तामाप्नोतीह तत्क्षणात् ।
तेषामनुसृतिर्नाम स्वसंपादितवस्तु (वस्तू) नाम् ॥४७४॥
समर्पणं यत्र कुत्र त्यक्त्वा तत्रार्पणं जगुः ।
दत्तांशायास्तु रण्डायाः यानि वस्तूनि सन्ति वै ॥४७५॥

भूषणाच्छादनादीनि पात्रधान्यधनान्यपि ।
येभ्यः केभ्यः परेभ्यो वा स्वेभ्यो वा दातुमुत्तमः ४७६॥
अधिकारोऽस्ति सततं यथेच्छं शास्त्रवर्त्मना ।
पितृभ्रातृपतिप्राप्तधरणी यदि संस्थिता ॥४७७॥

तत्तत्कुलप्रसूतानां विनानुज्ञां तु तां हठात् ।
न दद्यादेवविधिनाऽन्यस्मै स्वच्छन्दतो ननु ॥४७८॥
स्वीयानामेव वस्तूनां दानं शास्त्रैकसम्मतम् ।
सामान्यानां धनादीनां दानं शास्त्रैकनिन्दितम् ॥४७९॥

न सामान्यं धनं देयं परभोज्यं विवादतः ।
स्पष्टेतरं भावदुष्टं निषिद्धं स्वैः परैरपि ॥४८०॥
नियमोऽयं सर्वधर्मः पितृभ्रातृमतां सताम् ।
पुत्रिणामपि दानेषु तदनुज्ञां विना क्वचित् ॥४८१॥

कर्तुं न शक्यतेऽतीव भूमिदाने तु किं पुनः ।
स्वतन्त्रस्यापि शक्तस्य पुंसस्संपादकस्य च ॥४८२॥

सगोत्रज्ञातिदायादसामन्तानुमतिः परा ।
अपेक्षिताधरादाने हिरण्यमुदकं तथा ॥४८३॥
एवं सति पुनर्नार्या अधिकारस्तथाविधे ।
कथं भवेद्भर्तृपुत्रपौत्रवत्याः प्रदानके ॥४८४॥
विश्वस्तायास्सनाथायाः तस्मिन्दानेऽतिसङ्कटे ।
तत्रापि सुतरां दूरं अनाथायास्तु का कथा ॥४८५॥
दाने तु तादृशेधारे ह्यशक्ये येन केनचित् ।
कर्तुं प्रयत्नशतकादधिकारो भविष्यति ॥४८६॥
कथं वेत्यत्र देवेशो जानात्यन्येन चैव हि ।
अष्टवर्षा तु विधवा विवाहात्परतो यदि ॥४८७॥
चित्यग्निसदृशी प्रोक्ता प्रथमेयं स्मृताखला ।
रोहिणीविधवाचेत्तु चितिधूमसमानिशम् ॥४८८॥
अवीरेत्युच्यते नाम्ना महापापैकसंभवा ।
गौरीदशायां वैधव्यमापन्ना तापिता स्मृता ॥४८९॥
चित्युल्मूकैव सा ज्ञेया रजसोऽर्वागितीव च ।
पुरोदिताभी रण्डाभिस्साकं भूयः पराहताः ॥४९०॥
सन्ति ताश्च प्रवक्ष्यामि स्पष्टार्थं वै प्रसङ्गतः ।
दुर्भगाकुटिलाकाष्ठा चरमा चटुला वशा ॥४९१॥
वीररण्डा कुण्डरण्डा बाधारण्डा तथा परा ।
दशानामपि चैतासां दशमाब्दात्परं तथा ॥४९२॥
ऐकादशाब्दप्रभृतिवैधव्यं क्रमतो यदि ।
रजसः परतो भूयो भवेयुस्तानि शून्यतः ॥४९३॥

नामान्येतानि तुच्छानि चैतासां कर्ममात्रके ।
सन्नामके नाधिकारस्तथाप्यासां विधेर्वशात् ॥४६४॥
सद्वृत्तिर्वसुधारूपा निबन्धादिस्वरूपका ।
संप्राप्तापिपितुर्भर्तुर्बन्धूनामथवा पुनः ॥४६५॥
सकाशात्तु तया पश्चात् श्रियं सुमहतीं पराम् ।
संप्राप्ता अपि यद्येताः सततं परतन्त्रकाः ॥४६६॥
स्वपात्रस्थोर्णकबलप्राशनेऽपि स्वतन्त्रतः ।
अत्यन्तशक्तिविकलाः सर्वशास्त्रैकवर्त्मतः ॥४६७॥
तथा हि तासां सर्वासां वनितानां महत्कुले ।
संजातानां विवाहस्य पश्चात्संवत्सरात्परम् ॥४६८॥
कार्तिकगौरीपूजायाः तद्दीपाराधनात्परम् ।
त्रियुद्धिमृत्स्तम्भमहानिकटे तद्व्रते तदा ॥४६९॥
महासुमङ्गलीवृन्दगीतवाक्यविशेषतः ।
प्राप्ताया अप्यनुज्ञायाः तत्पूर्तिकरणाय वै ॥५००॥
नित्यं भुक्तिक्रियाकाले यां काञ्चिद्यं च कं च वा ।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा भोजनस्याभ्यनुज्ञां तदनन्तरम् ॥५०१॥
तया वा तेन वोक्ते वाऽभ्यनुज्ञानविशेषके ।
सा भुक्तिः क्रियते तस्मात् वनितामात्रया भुवि ॥५०२॥
अभ्यनुज्ञानदेवास्ते प्रथमं स्याद्गणाधिपः ।
वर्षत्रयं ततः पश्चाद्गुहस्ताक्ष्योऽथ वा स्मृतौ ॥५०३॥
विकल्पत्वेननिर्दिष्टौ पूर्ववत्कालनिर्णयः ।
पुष्पवन्तौ च निर्दिष्टौ पश्चान्नोचेज्जगद्गुरू ॥५०४॥

उमामहेश्वरौ पश्चाल्लक्ष्मीनारायणौ ततः।
उभयोरेतयोः कालो देवयोः परिकीर्तितः ॥५०५॥
ततोऽपिद्विगुणस्तस्मात् वनितामात्रतः स्मृताः।
अष्टादशस्युर्वर्षास्ताः भोजने नियतास्सदा ॥५०६॥
अभ्यनुज्ञाव्रतस्यास्य चैतावदिति लेखनम्।
जातं ममेति काश्यप्यां कृत्वा भक्त्या ततः परम् ॥५०७॥
तां देवतां नमस्कृत्य पश्चाद्भोजनमुच्यते।
अपि पात्रगते चान्ने हस्तेनादातुमप्यलम् ॥५०८॥
विनाभ्यनुज्ञां तूष्णीकं न युक्तमिति हि श्रुतिः।
सुमङ्गलीनां धर्मोऽयं मृते भर्तरि तद्व्रते ॥५०९॥
तद्देवतेयं विधवा तदधीनैव सर्वदा।
भवेत्तेनैवास्वतन्त्र्या(न्त्रा) परमाप्यवशा भवेत् ॥५१०॥
व्रतकाले तादृशे तु व्यतीतेऽस्यामहत्त्वकम्।
स्वातन्त्र्यभर्तृवाक्येन शनैस्तन्मुखतो भवेत् ॥५११॥
एवं सत्यत्र जगति वनितानां विशेषतः।
विवाहत्परतोऽत्यन्तमस्वातन्त्र्यं श्रुति-फुटम् ॥५१२॥
स्वपात्रगतभिस्सैकग्रहणाणुस्वतन्त्रकम् (?)।
अत्यन्तंकपराधीनं अतो नारीजनस्य वै ॥५१३॥
तादृशस्य कथंदानेऽधिकारः स्वस्य वा पुनः।
वसुनः स्थावरादेर्वाऽभ्यनुज्ञां तां विनैव हि ॥५१४॥
ज्ञातीनामभ्यनुज्ञा चेत् ज्ञातिप्राप्तप्रक्षितेस्तथा।
पितृप्राप्तप्रक्षितेस्तस्य ह्यत्यन्तावश्यकीति नु ॥५१५॥

युक्तत्वेनैव गृह्णन्ति लोके सन्तस्सुमेधसः ।
कृतेऽपिताद्दशे दाने कदाचिन्मूढयोपिहा ? ॥५१६॥
समागतो यतोमूलः स्थावरो वनितास्पदम् ।
यथा वा तद्गतं भूयः तथाकुर्यान्नचेद्वृथा ॥५१७॥
स्वगोत्रैककृतं भूमिदानंस्यादुत्तमोत्तमम् ।
भिन्नगोत्रकृतं तत्तु तदर्धफलकं विदुः ॥५१८॥
सत्सु साधुषु तिष्ठत्सु स्वकीयेषु जनेषु चेत् ।
आहिताग्निषु विद्वत्सु तद्धरण्यधिकारिषु ॥५१६॥
विधवानाहिताग्नीनां जनानां ताद्दशीं धराम् ।
न दद्यादेव सहसा दत्ताप्येषा कथञ्चन ॥५२०॥
न सिध्यत्येव तेषां सा पुरोडाशः शुनामिव ।
भूरस्माकमिदं मन्त्रं आहिताग्नेः प्रतीष्टिके ॥५२१॥
अध्वर्यौ सति जपति स्वीया सा भूमिरुत्तमा ।
तदीयपूर्वकोपात्ता कथमन्यत्र गच्छति ॥५२२॥
गता विना न्यायवत्र्मद्वारा तस्य तु सा ततः ।
वृद्धितान भवत्येव वृद्धिदात्र्यपि केवलम् ॥५२३॥
सद्यस्ततस्सर्ववंशमूलोन्मथनकारिणी ।
भवेदेव न सन्देहः हरिपत्न्यखिलाश्रया ॥५२४॥
कालेन महता तस्मान्न कुर्यात्कर्म ताद्दशम् ।
नारीनरो वा मेधावी समालोच्य चिरंस्थिताम् ॥५२५॥
स्ववंशेऽस्याधिकारं च तदागमनकारणम् ।
देशं कालंयुक्तपात्रं युक्तं चायुक्तमेव च ॥५२६॥

शास्त्रदृष्ट्या समालोच्य पश्चाद्धर्मं समाचरेत्।
पुंसो नित्याधिकारः स्यात्तद्द्वारा तनयस्य वा ॥५२७॥
पित्रोः श्वसुरयोर्भर्तुरनुज्ञानात्स्त्रियस्य तु।
पुंसः शतगुणन्यूना वनिता सा सभर्तृका ॥५२८॥
तत्सहस्रगुणन्यूना विश्वस्ता नष्टपुत्रका।
तत्सहस्त्रगुणन्यूना रण्डा सर्व विवर्जिता ॥५२६॥
चित्यग्निधूमकाष्ठोल्मूकसमानाऽतिगर्हिता।
सैतादृशीचेति वाक्यप्रलापनपरा खला ॥५३०॥
सारण्डा तत्र भूदानं ग्रहदानं च नैष्कुटम्।
कुल्यादानं कूपदानं वापीदानं च गाहनम् ॥५३१॥
क्षेत्रदानं वृत्तिदानं सेतुदानं च वार्क्षिकम्।
औदान्यं माण्टपं सौधं प्रासादं गैहदं तदा ॥५३२॥
यदाकरोत्तथैवाहं करिष्यामीति मामकम्।
वदन्त्येवं निर्भयेन निर्लज्जं जनतापुरः ॥५३३॥
तस्मादनुमतिं श्वश्र्वोः ज्ञातीनां चेत्तु सामगम्।
तुल्यैवेति पुनस्त्वज्ञमज्जनानां विशेषतः ॥५३४॥
आकाङ्क्षानुमतिश्चाथाधिकोमम तु सांप्रतम्।
सा ज्ञातीननुसृत्य स्वान् तत्सम्मत्या चकार हि ॥५३५॥
इत्युक्ते चेन्मामकानां जनानां परया ततः।
संमत्यैव करिष्यामि पश्यतां तद्विरोधिनाम् ॥५३६॥
तन्निरोधे कथं त्वं वै करिष्यसि नयो न तु।
न युक्तमेवं करणमित्युक्ते तत्र सज्जनैः ॥५३७॥

पश्यद्भिरखिलैर्भूयो मामके क्षितिमात्रके ।
अहं वै प्रवरा कर्त्री संप्राप्ते व्यवहारतः ॥५३८॥
मन्निरोधाय सम्बन्धः को वाद्येत्येवमेव वै ।
पूर्वोत्तरविरुद्धानि वचनानि प्रभाषतः ॥५३९॥
दुष्टबुद्धे दुर्मुखस्य ज्ञातेरस्येति (जल्पतीम) वादिनीम् ।
हुङ्कृत्य दूषयित्वैव भर्त्सयित्वा विशेषतः ॥५४०॥
तत्सहायानधर्मज्ञान् पामरान्धर्मविद्विषः ।
दानप्रतिग्रहव्याजान् मर्यादामात्रदूषकान् ॥५४१॥
भ्रंशयित्वा बहिष्कृत्य निरोधनमुखेन च ।
धिक्कृत्य वेदविदुषस्ताडयित्वाप्यभीक्ष्णशः ॥५४२॥
अपराधानुगुण्येन द्वादशान्यूनकान्पणान् ।
तेभ्यः स्वीकृत्य तां गेहवर्त्मापणरसादिकम् ॥५४३॥
स्थावरं न्यायमार्गेण दापयेत्पृथिवीपतिः ।
तत्स्वामिने यथापूर्वं तेन स्वर्गो जितो भवेत् ॥५४४॥
जीवनांशैकसंलब्धभूमिका यातिदुर्मतिः ।
अहो देवरपुत्रेण पुत्रिणीति ततो मया ॥५४५॥
प्रदीयतेऽस्मै मत्तातसंलब्धा धरणीति वै ।
संवलब्धमनाथानां विधवानां कदाचन ॥५४६॥
न भूदानेऽधिकारोऽस्तीत्युक्त्वा वाक्यं ततश्च ताम् ।
दूरतः प्रेषयेद्दुष्टां तद्दत्तामपि तां धराम् ॥५४७॥
तत्स्वामिने दापयेच्च तेन क्रतुफलं भवेत् ।
पुत्रिणी सैव संप्राप्ता या प्रसूयेत जीविनः ॥५४८॥

पुत्रो वा पुत्रिका वापि यस्यास्साऽस्ति ह्यपुत्रिणी ।
पुत्रसंग्रहणेनापि भर्त्रा साकं च पुत्रिणी ॥५४६॥
वन्ध्याऽपि प्रभवेदेव शास्त्रेण रचितेन चेत् ।
अनेकवारं पुत्रस्य ग्रहणं शास्त्रनिन्दितम् ॥५५०॥
नष्टेऽपि दत्ततनये न पुनस्तच्चरेदपि ।
सङ्गृह्णीयादेकमेव न द्वौत्रीन् चतुरोऽपि वा ॥५५१॥
असकृद्वा सकृद्वापि पुमान् स्त्री वा पृथङ्न तु ।
मिलित्वैवाऽतियत्नेन कुर्यात्तद्ग्रहणं मुदा ॥५५२॥
सहस्रदः सहस्राढ्यो ब्रह्मनिष्ठोऽन्नदस्त्वति ।
बहुशिष्यधनज्ञातिग्रामभूमिविशेषवान् ॥५५३॥
प्रथितस्त्वग्निचिन्नष्टपुत्रो दौहित्रवानपि ।
नष्टभार्यो मित्रशिष्यज्ञातिप्रार्थनया तदा ॥५५४॥
स्वीयसन्ततिविच्छित्तौ सर्वमत्या विधानतः ।
सङ्गृह्णीयाज्ज्ञातिपुत्रं दौहित्रस्य मतेन चेत् ॥५५५॥
अपि पत्नी तादृशस्य विधवा नष्टपुत्रका ।
कुलशिष्यज्ञातिधनबन्धुग्रामहिताय च ॥५५६॥
तेषां वाक्येन दौहित्रमत्या पुत्र्याश्च तादृशे ।
सङ्कटे महति प्राप्ते प्रकुर्यात्पुत्रसङ्ग्रहम् ॥५५७॥
स पुत्रो देवरसुतो भवितव्यो न हीतरः ।
पुत्रप्रदश्च सर्वेषाममात्यानां च मध्यमे ॥५५८॥
देवरा एव विख्याता ज्ञातिभ्यो न्यायवर्त्मना ।
देवरेष्वपि भूयश्च सर्वेषामन्त्य एव चेत् ॥५५६॥

उत्तमः कथितस्सद्भिर्मध्यमस्य तु मध्यमः ।
ज्येष्ठस्य तु सुतास्सर्वे चाधमाः परिकीर्तिताः ॥५६०॥

तद्भिन्ना ज्ञातिपुत्राश्चेदधमाधमसंज्ञकाः ।
एतेन खलु सर्वत्र दौहित्रे सति सङ्कटे ॥५६१॥

पुत्रस्यग्रहणं दुष्टं शास्त्रजालैरशेषकैः ।
इतियत्तस्य दौहित्रामतं यदि तदा तराम् (?) ॥५६२॥

न कार्यमेव तन्नो चेन्मतेनास्य मुदादिना ।
सम्यक्कतुं शक्यते हि तस्मिंश्चेद्यदि दुःखिते ॥५६३॥

सङ्गृहीतस्स तु शिशुः पुत्रत्वेन न वर्धते ।
तत्संमतिश्च परमा नास्त्यस्तीति ततः परम् ॥५६४॥

कालेन महता पश्चात्कल्प्या फलबलेन हि ।
तादृशस्य च तादृश्याः विधुरस्य विपश्चितः ॥५६५॥

तत्पत्न्या विधवाया वा स एषः पुत्रसङ्ग्रहः ।
उभयोरेतयोरेव पृथक्त्वेन तथाविधम् ॥५६६॥

संगच्छते कर्म कतुं नैताभ्यां भिन्नयोर्ननु ।
सर्वथा शक्यते कतुं नान्यस्य तु कथंचन ॥५६७॥

अन्याया विधवाया वै सोऽयं पुत्रपरिग्रहः ।
उपमारहितश्रीकः मिथिलोत्पत्तिसन्निभः ॥५६८॥

एतादृक्पुत्रकरणे गुणा ह्यावश्यकाः स्मृताः ।
तेऽत्यन्तदुर्लभा दिष्ट्या ते सन्ति यदि वै तदा ॥५६९॥

कर्म कर्तुं तादृशं चालं युक्तं शास्त्रसंमतम् ।
ते गुणाश्चापि सुव्यक्तं निरूप्यन्तेऽधुना क्रमात् ॥५७०॥
वंशद्वयविशुद्धत्वं अत्यन्तावश्यकं स्मृतम् ।
सहस्रदक्षिणादत्वं सहस्रधनवत्त्वकम् ॥५७१॥
पण्डितत्वं शताधिक्यशिष्यवत्त्वं महोन्नतम् ।
महाग्रामाधिकारित्वं ब्रह्मनिष्ठत्वमप्यति ॥५७२॥
अन्नदत्वं ब्रह्मवित्त्वं शान्तिदान्त्यादिपात्रता ।
अग्निचित्त्वं धराधीशपूज्यता सर्वसम्मता ॥५७३॥
यस्यैते निखिलादिव्याः सन्ति तस्यैवतादृशे ।
समये कर्म तत्कर्तुं तत्कलत्रस्य शक्यते ॥५७४॥
विधवायास्तादृशस्य विधुरस्येति विश्वसृट् ।
पुत्रसंग्रहणे शास्त्रं कल्पयामास सूक्ष्मतः ॥५७५॥
अतिगुह्यमिदं शास्त्रं सर्वसाधारणं न तु ।
तादृशानां तु या काचिज्जन्मान्तरतपःफलात् ॥५७६॥

॥ समीचीनरण्डा ॥

मृते भर्तरि तूष्णीकं सर्वं निश्चित्य केवलम् ।
नश्वरं दुःखजनकं अज्ञानास्पदमध्रुवम् ॥५७७॥
सद्वाक्येन विनिश्चित्य किमे न ती ।
क्षान्तिशान्तिशमादीनां आलया सद्गुणाश्रया ॥५७८॥
वेदान्तवाक्यश्रवणं कुर्वन्ती महतां सताम् ।
वसन्ती निकटे नित्यं जगदेतच्चराचरम् ॥५७९॥

कं खं भूर्द्यौस्तथा वायुः पुष्पवन्तौ सुरासुरान् ।
वृकं खरं खगं छागं पश्यन्ती ब्रह्म शाश्वतम् ॥५८०॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं च सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
सर्वोपनिषदां सारं सर्वोपनिषदीरितम् ॥५८१॥
भेदं सर्वं परित्यज्य सोऽहं भावनयैव हि ।
विभावयन्ती सततं स्वात्मत्वेन समत्वतः ॥५८२॥
सुखं दुःखं भवं भावं भावाभावौ तथैव च ।
विपत्तिमविपत्तिं च द्वन्द्वाद्वन्द्वे लयालयौ ॥५८३॥
शत्रुं मित्रं तथानुष्णमुष्णं तेजस्तमस्तथा ।
सिद्धान्तपूर्वपक्षौ च भेदराहित्यतोऽनिशम् ॥५८४॥
समदृष्ट्या प्रपश्यन्ती परत्वमपरत्वकम् ।
कामं क्रोधादिकं चापि रागद्वेषादिकं परम् ॥५८५॥
लाभालाभौ च सततं स्वात्मन्येव व्यवस्थितम् ।
एकमेवेति मन्वाना द्वितीयं नेति सूक्ष्मतः ॥५८६॥
मन्यमाना महाभागा महती ब्रह्मवादिनी ।
जातिं मानं च गर्वं च जन्मवर्णाश्रमादिकम् ॥५८७॥
अहं भावं स्वकीयत्वं त्यक्त्वा विस्मृत्य सत्वरम् ।
किमप्यकाङ्क्षमाणैव सर्ववस्तुषु केवलम् ॥५८८॥
काममिच्छामि नात्यन्तास्पृहया येन केनचित् ।
लब्धेन प्राणवृत्तिं तां कुर्वती च सुसंस्थिता ॥५८९॥
नित्यतुष्टा नष्टदुःखा पूर्णकामा च सन्ततम् ।
अदः पूर्णमिदं पूर्णं पूर्णात्पूर्णं बहिस्तथा ॥५९०॥

अन्तः पूर्णमधः पूर्णमूर्ध्वं पूर्णं च तेन हि।
परेण ब्रह्मणा तेन स्वयं तद्ब्रह्म किं कथौ ॥५६१॥
नेतःपरमहं त्वस्मिंचेति बुद्धिः परा दृढा।
रण्डापि सा सर्ववन्द्या सदा शास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥५६२॥
यस्याः स्यात्काङ्क्षितं वस्तु परमिष्टं ममेति न।
सैवं साक्षात्परं ब्रह्म सर्वं(च) ह्यप्रयोजकम् ॥५६३॥
तच्चर्याज्ञाननिष्ठाद्याः सर्ववन्द्याः सदा जनैः।
स्वीकार्याः स्युर्विशेषेण तस्यां बुद्धिं तु मानुषीम् ॥५६४॥
न कुर्यादेव धर्मेण सा ब्रह्मैव न संशयः।
न यस्याः स्वं परं चेति परभावोऽप्यहङ्कृतिः ॥५६५॥
देहे दुःखसुखे न स्तः सेयमप्राकृता स्मृता।
सर्वप्राणिसमा दुःखसुखतुल्या निराकुला ॥५६६॥
निराशा निर्ममा साध्वी रण्डाऽपीयं विशिष्यते।
दुर्व्यापारमकृत्वैव परेषां स्वहिताय वै ॥५६७॥
वृत्तिक्षेत्रगृहक्षोणी विषये निस्पृहा च या।
सापि रण्डा समीचीना प्राकृताभिः समा न तु ॥५६८॥
इदं कृत्यमिदं कार्यमिदं शास्त्रमिदं परम्।
इदं युक्तमिदं न्याय्यं इदं धर्म्यं सनातनम् ॥५६९॥
अप्रदेयं देयमिदं अवाच्यं वाच्यमेव च।
अनुष्ठेयं च तद्भिन्नं क्रेयमक्रेयमेव च ॥६००॥
अश्राव्यं श्राव्यमित्येतज्ज्ञानं तस्य निरीक्षणम्।
अनुष्ठानं विशेषेण यस्याः स्युः साप्यकालतः ॥६०१॥

इयं रण्डाप्यरण्डेव ज्ञात्री धर्मपरा सती।
सर्वज्ञात्र्यपि या नूनं दुर्बुद्ध्या सततं कलिम् ॥६०२॥
स्वजनैः ज्ञातिभिस्सद्भिः पितृभ्यां बान्धवैः परैः।
कुर्वंती सततं पीडां तद्द्रव्यहरणेच्छया ॥६०३॥
दुर्व्यापारादिना तेषां मृत्युस्सा सार्वकालिकी।
तादृशीं धार्मिको राजा स्वदेशादन्यतो नयेत् ॥६०४॥
तत्कृता दुष्क्रियास्सर्वा मार्जयित्वाऽथ सत्क्रियाः।
कारयेदेव विधिना सद्धर्मस्थापनाय वै ॥६०५॥
असत्क्रियैककर्तारं असद्वाक्यैकवादिनम्।
सद्दूषकं दुष्टकर्मबोधकं राष्ट्रतो नयेत् ॥६०६॥
निष्ठीवन्तं सभामध्यात्सभायां निर्भयेन वै।
ताम्बूलचर्वणपरं वाक्येनोद्वासयेत्ततः ॥६०७॥
कल्याणराजसदसि रागेण यदि वा क्षुतन्।
अपानयन्वा दुर्बुद्धिं तूष्णीकं हि ततस्तु तम् ॥६०८॥
सद्यउत्थापयित्वैव तत्रदर्भैर्भुवं दहेत्।

॥ सभायां एकस्मिन् अन्यस्यपतने ॥

सभानृपतने जाते निद्रया यस्य कस्य वा ॥६०९॥
तद्वस्त्रं सहसाच्छित्वा वेष्टयित्वा शिरोऽस्य वै।
विसर्जयित्वा दूरेऽथ तं दूरीकृत्य तत्परम् ॥६१०॥
प्रहृत्य पृष्ठे हस्तेन नां भूमिं च ततः परम्।
प्रोक्ष्योद्धृत्याथतान्पांसून् बहिर्गेहाद्विसर्जयेत् ॥६११॥

मृदन्तरेण भूयश्च पूरयेत्तां भुवं यथा।
त्रियम्बकेन मन्त्रेण हुनेदष्टोत्तरं शतम् ॥६१२॥
ब्राह्मणान् भोजयेत्पश्चाच्छक्त्याचित्रान्नषड्रसैः।
आगामिसूतकं ज्ञात्वा गत्वा देशान्तरं त्वरन् ॥६१३॥
लौकिकं वैदिकं तत्र नित्यं नैमित्तिकं तु वा।
परस्य स्वस्य वा कर्म संप्राप्तं कुरुते यदि ॥६१४॥
कारयेद्वा विशेषेण यद्यदेवाखिलं परम्।
तत्सूतककृतं नूनं भवेदेव न चान्यथा ॥६१५॥
कृतस्य सूतके यत्तु प्रायश्चित्तमुदीरितम्।
तथैवेहास्य कथितं कर्मणो ब्रह्मवादिभिः ॥६१६॥
तादृशं तमिमं राजा बलादाहृत्य सत्वरम्।
उत्तमेनैव दण्डेन दण्डयेद्धर्मसिद्धये ॥६१७॥
परप्रयोजनदशायां प्राप्तायां (तु) मृषाच्छलात्।
चिराद्देशान्तरगतसूतकं नेति वै वदन् ॥६१८॥
दाप्यश्शतपणान्सद्यः तत्सत्यं चेत्तु तत्पुनः।
त्वयेदं दुष्कृतं दुष्टं किं कृतं तद्धठाद्यथा ॥६१६॥
न युक्तमेवं करणं तदिदानीं सहिष्णुना।
तदाद्ये तावत्पर्यन्तकालहाते विगर्हितम् ॥६२०॥
एवं जनानां पुरतो लज्जयेत्तं विगर्हयेत्।
सूतकी सन्परे देशे श्राद्धभुक् शुभकर्मणः ॥६२१॥
आर्त्विज्यं वैदिकस्यापि कुर्वन्यो वर्तते तराम्।
तमेनं बालिशं मूर्खं सद्यो राजा विशेषतः ॥६२२॥

ग्राहयित्वा रोधयित्वा मासं वा पक्षमेव वा ।
तमेवं पूर्ववत्कृत्वा लज्जयित्वा ततः पुनः ॥६२३॥
तस्य स्वार्थधनं सम्यग्धृत्वा राष्ट्रात्प्रवासयेत् ।
पत्न्यां रजस्वलायां यः श्राद्धं भुङ्क्तेऽतिकामतः ॥६२४॥
स्वायोग्यतां लोपयित्वा जनानां सोऽयमल्पकः ।
निष्कासितो धिक्कृतश्च मोचनीयः स्वकाद्गृहात् ॥६२५
चतुर्विंशतिपणान्वापि दाप्यस्सद्योऽथ वा भवेत् ।
अमन्त्रनिपुणो मन्त्रैः कुग्रामेषु द्विजन्मनाम् ॥६२६॥
वसतां कर्म सम्यग्वः कारयिष्यामि सन्ततम् ।
संमन्त्र्यैवं प्रतिज्ञाप्य तथा कुर्वन्न शास्त्रतः ॥६२७॥
व्यामोहयन्वाक्यजालै र्नित्यानुसरणादिना ।
सेवया संचरन्नित्यं शास्त्रमार्गं विनाशयन् ॥६२८॥
मन्त्रक्रियापरिज्ञानविकलो नटवत्तराम् ।
तत्क्रियाभिनयान् कुर्वन् वैदिकोऽहमितिब्रुवन् ॥६२९॥
दुष्टोऽयमसतां मुख्यः सद्दूषणपरः पुनः ।
अज्ञातशब्दार्थभयरहितः पामरो जडः ॥६३०॥
ज्ञातो विप्रमुखाद्राजा सद्यस्तं भटवर्त्मना ।
आनाययित्वा सन्ताड्य किं कृतं च त्वयानिशम् ॥६३१॥
विधानं ब्रूहि पुरतो कर्मणां विप्रसन्निधौ ।
तूष्णीकं लोकविप्रत्वं नाशयिष्यसि केवलम् ॥६३२॥
सर्वं वः कारयिष्यामीत्युक्तिमात्रेण तान् जडान् ।
व्यामोहयित्वापापात्मन् एवमुक्त्वा पुनश्च तम् ॥६३३॥

कपोलयोस्ताडयित्वा तत्तद्ग्रामनिवासिनाम् ।
कार्याय कर्मजालस्य दक्षमेकं नियुज्य च ॥६३४॥
पश्चात्तस्यापि सर्वस्वं हृत्वा राष्ट्रात्प्रवासयेत् ।
विश्वस्तामशिरस्नातां शिरःस्नातां सुवासिनीम् ॥६३५॥
कदाचिदवशाद्दृष्ट्वा कुर्यात्सूर्यावलोकनम् ।
शिरःस्नानं पतेः पित्रोः कृत्स्नश्राद्धदिनेषु तत् ॥६३६॥
पाकस्य हेतवे हि स्यात् न चेन्नास्त्येव किंच तत् ।
प्रत्यब्दमात्रे भवति तदभावेऽपि केवलम् ॥६३७॥
शिरःस्नानं ग्रहणयोः पूर्वं चाप्यपरं परम् ।
द्विवारमपि यत्नेन तथा बन्धुमृतावृतौ ॥६३८॥
चतुर्थेऽहनि तद्वत्मनियमेन समासतः ।
तथैवापूर्वतीर्थेषु चण्डालस्पर्शनादिषु ॥६३९॥
अभ्यङ्गकालनैयत्यं आर्थिकं प्रभवेद्धि वै ।
अध्वराद्यन्तयोरेवं नान्यत्रासां तु मास्तकम् ॥६४०॥

॥ सुवासिनीनां शिरःस्नाननिषेधः ॥

सुमङ्गलीनां तत्स्नानं हरिद्रावर्जनेन चेत् ।
जलं श्मशानगर्तस्थं सत्यं स्याद्धरणीगतम् ॥६४१॥
यद्युद्धृतं भाण्डगतं चण्डालचषकस्थितम् ।
तत्क्षणादेव भवति तदा तस्मात्तयैव हि ॥६४२॥

॥ हरिद्रास्नानविधिः ॥

तथा स्नानं प्रकर्तव्यं अजस्रं तद्धरिद्रया ।
अजस्रं विहितं स्नानं रात्रौ चेत्तज्जलं पुनः ॥६४३॥

दैवाकीर्त्यैकचषकगतमेव न संशयः ।
तासामाकण्ठमेव स्यादास्यस्य क्षालनं च तत् ॥६४४॥
भर्त्रा स्नानं नित्यमेव न मध्येऽह्नि(मध्यान्हे) विधीयते ।
भर्तुः स्नानात्परं प्रातः होमकार्याय तच्च हि ॥६४५॥
होमाभावे यथेच्छं स्यात्सङ्गवे पाकहेतवे ।
पाकाभावेऽपि कालोऽयं सङ्गवो वाथ तत्परः ॥६४६॥
मध्याह्नो नापराह्णः स्यात्सदा कुर्याद्धरिद्रया ।
हरिद्रालेपने नित्यं तर्जन्या विदिशां दिशाम् ॥६४७॥
सर्वासां देवपत्नीनां तस्यादानं च धर्मतः ।
कर्तव्यत्वेन विहितं हरिद्राया निरन्तरम् ॥६४८॥
विदिशां देवपत्नीनां चतसृणां दिशामपि ।
हरिद्राकल्कलेशांस्तान् अक्षिप्त्वेवातिगर्वतः ॥६४९॥
अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि नमस्कारप्रपूर्वकम् ।
या स्नाति विधवा नूनं सत्यमेव भविष्यति ॥६५०॥
या करोति शिरःस्नानं जीवभर्त्री सुमङ्गली ।
पतिघ्नी सा प्रकथिता तथोक्तं ब्रह्मवादिभिः ॥६५१॥
विनाभ्यनुज्ञां भर्तुर्या चौपवस्तं करोति वै ।
भर्तुरायुष्यमश्नाति सैषा पापालया स्मृता ॥६५२॥

॥ पतिव्रताधर्माः ॥

भर्तृशुश्रूषणं नार्याः परमो धर्म उच्यते ।
नैतस्माद्धिको धर्मो नैतस्मादधिको जपः ॥६५३॥

नैतस्मादधिकं दानं नैतस्मादधिकं तपः ।
नैतस्मादधिकं तीर्थं नैतस्मादधिकं दमः ॥६५४॥
नैतस्मादधिकाः कृच्छ्राः नैतस्मादधिकास्सवाः ।
मुक्त्वा तत्पतिशुश्रूषां तस्मादन्यन्न किंचन ॥६५५॥
धर्मं चरेत्प्रयत्नेन साध्वी नारी पतिव्रता ।
नैनमुच्चैः प्रभाषेत प्रियमेवास्य यच्चरेत् ॥६५६॥
अप्येनं कुपितं रोषात् प्रतिकुप्येत्कथंचन ।
कठोरं निर्दयं क्रूरं निरनुक्रोशमक्षमम् ॥६५७॥
ताडयन्तमहोरात्रं शपन्तमपि दुर्हृदम् ।
न दूषयेन्न चाक्रोशेन्न क्रुध्येत्प्रशपेदपि ॥६५८॥
छायानुवर्तिनी नित्यं दुःखिते दुःखिता भवेत् ।
सुखिते सुखिता तस्मिन् हृष्टे हृष्टा स्थिते स्थिता ॥६५९
शयिते शयिता सुप्ते पश्चात्सुप्ता स्वयं भवेत् ।
आहूताऽतित्वरा गच्छेदपि कार्यं विहाय च ॥६६०॥
शतं सहस्रं गोप्यं वा गुह्यमावश्यकं तु वा ।
ताम्बूलचर्वणं नित्यं अक्ष्णोरञ्जनमेव च ॥६६१॥
कुङ्कुमं चापि सिन्दूरं कज्जलं कञ्चुकं कचः ।
कबरी च प्रशस्तं स्यात्सुगन्धं स्रक्सुमादिकम् ॥६६२॥
नित्यमावश्यकं स्त्रीणां सतीनां विधिचोदनात् ।
भर्तरि प्रोषिते स्त्रीणां नालङ्कारो विधीयते ६६
पतिव्रतानां धर्मोऽयं तत्पुरोऽलङ्कृतिः परा ।
अन्वहं निशायास्नानं सिन्दूरं कुङ्कुमं सुमम् ॥६६४॥

सुगन्धद्रव्यसद्वस्त्रकञ्चुकस्त्रककज्जलाः ।
निखिलास्वप्यवस्थासु संसेव्यास्त्वाभिरित्यपि ॥६६५॥
नित्यभव्याय स मुनिरुवाच पुलहः पुरा ।
भौमवारे शुक्रवारे निमज्जन्तीं धराजले ॥६६६॥
सपतिं वनितां साध्वीं दृष्ट्वा तद्दोषशान्तये ।
पद्मानने पद्म उरू पद्माक्षी पद्मसंभवे ॥६६७॥
त्वं मां भजस्व भद्राक्षि येन सौख्यं लभाम्यहम् ।
इति मन्त्रं श्रियोमूलं समुच्चार्योदकेन वा ॥६६८॥
नेत्रे प्रक्षाल्य नोचेत्तु नवनीतेन मार्ष्टि च ।
उदुत्त्येन ततस्सूर्यं प्राङ्मुखस्त्ववलोकयेत् ॥६६९॥
तथैवमवशाद्दृष्ट्वा विश्वस्तां रक्तदन्तकाम् ।
ताम्बूलरञ्जितमुखीं सुगन्धालिप्तगात्रकाम् ॥६७०॥
स्वतन्त्रां वातिहासां वा काल्योद्वर्तितविग्रहाम् ।
विचित्रवस्त्रां वा तद्वच्छ्लक्ष्णकायां सुचित्रिताम् ॥६७१॥
अतिवैदग्ध्यमापन्नां अत्यन्तोत्कटवादिनीम् ।
क्षुद्रकण्टकतच्चित्रक्रियमाणाङ्गकां पुनः ॥६७२॥
तदा तदा भूषणाध्यां(ढ्यां) वस्तुनीलितदुर्दतीम् ।
स्वर्णादिसूत्रखचितविद्रुमाच्छाक्षमालिकाम् ॥६७३॥
व्यूहाधिपत्यं कुर्वन्तीं दानमानादिदुर्नयैः ।
परद्रव्याणि स्वीयत्वबुद्ध्यै व स्वजनैः कलौ ॥६७४॥
ग्राहयन्तीं धर्ममात्रव्याजेनैव निरन्तरम् ।
सन्तोऽपि भ्रामयन्तीं तु सत्कुलैकविभीषिकां ॥६७५॥

रण्डां तथाविधां दृष्ट्वा दुष्टचित्तां प्रतारकाम् ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा पादप्रक्षालनात्परम् ॥६७६॥
उपस्थाय च सप्ताश्वं उद्वयद्वयतो हरिम् ।
संस्मृत्य व्याहृतीर्जप्त्वा चेदं विष्णुं सकृज्जपेत् ॥६७७॥
राजा चेत्तादृशींश्रुत्वा पृष्ट्वा वा सद्य एव वै ।
स्वदेशादुद्वसेन्नोचेच्छ्रेयो भव्यं न विन्दति ॥६७८॥
धनवन्तमदातारं दरिद्रमतपस्विनम् ।
कण्ठे बद्ध्वा शिलां गुर्वीं सिन्धुमध्ये विनिक्षिपेत् ॥६७९॥
सतोऽपि नित्यं दुर्मार्गग्राहकस्य दुरात्मनः ।
प्राप्तस्यात्यन्तमित्रत्वं शिक्षा तेन ह्यभाषणम् ॥६८०॥
दासीप्राणहरो दण्डः शिरोमुण्डनमुच्यते ।
रहस्यधेनुबालघ्न्याः ग्राहदाह्यास्तथैव च ॥६८१॥
विषप्रदास्यद रण्डोऽयं धर्मशास्त्रैकनिश्चितः ।
तच्चूर्णक्षुद्रपाषाणवह्निना वर्ष्यदीपनम् ॥६८२॥
महावाते प्रचलति रात्रौद्वेषेण दाहिनः ।
ग्रामं वीथीं गृहं वापि दण्डोऽयं देवनिर्मितः ॥६८३॥
ग्रामाद्बहिः शिरश्छित्त्वा तरुशूलाधिरोहणम् ।
सर्वं चतुर्थवर्णादिजनो पापालयोऽनिशम् ॥६८४॥
धेनुचौर्यं वाहचौर्यं मेषचौर्यं तथाविधम् ।
पुनरन्यानि चौर्याणि कुर्वन्नेव तदा तदा ॥६८५॥
अवशात्सङ्गृहीतश्चेत् बहुलोकापकारकः ।
सन्ताड्य तं भ्रामयित्वा सर्वा वीथीस्समाकुलाः ॥६८६॥

घोषयित्वा विशेषेण यद्यत्तत्तस्य सञ्चितम् ।
शनैः शनैरुपायेन समादायातिकौशलात् ॥६८७॥
त्वां वयं मोचयिष्याम इत्युक्त्वा तत्कृताः पुरा ।
यत्र तत्र क्रियास्तास्ता ज्ञात्वा तन्मुखतः पुनः ॥६८८॥
चो(चौ)रान्तरादिदुष्टौघान् विज्ञाय तदनन्तरम् ।
निगलेन पुनस्सम्यक् ग्रन्थयित्वा तदा तदा ॥६८९॥
ताडयित्वा स्थापयित्वा बन्धयित्वातिनिष्ठुरम् ।
अखिलं तावक कृत्यं सम्यग्वदसि चेत्तदा ॥६९०॥
निश्चयान्मोचयिष्यामो न चेन्मुक्तिस्तु तेन हि ।
त्रिवारमेवं संशोध्य पश्चाल्लब्धानि तन्मुखात् ॥६९१॥
द्रव्याणि धर्मकृत्येषु योजयित्वा ततश्च तम् ।
करमेकं पादमेकं खण्डयित्वा विमोचयेत् ॥६९२॥
गजचोरं महाघोरे पल्वले गजसङ्ग्रहे ।
पुराकृते तादृशेऽस्मिन् कृतेऽद्यापि घने तथा ॥६९३॥
पातयित्वा खनित्वैनं प्रच्छाद्यस्तम्भमूलके ।
काष्ठैर्निखातैः पृथुलैः हन्यादेवाविचारयन् ॥६९४॥
एडूकत्रोटने दक्षं तत्काले तमसि स्थिते ।
नैपुण्यधावनपरं ग्रहणायागतान् जनान् ॥६९५॥
कृतप्रहारं खड्गेन गृहीतमवशाज्जनैः ।
चोरं सद्यस्ताडयित्वा करौच्छित्त्वा प्रवासयेत् ॥६९६॥
यदि तेन हतः कोपि तस्मिन्काले विशेषतः ।
हिंसिताः स्युः परे क्रौर्याद्दण्डयित्वा प्रमापयेत्(प्रवासयेत्)६९७

यदि चेद् ब्राह्मणो दुष्टश्चोरस्तत्रापि हिंसकः ।
तस्मिन्काले विशेषेण खण्डदण्डादिभिर्जनान् ॥६९८॥
गृहीतोऽयं हतान्कृत्वा तमेनं निगलेन वै ।
बन्धयित्वा पीडयित्वा शोधयित्वा तदा तदा ॥६९९॥
संवत्सरात्परं यत्नात्कृत्वैवाक्षतमव्रणम् ।
सर्वाङ्गवपनं कृत्वा घोषयित्वा पुरे स्वके ॥७००॥
गर्दभारोहणेनाथ राष्ट्रादस्माद्विसर्जयेत् ।
सर्वेष्वपि च कार्येषु चातिक्रूरेषु केवलम् ॥७०१॥
कृतेष्वपि तथा तेन त्वक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ।
स्त्रीणां न हिंसाविहिता चातिक्रूरेषु कर्मसु ॥७०२॥
बालस्त्रीनां तु रागेण परेषां स्वस्य वा पुनः ।
क्षुद्रशूलशिलावह्निविम्रहैकप्रदाहतिः ॥७०३॥
प्रपातनं प्रकथितं ब्राह्मणीनां तु केवलम् ।
केशानां लुञ्छनं कृत्वा च्छिन्नं कृत्वा यथातथम् ॥७०४॥
श्वदण्डध्वजशूलापस्मारचक्रादिभिः सदा ।
गदभारोहणादेव देशादुच्चाटनं स्मृतम् ॥७०५॥
अजितोऽस्मीति वक्तारं जितं न्याये न शास्त्रतः ।
सभायां तं पराजित्य दूषयित्वा प्रवासयेत् ॥७०६॥
दुष्टं सतो दूषयन्तं स्वकार्यायान्वहं खलम् ।
त्यक्तकापट्यकौटिल्यान्मोहयन्तमभीक्ष्णशः ॥७०७॥
भेदयन्तं भीषयन्तं हेतुवाक्यादिभीषणैः ।
तत्सज्जनाकारमात्रं सज्जनद्वेषिणं तराम् ॥७०८॥

सत्क्रियाचरणव्याजदुष्टकार्यैककारिणम् ।
कोपेयं कर्कशं क्रूरं सामान्यद्रव्यहारिणम् ॥७०६॥

ग्रामद्रोहजनद्रोहसर्वद्रोहैकलोलुपम् ।
विद्याविहीनं पिशुनं पामरं पापचेतसम् ॥७१०॥

यत्नेन राजा निश्चित्य कालेन महता शनैः ।
जनवाक्येन महतां चर्यया भाषणे न च ॥७११॥

पूर्वोक्तान् शिक्षयेत्सम्यक् सत्पथे विनिवेशयेत् ।
तस्योपायांश्च वक्ष्यामि स्पष्टाय विशदाय च ॥७१२॥

स्वामिना स्वामिनं कार्यकाले तस्मिन्समागते ।
विवदन्तं समत्वेन सद्यस्सम्यक्प्रताडयेत् ॥७१३॥

अज्ञं सभायां विदुषा समत्वेनैव निर्भयम् ।
विवदन्तं धराधीशः सन्ताड्योद्वासयेद्बहिः ॥७१४॥

अश्रोत्रियं श्रोत्रियेण विवदन्तं सभास्वपि ।
तूष्णीं विनैव मर्यादां दमं कुर्यात्तु हुङ्कृतेः ॥७१५॥

ग्रामे राष्ट्रे च सर्वत्र प्राधान्येन चिरात्स्थितान् ।
महात्मनो महाभागान् दुष्टान् केचन सङ्घशः ॥७१६॥

मिलित्वा तत्क्रियाः पौर्वापर्यमर्यादया कृताः ।
यत्नादन्यथयन्तो वै नास्माकं सम्मतिः परा ॥७१७॥

इयमित्येव ये दुष्टा तान्सद्योनिर्दयं नृपः ।
एकदा भीषयेच्चेत्तु दण्डसङ्ग्रहणात्परम् ॥७१८॥

अनया निखिलाश्चापि सद्यश्शान्ता भवन्ति हि ।
अनयानामभावे तु लोकोऽयं सुखमश्नुते ।।७१६।।
लोको यदा सुखी राजा तदा सर्वान्मनोरथान् ।
अवशादेव लभते नात्र कार्या विचारणा ।।७२०।।
इतीदं कथितं शास्त्रं लोहितेन महात्मना ।
हिताय सर्वलोकानां सारमुद्धृत्य शास्त्रतः ।।७२१।।

श्रीलोहितस्मृतिः समाप्ता ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

* नारायणस्मृतिः *

प्रथमोऽध्यायः

नारायणदुर्वाससोःसम्बादः

एकदा नैमिषारण्ये ब्रह्मर्षिगणसेविते ।
नारायणो महायोगी दूर्वाससमपृच्छत ॥ १ ॥
भगवन् मुनिशार्दूल सर्वधर्मभृतांवर ।
काले कलियुगे पुण्यधर्मे लुप्ते भुवस्स्थले ॥ २ ॥
सर्वपापप्रशमनी प्रायश्चित्तविधिः कथम् ।
पापाः कतिविधाः प्रोक्ता विस्तरेण वदस्व मे ॥ ३ ॥

दुर्वासा उवाच ।

नारायण महायोगिन् शृणु विस्तरतो मम ।
कृते युगे चतुष्पादो धर्मो वर्द्धति वर्द्धति(ते) ॥ ४ ॥
त्रेतायुगे तु सम्प्राप्ते पादहीनो भवेद्वृषः ।
द्वापरे समनुप्राप्ते द्विपादाभ्यां वृषस्थितः ॥ ५ ॥
ततः कलियुगे प्राप्ते पादेनैकेन तिष्ठति ।
ततः कृतो युगःश्रेष्ठो मध्यमस्तदनन्तरम् ॥ ६ ॥

अधमो द्वापरयुगः कलिस्स्यादधमाधमः ।
कृते कृते युगे पापे तद्देशं संपरित्यजेत् ॥ ७ ॥
त्रेतायां ग्राममात्रं तु द्वापरे कुलमुत्सृजेत् ।
कलौ युगे विशेषेण कर्त्तारं तु परित्यजेत् ॥ ८ ॥
कृतत्रेताद्वापरे (षु) तु मरणान्तादिनिष्कृतिः ।
कलौ युगे तु सम्प्राप्ते मरणान्ता न निष्कृतिः ॥ ९ ॥
पापा नवविधाः प्रोक्ताः सावधानतया शृणु ।
ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ॥१०॥
य एतै (स्सह) संयोगी महापातकिनस्त्विमे ।
अतिदेशादमीषां यदातिदेशिकमुच्यते ॥११॥
एतत्प्रकाशपापानां रहस्यानां तथैव च ।
गोवधादिकमेनोयदुपातकमुच्यते ॥१२॥
यज्जातं तिलधान्यादि विक्रयात्पापमात्मनः ।
सङ्करीकरणं प्राहुः कन्यापहरणादिकम् ॥१३॥
मलिनीकरणं चैव चण्डालीगमनादिकम् ।
अपात्रीकरणं प्राहुः दुरन्नादेस्तु भोजनम् ॥१४॥
जातिभ्रंशकरं प्राहुस्तथा दुर्मरणादिकम् ।
प्रकीर्णकमिति प्रोक्तं पापानि नवधा क्रमात् ॥१५॥
महतां पातकानान्तु प्रायश्चित्तं कलौ युगे ।
द्व्ययुतैरेव गोदानैर्मत्या विप्रवधे कृते ॥१६॥
अमत्यायुतगोदानैर्निष्कृतिः परिकीर्तिता ।
सुरापानं द्विजः कृत्वा ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ॥१७॥

स्वर्णस्तेयेऽपि तद्वत्स्यान्मातृगन्तुस्तथैव च ।
अभ्यासे द्विगुणादीनि कल्पनीयानि सत्तम ॥१८॥
गोवधे च कृते विप्रैरमत्या तु पराककम् ।
मत्या चान्द्रायणं कार्यं नान्यथा मुच्यते त्वघान् ॥१९॥
तिलविक्रयणे चान्द्रं तप्तं तण्डुलविक्रये ।
निक्षेपहरणे विप्रश्चान्द्रायणमथाचरेत् ॥२०॥
चण्डालीगमने विप्रस्त्वज्ञानान्मासमात्रतः ।
सेतुस्नानं ततः कृत्वा शुद्धिमाप्नोत्यसंशयः ॥२१॥
मत्या द्विमासमभ्यासे वत्सरं सेतुमज्जनम् ।
व्यतिपातादिदुष्टान्नभोजने न कृते यदि ॥२२॥
प्राजापत्यद्वयं कृत्वा शुद्धिमाप्नोत्यसंशयः ।
विद्युदग्न्यादिभिर्विप्रो मत्या प्राणैर्वियुज्यते ॥२३॥
तत्पापस्य विशुद्ध्यर्थं तत्पुत्रादिर्यथाविधि ।
मत्या त्वशीतिकृच्छ्राणि कृत्वा संस्कारमाचरेत् ॥२४॥
अमत्या दशकृच्छ्राणीत्येवमाहुर्महर्षयः ।
तुलाप्रतिग्रहे लक्षगायत्रीजपमाचरेत् ॥२५॥
हिरण्यगर्भग्रहणे त्वष्टलक्षं जपेद्बुधः ।
प्रतिग्रहे कल्पतरोरष्टलक्षजपं चरेत् ॥२६॥
गवां चैव सहस्रं तु प्रतिगृह्य द्विजाधमः ।
नवलक्षं जपं देव्याः प्रातस्स्नात्वा समाचरेत् ॥२७॥
हिरण्यकामधेनुं तु प्रतिगृह्य द्विजाधमः ।
अष्टलक्षं जपेद्देवीं तत्पापस्यापनुत्तये ॥२८॥

हिरण्याश्वस्य च तथा ग्रहणे भूसुराधमः ।
अष्टलक्षजपं कृत्वा शुद्धिमाप्नोति पूर्वजः ॥२९॥
हिरण्याश्वरथं गृह्य वसुलक्षजपं चरेत् ।
हेमस्तम्बेरमं गृह्य वसुलक्षजपाच्छुचिः ॥३०॥
हेमहस्तिरथस्यैव ग्रहणे मुनिनन्दन ।
कूष्माण्डलक्षहोमेन शुद्धोभवति पूर्ववत् ॥३१॥
पञ्चलाङ्गलदानस्य ग्रहणे विप्रनन्दनः ।
दशलक्षजपाद्देव्याः सम्यगेव समाचरेत् ॥३२॥
प्रतिगृह्य धरादानं दशलक्षजपं चरेत् ।
विश्वचक्रस्य ग्रहणे तत्पापप्रशमाय च ॥३३॥
प्रयुतेनाभिषेकेण शम्भोश्शुद्धिमवाप्नुयात् ।
लतायाः कल्पसंज्ञायाः ग्रहणे विप्रनन्दन ॥३४॥
लक्षद्वादशवारं तु गायत्रीजपमाचरेत् ।
सप्तसागरसंज्ञस्य दानस्यैव प्रतिग्रहे ॥३५॥
देव्या द्वादशलक्षं तु जपं विप्रस्समाचरेत् ।
प्रतिग्रहे चर्मधेनोस्तत्पापस्य विशुद्धये ॥३६॥
देवीद्वादशलक्षं तु जपं विप्रस्समाचरेत् ।
महाभूतघटस्यैव ग्रहणे विप्रनन्दन ॥३७॥
लक्षमात्रं जपेद्देवीं तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
एवमादिमहापापान्यनेकानि च सन्ति हि ॥३८॥
यो विप्रो धनलोभेन प्रतिगृह्णाति कामतः ।
नरके नियतं वासः कल्पान्तं परिकीर्तितः ॥३९॥

वधपानापहरणगमनाद्यैश्च विक्रयात् ।
हरणाद्भोजनात्सङ्गात् ग्रहणात्सहसङ्गतः ॥४०॥
पापान्यनेकान्युच्यन्ते तत्र तत्र महर्षिभिः ।
निष्कृतिश्चापि कथिता द्रष्टव्या विप्रनन्दन ॥४१॥
वच्मि ते परमं गुह्यं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥

इति श्रीनारायणस्मृतौ पापविवरणं नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

बुद्धिकृताभ्यासकृतपापानांप्रायश्चित्तवर्णनम्

नारायणउवाच ।

भगवन्मुनिनाथ त्वं मयि वात्सल्यगौरवात् ।
पुनर्वदस्व गुह्यं मे शरणं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥
मत्यामत्या तथा पापात् अत्यन्ताभ्यासतस्तथा ।
बहुकालाभ्यासतश्च यत्पापं मनुजैः कृतम् ॥ २ ॥
तत्तत्कालानुगुण्येन प्रायश्चित्तं वदस्व मे ॥

दुर्वासा उवाच ।

नारायण महायोगिन् प्रायश्चित्तं यदीरितम् ।
तदबुद्धिकृते पापे द्विगुणं बुद्धिपूर्वतः ॥ ३ ॥
अभ्यासे त्रिगुणं चैवमत्यन्ताभ्यासतस्तथा ।
चतुर्गुणं बहोः कालात् षडगुणं परिकीर्तितम् ॥ ४ ॥

एतद्वर्षात्पुराज्ञेयं वर्षादूर्ध्वं न निष्कृतिः ॥ ५ ॥
तस्मात्पापं न कर्तव्यं नरैर्नरकभीरुभिः ।
वर्षात्परं तु सामान्यपापाभ्यासात्पतत्यसौ ॥ ६ ॥
तस्मात् त्रिवर्षपर्यन्तं द्विगुणत्रिगुणादिकम् ।
कल्पनीयं प्रयत्नेन प्रायश्चित्तं मनीषिभिः ॥ ७ ॥
ततः परन्तु तद्भावमधिगच्छत्यसंशयः ।

इति श्रीनारायणस्मृतौ प्रायश्चित्तवर्णनं नाम
द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

नानाविधदुस्कृतिनिस्तारोपायवर्णनम्

नारायण उवाच ।

दुर्मांसभक्षणेनैव दुस्संसर्गविशेषतः ।
दुष्कृत्यशतसाहस्रात् दुराचारसहस्रतः ॥ १ ॥
अत्यन्तमलिने काये बहुकालं गतेऽपि च ।
नानाबन्धुविनिन्दाभिस्त्यागादात्मजनैरपि ॥ २ ॥
परैरपि च संत्यागात् धनहान्या विशेषतः ।
अतिनिर्वेदमापन्नः काले बहुदिने गते ॥ ३ ॥
प्रपन्नश्शरणं कश्चित् कथं निष्कृतिरीरिता ।

दुर्वासा उवाच ।

वास्तवाद्वाऽवास्तवाद्वा यः पुमान् शरणं व्रजेत् ॥ ४ ॥

तं त्यजेच्छक्तिमान्सोऽयमाब्रह्म नरके वसेत् ।
शरणागतसंत्राणमवश्यं कार्यमेव हि ॥ ५ ॥
यावत्त्रिवर्षं पतितोऽप्यात्मभावं न मुञ्चति ।
अभ्यासस्यानुसारेण कल्प्यं निष्क्रयणं भवेत् ॥ ६ ॥
आत्मभावविहीनस्स्यादतः परमनातुरः ।
चतुर्थवर्षपर्यन्तं कथंचित्पूर्वनिष्कृतिः ॥ ७ ॥
ततः परं न कर्मार्हः कृतनिष्क्रयणोऽप्ययम् ।
तथाऽपि पापबाहुल्यात् नालं पूर्वोक्तनिष्कृतिः ॥ ८ ॥
द्वितीयाब्दं समारभ्य सप्तमाब्दावधि द्विजः ।
प्राजापत्यद्वयं तस्य नित्यं स्याद्दिनसंख्यया ॥ ९ ॥
सौदर्शिनीं तु संस्थाप्य कलशद्विशतेन तु ।
कूष्माण्डशतहोमेन गणहोमशतेन च ॥१०॥
पाहित्रयोदशानां च होमानां शतसंख्यया ।
तथैव विरजाहोमशतेन जुहुयाच्छुचिः ॥११॥
भूगोगर्भविधानेन पटगर्भविधानतः ।
स्वयं पितावाथान्यो वा जातकर्मादि भावयेत् ॥१२॥
प्राच्योदीच्यांगसहितं प्रायश्चित्तमिदं चरेत् ।
नान्यथा शुद्धिमाप्नोति यथा भुवि सुराघटः ॥१३॥
एवमेव नवाब्दान्तं प्रायश्चित्तविनिर्णयः ।
दशमाब्दं समारभ्य याद्विंशतिवर्षकम् ॥१४॥
अघमर्षणसाहस्रैरब्लिङ्गशतमज्जनैः ।
सहस्रकलशस्नानैः गायत्र्या प्रणवेन च ॥१५॥

ततः पूर्वोक्तहोमैश्च प्राच्योदीच्याङ्गसंयुतां।
पूर्ववन्निष्कृतिं कृत्वा पञ्चगव्यं विशेषतः ॥१६॥
दशदानं भूरिदानं सहस्रब्रह्मभोजनम्।
ततो गङ्गाजले स्नानं सेतुदर्शनमेव वा ॥१७॥
एवं कृते विशुद्धोऽभूत् पूर्ववद्द्विजनन्दनः।
स्वकर्मपरकर्मार्हो भवेदेव न संशयः ॥१८॥
विंशतेर्वर्षतः पश्चात् आर्त्तो वाऽनार्त्त एव वा।
नात्यन्तमलिनस्याहुः प्राजापत्यं महर्षयः ॥१६॥

इति श्रीनारायणस्मृतौ नानाप्रायश्चित्तवर्णननाम
तृतीयोऽध्यायः।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

नारायण उवाच।

योगिनांवर मत्स्वामिन् सर्वज्ञ करुणानिधे।
वदस्व तपतां श्रेष्ठ मयि वात्सल्यगौरवात् ॥ १ ॥
विंशतिवर्षतः पश्चात् अतीवार्तस्समागतः।
निष्कृतिर्न कथं तस्य स्यादित्येवं ब्रवीषि मे ॥ २ ॥

दुर्वासा उवाच।

कोपसंरक्तनयनः कुटिलभ्रूलतायुतः।
स्फुरदोष्ठद्वयोऽतीव विष्फुलिङ्गितलोचनः ॥ ३ ॥

नारायणमिदं प्राहः वाचातिक्रूरया भृशम् ।
किमरे मूढ दुष्टात्मन् उपर्युपरिपृच्छसि ॥ ४ ॥
परिहासो भवेत्किंवा न सहे कोपमुल्बणम् ।
पुनरेवं न प्रष्टव्यं यदि पृच्छसि दुर्मते ॥ ५ ॥
मत्कोपजातकालाग्नौ मूर्द्धा ते व्यपतिष्यति ।
इति ब्रुवन्तं कोपेन दुर्वाससमनन्यधीः ॥ ६ ॥
उत्प्रवेपितसर्वाङ्गो भयविह्वललोचनः ।
पपात पादयोस्तस्य शस्त्रच्छिन्न इव द्रुमः ॥ ७ ॥
ततः करुणया दृष्ट्या दुर्वासास्तु महामुनिः ।
पाणिभ्यां तं समुद्धृत्य ममार्ज मुखमञ्जसा ॥ ८ ॥
ततो धैर्यं समालम्ब्य नारायणमुनौ स्थिते ।
प्रीत्योवाच स तुष्टात्मा नारायणमहामुनिम् ॥ ९ ॥
तात वत्स न भेतव्यं प्रसन्नोऽस्मि तवानघ ।
कुटिलं पृच्छमानं त्वां मत्वा कोपो महानभूत् ॥१०॥
त्वदुक्तिं संपरिज्ञाय मम चित्तं सुनिर्मलम् ।
सञ्जातमिहनिश्शंकं पृच्छ मां यद्यदिच्छसि ॥११॥

इति श्रीनारायणस्मृतौ प्रायश्चित्तवर्णनं नाम
चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

दुष्प्रतिग्रहादिप्रायश्चित्तवर्णनम्

नारायणः उवाच ।

भगवन्मुनिशार्दूल नमस्ते रुद्रमूर्त्तये ।
कालाग्निसदृशप्रख्य कोपनाय नमोनमः ॥ १ ॥
प्रसीद मे महर्षे त्वं पाहि मां शरणागतं ।
न कौटिल्यादहं पृच्छे नाहङ्कारान्महामुने ॥ २ ॥
हिताय सर्वलोकानां पृष्टवानस्मि साम्प्रतम् ।
प्रसन्नो यदि वात्सल्यात् प्रष्टव्यं किंचिदस्ति मे ॥ ३ ॥
कोपो न स्याद्यदि पुनः मामनुज्ञापय प्रभो ।

दुर्वासा उवाच ।

तात मां पितरं विद्धि गुरुमाचार्यमेव वा ॥ ४ ॥
मम कोपः प्रशमितः तव वास्तवदर्शनात् ।
अतस्त्वं भयमुत्सृज्य पृच्छ मां यद्यदिच्छसि ॥ ५ ॥

नारायण उवाच ।

पृच्छन्तं मामतीवार्त्तं उत्तरं दातुमर्हसि ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं नृणाम् ॥ ६ ॥
चिराभ्यस्तमहापापदूषितानां दुरात्मनाम् ।
दुर्देशगमनेनैव दुष्प्रतिग्रहकोटिभिः ॥ ७ ॥
म्लेच्छान्त्यश्वपचस्त्रीभिः संसर्गाच्चिरकालतः ।
अपेयमद्यपानाद्यैर्दुष्टमांसादिभक्षणैः ॥ ८ ॥

आर्त्तानां का गतिर्ब्रह्मन् वदस्व करुणानिधे ।

दुर्वासाः उवाच ।

शृणुष्व सारः पृष्टोऽद्य लोकानां हितकाम्यया ॥ ९ ॥
संग्रहेण प्रवक्ष्येऽद्य सावधानतया शृणु ।
युगेष्वपि च सर्वेषु सत्त्वराजसतामसाः ॥१०॥
नित्यं गुणाः प्रवर्द्धन्ते तत्प्रभावं वदामि ते ।
सत्त्वप्रवर्त्तका भूयः प्रवर्द्धन्ति(न्ते)कृते युगे ॥११॥
सात्त्विकानान्तु वक्ष्यामि गुणानां कृत्यमद्भुतम् ।
स्त्रीपुंसंयोगमात्रेण स्त्रियां गर्भः प्रजायते ॥१२॥
तस्मिन्निविशते जीवः कर्मपाशवशंगतः ।
तस्य प्रवेशकालस्तु सात्त्विको यदि वै भवेत् ॥१३॥
जातमात्रस्य तस्यैव सात्त्विकत्वं भवेद्ध्रुवम् ।
ततः कतिपये काले बुद्धिस्सत्त्वे प्रवर्त्तते ॥१४॥
सत्त्वप्रवर्त्तनात्सोऽयं सत्कृत्यमनुतिष्ठति ।
स्नानं सन्ध्या जपोहोमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम् ॥१५॥
अतिथ्याराधनादीनि प्रवृध्यन्ति (प्रवर्धन्ते) हि नित्यशः ।
नैव पापसमाचारे प्रवृत्तिस्स्यात्कदाचन ॥१६॥
कालधर्मं गते तस्मिन् मुक्तैश्वर्यं भवेद्ध्रुवम् ।
तस्य प्रवेशकालस्तु राजसो यदि वै भवेत् ॥१७॥
रजोगुणपरीतात्मा जायते भुवि मानवः ।
पशुपुत्राद्यन्नकामः कामभोगसुखानि च ॥१८॥

भुक्त्वान्ते दिवमासाद्य स्वर्गादिसुखमेष्यति ।
सोऽयंकालो मिश्रसत्त्वराजसो यदि वै भवेत् ॥१९॥
सत्त्वराजससम्मिश्रो जायते भुवि मानवः ।
भोगासक्तः क्वचित्काले क्वचित्सात्त्विककृत्यवान् ॥२०॥
अन्ते स्वर्गसुखं भुक्त्वा ब्रह्मणा सह मुच्यते ।
तस्य प्रवेशकालस्तु तामसो यदि वै भवेत् ॥२१॥
तमसा मूढचित्तस्तु जायते भुवि मानवः ।
नित्यं कलहकारी च नित्यं द्रोहैकतत्परः ॥२२॥
परदारपरद्रव्यपरिग्रहपरायणः ।
नित्यं पापसमाचारः परत्रेह न शर्मकृत् ॥२३॥
देहान्ते नरकं भुक्त्वा जायते भुवि कुत्सितः ।
कलिस्तु तामसाधारः प्रायेणात्र तु तामसाः ॥२४॥
जनिष्यन्ति विशेषेण सत्त्वोद्रिक्ताः क्वचित्क्वचित् ।
सर्वशक्तिक्षयकरः कलिर्दोषनिधिस्ततः ॥२५॥
तस्माद्व्रतोपवासाद्यं कलौ नैव समाचरेत् ।
प्रत्याम्नायादिरूपेण प्राजापत्यादिकं चरेत् ॥२६॥
द्वितीयवर्षमारभ्य यावद्विंशतिवत्सरम् ।
महापापोपपापादि युक्तस्त्वार्त्तो भवेद्यदि ॥२७॥
पूर्वोक्तहोमसंयुक्तमघमर्षणमेव च ।
सहस्रकलशस्नानमब्लिङ्गशतमज्जनम् ॥२८॥
पञ्चगव्यप्राशनं च सर्वं कृत्वा विशुद्ध्यति ।
एवं यः कुरुते सम्यक् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२९॥

नारायण उवाच ।

सहस्रकलशानां तु स्थापनं कथमुच्यते ।
कथं मण्डलसंस्थानं विस्तरेण वदस्व मे ॥३०॥

दुर्वासा उवाच ।

शृणु मे विस्तरेणेह नारायण महामुने ।
सहस्रकलशानां तु स्थापनस्य विधिक्रमम् ॥३१॥
यच्छ्रुत्वासर्वतापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ।
नद्यास्तीरे तटाकस्य तीरे वा सुमनोहरे ॥३२॥
शालां विशालां विधिवत् षट्त्रिंशत्पदसंमितां ।
षोडशस्तम्भसंयुक्तां प्रपां तत्र प्रकल्पयेत् ॥३३॥
कदलीस्तम्भपूगालिमिश्रितां सुमनोहराम् ।
कृत्वा ततो वितानाद्यैस्तोरणाद्यैश्चभूषयेत् ॥३४॥
चतुरश्रां मध्यदेशे दशपादयुतां भुवम् ।
वेदिकां कल्पयेत्सम्यक चतुरङ्गुलमुन्नताम् ॥३५॥
ईशान्यादि चतुर्दिक्षु तथैव परिकल्पयेत् ।
गोमयेन समालिप्य निम्नोन्नतविवर्जिताम् ॥३६॥
पञ्चम्यगणैरलंकृत्य व्रीहिभारैस्ततस्तरेत् ।
सुधूपितान् सूत्रवस्त्रवेष्टितान् सुमनोहरान् ॥३७॥
कलशान् द्विशतं सम्यक् कलशाक्षतशोभितान् ।
पञ्चत्वक्पल्लवैर्मिश्रान् नालिकेराम्लपल्लवैः ॥३८॥
सुकूर्चैश्च शुचौ देशे स्थापयित्वाऽथ देशिकः ।
पुण्याहवाचनं कृत्वा संप्रोक्ष्य कलशानथ ॥३९॥

एकं कलशमादाय स्थापयेद्व्रीहिमध्यतः ।
परितश्चाष्टकलशान् विरलान् परिकल्पयेत् ॥४०॥
ततो विंशतिसङ्ख्याकान् द्वात्रिंशत्सङ्ख्यकांस्ततः ।
चत्वारिंशच्च कलशान् चक्राकारान्यथाक्रमम् ॥४१॥
ततः शिरःप्रदेशे तु प्राच्यादिचतुरोन्यसेत् ।
मध्ये त्वेकं तु संस्थाप्य पार्श्वयोरुभयोरपि ॥४२॥
कलशत्रितयं दक्षे वामे च कलशत्रयम् ।
चक्रस्य दक्षिणे पार्श्वे कलशानां तु पञ्चकम् ॥४३॥
विन्यस्य मध्यमे त्वेकं तथैकं शिरसि न्यसेत् ।
ततस्त्वधः प्रदेशे तु रेखाद्वयसमाकृतीन् ॥४४॥
कलशान्दश विन्यस्य तथैवोत्तरतश्चरेत् ।
चक्रस्याधः प्रदेशे तु स्थाप्यैकं कलशं ततः ॥४५॥
परितः परिकल्प्याथ कलशान्षड्यथाक्रमम् ।
पार्श्वयोरुभयोस्तद्वत् प्रत्येकं कलशद्वयम् ॥४६॥
अधस्तात्कलशानां तु षट्कस्य त्रितयं तथा ।
अधस्तात्कलशद्वन्द्वं स्थापयेद्द्विजसत्तमः ॥४७॥
एवं कृते भवेत्स्पष्टं साक्षाच्चक्राकृतिः क्रमात् ।
ईशान्यादिचतुर्दिक्षु कल्पयेदेवमेव हि ॥४८॥
पञ्चचक्राकृतिरियं महापापप्रणाशिनी ।
उपपातकदोषघ्नी अतिपातकवारिणी ॥४९॥
दुर्देशगमने चैव दुःस्त्रीसङ्गमे(मके)षु च ।
समुद्रलङ्घने चैव नौयानमवलम्ब्य च ॥५०॥

द्वीपान्तरगतौ चैव चण्डालस्त्रीनिषेवणे ।
सन्ध्यादिकर्मणां चैव श्राद्धादीनां च लोपने ॥५१॥
ब्रह्मघ्नादिसहावासे तुलुष्कादिसमागमे ।
सर्वेषामपि पापानामियमेका हि निष्कृतिः ॥५२॥
भक्त्या परमया युक्त इमां निष्कृतिमाचरेत् ।
पराकमप्यकुर्वाणः पञ्चविंशतिसङ्ख्यया ॥५३॥
तप्तत्रिशतपूर्वं तु भूगर्भं प्रथमं चरेत् ।
गोगर्भं वटगर्भं च सर्वं साङ्गं समाचरेत् ॥५४॥
ब्राह्मः पूर्ववच्छुद्धो जायते स्फटिकोपमः ।
स्वकर्म परकर्मार्हो जायते तदनन्तरम् ॥५५॥

इति श्रीनारायणस्मृतौ विशेषविधानंनाम पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

नारायण उवाच ।

सहस्रकलशस्नानं कथं कार्यं महामुने ।

दुर्वासा उवाच ।

स्वर्णराजतताम्रांश्च मृण्मयान्वा विशेषतः ॥ १ ॥
ससूत्रवस्त्रान् सच्छिद्रान सालङ्कारान्सुधूपितान् ।
सहस्रसङ्ख्यान् कलशान् तण्डुलादिपरिष्कृते ॥ २॥

दिश्यैशान्यां तथाऽऽग्नेय्यां निर्ऋत्यां मरुतो दिशि ।
मध्ये च स्थापयेद्विप्रः कलशान् द्विशतं क्रमात् ॥ ३ ॥
शुद्धोदकैस्समापूर्य नालिकेराम्रपल्लवैः ।
समलङ्कृत्य विधिवत् वरुणं च प्रचेतसम् ॥ ४ ॥
आवाह्यापां पतिं चैव सुरूपिणमथाह्वयेत् ।
नैवेद्यान्तैस्तमभ्यर्च्य ऋत्विग्भिस्सहदेशिकः ॥ ५ ॥
शन्नोदेवीस्त्वापो वा द्रुपदादिव इत्यपि ।
आपोहिष्ठाहिरण्याद्यैर्मन्त्रैस्सम्मन्त्र्य मन्त्रवित् ॥ ६ ॥
गायत्र्या प्रणवेनैव त्ववरोहणमार्गतः ।
सकूर्चैःश्च (?) स्थानं प्रोक्षणमेव वा ।
कारयेत् सर्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

इति श्रीनारायणस्मृतौ सहस्रकलशाभिषेको नाम
षष्ठोऽध्यायः ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

नारायण उवाच ।

कलौ तु कानि कर्माणि वर्ज्यानि परिचक्ष्व मे ।

दुर्वासा उवाच ।

शृणु नारायण ब्रह्मन् सावधानतयाऽद्य मे ॥ १ ॥
कलौ तु पापबाहुल्यात् वर्जनीयानि मानवैः ।
विधवापुनरुद्वाहौ नौयात्रा तु समुद्रतः ॥ २ ॥

आतिश्य (? शासनस) करणार्थं तु मधुपर्कैपशोर्वधः ।
शूद्रान्नभोज्यता विप्रैः तीर्थसेवी च दूरतः ॥ ३ ॥
सर्ववर्णेषु भिक्षूणां भैक्षाचर्यं विधानतः ।
ब्राह्मणादिषु गेहेषु शूद्रस्य पचनक्रिया ॥ ४ ॥
भृग्वग्निपतनं चाष्टौ कर्माण्येतानि वर्जयेत् ।
अवर्जयित्वात्वेतानि शास्त्रोक्तमिति बुद्धितः ॥ ५ ॥
कलौ युगे विशेषेण पतितस्स्यान्न संशयः ।
कृतादौ तु महीपालो वेनो नाम नृपोत्तमः ॥ ६ ॥
शशास पृथिवीं सर्वां सकुलाद्रिमहार्णवाम् ।
दुरात्मा स तु कृत्येन ब्राह्मणानन्वशासत ॥ ७ ॥
यूयमद्यप्रभृति वै समुद्रे यानमार्गतः ।
द्वीपाद्द्वीपान्तरं गत्वा कुरुध्वं सर्वविक्रयम् ॥ ८ ॥
विधवापुनरुद्वाहं यथेच्छं न विचारणा ।
पशुभक्षमातिथ्यव्याजेनाचरथ द्विजाः ॥ ९ ॥
गृहे पचन्तु युष्माकं शूद्राःश्राद्धेऽपि नित्यशः ।
तीर्थसेवाव्याजमात्रात् त्यजध्वं श्रौतकर्म च ॥१०॥
यतयस्सर्ववर्णेषु भिक्षां कुर्वन्तु कामतः ।
ब्राह्मणाश्शूद्रगेहेषु भुञ्जन्तु च यथेच्छया ॥११॥
कालासहिष्णवो वृद्धाः भृगुपातं चरन्तु भोः ।
यो मच्छासनमत्युग्रमन्यथाकर्तुमिच्छति ॥१२॥
असिना तीक्ष्णधारेण वध्य एव न संशयः ।
इति वेन वचश्श्रुत्वा पर्यतप्यन्त पीडिताः ॥१३॥

शप्तो यदि भवेदेष राज्यं भूयादनायकम् ।
अशप्तश्चेद्भवेत्पीडा कथं कार्यमितः परम् ॥१४॥
इति चिन्त्य (?) महात्मानः सङ्घीभूय सभान्तरे ।
वेनं महीपतिं ब्रूयुः विप्राः प्राणपरीप्सवः ॥१५॥
भो भो वेन महीपाल किमर्थं नः प्रबाधसे ।
अशास्त्रीयानिमान् कृत्वाऽमहर्षिकथितान् प्रभो ॥१६॥
निपातयसि नो घोरे निरये किं फलं तव ।
ऋषिभाषितमेवाद्य करिष्यामो महीपते ॥१७॥
नान्यत् किञ्चित् करिष्यामः प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
एतच्छ्रुत्वाऽथ भूपालो वैनः क्रोधपरिप्लुतः ॥१८॥
अष्टादशसहस्रं तु ऋषीनानाय्य सत्वरम् ।
स्तम्भेषु पङ्क्तिशो बद्ध्वा केशैरभिहनत्स्वयं ॥१९॥
तेन संपीड्यमानास्ते घोषयांचक्रिरे नृपम् ।
भो भो राजन् महीपाल किमर्थं नः प्रबाधसे ॥२०॥

॥ वेनउवाच ॥

अमनोरञ्जकान्यद्य शास्त्राणि (रचितानि) हि ।
रञ्जकान्येव सर्वेषु वदध्वं तत्प्रियं मम ॥२१॥
नानादेशेषु विप्राद्याः नौयानात्प्रचरन्तु भोः ।
विधवापुनरुद्वाहं चरन्तु पृथिवीतले ॥२२॥
प्रचरन्तु पशोर्हिंसां मधुपर्के द्विजातयः ।
शूद्रगेहेषु भुंजन्तु द्विजगेहे पचन्तु ते ॥२३॥

भिक्षवस्सर्ववर्णेषु भैक्षाचर्यं चरन्तु च ।
दीर्घकालासहा वृद्धाश्चरन्तु भृगुपातनम् ॥२४॥
काममग्नीन् परित्यज्य तीर्थसेवां चरन्तु च ।
इत्याकर्ण्य च तद्वाक्यं वेपमाना महर्षयः ॥२५॥
नौयात्राद्यं त्वष्टकर्मह्यनुजानन्ति दुःखिताः ।
ततो विसृज्य भूपालो महर्षीनमितौजसः ॥२६॥
शशास पूर्ववत् पृथ्वीं परिपूर्णमनोरथः ।
ततः प्रभृति विप्राद्याः नौयात्राद्यष्टकर्मणि ॥२७॥
प्रवृत्ता ऋषिवाक्येन धर्मबुद्ध्या च मोहिताः ।
युगत्रयेषु यातेषु ततः प्राप्ते कलौ युगे ॥२८॥
बदरीवनमासाद्य सङ्घीभूय महर्षयः ।
विचिन्त्य विधियोगेन कृत्यान्येतान्यवारयन् ॥२९॥
तस्मात् कलौ त्विमान् धर्मान् वर्ज्यानाहुर्महर्षयः ।
कलौयुगे तु संप्राप्ते नौयात्रादि करोति यः ॥३०॥
पतित्वा निरये घोरे दुःखमेति महत्तरम् ।
तस्मादिमान् कलौधर्मान् वर्ज्यानाहुर्महर्षयः ॥३१॥
इमान् कृत्वा कलियुगे निष्कृतिर्न विधीयते ।
यदि निष्कृतिमापन्नः सेतुस्नानादिना कश्चित् ॥३२॥
तथाऽपि न परिग्राह्यः पापबाहुल्यकं यतः ।
किमन्यच्छ्रोतु कामोऽसि वदस्व द्विजनन्दन ॥३३॥

इति श्रीनारायणस्मृतौ नौयात्राद्यष्टकर्मणांनिषेधोनाम सप्तमोऽध्यायः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

अष्टनिषिद्धकर्मणां प्रायश्चित्तवर्णनम्

नारायण उवाच ।

भो भो ब्रह्मन् वदस्वाद्य विस्तरेण ममाधुना ।
अबुद्ध्या बुद्धिपूर्वं वा कलिवर्ज्यानिमान्द्विजः ॥ १ ॥
कृत्वा ततः परंभूयः पश्चात्पापपरायणः ।
शरणं यदि संप्राप्तः कथं निष्कृतिरुच्यते ॥ २ ॥
केनैव विधिना सम्यग् बन्धुमध्ये प्रवेशनम् ।
किं कृत्वा मुच्यते पापात् कथं कर्मार्हता भवेत् ॥ ३ ॥
एतदाचक्ष्व भगवन् संशयो जायते महान् ।

दुर्वासा उवाच ।

शृणु नारायण श्रीमन् गदतो मम विस्तरात् ॥ ४ ॥
गङ्गास्नानं वर्षमात्रं मासं सेतुनिमज्जनम् ।
साङ्गं च विधिवत्कृत्वा व्यवहार्यो भवेदिह ॥ ५ ॥
भवेत्स्वकर्ममात्रस्य भविता त्वर्हता द्विज ।
परकर्मणि नैवार्हः भवेदेव न संशयः ॥ ६ ॥
तस्मादिमान् कलियुगे वर्ज्यानष्टौ ब्रुवन्ति हि ।
असाध्यत्वात्कलौ काले द्रव्यव्ययविशेषतः ॥ ७ ॥
यदि सर्वस्वदानेन चित्तं चरितुमिच्छति ।
तदाऽसौ सर्वकर्मार्हो भवेदेव न संशयः ॥ ८ ॥

तदद्य तव वक्ष्यामि रहस्यमिदमुत्तमम् ।
यदा प्रवृत्तस्त्वेतस्मिन् तद्दिनं परिगण्य च ॥ ६ ॥
चान्द्रायणद्वयं नित्यं कर्तव्यमविशङ्कया ।
पूर्वोत्तराङ्गसंयुक्तं अब्लिङ्गशतमन्त्रितम् ॥१०॥
सहस्रकलशस्नानं पञ्चवारुणहोमकम् ।
कूश्मा(ष्म)ण्डगणहोमानां शतं पाहि त्रयोदशैः ॥११॥
शतं तु विरजाहोमं गायत्रीशतहोमकम् ।
तिलहोमसहस्रैश्च गर्भं च वटभूगवाम् ॥१२॥
मज्जनं गोमयह्रदे गोदानं द्वादशाचरेत् ।
दशदानं भूरिदानं सहस्रब्रह्मभोजनम् ॥१३॥
एवमादि यथाशास्त्रं धनव्ययमचिन्त्य तु ।
सन्तुष्टचित्तः कृत्वा (सततं)शुद्धिमाप्नोत्यसंशयः ॥१४॥
स्वकर्मपरकामार्हो भवेदेव न संशयः ।

इति श्रीनारायणस्मृतौ कलावष्टविधवर्ज्यकर्म प्रायश्चित्तवर्णनंनाम अष्टमोऽध्यायः ।

अथ नवमोऽध्यायः

धनहीनाय प्रायश्चित्तवर्णनम्

नारायण उवाच ।

भगवन् सर्वधर्मज्ञ शरणागतवत्सल ।
अकिञ्चनानामार्त्तानां कलिवर्ज्यकृतां नृणाम् ॥ १ ॥
कथं निष्कृतिरादिष्टा वद मे शिष्यवत्सल ।

दुर्वासा उवाच ।

तात ते कथयाम्यद्य शृणु वात्सल्यगौरवात् ॥ २ ॥
अत्यन्तार्त्तो यदि ब्रह्मन् अधनः कलिवर्ज्यकृत् ।
शरणं यदि संप्राप्तः प्रायश्चित्तमिदं वदेत् ॥ ३ ॥
सशिखं वपनं कृत्वा नित्यकर्मपरायणः ।
पुण्यतीर्थे ह्रदे वाऽपि पुष्करिण्यामथाऽपिवा ॥ ४ ॥
आकण्ठजलसम्मग्नः प्राङ्मुखस्त्वघमर्षणम् ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय जप्त्वा स्नानं समाचरेत् ॥ ५ ॥
पुनर्जप्त्वा पुनस्स्नात्वा पुनजपमथाचरेत् ।
एवं मध्याह्नपर्यन्तं प्राङ्मुखस्स्नानमाचरेत् ॥ ६ ॥
माध्याह्निकं ततः कृत्वा समाराध्येष्टदेवताम् ।
ततः प्रत्यङ्मुखो भूत्वा पूर्ववत्स्नानमाचरेत् ॥ ७ ॥
सायाह्ने समनुप्राप्ते तटमुत्तीर्य वाग्यतः ।
न संमृजेच्छरीराणि वाससा वाऽपिपाणिना ॥ ८ ॥

फलाष्टकप्रमाणेन तण्डुलेनहृतिः पचेत् ।
गोमूत्रे विनिवेद्यैव हरये परमात्मने ॥ ९ ॥
तदेव भुक्त्वा सायाह्ने स्वपेद्वै दक्षिणाशिरः ।
एवं षण्मासकृद्विप्रः पूर्ववत्च्छुद्धिमाप्नुयात् ॥१०॥
ततो गङ्गाजले स्नात्वा सेतुदर्शनमेव वा ।
कृत्वा ततः पुनः कर्म कृत्वा शुद्धिमवाप्नुयात् ॥११॥
स्वकर्मपरकर्मार्हो भवेदेव न संशयः ।
एवं सम्यक् समादिष्टं श्रुत्वा नारायणो मुनिः ॥१२॥
विच्छिन्नसंशयो भूत्वा परमानन्दनिर्भरः ।
मेरुपृष्ठमुपागम्य तपश्चर्तुं ययौ मुनिः ॥१३॥

इति श्रीनारायणस्मृतौ कलौवर्ज्यकर्मप्रायश्चित्तवर्णनंनाम
नवमोऽध्यायः ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

* शाण्डिल्यस्मृति *

अथ प्रथमोऽध्यायः

श्रीमत्तोदगिरेर्मूद्ध्नि श्रीमत्यायतने हरेः ।
शाण्डिल्यऋषिमासीनं प्रणम्य मुनयोऽब्रुवन् ॥ १ ॥
श्रीमदेकायनं शास्त्रं श्रुतं गुह्यं सनातनम् ।
ज्ञातं च सर्ववेदानां अन्तस्सारमिदंत्विति ॥ २ ॥
निवृत्तं वैदिकं कर्म यत्प्रोक्तं भवभेषजम् ।
पञ्चकालात्मकं ज्ञानं तच्च ब्रह्मैकदैवतम् ॥ ३ ॥
कुटुम्बाश्रमनिष्ठानां पञ्चकालनिषेविणाम् ।
आचारं त्वन्मुखाम्भोजाच्छ्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ४ ॥
शाण्डिल्योऽपि नमस्कृत्य मङ्गलायतनं हरिम् ।
अब्रवीत्समुनिश्रेष्ठान् श्रेष्ठकर्मा महामुनिः ॥ ५ ॥
बहुशः पूर्वमेवायं समाचारो मयेरितः ।
पदार्थानधिकृत्यैव शास्त्रे सप्त संस्थितान् ॥ ६ ॥
महाविस्तररूपोऽयमाचारः पञ्चकालिनाम् ।
संक्षेपात्प्रब्रवीम्यद्य यथाशास्त्रं यथामति ॥ ७ ॥

रहस्यमेतद्विज्ञानं भक्तानां हितमेव च ।
अतः प्रमाणं भक्तानां सारं सर्वागमेषु च ॥ ८ ॥
कुटुम्वाश्रममाश्रित्य तथा कालक्रमेण च ।
वक्ष्याम्येव समाचारान् मुख्यास्ते हि कुटुम्बिनः ॥ ९ ॥
आचारं मंगलोपेतं संक्षेपात्प्रब्रवीमि वः ।
अनन्यमनसस्सर्वे शृणुध्वं मुनिपुङ्गवाः ॥१०॥
पञ्चेन्द्रियस्य देहस्य बुद्धेश्च मनसस्तथा ।
द्रव्यदेशक्रियाणां च शुद्धिराचार इष्यते ॥११॥
वक्ष्यमाणस्य सूत्रं हि स्तोके श्लोकोऽयमीरितः ।
संक्षेपविस्तराभ्यां च व्याख्यानमिदमुच्यते ॥१२॥
प्रतिषिद्धेष्वसक्तं हि यत्सक्तं शुद्धेषु साधुषु ।
भगवद्विषयेष्वेव शुद्धं तच्छ्रोत्रमुच्यते ॥१३॥
स्पृश्यमस्पृशन्त्येवास्पृश्यं स्पृश्यमेव च ।
तत्राप्यलोलुपा सद्भिः स्त्वक्शुद्धेति निगद्यते ॥१४॥
पाषण्डपतिताद्येषु न पतन्ति कदाचन ।
अरूक्षा संपतंती दृक्शुद्धा भागवतादिषु ॥१५॥
भोज्यानेव रसान्नस्याज्ञात्यन्द्ध च पलारसे ।
काले मितं तु सा जिह्वा परिशुद्धेतिकीर्त्यते ॥१६॥
अमेध्य गन्धादाक्षिप्ता मेध्यगन्धेषु योजिता ।
युक्तेष्वलोलुपानासा सेह शुद्धेति कीर्त्यते ॥१७॥
द्विविधा देहशुद्धिश्च कर्मेन्द्रियवशात्तथा ।
सर्वाङ्गीणा च तद्युग्मं विविध्याद्यानुमन्यते ॥१८॥

परापवादं पारुष्यं विवादमनृतं तथा ।
अतिबन्धप्रलापं च निजपूजानुवर्णनम् ॥१९॥
असह्यं मर्मवचनं आक्षेपवचनं तथा ।
असच्छास्त्रानुपठनमसद्भिस्सह भाषणम् ॥२०॥
इत्यादि दुर्वचो हित्वा स्वाध्यायजपतत्पराः ।
मोक्षधर्मार्थपठने निरता प्रियवादिता ॥२१॥
सत्यैः परहितैस्सार्थैर्जप्तैर्लक्षणसङ्गतैः ।
युक्ताक्षरैस्सुपूता वाङ्मौनरत्नेन मुद्रिता ॥२२॥
केशकेटानुसरणा नखरोमावकृन्तनम् ।
तृणमृच्छेदनं वृक्षगुल्मानां छेदनं तथा ॥२३॥
स्त्रीबालवृद्धातुराणामन्येषां ताडनं क्रुधा ।
परदारपरद्रव्यपरामर्शं त्वकामतः ॥२४॥
अङ्गुल्यास्फोटनं लीला पाणितालादि हेलनम् ।
तर्जनं चैवमादीनि बहिष्कार्या शुभानि वै ॥२५॥
अभ्यञ्जनादिव्यापारे युक्तः पित्रोर्गुरोस्तथा ।
धारकः पुण्यशीलानां वृद्धानां रोगिणामपि ॥२६॥
अर्थिनामिष्टदानेन सर्वदार्द्रीकृताङ्गुलिः ।
मल्लिकाजातितुलसीवर्द्धनादवकुण्ठितः ॥२७॥
भगवन्मन्दिरे नित्यं मार्जनादिक्रियापरः ।
अलङ्कारादिकरणे कुशलश्च जगद्गुरोः ॥२८॥
भगवत्पादपूजायां चरन् तालवने तथा ।
प्रसक्तश्शुभशास्त्राणां संस्कारादिक्रियापरः ॥२९॥

जपसङ्ख्यानुगणनव्यापारेण पवित्रतः ।
युक्तस्तथा शुभैरन्यैश्शुद्धः पाणितलो मतः ॥३०॥
भगवन्मन्दिरं वृद्धान् पूज्यानन्यांश्च मङ्गलान् ।
प्रतिप्रसारणं मोहान् भूमिघातं पलायनम् ॥३१॥
सर्वोपकरणानां च सर्वेषां प्राणिनां तथा ।
स्पर्शनं लङ्घनं चापि तथान्या अपि दुष्क्रियाः ॥३२॥
विसृज्य भगवत्कर्म सिद्ध्यर्थं गमने रतम् ।
तथा भागवतस्यार्था सिद्ध्यर्थं च विशेषतः ॥३३॥
प्रदक्षिणक्रियासक्तः तीर्थयात्रापरं तथा ।
दर्शनार्थं तथा नित्यं कर्मवानुभवाय च ॥३४॥
दिव्यायतनयात्रायामभियुक्तं मृदुक्रमम् ।
महाभागवतानां च करसंस्पर्शवर्जितम् ॥३५॥
सद्भक्तानामनन्यानां पूजार्थं दर्शनाय च ।
सत्वरं चैवमादीनि कुर्वन् पादद्वयं शुभम् ॥३६॥
उच्चारं ध्वंसनं कुर्वन् कालएव च नान्यथा ।
गुप्तं च सर्वदा शुद्धं पायुस्थानं विदुर्बुधाः ॥३७॥
काले निजस्त्रीसंसर्गरसयोगानुवृत्तिमान् ।
अन्यदानुद्धृणं गुप्तमुपस्थं शुद्धमूत्रितम् ॥३८॥
शिरःकण्ठाक्षिनासादिमलनिर्हरणेऽनया ।
शुद्धिर्देहस्य सा सद्भिस्सर्वाङ्गीणेति कीर्त्यते ॥३९॥
धर्महानिर्न कर्त्तव्या कर्तव्यो धर्म सङ्ग्रहः ।
धर्माधर्मौ हि सर्वेषां सुखदुःखोपपातकौ ॥४०॥

इदमेव तु सच्छास्त्रमयं धर्मःसनातनः।
अन्यानि सर्वशास्त्राणि मोहनानि क्रियास्तथा ॥४१॥
भ्रमन्ति सर्वभूतानि न च गच्छन्ति सत्पथम्।
तामसं राजसं चान्यमेतत्सात्त्विकमुच्यते ॥४२॥
इदं हेयमिदं हेयमुपादेयमिदं परम्।
एवमुक्तं पुराणेषु वेदेषूपनिषत्स्वपि ॥४३॥
एवं साधुभिराचीर्णमेवमन्याप्यकारिभिः।
साक्षाद्ब्रह्म परं धाम सर्वकारणमव्ययम् ॥४४॥
देवकीपुत्र एवान्ये सर्वे तत्कार्यकारिणः।
देवा मनुष्याः पशवः मृगपक्षिसरीसृपाः ॥४५॥
सर्वमेतज्जगद्धातुर्वासुदेवस्य विस्तृतिः।
प्रवृत्तैश्च निवृत्तैश्च स्वर्गदैर्मोक्षदैरपि ॥४६॥
आराध्यो भगवानेव वेदधर्मैस्सनातनैः।
स एव सर्वथोपास्यो नान्ये संसारतारणाः ॥४७॥
उभाभ्यां ज्ञानकर्मभ्यां आराध्यो भगवान् प्रभुः।
तज्ज्ञानमेव विज्ञानं तत्कर्म परमं शुभम् ॥४८॥
उभावपि विभक्तौ तौ न तु संप्राप्तिकारकौ।
युक्ताभ्यां भगवत्प्राप्तिः संसारफलमन्यथा ॥४९॥
तच्छास्त्रमेव सच्छात्रं तदीया एव पण्डिताः।
शोच्या हि भगवत्पादपरिचर्याविधिं विना ॥५०॥
कृतकृत्यधियो मूढाः अहो हतमिदं जगत्।
इत्यादिसात्त्विकज्ञाननिश्चयेन दृढीकृताः ॥५१॥

अमेधा परमा बुद्धिश्शुद्धेति परिकीर्त्यते ।
परदारपरद्रव्यपरहिंसानुचिन्तनम् ॥५२॥
वैरानुबन्धनं चैर्षमलभ्यस्थानुचिन्तनम् ।
सुदूरं बहुधायातं भोक्तव्यमितिचिन्तनम् ॥५३॥
असत्कथानुसरणमसत्कार्यनिरूपणम् ।
इत्यादिदोषरूपाणि हित्वा कर्मणि निश्चलम् ॥५४॥
भगवत्कर्मसिद्ध्यर्थं व्यापृतं भगवत्परम् ।
अविषण्णमनायस्तमहङ्कारविवर्जितम् ॥५५॥
असद्विषयसक्तानामिन्द्रियाणामहर्निशम् ।
दमकं सर्वयत्नेन बाह्यारंभं विनिस्स्पृहम् ॥५६॥
सर्वदा भगवद्ध्यानं संसर्गविगतज्वरम् ।
भगवद्भक्तसद्वाक्यगङ्गाजलपवित्रितम् ॥५७॥
सदर्थग्राहकं सूक्ष्मज्ञानरूपविचारकम् ।
समर्थमप्रधृष्यं च धृष्टं तुष्टमसङ्गि च ॥५८॥
एवमादिगुणोपेतं निर्मलं मन इष्यते ।
इन्द्रियाणां सदेहानां बुद्धेश्चमनसस्तथा ॥५९॥
आख्याता शुद्धिरेषाऽत्र द्रव्याणामधुनोच्यते ।
इच्छया देवदेवस्य प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका ॥६०॥
जगत्करणभूतान्ता विद्येत्याहुर्मनीषिणः ।
तद्विकारं जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥६१॥
तस्याः स्वरूपं सत्त्वं तत् तद्दोषावितरौ गुणौ ।
अतएव विकारोऽयमभवत् त्रिगुणात्मकः ॥६२॥

विद्यायाः पञ्चभूतानि जायन्ते प्रकृतेः किल ।
पञ्चभूतान्यधिष्ठाय वर्ज(र्त)येच्छास्त्रवर्त्मना ॥६३॥
राजसं तामसं चैव तज्ज्ञेयं पण्डितैर्वरैः ।
द्रव्यं रजस्तमोध्वस्तं वैष्णवैः कर्मवर्त्मनि ॥६४॥
संयोजयति यो मोहात् तस्य साऽपि फलक्रियाः ।
स्वयं तदश्नीयात् निषिद्धां मुग्धचेतनः ॥६५॥
अजानन् हृदयान्तःस्थं भोक्तारं न स सात्त्विकः ।
यादृशं द्रव्यमश्नाति तामसं सात्त्विकं तु वा ॥६६॥
तादृशं रूपमाप्नोति ततः क्षमेति (भवे) त्तथा ।
विशुद्धं भोज्यमुद्दिष्टं अचोष्यैव कर्म सः ॥६७॥
यद्यश्नाति स्वयं मोहात् साक्षात्स्तेनः स पापकृत् ।
निषिद्धवस्तुतद्रौद्रं रक्षाप्रेतादिसम्मतम् ॥६८॥
साक्षाद्द्रव्यविशुद्धं यत् सात्त्विकं सद्गुणोज्ज्वलम् ।
निषिद्धवर्जनादेव वर्द्धते सात्त्विकं परम् ॥६९॥
सात्त्विकस्य विशुद्धयैव ज्ञानं भवति निर्मलम् ।
शास्त्रदृष्टिं समीक्ष्यैव शुद्धानां द्रव्यसम्पदम् ॥७०॥
यत्नस्तु सङ्ग्रहे सद्भिः द्रव्यशुद्धिरपीष्यते ।
वक्ष्यामि देशशुद्धिं च संक्षेपेण यथागमम् ॥७१॥
या सन्ना(ता)मुपकाराय भवेत्सद्गतिकाङ्क्षिणाम् ।
म्लेच्छपाषण्डरहितधार्मिकेश्वरपाठितम् ॥७२॥
धार्मिकैस्सेवितं शश्वद् व्याघ्रसिंहादि वर्जितम् ।
निहन्तृदस्युरहितं सारंगशिखिसेवितम् ॥७३॥

मोक्षभूमिरितिख्यातमलाभे साधुसम्मतम् ।
दिव्यापगा देवखातवाप्यादिविमलोदकम् ॥७४॥
प्रभूतकदलीचूतनालिकेरादिमण्डितम् ।
सुसमृद्धसमित्काष्ठसम्पन्नकुसुमोदकम् ॥७५॥
आसन्नधोजलं रूढपलाशतुलसीकुशम् ।
गोसहस्रसमाकीर्णं सपुष्पं सोत्पलाम्बुजम् ॥७६॥
एवमादिगुणोपेतं भूतलं यदि लभ्यते ।
विविक्तदेशभूभागे दृष्टदोषविवर्जिते ॥७७॥
प्रासादं पर्णशालां वा कृत्वा निजबलान्वितम् ।
अविस्मृतमनिर्बाधं परितोऽपि मनोहरम् ॥७८॥
तत्राप्युच्छिष्टमूत्रासृक् केशकीटादिवर्जितम् ।
करीषमृज्जलालिप्ते काष्ठताम्रेण चेतसः ॥७९॥
संप्रीतिजनके स्थित्वा भूतले भगवत्क्रिया ।
कर्त्तव्यमिति यत्नेन या शुद्धिर्भूतिगोचरा ॥८०
देहाशुद्धिरितिख्याता सेयं सच्छास्त्रवर्त्मनि ।
अनार्यजनसंरोधवीक्षणादितिवर्जितम् ॥८१॥
श्रद्धातिरेकसंयुक्त दम्भलोभविवर्जितम् ।
आत्मार्थं त्यक्तसंसिद्धि रूपालोकन तत्परम् ॥८२॥
अचञ्चला विषण्णान्तः करणायत्प्रीति संयुतम् ।
संकल्पपूर्वकं ध्येयं पदाब्जन्यास योगि च ॥८३॥
द्रव्यमन्त्रे च मन्त्रेषु समाहितमहामति ।
गुप्तसंसाररहितं शुद्धमौनमवितथम् ॥८४॥

पूर्वमन्त्राक्षरं मन्त्रन्तु लयरूपसमाप्ति च ।
रसाद्युत्सृष्टविषये भोगमोक्षमहासुखम् ॥८५॥
एवमादिगुणोपेतं भक्तिज्ञानोज्ज्वलं कृतम् ।
इष्टमन्त्रेण द्रव्यं च परमं कर्म मङ्गलम् ॥८६॥
देहेन्द्रियान्तःकरणबुद्धिभूम्यर्थसिद्धिकृत् ।
अत्रोक्तलक्षणोपेतकर्मभागमतः परम् ॥८७॥
सप्तसंशुद्धिसंयुक्ता परिपूर्णा भवेत्क्रिया ।
सप्तैते विमला भावा श्रद्धावान् प्रारभेत्क्रियाम् ॥८८॥
आधानादतिशुद्धा भा संस्कारैः पञ्चकालिनाम् ।
कुर्याद् ब्राह्मण एवैतन् त्रैविद्यो वा विशुद्धधीः ॥८९॥
श्रद्धावान् भगवद्धर्मे रागादिरहितेन्द्रियः ।
ब्राह्मणः पूजयेन्नित्यं पञ्चकालपरायणान् ॥९०॥
वस्त्रगोभूमिदानेन धनधान्यादिभिस्तथा ।
तोषयेत्परया भक्त्या नित्यं भागवतान्नरान् ॥९१॥
सिद्धिर्भवति वा नेति संशयोऽच्युतसेविनाम् ।
न संशयोऽत्र तद्भक्तपरिचर्यारतात्मनाम् ॥९२॥
केवलं भगवत्पादसेवया विमलं मनः ।
नरायते यथा नित्यं सद्भक्तचरणार्चनात् ॥९३॥
विशिष्टकुलसंजातसंस्कारैस्संस्कृतो निजैः ।
त्वर्दितो यदि सिद्धिर्मे चरेत्कृच्छ्राणि दान्तधीः ॥९४॥
तपश्चर्तुमशक्तश्चेद् धनवान्दानमाचरेत् ।
उभयोरप्यशक्तस्सन् नामसंकीर्तनं चरेत् ॥९५॥

यथाशक्ति तपः कृत्वा दत्त्वा चैव यथाबलम् ।
तथाऽहमास्थि(तो)ध्यात्वा जपेत्सर्वाघशान्तये ॥९६॥
उपवासात्तथादानात् सद्भक्तानां च सेवनात् ।
सङ्कीर्तनाज्जपात्तापाच्छ्रद्धया शुद्धिमृच्छति ॥९७॥
उपासीत निरस्तोऽपि पञ्चकालपरायणान् ।
यदीच्छेद्भगवद्धर्मं सेवया भवशान्तये ॥९८॥
पूर्वोक्ताचारसम्पन्नं युवानं गृहमेधिनम् ।
उत्तमैर्वृद्धसख्यं च भवसेवाविवर्जितम् ॥९९॥
प्रख्यातशुद्धचरितं सद्ब्रह्मैकपरायणम् ।
भगवद्धर्मसंयुक्तमर्थसन्देहनोदकम् ॥१००॥
प्रतिपादनसामर्थ्यं युक्तवत्पुत्रपातिकम् ।
उदारं भक्तिविवशं वशीकृतजगज्जनम् ॥१०१॥
हृद्यवाक्यं कृतज्ञं च दयार्द्रीकृतमानसम् ।
अशूद्रशिष्यश्शूद्राणां ज्ञानदानेष्वनाहतम् ॥१०२॥
अक्रोधनमनुत्सिक्तमतिषण्णं विपत्स्वपि ।
भगवद्भक्तियुक्तेषु दृष्टमात्रेण सुप्रियम् ॥१०३॥
साधूनामुपकाराय व्यापृतं क्लेशवर्जितम् ।
ज(अ)न्यू(न्तू)नानन्तरक्ताङ्गं विषयग्राहकेन्द्रियम् ॥१०४॥
सौम्यवेषप्रशान्तं च पापरोगविवर्जितम् ।
अदुर्बलाङ्गमाख्येयं अक्तेहन्नातिमानिनम् ॥१०५॥
शिष्याणां सङ्ग्रहादेव प्रतिष्ठापनकर्मणि ।
शान्तिके पौष्टिके भीतं गुरुशुश्रूषणे रतम् ॥१०६॥

एवमादिगुणोपेतमाचार्यं वरयेद्द्विजः ।
आचार्यचित्तानुगुणं सिद्धान्तानुगुणा प्रिया ॥१०७॥
अन्यत्र शृणुयाज्ज्ञेयमनुज्ञाप्यैव जीवति ।
यस्मिन् परमविद्यायानघं सिद्धिरबोधतः ॥१०८॥
गुरोर्वाऽप्यन्यतो ग्राह्या परा विद्या गुणान्वितान् ।
परिशुद्धकुलोद्भूतं विशुद्धाचारतत्परम् ॥१०९॥
विरतं च महापापात् पितृदारादिपालकम् ।
दान्तं शान्तं मृदुं सौम्यं प्रणतं भगवत्परम् ॥११०॥
सन्तप्तहृदयं भक्त्या शक्त्या सर्वार्थसाधकम् ।
विप्रवाक्यं महाबुद्धिं सत्यं कुशलपाणिकम् ११११॥
एवमादिगुणोपेतं शिष्यभावेन संगतम् ।
संवत्सरं तदर्द्धं वा मासत्रयमथापिवा ॥११२॥
परीक्ष्य विविधोपायैः कृपया निःस्पृहो भवेत् ।
ब्रह्मविद्याप्रदानस्य देवैरपि न शक्यते ॥११३॥
प्रतिप्रदानमपि वा दद्यात् शक्तित आदरात् ।
न प्रमाद्येद् गुरोश्शिष्यो वाङ्मनःकायकर्मभिः ॥११४॥
अपि भक्त्यात्मनाचार्यं वर्त्तेतास्मिन्यथोच्यते ।
आक्रोशकं दुष्टभावं पिशुनं सत्त्वरक्रियम् ॥११५॥
स्वार्थैकसाधकं लुब्धमलसं सर्वकर्मसु ।
विचारपरिवादाद्यैर्बहुभापितमुद्धतम् ॥११६॥
परावमानिनं सर्वश्रेष्ठं वा परिवर्जयेत् ।
मूढैः पापरतैः क्रूरैः सदागमपराङ्मुखैः ॥११७॥

संबन्धं नाचरेद्भक्ति र्नश्यते तैस्तु सङ्गमे ।
भगवत्कथानिरतैस्स्तोत्रपूजाजपादिभिः ॥११८॥
अव्रतग्राहकैस्त्यक्तविवादाज्ञाभवर्जितैः ।
सुशीलैस्स्नानशीलैश्च बाह्यान्तस्तुल्यवेष्टितैः ॥११९॥
हृद्यवेषैर्विशुद्धान्तै भगवद्गुणमेलनैः ।
सत्यवाग्भिर्दयासारै स्सदा संगं वसेद्बुधः ॥१२०॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
कृपया श्रमिणस्सर्वे धर्मं ब्रूयुस्स्वराङ्गने ॥१२१॥
गृहस्थो वाऽपि सर्वेभ्यो धर्मं ब्रूयान्महामतिः ।
परिव्राडपि वा ब्रूयात् सर्वश्रेष्ठो गृहाश्रमी ॥१२२॥

इति श्री शाण्डिलय धर्मशास्त्रे भगवत्पूजाविधिवर्णनं नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथ प्रातःकृत्यवर्णनम्

ऋषय ऊचुः ।

स्नानं प्रधानं भक्तानां सम्यक् शुद्ध्युपपादकम् ।
श्रोतुकामा विधिं तस्य सहाभिगमनेन च ॥ १ ॥

मुनिरुवाच ।

सहाभिगमनेनैव प्रातःकालानुयायिना ।
वक्ष्यामि योगादूर्ध्वं यत् कर्तव्यं स्नानपूर्वकम् ॥ २ ॥
उच्चैस्स्वरेण योगान्ते स्तुत्वा स्तोत्रैरनन्यधीः ।
वासुदेवादिदिव्यानां नाम्नां संकीर्तनं चरेत् ॥ ३ ॥
प्रादुर्भावगुणं चापि संस्मरेत्तत्सर्वसिद्धये ।
कीर्तयेत्तद्गुणान्भक्त्या परमाद्भुतचेष्टितान् ॥ ४ ॥
अतन्द्रितस्य स्वाध्याये योगे युक्तात्मनस्सदा ।
सद्भक्त्या स्विन्नदेहस्स्यावश्यं नाम(ानु)कीर्त्तनम् ॥५॥
आदाय वस्त्रदण्डादि गृहीत्वा च कमण्डलुम् ।
प्रवृत्तच्छन्नमूर्द्धा च कर्मारंभपरो व्रजेत् ॥ ६ ॥
ग्रामाद्बहिर्विनिर्गत्य विसृजेत्सहचारिणः ।
अपरिग्रहदेशेषु कुर्यान्मलविसर्जनम् ॥ ७ ॥
मेहने मैथुने स्नाने भोजने दन्तधावने ।
इज्यया सह होमे च जपेन्मौनं समाचरेत् ॥ ८ ॥
स्वदक्षिणश्रुतिन्यस्य ब्रह्मसूत्रस्समाहितः ।
न श्मशाने न कृष्टेषु न मार्गे न च भस्मनि ॥ ६ ॥
नोपरे न च सस्येषु न गुल्मेषु न च सैकते ।
न वृक्षमूले नामेध्ये न कीटेषु न चत्वरे ॥१०॥
नोदकान्ते न गोवासे न ह्रद्ये न गृहाङ्गणे ।
न देवालयपार्श्वेषु न नद्यां नाप्यसन्निधौ ॥११॥

न वल्मीके न रन्ध्रेषु न करीषे न चोपले ।
न देवतारिशिष्याग्निगुरुवृद्धाङ्गनामुखः ॥१२॥
नगो गगनदिक्तारागृहामेध्यावलोककः ।
न जल्पन्नस्पृशन्मौनी नचानावृतमस्तकः ॥१३॥
चिरन्नोपविशन्नाति पीडयन्नाद्ध्र्वैशसम् ।
एकाकी मुक्तपवृक्षो यतसर्वेन्द्रियक्रियः ॥१४॥
मेहनादि क्रियां कुर्यान्नवाच्छादितनासिकः ।
उदङ्मुखो दिवानक्तं दक्षिणामुखसंस्थितः ॥१५॥
दिवेव सन्ध्ययोः कुर्यान्मेहनाद्यं विचक्षणः ।
वल्मीककृष्णभूतोयकीटाशुद्धादियोगिनम् ॥१६॥
वर्जयित्वा मृदाशौचं कुर्यादुद्धृतवारिणा ।
पञ्चधा लिङ्गशौचं स्यात् गुदशौचं त्रिवेष्टितम् ॥१७॥
मनःप्रसादनं कुर्यात् शक्तुं मूत्रविलोपनम् ।
पादयोर्लिङ्गवच्छौचं हस्तयोस्तु चतुर्गुणम् ॥१८॥
दन्तान्तुशोधयेत्प्रातः पलाशवटपिप्पलान् ।
विहाय स्वशुभैराम्रपूर्वैर्विधिवदत्वरः ॥१६॥
उत्पादयन्नरक्तं च न पश्यन्सर्वतो दिशम् ।
समुद्रगापगादेवखातवापीह्रदाश्रये ॥२०॥
स्नायाज्जलेन देवानां संसर्गपरिवर्जिते ।
सरसे सेविते सद्भिर्दृष्टिदोषविवर्जिते ॥२१॥
विशुद्धतीरभूभागे स्नायाल्लघुनि वारिणि ।
अम्बु न क्षोभयेदङ्गैः पादेनोत्सादयेन्न च ॥२२॥

नाचरेत्प्लवनक्रीडां न गण्डूषं जले क्षिपेत् ।
अन्योऽन्यं नोक्षिपेत्तोयं न देहमलमुत्सृजेत् ॥२३॥
न कुत्सयेदम्बुतीर्थमन्यत्तत्र न कीर्त्तयेत् ।
शोधयित्वा धृताम्भोभिर्देहं तीरे पुनर्जलैः ॥२४॥
प्रक्षाल्य भूमिं कर्मार्थमवतारं च शोधयेत् ।
न स्नायात्सहशूद्रेण न स्त्रीभिर्नच नास्तिकैः ॥२५॥
न पाषण्डैर्नबालैश्च न रोगाशौचिभिर्नरैः ।
चण्डालं शास्त्रपतितं शास्त्रनिन्दापरायणम् ॥२६॥
परित्रस्तं च नष्टं च दूरतः परिवर्जयेत् ।
शरीरं निर्मलीकृत्य कर्मारम्भपुरस्सरम् ॥२७॥
शुद्धावगाहनं कृत्वा समाचामेद्यथाविधि ।
जान्वोरन्तः करौ कृत्वा प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः ॥२८॥
पाणिं च संस्पृशन्नद्भिः प्रकृतिस्थाभिरेव च ।
आदाय विमलं तोयं ब्रह्मतीर्थेन वाग्यतः ॥२९॥
हृद्गतं तु चतुःप्राश्य न शब्दमवतारयन् ।
तत्कालमार्जनं कृत्वा पाणिपादाववेक्ष्य च ॥३०॥
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु चक्षुषी संस्पृशेत्ततः ।
तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन श्रोत्रे चैव समालभेत् ॥३१॥
सर्वाभिरङ्गुलीभिश्च बाहुमूले उपस्पृशेत् ।
हृदयं च मूर्द्ध्नि जलं स्पृष्ट्वान्तरान्तरा ॥३२॥
न तिष्ठन्नैकहस्तेन न शूद्रावर्जितेन च ।
शुद्धां मृदं समादाय जप्त्वा मन्त्रचतुष्टयम् ॥३३॥

चतुर्धा विभजेत्तां तु वामपाणितलोदरे।
चतुर्मन्त्रैः परामृश्य मुखबाहुकलेवरान् ॥३४॥
पदौ यथाक्रमं लिंपेत् चतुर्मन्त्रेण मन्त्रवित्।
तत्रस्थं भावयेद्देवं समयैर्भोगराशिभिः ॥३५॥
आसनाद्यैर्यथाशक्ति समभ्यर्च्य जगद्गुरुम्।
ध्यात्वा गङ्गां हरेः पादात्पतमानां स्वमूर्द्धनि ॥३६॥
पवित्राद्यन्तकाभिङ्गाः मन्त्रैस्सिञ्चेत्करात्करात्।
ध्यायन्देवं परं ब्रह्म यथाशक्ति निमज्य च ॥३७॥
चतुर्निमज्य विधिवद् आचम्यादाय वाससा।
खण्डद्वयं शिरश्चाङ्गं प्रत्येकं परिमर्द्दयेत् ॥३८॥
अन्तरान्छाद्य कौपीनं वाससी परिधाय च।
ध्यानमौनपरो मन्त्री सम्यगाचमनं चरेत् ॥३९॥
भोजनाद्यं तयोर्मूत्रशौचान्तेयज्ञकर्मणि।
द्विर्द्विराचमनं कार्यं वाससा परिवर्तते ॥४०॥
पुण्यक्षेत्रे समुद्भूतां मृदमादाय वैष्णवीम्।
प्रणवाद्यैव (श्च) मूलेन कर्मारम्भं पुनर्जपेत् ॥४१॥
आहृत्याम्बु पवित्रेण कृत्वा सव्यकरोदरे।
कर्मारम्भेण मन्त्रेण मृदमालोडयेद्वशी ॥४२॥
ब्रह्मणा तत्समीकृत्य ध्यायेद्देवं सनातनम्।
प्रदेशिन्या समादाय किञ्चिच्छिरसि धारयेत् ॥४३॥
ललाटबाहुहृदयेष्वार्जवेन प्रदीपवत्।
कृत्वोर्द्ध्वपुण्ड्रं नाम्नां च चतुर्नान्या समाचरेत् ॥४४॥

पाठयेद्द्वादशनाम्नां तत्तत्स्थानेषु यो द्विजः।
भवेत्स्नानफलं तस्य मृदा तत्र दिने दिने ॥४५॥
तत आचम्य विधिवदभिज्ञाभिश्च तर्पयेत्।
नमोऽन्तः प्रणवाद्यै श्च पितॄणां केवलं स्वकैः ॥४६॥
चतुर्मंत्रेण संप्रोक्ष्य पीत्वा तेनाभिमन्त्रितम्।
जलमाचम्य मूलेन दद्यादर्घ्यं परात्मने ॥४७॥
मर्त्ये खान्तपि वा स्नायादापद्युद्धृत्य तन्मृदम्।
ध्यात्वा क्षीराब्धिं नवं तच्च नित्यशिष्टनिषेविते ॥४८॥
कूप तोयैरपि स्नायात् सर्वालाभे समुद्धृतैः।
स्नानन्तु न घटैः कार्यं नासाच्छिद्रविवर्जितैः ॥४६॥
आरनालं न सेवेत कदाचिद्भगवत्परः।
सुराकल्पं हि तज्ज्ञेयं तस्माद्यत्नेन वर्जयेत् ॥५०॥
सप्तमीदशमी(चैव)त्रयोदश्यष्टमीषु च।
द्वितीयायां नवम्यां च स्नायान्नामलकोदकैः ॥५१॥
ग्राहादिसेविते रुक्षे नीचावाससमीपगे।
श्मशानपार्श्वके ज्ञाते न स्नायान्नोपरोधतः ॥५२॥
न भुक्त्वा नातुरो जीर्णो नान्यकामी न कामतः
न निशायां तथैकाकी न चिरं तोयमध्यतः ॥५३॥
अज्ञानाच्चरिते पापे दृष्ट्वा च शवसूत्रके।
वमने च व्यवाये च दुःस्वप्ने स्नानमाचरेत् ॥५४॥
मुक्ता श्रू शोकाच्छ्रुत्वा च न्यस्ताङ्गं पाञ्चकालिकम्।
स्पृष्ट्वा विकारं चर्मस्थं स्नायाद्रोगिणमेव च ॥५५॥

उक्त्वांमर्मगतंवाक्यं त्वङ्काराद्यञ्जने गुरौ ।
विवादं च जपस्नाननमस्कारैः पुनःश्शुचिः ॥५६॥
शिरो विवर्ज्य न स्नायान्निमज्जेतामुना सह ।
न स्नानशाटी पाणिभ्याम्मर्दयेदपि वा शिरः ॥५७॥
न कुर्यादार्द्रवस्त्रेण कर्म भागवतं बुधः ।
न दक्षिणामुखो शुद्धः पैशाचं तदुदाहृतम् ॥५८॥
प्रक्षाल्याजानुचरणौ मृज्जलैः कूर्परावधि ।
हस्तौ विमृज्य वदनं विद्वानाचमनं चरेत् ॥५९॥
सुप्त्वा क्षिप्त्वा च निष्ठीव्य स्पृष्ट्वा नासापुटादिकम् ।
पादोदरं च भक्ष्यांश्च संभक्ष्याचमनं चरेत् ॥६०॥
स्नात्वा संप्रोक्ष्य पतितांश्चण्डालाद्यांश्च गर्हितान् ।
पाषण्डिनश्च स्वाचान्तः पवित्रं ध्यानवान् जपेत् ॥६१॥
पूजायां स्नानकाले च भोजने जपकर्मणि ।
अवैष्णवानां जन्तूनां दर्शनाद्यं विवर्जयेत् ॥६२॥
नित्यं तीर्थोदकस्नायी तर्पयंस्तत्र तज्जलैः ।
श्रद्धया भगवन्मन्त्रैः सिद्धस्स्यादचिराद्द्विजः ॥६३॥
कर्मारम्भेण मन्त्रेण सर्वं कर्म समारभेत् ।
पवित्रीकरणञ्चापि पवित्रेणैव सर्वतः ॥६४॥
अभिगच्छेच्च देवेशं सुस्नातस्सोद्ध्वर्पुण्ड्रकः ।
सुप्रक्षालितपादश्च स्वाचान्तस्संयतेन्द्रियः ॥६५॥
सन्ध्ययोरुभयोर्नित्यं यावदर्कर्क्षदर्शनम् ।
ध्यायेद् ब्रह्म जपेन्मौनी तत्राभिगमनक्रियाः ॥६६॥

नैकवस्त्रो न खिन्नश्च न क्रुद्धो मलिनोऽपि वा ।
नाक्षालिताङ्घ्रिर्नाभ्यक्तो नातुरो न वदन्बहु ॥६७॥
न रक्तकृष्णमलिनं वासोऽपि परिधाय च ।
न च शून्यकच्छश्शाखी न यायाद्भगवद्गृहम् ॥६८॥
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ उत्थायोत्थाय तन्मनाः ।
स्वाध्यायवदनः कुर्याद् अष्टाङ्गेन नमस्क्रियाम् ॥६९॥
नमस्कुर्वन् प्रतिदिशं वाग्यतो ध्यानतत्परः ।
असंसक्तकरैः कैश्चिन्मन्दं कुर्यात्प्रदक्षिणम् ॥७०॥
द्विचतुष्षड् दशाष्टाद्यैः कुर्यादेव प्रदक्षिणम् ।
देवस्य निकटे कार्यं सम्यग्जानुप्रदक्षिणम् ॥७१॥
चक्रवद्भ्रमयेन्नाङ्गं पृष्ठभागं न दर्शयेत् ।
सन्निधौ देवदेवस्य नचोच्चैः प्रलपेत्तथा ॥७२॥
निधाय दण्डवद्देहं प्रसार्य चरणौ करौ ।
बद्ध्वा मुकुलवत्पाणि प्रणामो दण्डसंज्ञितः ॥७३॥
पादौ शिरस्तथा हस्तौ निकुञ्च्य मुकुलाकृतिः ।
मनोबुद्ध्यभिमानैश्च प्रणामोऽष्टाङ्गसंज्ञितः ॥७४॥
मस्तकं संपुटं चैव प्रह्लादं च त्रयं बुधैः ।
कृतयोरन्ययोः कार्यमन्यथा विकलो भवेत् ॥७५॥
सर्वत्र दृष्ट्वा देवेशं जितं त इति मन्त्रकम् ।
द्वादशार्णं जपेन्मन्त्रं भीतवत्पूर्वमानतः ॥७६॥
मत्कृतानि च कर्माणि मदीयमहमच्युत ।
तथैव नममेतीष्टं नमो भगवतेरिह ॥७७॥

प्रदक्षिणानमस्कारं जपध्यानार्चनास्तुतिम् ।
मत्कर्मतद्गुणोद्घोषैर्विना नात्रान्यदाचरेत् ॥७८॥
पादप्रक्षालनं व्याविष्टरं चावकुण्ठनम् ।
न कुर्याद् भगवद् गेहे भासं कण्ठध्वनिं तथा ॥७९॥
भोजनं स्वापमुद्घोषं ताम्बूलं केशशोधनम् ।
छत्राद्यं च तथान्यांश्च न कुर्यान्नुल्बणक्रियाः ॥८०॥
प्रदक्षिणे प्रणामे च पूजायां हस्ने तथा ।
न कण्ठगतवस्त्रस्स्यात् दर्शने गुरुदेवयोः ॥८१॥
भगवन्मन्दिरे वृद्धान् पूज्यानपि विशेषतः ।
विना भागवतश्रेष्ठं प्रणामाद्यैर्नचार्चयेत् ॥८२॥
गुरोर्गृहे देवगृहे पु(ष्प)ण्यवाट्यां गवां कुले ।
कृपणं चोल्वणं कर्म वर्जयेदपि संसदि ॥८३॥
जप्त्वाभिगमनं मन्त्रं वर्जयित्वा यथाविधि ।
आसनार्घ्यादिभिर्भोगैर्भक्त्या परमपावनैः ॥८४॥
अभिगम्य जगन्नाथं ध्यायन्नेव सनातनम् ।
जपेद्यथाबलं प्रातः सहस्रशतसङ्ख्यया ॥८५॥
कनिष्ठादि समारभ्य दर्शपर्वभरात्परः ।
पद्माक्षैस्स्फाटिकैर्वाऽपि जपेदुक्तादिभिस्तदा ॥८६॥
आचार्यं देवभक्तं च भगवन्मन्दिरं जलम् ।
अग्निमर्कं च सोमं च पृष्ठकृत्य जपेन्न च ॥८७॥
आपीठान्मौलिपर्यन्तं पश्यतः पुरुषोत्तमम् ।
जपतः पातकान्याशु नश्यन्ति सफलाः क्रियाः ॥८८॥

आभिमुख्यं जपादीनां प्रशस्तं सर्वकर्मणि ।
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा कुर्याद्भागवतः क्रियाम् ॥८९॥
अग्नींश्च जुहुयात्प्रातः मेध्यैरेव समिद्गणैः ।
वैशेषिकं च जुहुयान्नित्यं वा पापशान्तये ॥९०॥
आमुहूर्त्तात्तु वै ब्राह्मादमृतं प्रहरात्सुधीः ।
स्नानार्चन जपस्तोत्रपाठैः कालं विनोदयात् ॥९१॥

इति श्री शाण्डिल्यधर्मशास्त्रे प्रातःकृत्यवर्णनं नाम
द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

उपादानविधिवर्णनम्

ऋषय ऊचुः ।

उपादानविधिं सम्यक् श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।
योग्यायोग्यविभागेन भगवत्कर्मसिद्धये ॥ १ ॥

मुनिरुवाच ।

उपादानविधिं वक्ष्ये योग्यायोग्यविभागशः ।
द्वितीयकालकर्त्तव्यं कर्म यन्मुनिपुङ्गवाः ॥ २ ॥

वक्ष्यामि वस्समासेन कथम ज्ञानां शुद्धिमृच्छति ।
कर्मण्यमेवोपादाय वर्जयित्वा तथेतरत् ॥ ३ ॥
क्रियमाणानि कर्माणि सफलानि भवन्ति हि ।
स्वकीयारामजातानि वन्यान्यन्यानिवादरात् ॥ ४ ॥
पुष्पपत्रोदकादीनि प्रातरेव समाहरेत् ।
क्रयेण वा हरेत्सर्वमपक्वं योगसाधनम् ॥ ५ ॥
फलपुष्पाम्बुकाष्ठाद्यं विक्रीणीयं न किञ्चन ।
विक्रीणान्ब्राह्मणो द्रव्यं क्रीणान्वामृद्धिकांक्षया ॥ ६ ॥
खिन्नवृत्तिर्विकर्मस्थस्सत्पथाश्वपते (श्च्यवते) पुनः ।
वार्द्धुष्यमुपजीवन्ति ये द्विजा लोभमोहिताः ॥ ७ ॥
अभोज्यान्नानपाङ्क्तेयाः क्रियास्तेषां च निष्फलाः ।
पुष्पपत्रफलादीनि शाकानि विविधानि च ॥ ८ ॥
स्वेषु स्वेषु च कालेषु श्रद्धया वर्द्धयेद् गृही ।
मण्ट(ण्ड)पानि सरम्याणि पद्मोत्पलवनानि च ॥ ९ ॥
क्रीडाथ देवकीसूनो श्रद्धां भक्त्या प्रकल्पयेत् ।
तुलसीवाटिका यत्र यत्र वा कमलालया ॥१०॥
पञ्चकालपरा यत्र तत्रासौ भगवान्हरिः ।
सदूर्वैरक्षतैर्नित्यं अश्य(?)र्च्यकुसुमद्रुमान् ॥११॥
तुलसीं चाहरेत्पत्रपुष्पाद्यं वाग्यतश्शुचिः ।
स्वयं संवर्द्ध्य तुलसीं द्वादशाक्षरचिन्तया ॥१२॥
अर्घयन्ति जगन्नाथं श्वेतद्वीपं प्रयान्ति ये ।
दण्डप्रणाममपि वा कारयेत्पुष्पवाटिकाम् ॥१३॥

अथवा तुलसीं पुन्नां कृतकृत्यस्सनातनः ।
अङ्कयेच्छङ्खचक्राभ्यां चूताद्यांश्चम्पकादिकान् ॥१४॥
तुलसीवाटिकाः कुर्यात् शङ्खचक्राम्बुजाकृतिः ।
वृक्षगुल्मलतादीनां अच्युतारामजन्मनाम् ॥१५॥
कुर्यान्नामानि देवस्य देव्यालक्ष्म्यास्तथा हरेः ।
ईहमानश्चरेन्नित्यं कदाचिन्नालसो भवेत् ॥१६॥
अयाचितं शिलोञ्छैस्तु शिष्यदत्तैः क्रमागतैः ।
कुर्यात्कर्मविशुद्धेभ्यः पुत्रग्राह्यापिवाधनम् ॥१७॥
कुलटाषण्डपतितवैरिभ्यः काकिणीमपि ।
उद्यतत्वे विगृह्णीयादापद्यपि कदाचन ॥१८॥
महापातकिनश्चोरादम्बष्ठरहितस्तथा ।
मृगयोः पिशुनाच्चैव नादद्यादुद्यतं त्वपि ॥१९॥
याचनेनाऽपि वर्त्तेत दैन्यं हित्वागमस्ततः ।
दानेन वा नित्यं प्रतिगेहातामतन्द्रितः ॥२०॥
आपद्यपि न याचेत ज्ञातिसम्बन्धयरीनपि ।
भिक्षार्थं न व्रजेत्तेषां गेहं कुर्यान्नचाप्रियम् ॥२१॥
राज्ञा न प्रतिगृह्णीयात् उपपातकिनस्तथा ।
पुरोधा गणिकाध्यक्षकदर्येभ्योऽपि नाहरेत् ॥२२॥
श्वित्रिणोहैतुकेभ्यश्च विकर्मस्तेभ्य एवच ।
स्त्रीजिताच्च तथान्नेयात् स्वस्तिवद्द्भ्य एवच ॥२३॥
शास्त्रावमानिनश्चैव परद्रव्यापहारिणः ।
सांयात्रिकाद्विषद्भ्यश्च गणकेभ्यस्तथैव च ॥२४॥

दधिक्षीरघृतादीनां लवणस्य मधोस्तथा ।
विक्रयिभ्योऽपि नादद्यादश्वविक्रयिणस्तथा ॥२५॥
नाचरन्ति यथोक्तं ये तेभ्योऽपि भृतकार्चकान् ।
बीजप्रहारिणश्चैव बलीवर्दस्य साक्षिणः ॥२६॥
अयथार्थस्य नादद्यादश्वानां दमकात्तथा ।
अभक्ताच्च त्रयी विद्यादुदक्यागमकात्तथा ॥२७॥
कौसीदकास्तथाभोक्तुः श्राद्धस्य सततं तथा ।
न ग्रामयाजकेभ्यश्च नागम्यागमनात्तथा ॥२८॥
वणिग्भिश्च तथा शूद्रादुत्सृष्टाग्नेस्तथा शठात् ।
अगारदाहकेभ्यश्च परिवित्तेभ्य एव च ॥२९॥
बिम्बप्रस्थापकाच्चैव तथा शिल्पोपजीविनः ।
परिहस्ताच्च नष्टाच्च शूद्रशिष्यात्तथैव च ॥३०॥
श्वपाकेभ्यः श्ववृत्तिभ्यः प्राड्विवाकात्तथैव च ।
भगवन्तं तथा विप्रान् पञ्चकालपरायणान् ॥३१॥
भगवन्मन्दिरं चैव पुण्यतीर्थानि सर्वदा ।
द्विपदश्चैव नादद्यान्निक्षिप्तस्यापहारिणः ॥३२॥
प्रतिलोम्याच्च जातेभ्यस्तथा चानृतजीविनः ।
उद्यतं त्वपि नादद्यादन्यदेवावलम्बिनः ॥३३॥
क्रमागतैर्धनैर्वाऽपि स्वक्षेत्रारामसंभवैः ।
भगवद्भक्तिपूतेभ्यो विप्रेभ्यो याचितैस्तु वा ॥३४॥
आवासोपार्जितैर्वाऽपि कर्मकुर्यादतन्द्रितः ।
वन्यैर्वा पत्रपुष्पाद्यैस्सर्वाभावे समर्चयेत् ॥३५॥

अलाभे सर्वभोगानां जलं प्रतिनिधिः स्मृतम् ।
अलब्धयान्यो विप्रेषु कषत्रयं वापि योऽर्चयेत् ॥३६॥
विना मूर्द्धावसिक्तन्तु वैश्यं वाऽपि महापदि ।
अलब्धो याचनादेव तेषां वा वृत्तिमाश्रयेत् ॥३७॥
तिलं मांसं तथाऽन्नं च लवणं च तथाऽजिनम् ।
रक्तकृष्णादिकं वस्त्रं दधिक्षीरघृतादिकम् ॥३८॥
साधनं चैव हिंसाया विषोल्वणकराणि च ।
सुवर्णं चैव गां चैव विक्रीणन्नश्वमेव च ॥३६॥
श्रोत्रियाध्यापको भूत्वा वृत्तिं वा लभते द्विजः ।
स्त्रीबालवृद्धसंयुक्तः सर्वेभ्यो वा समाहरेत् ॥४०॥
भगवद्भक्तियुक्तेभ्यो दद्यात्स्वस्तिकोभवेत् ।
उपादित्सुर्यथालाभं कर्मारम्भं प्रयोजयेत् ॥४१॥
प्रतिग्रहाद्भवेद्दे(द्दो)षः चिरादेव (वि) नश्यति ।
भिक्षयित्वाऽपि वर्त्तेत स्वाश्रमानुगुणं तथा ॥४२॥
अपक्वं वाऽपि पक्वं वा सर्वश्रेष्ठा हि सा स्मृता ।
भिक्षित्वा(?)वर्त्तमानानां योगिनां सिद्धिकाङ्क्षिणाम ॥४३॥
मदमात्सर्यमानाद्या दोषा गच्छन्ति संक्षयम् ।
यथा यथा हि खिन्नं स्यात् सांसारिकसुखोदये ॥४४॥
तथा तथा दृढं योगी निर्वाणपदमृच्छति ।
अपवर्गरसज्ञो हि सन्मना दुःखवर्जितः ॥४५॥
मोक्षधर्ममना नित्यं सुखं चरति मुक्तवत् ।
योगिनामवमानं च शरीरक्लेश एव च ॥४६॥

अर्थहानिश्च विज्ञानं वर्द्धयत्यग्निमाज्यवत् ।
यस्य सांसारिकं सौख्यं योगिनो नेह संभवेत् ॥४७॥
अनायासेन लभ्यं स्यात् तस्य तत्परमं पदम् ।
अविज्ञातमना नित्यं तापैरभिहतोऽपि सन् ॥४८॥
अक्लेशेन चरेत् तृप्तो विशुद्धद्रव्यतत्परः ।
अमार्गेण धनं लोभात् सम्पाद्य सुखमावसन् ॥४९॥
न संसिद्धो भवेत्तस्मात् शुद्धद्रव्यपरोभवेत् ।
अकर्मण्यानि सिद्धानि यदि द्रव्याणि कामतः ॥५०॥
तेषां विनिमयेनैव शुद्धिस्त्यागेन वा भवेत् ।
अलाभे सर्वभोगानामुदकेनापि पूजितम् ॥५१॥
प्रयच्छत्यमलं लोकं भक्तिपूतान्तरात्मनाम् ।
जातया शुद्धवंशेषु भार्यया स्वानुकूलया ॥५२॥
सद्भक्तिपूतया नित्यं कारयेद् द्रव्यसाधनम् ।
शाकाम्बुभिर्वा न्यायात्तैर्भक्त्या संपूजयेद्धरिम् ॥५३॥
मन्त्रो मन्त्रेश्वरश्शास्त्रं मन्त्रसिद्धिस्तथैव च ।
सिद्धान्तमक्षसूत्रं च गोप्यं धान्यं धनायुषी ॥५४॥
अवमानमसामर्थ्यं हृद्रोगं रोगमान्तरम् ।
अनर्थतृणमायासमकृत्यं न प्रकाशयेत् ॥५५॥
धान्यबन्धुविनाशेन नैर्धन्योपद्रवेण च ।
मूढैः कृतावमानेन खिन्नस्स्यान्न कदाचन ॥५६॥
प्रातस्स्नातोऽपि विधिवत् स्नानं माध्यन्दिनं चरेत् ।
शक्तश्चेदन्यथा रोगात् शाट्या सम्मार्जनं चरेत् ॥५७॥

शुद्धिं कुर्यात्सदा विद्वान् मलानामङ्गजन्मनाम् ।
कृत्तकेशनखश्मश्रुः स्त्रीपक्षेषु हृषी (को ?) भवेत् ॥५८॥
दिने दिने स्नानकाले कुर्यादभ्यञ्जनं गृही ।
अथवा शस्तकालेषु शक्तः कुर्याद्दिवैव तु ॥५९॥
विशुद्धदन्तवदनो निर्मलीकृतविग्रहः ।
शुद्धोदरः प्रसन्नात्मा यथालब्धैस्समर्चयेत् ॥६०॥
सतीनां योषितां देहो यागोपकरणं भवेत् ।
भर्तॄणां भगवद्भक्तदेहस्तद्वज्जगद्गुरोः ॥६१॥
कर्मान्तरेष्वसंसक्तिफलकाङ्क्षाविवर्जनम् ।
भक्तिद्रवीकृतं चित्तं विरक्तिस्सर्ववस्तुषु ॥६२॥
अभ्यासस्सततं सर्वप्रकारैस्सत्क्रियाविधौ ।
आलस्यवर्जनं श्रद्धापरमं दम्भवर्जनम् ॥६३॥
अकार्पण्यमलोभश्च क्रोधमोहजयोभयम् ।
देहस्य सेन्द्रियस्यापि विशुद्धिर्द्रव्यदेशयोः ॥६४॥
अकाले वर्जनं निद्रामैथुनाशनकर्मणि ।
सर्वदा शास्त्रशिक्षा च शास्त्रदृष्टेषु कर्मसु ॥६५॥
पारवश्यप्रमङ्गं च नित्यं शास्त्रे दृढंपरे ।
निषिद्धवर्जने यत्नस्संसिद्धान्ननिषेवणम् ॥६६॥
मार्दवंह्रीर्दयाक्षान्तिरद्रोहस्सर्वजन्तुषु ।
एवमादिगुणाः पुंसां यदास्युस्सत्त्वसंभवाः ॥६७॥
जातीर्यद्योगमात्मानं तदा भागवताविधौ ।
उत्सृज्य भगवत्कर्म बाह्यकर्मपरायणः ॥६८॥

कुटुम्बसक्तो मूढात्मा राजसो नेह सम्मतः ।
रजसा तमसा वाऽपि यो यदा कलुषीकृतः ॥६९॥
अमेध्यद्रव्यवन्नार्हस्सदाकर्मणि वैष्णवे ।
एवं सद्गुणसम्पन्ना महाभागवतप्रिया ॥७०॥
कुटुम्बिन्यपि कर्त्तव्यं कर्म कुर्यादतन्द्रिता ।
उत्थाय पूर्वं गृहीत सुस्नाता यतमानसा ॥७१॥
स्नुषादुहितृपुत्राद्यान्यथाद्यं शुचितां नयेत् ।
ऊर्ध्वपुण्ड्रधराश्शुद्ध्वा वस्त्राभरणभूषिताः ॥७२॥
स्वाचान्तः प्रयतोदेवमभिगच्छेयुराहताः ।
त्रिसन्ध्यां कारयेद्बालान् प्रणामं देवपादयोः ॥७३॥
पुत्रः प्रेष्यस्तथा शिष्य इत्येवं विनिवेदयेत् ।
गृहीत प्रमुखास्सर्वा यजन्त्यः पुरुषोत्तमम् ॥७४॥
बालक्रीडादिचरितैः कर्म कुर्युरतन्द्रिताः ।
पशुपुत्रादिकं सर्वं गृहोपकरणानि च ॥७५॥
अङ्कयेच्छङ्खचक्राभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम् ।
कारयित्वा सुवर्णेन पञ्चायुधगणं हरेः ॥७६॥
बध्नीयात्कण्ठदेशे नु बालानां सूतिकागृहे ।
न पुत्र ये दास्यन्ति शयनानि महीतले ॥७७॥
स्थापयेत्क्षेत्रमध्येषु शिलां चक्रादिमुद्रिताम् ।
मुक्तामणिसुवर्णाद्यैः कृत्वा चक्रादिभूषणम् ॥७८॥
यथार्हं बिभृयुस्सर्वे पुमांसं स्त्रीजनोऽपि वा ।
वृद्धबालाङ्गनादीनां पूर्वाह्णे भोजनं भवेत् ॥७९॥

यथाबलं समभ्यर्च्य साग्निं देवं ततोऽशनम् ।
घृतस्थालीं विना सर्वं जलक्षीरान्नसंश्रयम् ॥८०॥
कर्तव्यं दिवसं भाण्डमारुतातपतापितम् ।
कर्मण्यनघयुक्तेषु पूर्वस्मिन्दिवसेऽनिशम् ॥८१॥
परस्मिन्दिवसे कुर्यात् पात्रेषु पचनादिकम् ।
गृहोपकरणं सर्वं मुसलोलूखलादिकम् ॥८२॥
प्रक्षा(लये)ज्जगन्नाथं यागोपकरणानि च ।
यागार्थं देवदेवस्य पाकार्थं चाम्बुपावनम् ॥८३॥
स्थापयेत्पादहस्तादि शुद्ध्यर्थं च पृथक्पृथक् ।
वस्त्रेण बहुशश्शोध्य त्रिविधं चाम्बुपावनम् ॥८४॥
इज्याङ्गमेवमेवाद्यैस्संस्कृतं क्षालयेत्पुनः ।
कर्मण्यं त्रिविधं वारि शुद्धभाजनसंभृतम् ॥८५॥
कृच्छ्राद्यं स्थापयेच्छीते निर्बाधे परिवर्जिते ।
अग्न्यगारं च संशोध्य यागोपकरणानि च ॥८६॥
उद्धृत्य भस्म सम्मार्ज्य वह्निं काष्ठैस्समिन्धयेत् ।
करीषकबलं क्षिप्तौ कुसुमाद्यैस्समर्चयेत् ॥८७॥
श्रद्धयाच्छाद्य गृहिणी पुत्रवत्परिरक्षयेत्।
शोषयेच्छुद्धभूभागे व्रीहिमुद्गतिलादिकान् ॥८८॥
पाकपश्वादिभूतानामप्राप्ये संवृताम्बरे ।
उपलिप्तौ शुचौ देशे शुद्धे शूर्पादिसाधने ॥८९॥
व्रीहिमुद्गादिकं सर्वमपहन्युः कुलाङ्गनाः ।
अस्पृशन्त्यो निजं देहमजल्पन्त्यस्तथा स्त्रियः ॥९०॥

अवन्त्युग्रमापूर्यु जीर्णवस्त्रैर्निमृज्य च ।
निर्मलीकृतकर्त्ताभं विशुद्धीकृत्य तण्डुलम् ॥६१॥
विकीर्य फलकापृष्ठे शर्कराद्यान् समाहरेत् ।
न पचेयुर्व्रीहियवान् नावहन्युरतापितान् ॥६२॥
पचेयुर्वाऽपितानन्नं ए(ते)षां न हृद्यंगमः ।
शस्त्रेण फलमूलानि निकृत्यालोक्य यत्नतः ॥६३॥
कृमिकण्टकदोषाणि निर्हरेद्वाग्यतो सति ।
यत्नेन सर्वशाकानां कृमिकीटादिवीक्षणम् ६४॥
विधायाहत्य बहुशः पुनः पुनरुदीक्षयेत् ।
सतण्डुलानि मुद्गानि शाकानि च फलानि च ॥६५॥
चतुः प्रक्ष्याल्य शुद्धाभिरद्भिश्च क्षालयेत्तथा ।
हव्यं मुद्गं च शाल्यन्नं शस्तं शाके तुलस्यपि ॥६६॥
तण्डुलांभःकरणं तद्वद् अन्नस्रावणमेव च ।
संविभागात्पुरासर्वमुपयोगं नचार्हति ॥६७॥
अपर्युषिततप्तेषु तापितेष्वातपाग्निभिः ।
मृण्मयेषु च ताम्रेषु पचेयुः क्षालितेषु च ॥६८॥
मृण्मयेन नचेष्वेव शक्तश्चेत्पाचयेद्धविः ।
पक्षादूर्ध्वं न कर्तव्या मृण्मये पचनक्रिया ॥६९॥
भिन्नानि विकलाङ्गानि विकटानि तथैव च ।
शर्करास्थिसमेतानि भाण्डानि परिवर्जयेत् ॥१००॥
पक्षादूर्ध्वं न संग्राह्यं मुद्गसारं घृतं तिलम् ।
ताम्बूलं तण्डुलं चैव मासादूर्ध्वं न संचयेत् ॥१०१॥

अग्नावोदनपचने पाचयेदोदनादिकम् ।
वस्त्रं केशं हृषीकं वा स्पृष्ट्वा प्रक्षालयेत्करौ ॥१०२॥
नासोदकं नेत्रवारि स्वेदाम्बूनि तथैव च ।
न स्पृशेत् न च वस्त्रेण मार्जयेच्छोधयेद् बहिः ॥१०३॥
नोपशाम्योपशाम्याग्निं न मन्दं नापि सत्वरम् ।
नावतार्यावतार्याधो नान्यबुद्धिः पचेदपि ॥१०४॥
तालमश्वत्थकाष्ठं च पलाशं बिल्वमेव च ।
मरीचकं मदनकं तैलमुन्मत्तकं तथा ॥१०५॥
बाधकं च करञ्जञ्च करीषं व्याधिपातकम् ।
निम्बं तथा कपित्थं च पारिजातकमेव च ॥१०६॥
एरण्डमरुवं चैव कोविदारंबिभीतकम् ।
हरीतकं च शाल्मलिं च श्लेष्मातकमथापि च ॥१०७॥
वर्जयेदिन्धनार्थं तु यच्चान्यत्कीटसंयुतम् ।
विषद्रुमाणि सर्वाणि कण्टकानि तथैव च ॥ १०८॥
दुर्गन्धधूमयोनीति (नि) यत्नेन परिवर्जयेत् ।
व्यञ्जनानि च तानि शाकादीन्यपि पाचयेत् ॥१०९॥
कदलीजातयस्सर्वा (श) चूतं च पनसद्वयम् ।
उर्वारुकं च बृहती कारवल्लीत्रयं तथा ॥११०॥
कर्कन्धुक्षुद्रबृहती कूष्माण्डं तिन्त्रिणीं तथा ।
नालिकेरं च सिंहीं च कार्कोटं वत्सरं तथा ॥१११॥
अलर्कं क्षुद्रकन्दं च महाकन्दं तथैव च ।
कन्दं पिन्धूयुतां चैव सूरणं तूलमेव च ॥११२॥

मरीचं शीरकं चैव निष्पावं राजमाषकम् ।
महामाषं सर्षपं च कृष्णमाषं तथैव च ॥११३॥
माषमुद्गं महामुद्गं मुरसीं शाकिनीं तथा ।
शक्रटं शिङ्गुकं चैव जीवन्त्यागस्त्य पथ्यवाक् ॥११४॥
शृंगिवेरं कुलुत्थं च व्याघ्रं सिंहं तथैव च ।
शस्तान्यन्यानि दुष्टानि सुभृतं कारयेद्बुधः ॥११५॥
कोशातकमलाबुं च दूरतः परिवर्जयेत् ।
जीरकाद्यविमिश्राणि नालिकेरयुतानि च ॥११६॥
समरीचानि कार्याणि व्यञ्जनानि रसैस्सह ।
पयोमिश्राणि शाकानि हिङ्गवमिश्राणि साधयेत् ॥११७॥
आसुरं स्याद्विदग्धं यदपक्वं रौद्रमेव च ।
दैवं शृगु तमेवातः कर्म शृगु च तद्हविः ॥११८
केशकीटादिभिर्दुष्टं विदग्धमशृतं तु वा ।
शाकौदनादिकं सर्वं सर्वथा परिवर्जयेत् ॥११९॥
मुद्गान्नं च गुडान्नं च पायसान्नं विशेषतः ।
शक्तश्चेद्दानयेन्नित्यमपूपान्भक्ष्यमेव च ॥१२०॥
पर्वणि श्रपयेदन्नं पायसं द्वादशीषु च ।
सर्वेषां पयसां शुद्धं गव्यं चेति निगद्यते ॥१२१॥
अशुद्धस्तु दशाहानि प्रसूतायाश्च गोपयः ।
पलाण्डुलशुनामेध्यं खादयन्त्या पयस्तथा ॥१२२॥
अनुज्ञारहितायाश्च निक्षिप्तायाश्च गोः पयः ।
तथैवाधिकृतायाश्च लाभं प्राप्तं पयस्तथा ॥१२३॥

देशकालातिवृत्त्या च यस्या ऊधसि संस्थितम् ।
क्षीरं तस्यास्त्वकर्मण्यं विना वत्सं च दुह्यते ॥१२४॥
विद्धौजामप्यकर्मण्यं प्रसलंते (?) निवृत्तितः ।
वृषस्यन्त्यास्तथा क्षीरं वाहार्थे या च कल्पिता ॥१२५॥
तं कर्मण्यमासां च वत्सो यस्यावमन्यते ।
रुद्रादिव्यपदेशेन्यो याश्च गावस्तदङ्किताः ॥१२६॥
पयस्तासामकर्मण्यं लीलं यत्सविषैरपि ।
कर्मण्यं पय आहृत्य पायसं कारयेद्धविः ॥१२७॥
अपूपं च गुला(डा)न्नं च नन्दायां सगुणं हविः ।
वैशेषिकेषु कुर्वन्ति दिवसेषु विशेषवत् ॥१२८॥
पाकं पायसपूर्वाणां सन्त्येषां च यथाबलम् ।
सङ्क्रान्तिर्जन्मनक्षत्रं श्रवणं द्वादशीव्रतम् ॥१२९॥
पर्वद्वयं समुद्दिष्टं सविशेषक्रियाविधौ ।
चन्द्रसूर्योपरागे च प्रादुर्भावदिनेषु च ॥१३०॥
मासर्क्षेषु महाहर्षे विशेषाराधनं हरेः ।
विद्युदुर्निमित्ते च दुःस्वप्ने संजातेऽपि महाभये ॥१३१॥
आगतेषु च भक्तेषु कुर्याद्वैशेषिकीं क्रियाम् ।
द्रव्यहीना यदि भवेत् कर्म वैशेषिकं वृथा ॥१३२॥
निर्धनोऽपि यथाशक्ति कुर्याद्भक्तेषु विस्तृतम् ।
केवलेनोदनेनापि शाकान्नस्वश्रृतेन च ॥१३३॥
नैत्यं कर्म विधेयं वै भक्तानां शुद्धचेतसाम् ।
सुपक्षेषु च सर्वेषु परिमृज्याम्बुनाखिलम् ॥१३४॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रैरलङ्कृत्य नयेद्यागालयं हविः ।
पाकस्थानं गृहं सव विमृज्याभ्युक्ष्य वारिणा ॥१३५॥
आच्छाद्य वस्त्रमन्यच्च समाचामेत्कुटुम्बिनी ।
प्रविश्य भगवद्गेहं दीपं प्रज्वाल्य गेहिनी ॥१३६॥
काङ्क्षन्ति भर्तुरायानं तिष्ठेत्सपरिचारिका ।
जघन्यशायिनी नित्यं पूर्वोत्थानपरा तथा ॥१३७॥
अन्तर्बहिश्च संशुद्धिः गृहकर्मसु सोत्तमा ।
मङ्गलाचारशीलाश्च भृत्यबन्धुजनप्रिया ॥१३८॥
हृद्यवेषा सदाभर्तुरानुकूल्यप्रयोजना ।
यथालब्धेन संप्रीता कुशला पाककर्मणि ॥१३९॥
र(म्य)वस्तुषु निस्स्नेहा काले मेध्यान्नभोजने ।
भगवद्भक्तियुक्ता च तथा भागवतप्रिया ॥१४०॥
मितसंभाषिणी हासरोदनोद्घोषवर्जिता ।
गृहान्तरद्वारदेशस्थानासनविवर्जिता ॥१४१॥
निद्रालस्यविवादासद्भाषणासत्यवर्जिता ।
निस्पृहा परकार्येषु स्थिरबुद्धिर्दृढव्रता ॥१४२॥
अलब्धानुद्ध(लब)णा स्निग्धा सलज्जा मधुरस्वना ।
कुशला लोकयात्रासु दुष्टादुष्टक्रियापरा ॥१४३॥
व्यये च मुक्तहस्ता च दोषश्रवणभीषिता ।
नास्तिवाक्येऽतिसंत्रस्ता संचारे छन्नविग्रहा ॥१४४॥
नचवक्त्र (?) च लाभा च वेश्यालावण्यनिस्पृहा ।
गुप्तवेषरहस्यार्थ कर्मभोज्यान्नभोजना ॥१४५॥

एवमादिगुणोपेत (ा) नारीणामुत्तमा सती ।
भर्तृकर्म स्वनुरूपास्या: (?) कृतकृत्यस्सचेतनः ॥१४६॥
श्लाघयन्ती स्वसामर्थ्यं भर्तृनिन्दापरायणा ।
असमक्षं समक्षं वा दुष्टां तां वर्जयेद्बुधः ॥१४७॥
भर्तुर्धनं च लोभात्स्त्री क्लिश्यमानेऽपि भर्तरि ।
गोपयन्त्यर्थशीलां तां कुर्यात्कर्म बहिष्कृताम् ॥१४८॥
निजोदरं पूरयन्ती भृत्यवर्गं तथाऽतिथिम् ।
न्यूनस्वस्नाति स्त्री वा तथा पाकं विवर्जयेत् ॥१४९॥
श्वश्चां विवदमानायां स्नुषाया स्वेन वा सुतैः ।
वारयेत्तां प्रयत्नेन विना तां कर्म कारयेत् ॥१५०॥
धर्महानिर्यथा न स्याद्यथा सज्जनगर्हणा ।
सर्वं तथा समीक्षं (क्ष्यं) द्रागाचरेद् बुद्धिमान्नरः ॥१५१॥
स्वाधीनां कारयेन्नारीं सर्वकर्मसु नात्मवान् ।
सर्वकर्मानुसन्दध्यात् स्निग्धः किल तयावसन् ॥१५२॥
स्त्रीकृतेषु न विश्वासः कर्तव्यः सत्क्रियापरैः ।
मायाचारेण निपुणा मोहयन्त्यविचक्षणान् ॥१५३॥
अपराधो यदि भवेत् प्रमादान्निजयोषिताम् ।
मुखभङ्गस्स्मृतस्तासां दण्डस्सन्तप्तचेतसाम् ॥१५४॥
न ताडयेन्नातिमात्रं पुण्येन कृशतां नयेत् ।
स्त्रियं भर्त्ता नचान्येषां दोषं तस्याः प्रकाशयेत् ॥१५५॥
भोजनाच्छादनैः पुष्पभूषणाद्यैर्निजस्त्रियम् ।
आलापैस्सरसैर्नित्यं तोषयेत्तां सयेन्न च ॥१५६॥

विलोभयन्सदापृष्टदृष्टार्थवचनैःस्त्रिया ।
भगवत्कर्मसिद्ध्यर्थं नयेदात्मानुकूलताम् ॥१५७॥
पुत्रान् भृत्यान् कलत्रं च भक्तमाश्रितमेव च ।
नित्यं कुर्यादुपायेन भगवद्भक्तिभावितान् ॥१५८॥
अपुत्रा वा सपुत्रा वा भक्ता दक्षा च कर्मसु ।
या स्त्री तां वर्जयेद्भर्ता न कदाचिदपि प्रियाम् ॥१५९॥
पुत्रार्थं नोद्वहेदन्यां कर्म पुत्रा हि योगिनः ।
अपुत्रोऽपि परं याति कामी नान्योऽपि सत्सुतः ॥१६०॥
न स्त्रीजितो भवेद्भर्ता नचाशक्येषु (दाप)येत् ।
भुक्तां न कथयेत्स्त्रीणां असक्तस्सक्तवद्वसेत् ॥१६१॥
निर्भयास्सुहृदोलोको यथास्युस्सर्वजन्तवः ।
स्निग्धाभीत (··· ?) स्वकुलंतत्तथाचरेत् ॥१६२॥
यथाशास्त्रमुपादानमाचमेद्भोगनिस्पृहः ।
भगवद्धर्मलाभेन तृप्तो वस सुखी भवेत् ॥१६३॥

इति शाण्डिल्यधर्मशास्त्रे उपादानाचरणं नाम
तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

इज्याचारवर्णनम्

उपादानप्रकारो यः सम्यगुक्तः समासतः ।
इज्याचारं च वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ १ ॥
भोगानुपाज्ययागाधर्म विधिवत्स्नानमाचरेत् ।
प्रक्षाल्य पादौ स्वाचामेत् (नित्यंयः) स्वोर्ध्वपुड्रकः ॥ २ ॥
सप(वि)त्रकरश्चैव प्रसन्नो यागमारभेत् ।
व्यक्ते वेद्यामायतने व्योम्न्यन्तर्हृदयाम्बुजे ॥ ३ ॥
एकस्मिन्नेव देवेशं यथायोगं समर्चयेत् ।
युक्तमायतनं वाऽपि प्रथमं यत्समाश्रितम् ॥ ४ ॥
आदेहपातात्तद्धित्वा नान्यद्बिम्बं समाश्रयेत् ।
उपचारेषु भक्तस्सन् स एष इति निश्चितम् ॥ ५ ॥
व्यक्तायतनयोः पूजां कुर्याद्भक्तिविवृद्धये ।
वेद्यन्तरिक्षवन्मौढ्याद्वृत्तिस्थानं प्रपश्यति ॥ ६ ॥
व्यक्तायतनसंस्थानं नार्हस्तत्रार्चनाविधौ ।
कर्मिणस्सर्वथा नित्यमस्वाधीनप्रवृत्तयः ॥ ७ ॥
इति उग्रहयोगेन वेदिर्वेदप्रचोदिता ।
लब्धं गुरोः प्रसादेन क्रमागतमथाऽपि वा ॥ ८ ॥
उद्यतं याचितं वाश्यात् निम्नं गौणमतोऽन्यथा ।
भक्तानां सर्वविषयव्यावृत्तदृढचेतसाम् ॥ ९ ॥

सर्वेषामादिपूर्तिस्तु मङ्गलं वेदवादिनाम् ।
कुटुम्बी वर्जयेद् बिम्बं दार्वं शैवं च मृण्मयं ॥१०॥
गृहेषु भित्तिसंस्थं च योगनिद्रारसोत्सुकम् ।
कुटुम्ब्याश्रमनिष्ठस्य नित्यं स्वाधीनकर्मणः ॥११॥
अच्छिद्रकारिणश्शान्तं व्यक्ते ऋद्धयस्य पूजनम् ।
चरतः कर्मणो यत्र वेदिः कर्तुं न शक्यते ॥१२॥
अम्बुप्रायास्तथा भोगा स्तत्रेष्टं व्योम्नि पूजनम् ।
विवेकसिद्धा ये सन्तः पक्वयोगा गुणातिगाः ॥१३॥
केवलज्ञानसन्तृप्तास्ते यजेयुः परं हृदि ।
अन्येऽपि सर्वभोगानामभावे यत्र जायते ॥१४॥
यजेयुर्हृदयाम्भोजे भोगैर्मानसकल्पितैः ।
सिद्धये तु महात्मानो विवेकज्ञानयोगिनः ॥१५॥
वर्जयित्वा कृतानन्ये यजेयुर्द्रव्यसंपदा ।
सर्वभूतेषु देवेषु नरः प्रकृतो (...?) तथा ॥१६॥
मनुष्याकृतिदेवेषु न कार्यं पूजनं बुधैः ।
(केचिद्) धनामुखाः केचित् दमनप्रतिशक्तयः ॥१७॥
मनुष्याकृतयो देवा नोपास्यास्ते कदाचन ।
प्रादुर्भावादिभिर्देवैः मत्स्यः कूर्मादिभिर्विना ॥१८॥
अशुद्धेष्वर्चयन्मूढो नाप्नोति परमं पदम् ।
तिर्यक्त्वं मानुषत्वं वा मत्स्याद्यं स्वेच्छया हरिः ॥१९॥
यथास्थितस्सएवासौ दीपाद्दीप इवोदितः ।
व्यक्तायतनयो नित्यमर्चयेत्पुरुषोत्तमम् ॥२०॥

सावधानो भवेद्भक्त्या भृत्यो नृपमिवान्तिके ।
अन्यत्राप्यर्चयन्मन्त्री पूजाकाले जनार्दनम् ॥२१॥
तत्रस्थं भावयेद्देवं सर्वैश्वर्यसमन्वितम् ।
परीक्ष्य भोगानादाय तीर्त्वाऽप्यमृतरूपताम् ॥२२॥
प्रह्वाङ्गो भीतवद्भोगैस्तन्मयैस्तन्मयोर्चितैः ।
तत्राभिगमने पूर्वं दिव्यमन्त्रार्थदर्शनात् ॥२३॥
साक्षादभिमुखं देवं भावयित्वाऽर्चयेद्वशी ।
भगवद्वदनाम्भोजस्यन्दमानामृतोदधिः ॥२४॥
पिबन्निवमहाह्लादमध्यस्थः पूजयेत्प्रभुम् ।
भक्तसन्दर्शनप्रीत्या नानाभूतैरिवावृतः ॥२५॥
नेत्रपातैर्भगवता स्वात्मानं शुचितां नयेत् ।
नातिपूतं नातिमन्दं नोच्चैर्मन्त्रानुदीरयेत् ॥२६॥
अत्वरः सुमनाः क्रोधकामं हित्वा यजेत च ।
न शब्दयन्स्वात्मसङ्घमम्बुनानार्द्रयन्महीम् ॥२७॥
नन्तुं कु (?) ञ्जजल्पंश्च शुद्धमौनो भवेद्वशी ।
सम्पूज्याङ्गैरुपाङ्गैश्च बद्धोष्ठं नासिकाक्षरैः ॥२८॥
अव्यक्तैरप्यशुद्धं तन्मौनवद्वर्जनं शुभम् ।
यथा युवानं राजानं यदार्चं मदहस्तिनम् ॥२९॥
यथाप्रियातिथिं योग्यं भगवन्तं तथार्चयेत् ।
सम्यक्साधितमेवापि यत्स्यान्न हृदयंगमम् ॥३०॥
वर्जयेद् दृष्टदुष्टं च हस्तात्स्खलितमेवच ।
पुराभिगमनं मन्त्रैः प्रणवाद्यैर्यथाविधि ॥३१॥

अभिगम्यैव देवेशं मानसाद्यैस्समर्चयेत् ।
अष्टधा विहितैर्मन्त्रैश्चातुराश्च पदस्थितैः ॥३२॥
भगवत्प्रापकैश्शुद्धैरिज्यामन्त्रैस्समर्चयेत् ।
स्नानभोगैस्समभ्यर्च्य दिव्यालङ्कारादिमण्डितम् ॥३३॥
अलङ्कारासनं दत्त्वा दिव्यैस्स्रक्चन्दनादिभिः ।
भोगैस्सुसंस्कृतैर्देवमर्चितं भावयेत्परम् ॥३४॥
सतीवप्रियभर्त्तारं जननीव स्तनन्धयम् ।
आचार्यं शिष्यवन्मित्रं मित्रवल्लालयेद्धरिम् ॥३५॥
स्वामित्वेन सुहृत्त्वेन गुरुत्वेन च सर्वदा ।
पितृत्वेन समाभाव्यो मातृभावेन माधवः ॥३६॥
सुस्नातं स्वनुलिप्तं च स्रग्विणं च स्वलङ्कृतम् ।
संस्तुतं विविधैस्स्तोत्रैर्भोज्यासनगतं प्रभुम् ॥३७॥
अवश्यं मधुपर्केण मध्वाज्यदधियोगिना ।
अर्चयेदुदकेनाऽपि त्वातिथ्येन फलादिभिः ॥३८॥
मध्वाज्यं दधि संयोज्य यजते यो जनार्दनम् ।
अयं संसृज्यते तेन श्रीमता मधुपर्कवत् ॥३९॥
मधुराणां तु सम्पर्को मधुपर्कः प्रकीर्तितः ।
सम्पर्कसरसस्तेन मधुपर्केण जायते ॥४०॥
संपूज्य मधुपर्केण गां निवेद्य च दक्षिणाम् ।
गवार्थं द्रव्यमेवापि ततोऽग्नौ च समर्पयेत् ॥४१॥
शाककन्दफलोपेतैः गुडदध्याज्यसंयुतैः ।
अन्नैः प्रभूतैर्देवेशं विविधैः पृथगर्चयेत् ॥४२॥

मधुपर्कस्तथान्नाद्यं यद्भुक्तं परमेष्ठिनम् ।
प्राणवद्रक्षणीयं तद्विनियोगावसानिकम् ॥४३॥
प्राप्तान् भावगतांस्तत्र गुरुपूर्वं यथाविधि ।
अर्चयेत्परया भक्त्या द्रव्यैरर्घ्यादिभिश्शुभैः ॥४४॥
वासोभिर्भूषणैर्भक्ष्यै र्धनधान्यादिभिस्तथा ।
श्रद्धया व(मूर्ति)तिमभ्यर्च्य दद्यातो देवसन्निधौ ॥४५॥
इज्यामध्ये तथा होमे योगे च जपकर्मणि ।
आगतं पञ्चकालज्ञं संपूज्यैवाचरेत्परम् ॥४६॥
सुवर्णं गां गुणवतीं भूमिं वृत्तिकरीमपि
दद्याद्भागवताग्रेभ्यो भोगमोक्षार्थये सुधीः ॥४७॥
उदकुम्भैः पवित्रान्तैः फलमूलादिभिस्तिलैः ।
गन्धाद्यैरुपयोगार्हैस्तोषयेत्सात्त्वतोत्तमान् ॥४८॥
प्रियंवदात्मनो नित्यं यत्ख्यातं सद्गुणोज्ज्वलम् ।
तन्निवेद्य जगद्धात्रे दद्यात्सत्कर्म योगिने ॥४९॥
यस्मिन् कुम्भे प्रियं यत्स्यादम्बुवस्त्रोदनादिकम् ।
तस्मिन्काले प्रदातव्यं तेनेष्ट्वा पुरुषोत्तमम् ॥५०॥
विशिष्टं वस्तु संपाद्य हृद्यं पुष्पोदनादिकम् ।
अनिष्ट्वा तददत्त्वा च समश्नन्नरसूकरः ॥५१॥
अन्नं सुसंस्कृतं हृद्यं भगवद्ब्राह्मणाग्निभिः ।
भृत्यवर्गैस्तथा भुक्तं भोज्यं विषमतोऽन्यथा ॥५२॥
रत्नौघमपि वा स्तोयं प्रभूतं स्वल्पमेव वा ।
भगवत्प्रीतये नित्यं दद्याच्छुद्धाय योगिने ॥५३॥

ये तोषयन्ति निरतं पञ्चकालपरायणान् ।
सकामास्तत्फलं यान्ति निष्कामाः परमं पदम् ॥५४॥
गृहे भागवते प्राप्ते तदिष्टमुपलक्ष्य च ।
अञ्जसा तत्प्रियं कार्यं यथार्हं श्रमनुत्तये ॥५५॥
आसनैरर्घ्यपाद्याद्यै र्व्यजनैरुचितोक्तिभिः ।
पादसंवाहनाभ्यङ्गै रतिथिः पूजयेत्प्रियम् ॥५६॥
प्रहृष्टवदनं दत्त्वा वाक्यं प्रियमथासनम् ।
प्रदेयमञ्जसा नित्यं संप्राप्ते भगवत्परे ॥५७॥
पूज्या नित्यं भगवतस्सन्निधाने विशेषतः ।
अनन्याः पञ्चकालज्ञा न कदाचिदथेतरे ॥५८॥
अन्नमम्बूनिवस्त्राणि पात्राणि स्रक्फलादिकम् ।
इष्टमिष्टावशिष्टं वा दद्यान्ना पञ्चकालिने ॥५९॥
सर्वपापप्रशमनं सर्वदुःखनिवारणम् ।
भगवद्भुक्तमन्नाद्यमयोग्येभ्यो न योजयेत् ॥६०॥
अयोग्ययोजनादेव योग्ये चाप्यनियोजयेत् ।
भगवद्भुक्त भा(ण्डा)नां प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥६१॥
भगवद्भुक्तमन्नाद्यमज्ञानाद्योऽवमन्यते ।
इह निकृतां प्राप्य जायते स पुरीषभुक् ॥६२॥
पवित्रं भगवद्भुक्तं सेवयाभ्युपयुञ्जते ।
भवन्त्यरोगास्सुखिनः पापदोषविवर्जितम् ॥६३॥
आराध्यैव जगन्नाथं तच्छेषं नापरा अपि ।
त्यक्तभक्ताचना व्यर्था अरसा ऊपराम्बुवत् ॥६४॥

अभावे कारिणं कारि मनसाचार्यमर्चयेत ।
तत्तन्मन्त्रैस्तथाद्रव्यैस्तृणं कृत्वा महीतले ॥६५॥
आचार्यस्य पितुश्चैव स्वामिनो द्रव्यमर्हति ।
शिष्यः पुत्रस्तथा दास इति तद्वोक्तुमर्हति ॥६६॥
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं स्त्रियमथेतरम ।
पूजयेत्तान् यथायोगं भगवद्योगभावितान् ॥६७॥
दिव्यशास्त्रानभिज्ञोऽपि भक्तिमान्पुरुषोत्तमे ।
अभ्यसूयाविरहितश्शास्त्रं पूज्यस्स सात्वतैः ॥६८॥
अकृत्रिमा भगवति प्रीतिर्यस्मिन् प्रदृश्यते ।
भक्तेषु वाच्य एवायं बाह्यलिङ्गधरोऽपि वा ॥६९॥
वैष्णवोऽहं प्रदो(दे)हीति याचिते येन केनचित ।
नावमन्येत तं विद्वान् तर्पयेदन्यथाऽपि च ॥७०॥
अविज्ञाता अनर्हाः सामान्या ये गृहमेधिनः ।
देवानिवेदितैर्द्रव्यैस्तर्पयेत्तदसन्निधौ ॥७१॥
भुक्तं भगवता यद्यद् गुरुशेषमथापि वा ।
हुतशेषं ततोच्छिष्टं भक्तिहीने न योजयेत ॥७२॥
अवश्यं भोजनीयानामभागवतवेदिनाम ।
लौकिकाग्निषु पक्वेन कार्यमन्येन तर्पणम ॥७३॥
प्रापणं साधितुं नित्यमशक्तस्सकृदग्निना ।
योग्यगेहाहृतेनापि साधयेज्जुहुयादिह ॥७४॥
प्रापणं भगद्भुक्तं लब्धा भागवतेन तत ।
पुनश्चैव भोक्तव्यं दानं तस्य न चेष्यते ॥७५॥

अनर्पितं भगवते स्वाराध्यायं स्वतन्त्रतः ।
यद्भुक्त्वा कुरुते कर्म तद्द्रव्यं यस्य तस्य तत् ॥७६॥
कर्मणा मनसा वाऽपि यथाकालं यथाबलम् ।
स्वाराध्याथ निवेद्यैव सर्वं भुञ्जीत बुद्धिमान् ॥७७॥
शुद्धं न्यायेन संप्राप्तं साधितं साधुयत्नतः ।
अभोज्यमेव जानीयान्निजमन्त्रानिवेदितम् ॥७८॥
मूर्त्यन्तरेण संभुक्तं अयत्नेन समागतम् ।
स्वमन्त्रमूर्त्तिं सञ्चिन्त्य मनसा तत्समर्पयेत् ॥७९॥
स्वत आत्मनि देवेश शेषभूतोऽप्यहं गतैः ।
तवास्तीति वदञ्छुद्धस्तथा स्वेन समन्वितः ॥८०॥
मुमूर्षवस्तथा बाला भगवत्पादयोः परैः ।
समर्प्यन्ते तथाशक्तै र्भोज्यमन्नं निवेदितम् ॥८१॥
तथा स्वाराधनेनैव न प्रीतो भगवान् हरिः ।
यथा भागवतश्रेष्ठपादाम्बुरुहपूजनात् ॥८२॥
यथा कु(कौ)टुम्बिकश्श्रीमान् कुमारैरनुमोदिते ।
मोदिते भगवान् तैस्तैस्तथा नियतमानसैः ॥८३॥
अनादृतसुतं गेही पुरुषं नाभिनन्दति ।
तथाऽनर्चितसद्भक्तं भगवन्नाभिनन्दति ॥८४॥
यस्य यस्याधिकं दृष्ट्वा भक्तिज्ञानक्रियामपि ।
तं तं समर्चयेत्पूर्वं यथार्हं क्रमयोगतः ॥८५॥
निर्धनांश्चरतो लोके वृत्त्यर्थमिव स(सा)त्वतान् ।
नावमन्येत तैर्लोके मपात्री कुरुते हरिः ॥८६॥

ये पाचयन्ति धरणीं चरन्तो पाञ्चकालिकः ।
दर्शनाद्भाषणात्तेषां कृतार्थाः सर्वजन्तवः ॥८७॥
अभ्यर्च्य श्रद्धया प्राप्तान् सर्वानभ्यागतातिथीन् ।
पाषण्डवर्ज्यमन्नाद्यै रग्निकार्यं समारभेत् ॥८८॥
लवणं चोदकं हित्वा कर्मण्यं यद्यदाहृतम् ।
तत्सर्वं जुहुयादग्नौ तिलपुष्पौदनादिकम् ॥८९॥
यदन्नं साधितं साधु प्रापणार्थं प्रयत्नतः ।
भगवद्भुक्तशेषेण तेनैव भगवत्क्रिया ॥९०॥
यथा व्योम्नि यथा वेद्यां योगे ध्याने यथोदितम् ।
कुटुम्बाश्रमनिष्ठानां तद्वदग्निषु पूजनम् ॥९१॥
पापक्षयक्रियापूर्त्तिस्सर्वोपद्रवनिग्रहः ।
शुद्धिश्चित्तप्रसादश्च तस्माद्धोमं न लोपयेत् ॥९२॥
निषिद्धद्रव्ययोगेन पञ्चकाले निषेवणाम् ।
श्रद्धया जुह्वतां नित्यं नाराध्यमिह किंचन ॥९३॥
आवाह्याग्नौ जगन्नाथं मनसाभ्यर्च्य शक्तितः ।
जुहुयात्काष्ठपुष्पान्नं घृतक्षीरतिलादिकम् ॥९४॥
श्रद्धया परया हुत्वा यथाविधि विधानवित् ।
संविभागं च भूतानां कुर्याद्भगवदग्रतः ॥९५॥
भृत्याश्च द्विविधा ज्ञेया प्रेता जीवास्तथैव च ।
प्रेता मृतास्स्ववंशेषु जीवा जीवन्ति वै गृहे ॥९६॥
पितृपुत्रकलत्राद्या दासीदाससमाश्रिताः ।
रक्षणीया गृहे ये स्यु र्भृत्या जीवा इमे स्मृताः ॥९७॥

यथार्हं च यथाशक्ति सुविभज्यान्नमम्बु च ।
दद्यात्पितॄन् समुद्दिश्य भगवज्ज्ञानयोगिने ॥९८॥
चत्वारो बहवो द्वौ वा सम्यग्ज्ञान्येक एव वा ।
पूज्या नित्यं प्रयत्नेन पित्रर्थं भोज्यसंपदा ॥९९॥
स्वल्पैरप्यन्नपानाद्यैः पादोदकविमिश्रितैः ।
भुक्तैर्भगवता सन्तं तोषयेत्पितृतृप्तये ॥१००॥
भिक्षां वा भिक्षवे दद्यात् पित्रर्थं शक्तिवर्जितः ।
प्रत्याचक्षीत नाल्पान्नं पानीयं लवणं सति ॥१०१॥
पितरं मातरं पुत्रान् कलत्रं मित्रमेव च ।
बिभर्ति वा यथागेही प्रेतभूतांस्तथैव सः ॥१०२॥
कृशान् भागवतान् प्राप्तान् दरिद्रानध्वकर्शितान् ।
तैलान्नवस्त्रपानाद्यैः पुरस्तान् वासयेद् गृही ॥१०३॥
निन्दन्ति ये भागवतानज्ञानात्पापचेतसः ।
न दद्यात्सर्वथा तेभ्यो वाचं वार्यापि वाङ्मुखम् ॥१०४॥
गृहे भागवतं प्राप्तमज्ञानाद्योऽवमन्यते ।
नष्टश्रीको भवेत्सद्यः क्षीणायुः पुण्यसञ्चयः ॥१०५॥
भोजयेद्भोजनीयांस्तान् गुरुपूर्वं कुटुम्बिकः ।
पितृमातृक्रमेणैव दासान्तं प्रीतमानसः ॥१०६॥
कांस्यं कुम्भोदलं पाद्मं पालाशवटपल्लवम् ।
अश्वत्थपल्लवं चैव पात्रं कुर्यान्न भोजने ॥१०७॥
नातिदोषावहं कांस्यं भोजनेऽश्वत्थ एव च ।
कुटुम्बिनामकामानामितीच्छन्ति हि केचन ॥१०८॥

पात्रं दार्वं च शैलं च मृण्मयं पाणिमेव च ।
आयसं वर्जयेद्योगी भूपृष्ठं वस्त्रमेव च ॥१०६॥
हैमं रौप्यं च ताम्रं च कदलीनालिकेरकम् ।
कारयेद्भोजने पात्रमन्यत्कर्मण्यवृक्षकम् ॥११०॥
कर्मण्येष्वपि भिन्नेषु नाश्नीयात्तैजसेषु च ।
निक्षिपेन्नच ताम्रेषु दधिक्षीरघृतादिकम् ॥१११॥
चतुरश्रेषु शुद्धेषु सद्यः प्रक्षालितेषु च ।
भूमिं संस्पृष्टपार्श्वेषु विष्टरेषु क्रमाविशेत् ॥११२॥
पालाशवटतालानामश्वत्थस्य च काष्ठजम् ।
चक्रादिलाञ्छितं भिन्नं वर्जयेदुच्चमासनम् ॥११३॥
वेत्रचर्मकृतं चैव तालपत्रकृतं कुशम् ।
आसनं वर्जयेद्भुक्तौ यागयोगोपयोगि च ॥११४॥
स्पृष्ट्वा भुवं पदाग्रेण पात्रं सव्येन पाणिना ।
अश्नीयान्मन्दमावृत्य पादौ वस्त्रान्तरेण च ॥११५॥
अङ्के नारोहयेत्पादं पाणिना नाक्रमेद् भुवि ।
अङ्गं वा न स्पृशेत्पद्भ्यां पादं पादान्तरेण वा ॥११६॥
उपलिप्य शुचौ देशे निश्छिद्रं चतुरश्रकम् ।
सवितानं सदीपे च भोक्तव्यं भगवन्मयैः ॥११७॥
वेत्रासनस्थे पात्रे च नाश्नीयान्नासने स्थिते ।
नार्कं स्थे दारुसंस्थे च नाकेशेनार्द्धकारिते ॥११८॥
नाश्नीयाच्छयनारूढो न दीपे निहते पुनः ।
न दृष्ट्वा केशकीटाद्यं नचावैष्णवदर्शने ॥११६॥

पानीयं न पिबेद्योगी शङ्खचक्रादिमुद्रितैः ।
शङ्खेन वायसेनापि पद्मपत्रादिभिस्तथा ॥१२०॥
कुर्वन् सुभोजनं कर्म्म सर्वेषु गृहमेध्यपि ।
प्रसाद्यस्तानुज्ञाप्य सहाश्नीयात्प्रहृष्टधीः ॥१२१॥
बालवृद्धातुरान्दासानाश्रितान् मातरं गुरुम् ।
पितरं चागतं ज्ञात्वा गृही भोजनमारभेत् ॥१२२॥
प्रक्षाल्य पादावाचम्य द्विरार्द्रं मुखवत्करः ।
इज्या प्रदेशाभिमुखं समश्नीयात्प्रसन्नधीः ॥१२३॥
जपभोजनहोमांस्तु देवस्याभिमुखं चरेत् ।
भगवत्पादयोर्योज्य(ः) शिरश्शयनमाचरेत् ॥१२४॥
विशुद्धकोष्ठवृद्धाग्निः पादाम्बु कुसुमादिभृत् ।
पवित्रवेषशुद्धात्मा भुञ्जीतान्नपवित्रितम् ॥१२५॥
कर्म्मारंभपवित्रं च प्रणवं च षडक्षरम ।
जप्त्वा ध्यानपरोऽश्नीयात् तन्मयोऽन्नमनाकुलः ॥१२६॥
संविभागावशिष्टेन कारिदत्तावशेषितैः ।
हुतशेषेण संयुक्तं यदन्नममृतं तु तत् ॥१२७॥
नावश्यं भोजने मौनं कुटुम्बाश्रमवासिनाम् ।
वाचोपचारः कर्त्तव्यो भोजने भुञ्जता सह ॥१२८॥
भगवत्पादतोयेन मोक्षयित्वाऽमृतोदनः ।
ध्यायन्नन्नगतं देवं जपन्मूलं चतुर्गुणः ॥१२९॥
अर्घ्येण परिषिच्यान्नं कर्मारम्भेण मन्त्रवित् ।
इदमन्नं जपेन्मन्त्रं स्पृष्ट्वा भोज्यामनाकुलः ॥१३०॥

धातारं हृदयान्तस्थं ध्यात्वा पादाम्बुजपूर्वकं ।
तदास्ये जुहुयादन्नं तत्तन्मन्त्रैस्समाहितैः ॥१३१॥
ध्यायन्नेवं परंब्रह्म भोक्तारं हृदये स्थितम् ।
अश्नीयादत्वरो मन्त्री भोज्यं सर्वमकुत्सयन् ॥१३२॥
विशिष्टभोज्यमायातमनिवेदितमन्तरा ।
अर्चापयेदनेनान्तस्सुतशिष्यादिभिः परम् ॥१३३॥
क्षुद्रं वस्तु समायातं मनसा तन्निवेद्य च ।
अश्नीयान्मिश्रितं कृत्वा साक्षात्पूर्वनिवेदितैः ॥१३४॥
निष्कल्मषो भवेन्मर्त्य एवं शुद्धान्नभोजनात् ।
प्रसीदन्ती इन्द्रियाण्याशु सत्त्वं च परिवर्द्धते ॥१३५॥
अन्नशुद्ध्यैव सत्त्वस्य विवृद्धिस्सर्वदेहिनाम् ।
सत्त्ववृद्ध्यैव सत्कर्म निरते वर्जयेत्त्यसन् ॥१३६॥
आरोग्यं रूपवक्ता च कीर्तिःश्रीज्ञानमेव च ।
शान्तिस्सत्कर्मणि श्रद्धा शुद्धान्नेन भवन्ति हि ॥१३७॥
कामःक्रोधस्तथालोभः परहिंसारुचिस्तथा ।
निद्रालस्यादयो दोषा अमेध्यान्ननिषेवणात् ॥१३८॥
अशुद्धान्नाशनात् पुंसां रोगावाह्यास्तथान्तरा ।
शत्रुवृद्धिग्रहद्रोहस्तामसीगतिरेव च ॥१३९॥
परदारपरद्रव्यसव्य(:)संसक्ति दुष्टभोजनात् ।
कार्यवुद्ध्येव कालेन क्रियन्ते ते कुहेतिभिः ॥१४०॥
शनैश्शनैः क्रिया साध्वी विगलय्य यथादि वा ।
अत्यन्तामेव भोज्यानि भोक्तुं मृगयते नरः ॥१४१॥

गलेऽसत्कर्मणां रूपादमेध्यस्य निषेवणात् ।
विषयेष्वभिषक्तानामायुः प्रक्षीयतेऽन्तरा ॥१४२॥
पथ्यं मितं च शुद्धं च रस्यं हृदयनन्दनम् ।
स्निग्धं दृष्टिप्रियं चोष्ण मन्नं भोज्यं मनीषिभिः ॥१४३॥
भगवद्यागयोग्यं यत्तदेवाशनकर्मणि ।
भोजनार्हमिदं देव यागाङ्ग इति नेष्यते ॥१४४॥
न भर्त्सयन् बालपुत्रान् नावदन् न च भार्यया ।
अन्येभ्यो दापयन्नस्या नश्नीयात्सहबान्धवैः ॥१४५॥
शक्तिहीनो यथाशक्ति दापयन्नन्नमम्बु च ।
भृत्यवर्गं समाश्नीयात् तेभ्यो दत्वा कदाचन ॥१४६॥
पिबेद्भोजनपात्रेण पाणिना पानभोजने ।
प्रभूतं न पिबेत्तोयं नापिबन् वाशनं चरेत् ॥१४७॥
पीत्वावशिष्टं चषके पुनस्तान्न पिबेज्जलम् ।
शाकाद्यं नोत्सृजेत्स्थाल्यः पाणिना वापि भुञ्जताम् ॥१४८॥
आद्यादाद्यन्तयोरार्द्रां मध्ये स्विन्नमिवोदनम् ।
अन्नोपदंशपानीयै स्त्रिभागमुदरं भवेत् ॥१४९॥
ये भुञ्जते समीपस्था ये भोक्ष्यन्ति ततः परम् ।
सर्वं तन्मनसा बुद्ध्या तदर्हमशनं चरेत् ॥१५०॥
भगवद्भुक्तशेषं यद् भुक्तं भागवता तथा ।
तदेव भोज्यमुद्दिष्टं भगवद्योगसेविभिः ॥१५१॥
वासोभूषणपुष्पाणि गन्धं तैलं तदौषधम् ।
सर्वं भगवते नित्यमुपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥१५२॥

स्नानाचमनपानार्थमर्हणाद्यं यदम्बुवत् ।
उपयुक्तं भगवता पानीयं तत्प्रकल्पयेत् ॥१५३॥
भोजनाद्यं तथाह्निव्यं पादाम्वेकं समन्त्रकम् ।
पीत्वे(पिबे)दवश्यं सद्भक्तो मिश्रितं वार्हणादिभिः ॥१५४॥
भोजनं भगवत्कर्म यद्यपि स्यान्मनीषिभिः ।
न कार्यं भगवद्गेहे विशेषाद्देवसन्निधौ ॥१५५॥
तनयोऽहमिति ज्ञात्वा पात्रं शय्यासनादिकम् ।
उपयुञ्जन् भगवतः पातिन्या यत्प्रकल्प्यते ॥१५६॥
तन्मयत्वेऽपि पुत्रस्य पितुः पुत्रो यदाभवेत् ।
नित्यं भिन्नश्च स यथा तथा भागवतो हरेः ॥१५७॥
भुक्तोत्सृष्टं भगवता स्वार्थं तस्मै निवेदितम् ।
उपयोज्यं भवेत्सर्वं नासां कार्यं समाचरेत् ॥१५८॥
फलत्रयमपूपं च गुडान्नं पायसं तथा ।
सर्वं भगवते दत्तं भोज्यं तन्मन्त्रमूर्त्तये ॥१५९॥
चन्दनं गन्धपुष्पं च खण्डं कर्पूरमेव च ।
नोपयुञ्जीत राजार्हमन्यच्च न समर्पितम् ॥१६०॥
श्वसूकरहतं यत्स्यादुच्छिष्टं यच्च मानुषम् ।
नावद्यपि तदश्नीयात् दद्याद्धातापि कर्मिणे ॥१६१॥
माषादिचूर्णैर्मृद्भिर्वा प्रक्षाल्यं करयोर्द्वयोः ।
प्रक्षाल्य जानुपादौ च दन्तान्काष्ठैर्विशोधयेत् ॥१६२॥
विशुद्धवदनो मन्त्री स्वाचान्तो द्विरनाकुलः ।
प्रविश्य भगवद्गेहं नत्वा पुष्पाञ्जलिं चरेत् ॥१६३॥

आदाय तुलसीं त्यक्तौ भगवत्पादमण्डिताम् ।
भक्षयेच्छोधयेद्देहं भगवत्पादवारिणा ॥१६४॥
भक्षितं भगवत्पादसंस्पृष्टं तुलसीदलम् ।
आरोग्यं भक्तिवृद्धिं च पापहानिं करोत्यपि ॥१६५॥
अष्टाङ्गयोगप्रीतिं च कृत्वा ध्यानपरो वशी ।
स्वाध्यायमपि सङ्कल्प्य यथाशक्ति जपेन्मनुम् ॥१६६॥
स्तोत्रपाठैश्च सन्तोष्य शक्तश्चेद् गानविद्यया ।
स्वरयोगेन देवेशं तोषयेद्भक्तिवृद्धये ॥१६७॥
पञ्चकालक्रमपरा गानविद्या विशारदाः ।
शुद्धाचारा महात्मानः पूज्या भागवतास्स्वयम् ॥१६८॥
सुस्निग्धकण्ठास्तालज्ञास्स्वराचारादिवेदिनः ।
मागधाभिनयाः पूज्या अनिन्द्याभगवानिह ॥१६९॥
भक्त्या पुलकितस्वाङ्ग आनन्दश्रुपरिप्लुतः ।
गद्गदस्वरयोगश्च यथा हि स्यात्तथा चरेत् ॥१७०॥
अतिवेला यदि भवेत् भक्तिसंकीर्त्तनादिभिः ।
तदा नोपरमेत्तस्माद्यत्र याक्रियते मुदा ॥१७१॥
ततस्स जडतां प्राप्तस्त्यक्तलज्जो गतक्लमः ।
अनुभूय हरिं भक्त्या शनैरुपरमन्यथा ॥१७२॥
गानविद्यासमर्थस्सन् गानेन पुरुषोत्तमम् ।
तोषयेत्तु यथाकालं मनस्यसन्निधौ हरेः ॥१७३॥
अलङ्काराधनस्यान्ते स्वाध्यायाद्यं तयोस्तथा ।
मध्यरात्रे च योगान्ते गानेनाराधयेद्धरिम् ॥१७४॥

उपरम्येच्छनैर्विद्वान् स्तुतिगीति जपादिकान् ।
तोषयेदच्युतं भक्त्या भक्ष्यापूपफलादिभिः ॥१७५॥
समालिप्य जगन्नाथं कर्पूरागुरुचन्दनैः ।
कर्पटैर्व्यञ्जनैर्वाऽपि यथाकालं समर्चयेत् ॥१७६॥
भावयन्तो जगन्नाथं बोधयन्तं परस्परम् ।
सुसंभूय कथाः कुर्यात् सच्छास्त्राणि विलोकयेत् ॥१७७॥
सत्कर्मसततं कुर्यादऽसत्सर्वं च वर्जयेत् ।
एकमेकायनं शास्त्रं साक्षाद् ब्रह्मप्रकाशकम् ॥१७८॥
अन्यानि सर्वशास्त्राणि वदन्त्याच्छास्त्र तत्परम् ।
सच्छास्त्रपठनैस्सद्भिश्शास्त्रार्थस्यापि शिक्षया ॥१७९॥
शास्त्रार्थज्ञापनैर्वाऽपि शिक्षयेच्छास्त्रमादरात् ।
व्याख्यायालेखने नापि ग्रन्थनिर्माणकर्मणा ॥१८०॥
शिष्याणां शिक्षया वाऽपि स्वाध्यायार्थेन मुच्यते ।
न स्मर्त्तव्यो विनीतेन वेदमन्त्रोऽप्यवैष्णवम् ॥१८१॥
काव्यालापोऽपि जप्योऽसौ यत्र संकीर्त्यतेऽच्युतः ।
गन्तव्यं यदि तीर्थार्थमुपादानार्थमेव वा ॥१८२॥
स्वाध्यायकाले गमनं प्रारम्भोऽथ यथासुखम् ।
अवश्यमिष्ट्वा हुत्वा च दत्त्वा चैव यथाबलम् ॥१८३॥
गन्तव्यमिष्टसिद्ध्यर्थं भगवद्योगसेविभिः ।
शुभेऽनुकूले नक्षत्रे मुहूर्त्तेऽपि च मङ्गले ॥१८४॥
दीर्घाध्वानं व्रजेद्विद्वान् ससहायोऽप्रमत्तधीः ।
व्योम्नि देवं यजेन्नित्यं बाहुभ्यां न नदीं तरेत् ॥१८५॥

सन्दिग्धान्नाश्रमे नावन्निवेद्यारोहयेद् बुधः ।
प्रयाणारम्भसमये मध्ये विश्रम्य चोत्थिते ॥१८६॥
आचम्य पुनरुत्थाने कर्मारम्भं जपेद् बुधः ।
वल्मीकं गोमयं चैव छायामश्वत्थतालयोः ॥१८७॥
न लङ्घयन्व्रजेद्विप्रो गवां नित्यमनापदि ।
छायायां विश्रमेन्नाऽपि कलिस्तस्यां हि तिष्ठति ॥१८८॥
शास्त्राभ्यासपरस्यापि शास्त्रे भक्तिः सुदुर्लभा ।
शास्त्रे भक्तिमतामेव ह्यलभं शाश्वतं पदम् ॥१८९॥
श्रवणं श्रावणंचिन्ता तदर्थे तस्य सङ्ग्रहः ।
चोदितानामनुष्ठानं शास्त्रे भक्तस्य लक्षणम् ॥१९०॥
शास्त्राभ्यासपराणां च कर्मचाप्यनुतिष्ठताम् ।
हृदये भक्तिहीनानां न शास्त्रं तु प्रकाशते ॥१९१॥
अभक्तानामनर्हाणां सच्छास्त्रं श्रूयतेऽपि वा ।
अन्यथा प्रतिभात्येव विषाक्तानां यथा पयः ॥१९२॥
प्रकाशयितुमात्मानं भक्तानां हितकाम्यया ।
अवतीर्णो जगन्नाथः शास्त्ररूपेण वै प्रभुः ॥१९३॥
तस्माच्छास्त्रे दृढा कार्या भक्तिर्मोक्षपरायणैः ।
अभक्तस्य परे शास्त्रे भगवान्न प्रकाशते ॥१९४॥
तामसानां विमूढानां पतितानां भवार्णवे ।
विपरीतं च सकलं धर्मज्ञानं प्रकाशते ॥१९५॥
उत्कीर्ण इव माणिक्यो विरलाम्बरवेष्टितः ।
दृश्यते विवरैरेव भक्तान्तः संस्थितो हरिः ॥१९६॥

निष्प्रदीपस्यगेहस्य द्वारैरिव दुरात्मनाम् ।
दृश्यते करणैरन्तरन्धकारसमं निशि ॥१९७॥
हृदयस्थे जगन्नाथे कार्यकारी प्रियं भवेत् ।
कालयोग्यं च कृत्वैव योगं भोजनमाचरेत् ॥१९८॥
राज्यामजस्रयोगस्सन् यथाकामं समाचरेत् ।
भगवत्सन्निधाने वा विविक्तोऽन्यत्र वा स्थले ॥१९९॥
योगं कुर्यात्समाधाय यथास्थानासनो वशी ।
उपलिप्ते शुचौ देशे कुशानास्तीर्य भूतले ॥२००॥
शुद्धयाऽऽसनं समाधाय वस्त्रेणास्तृणुयाच्च तत् ।
चीरशुक्लकृतं चर्म मार्गं वेत्रकृतं तथा ॥२०१॥
अजिनमेकवस्त्रं च योगेस्यादासनं दृढम् ।
ईदृशः परमात्मा यः प्रत्यगात्मा तथेदृशः ॥२०२॥
सद्धर्मानुसन्धानमिति योगः प्रकीर्त्तितः ।
योगानामिन्द्रियैर्वश्यै बुद्धे ब्रह्मणि संस्थितः ॥२०३॥
वदन्ति न तथा ज्ञेयं त्रयमेकं विदुर्बुधाः ।
भक्तिवन्न वियोगेन यथाचित्रं न लभ्यते ॥२०४॥
कर्मज्ञानं तथा योगं विना योगो न लभ्यते ।
अज्ञस्त्वेकायनाचारं कर्मयोगं वदन्ति हि ॥२०५॥
सम्यग्ज्ञानमिदं प्राज्ञा वदन्त्यच्युतयोगिनः ।
योगो धर्म इति (प्रोक्त) स्साक्षाद्भगवतो विधिः ॥२०६॥
सर्वेन्द्रियैरपि सदा योगो युज्यत इत्यतः ।
अनुसन्धानविज्ञानयोगेन ब्रह्मशाश्वतम् ॥२०७॥

अथार्हमिन्द्रियैरात्मा सेव्यते सत्क्रियापरैः ।
.... ॥२०८॥

स्वामिन्यवस्थिते गेहे भृत्यवर्ग इवान्तरः ।
यथा यथा हरिं भक्त्या जानाति पुरुषोत्तमम् ॥२०९॥
तथा तथा समुत्सृज्य पापानि कुरुते शुभम् ।
सदाचारस्य वैकल्यमल्पं वा यत्र दृश्यते ॥२१०॥
विकलां भक्तिरत्रेति बोद्धव्यं तमसाञ्जनान् ।
रजस्तमः क्षयादेव शुद्धे सत्त्वं ततोऽमलम् ॥२११॥
ज्ञानं भवति विज्ञानात् भक्तिः पुंसां प्रजायते ।
कर्मणा ज्ञानमिश्रेण स्थिरप्रज्ञोभवेत्पुमान् ॥२१२॥
सत्प्रकाशे तु न तमो रजो वा वर्त्तते क्वचित् ।
शुद्धाचारपरत्वं हि शुद्धसत्त्वस्य लक्षणम् ॥२१३॥
निषिद्धकाम्ययोगश्च सत्त्वेतरगुणोद्भवः ।
सच्छास्त्रनिरतायैव शुद्धसत्त्वा हि योगिनः ॥२१४॥
अक्लेशेन सुमुक्त्यिर्य भवाब्धिं याति तत्परम ।
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ शश्वत्स्वाध्याय तत्परः ॥२१५॥
योगधर्मैकनिरतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।
सकृदेवार्त्तितोऽप्ययंपः स्वाध्यायोद्वादशाक्षरम ॥२१६॥
भक्तानां पातकान्याशु नाशयत्यवशादिव ।
नित्यं स्वाध्यायशीलानां स्वाधीनेन्द्रियवृत्तिनाम ॥२१७॥
यजतां जुह्वतां चैव जीवन्मुक्तिर्व्यवस्थिता ।
उपवासंविनैवायं महापातकनाशनम ॥२१८॥

निषिद्धकर्मणि संप्राप्ते सोपवासं जपेन्मनुम् ।
परिहृत्य तु पापानि जपन् कुर्वन् सदा क्रियाम् ।।२१६
उपवासपरो भूयः स कृच्छ्राणि समाचरेत् ।
उपवासपराणां तु कदाचिन्नेन्द्रियभ्रमः ।।२२०।।
इन्द्रियभ्रमहीनानामचिराद्‌ब्रह्म सिद्‌ध्यति ।
अक्षतर्पणयुक्तानां यततामपि योगिनाम् ।।२२१।।
नित्यं पार्श्वगतो मृत्युः सर्वसंजीविनामिव ।
अवश्यं भवसन्तारमिच्छन्नविजितेन्द्रियः ।।२२२।।
शरीरं शोषयेन्नित्यं कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
उपवासपराणां तु केवलं नाक्षनिग्रहः ।।२२३।।
क्रियमाणं कृतं यद्वा सर्वं पापं विनश्यति ।
एकरात्रं द्विरात्रं वा त्रिरात्रमपि पक्षयोः ।।२२४।।
यथाशक्त्युपवासी स्याद्यतवाक्कायमानसः ।
एकादशीमुपवसेद्दिनषट्कं तु शक्तिमान् ।।२२५।।
श्रवणैकादशीसर्वं कृष्णाष्टम्याख्यमादरात् ।
उपोष्यैकादशीं वाऽपि भगवत्प्रीतये बुधः ।।२२६।।
स्वाध्यायतत्परश्शश्वत् द्वादश्यां पारणं चरेत् ।
उपोष्य विधिवद्देवमभ्यर्च्य च परेऽहनि ।।२२७।।
भक्तैस्सहाश्नतां तुष्टिर्न श्वेतद्वीपवासिनाम् ।
उपवासदिने विद्वानात्मयागं विनैव तु ।।२२८।।
अन्यत्समाचरेत्सर्वं यथापूर्वं तु विज्वरः ।
अथवा जपनिष्ठानां दातॄणां मितभोजिनां ।।२२९।।

अच्छिद्रकारिणां नित्यं पाञ्चकाल्यमलं भवेत् ।
स्वाध्यायमभ्यसेन्नित्यं मनसा मौनमावहेत् ॥२३०॥
अविरोधेन भूतानां मुञ्चेद्वाचमनाकुलः ।
यदुद्वेगकरं वाक्यं अन्यायार्थावबोधनम् ॥२३१॥
असत्यं निहतार्थं च नोच्चरेदपि गर्हिताम् ।
अर्थयुक्तं (च) सत्यं च श्राव्यं प्रियकरं मृदु ॥२३२॥
शुद्धं मितं च सिद्धं च कालयोग्यं वदेद्वचः ।
वेदविद्याव्रतस्नातैर्ब्राह्मणैस्ससमचेष्टितैः ॥२३३॥
असूयारहितैरस्मिञ्छास्त्रे भक्तैस्समाचरेत् ।
मूर्खाश्च पण्डितंमन्या अधर्म्या ह्यास्तिका इव ॥२३४॥
धर्मयुक्तान् प्रबाधन्ते साधूनां लिङ्गमाश्रितः ।
एकतस्त्वपवर्गार्थमनुष्ठानादिकौशलम् ॥२३५॥
लोकानुसारस्त्वेकत्र गुरुः पश्चादुदीरितः ।
भवन्ति बहवो मूर्खाः कश्चिदेकोऽपि शुद्धधीः ॥२३६॥
त्रासितोऽपि यथा मूर्खैरचलो यस्सबुद्धिमान् ।
न विश्वासः क्वचित्कार्यो विशेषात्तु कलौ युगे ॥२३७॥
पापिष्ठा वादवर्षेण मोहयन्त्यविचक्षणान् ।
गोपयन्नाचरेद्धर्मान् नापृष्टः किञ्चिदुच्चरेत् ॥२३८॥
पृष्टोऽपि न वदेदर्थं गुह्यं सिद्धान्तमेव च ।
आश्रितायातिभक्ताय शास्त्रश्रद्धापराय च ॥२३९॥
न्यायेन पृच्छते सर्वं वक्तव्यं शौचयोगिने ।
आत्मपूजार्थसर्थाय दम्भार्थमपि खिन्नधीः ॥२४०॥

अयोग्येषु वदच्छास्त्रं सन्मार्गात् प्रच्युतो भवेत् ।
ऊषरे निपतेद् बीजं षण्ढे कन्यां प्रयोजयेत् ॥२४१॥

सृजेद्वाचा नरेमालां नापात्रे शास्त्रमुत्सृजेत ।
अच्छिद्रकर्मनिरतः शास्त्राभ्यासपरस्सदा ।
स्वाध्यायाभ्यासयोगेन नयेत्कालमतन्द्रितः ॥२४२॥

इति शाण्डिल्यधर्मशास्त्रे व्रतादिविधाननिरूपणं नाम
चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

रात्रावन्त्यायमे योगकृत्यवर्णनम्

यामिन्यां योगकाले तु यत्कार्यं योगिभिर्नरैः ।
वक्ष्यामि वस्समासेन शृणुध्वं मुनिपुङ्गवाः ॥ १ ॥
अथ वृक्षप्रमाणेन दृश्यमाने दिवाकरे ।
विधाय देहशुद्धिं च वासोऽपि परिधाय च ॥ २ ॥
प्रोक्षणाचमने कृत्वा दद्यादर्घ्यं च पूर्ववत् ।
ध्यायन्नेवापरं ब्रह्म यावन्नक्षत्रदर्शनम् ॥ ३ ॥
जपेद् ब्रह्म पवित्रं वा मानसं मौनमास्थितः ।
अभिगम्य यथापूर्वमर्चयित्वा यथाविधि ॥ ४ ॥

हुत्वा जप्त्वा तथा स्तुत्वा योगं कुर्यादतन्द्रितः ।
पुष्पानुलेपनैर्दीपैरर्घ्यपूर्वैर्यथाविधि ॥ ५ ॥
सन्ध्ययोरुभयोः कार्या पूजा परमपावनैः ।
त्रिकालं द्रव्ययागेन तथा नैमित्तिकार्चनात् ॥ ६ ॥
भक्तिज्ञानक्रियावृद्धिरविघ्नेनैव सिध्यति ।
नक्तं कुटुम्बिकोऽश्नीयात् हितं पथ्यं सुतृप्तिमान् ॥ ७ ॥
सर्वं च तिलसंबन्धं दधिशाकं च वर्जयेत् ।
मुद्गसम्बन्धसर्वं च शुक्तं कालान्तरे भवेत् ॥ ८ ॥
अपूपवर्जं तत्रापि वर्ज्यमेव दिनान्तरे ।
शुष्कपक्वं तथा वस्तु सघृतं शाकमेव च ॥ ६ ॥
वुरी(गुरु)भूतं च गर नीरं न पर्युषितदोषभाक् ।
दध्यन्नपायसान्नं च गुडान्नं च घृतोदनम् ॥१०॥
अपूपानि च वर्ज्यानि न पर्युषितदोपतः ।
तद्रूपेण पुनःपक्वारसगन्धान्तरान्वितम् ॥११॥
अन्योपयुक्तशेपं च वर्ज्यं स्याद् गव्यवर्जितम् ।
भक्ष्यापूपफलादीनां शस्यानामपि पू (र्व्य ?)शः ॥१२॥
तत्संबन्धानुसन्धानमिति योगः प्रकीर्तितः ।
योगान्नामेन्द्रियैर्वश्यैः शुद्धैर्ब्रह्मणिसंस्थितः ॥१३॥
प्रयुक्तैरप्रयुक्तैर्वा भगवत्कर्मविस्तरैः ।
आभास ज्ञानिनो ज्ञानं योगकर्मपृथक्ततः(पृथक् पृथक्) १४॥
वदन्ति न तथा ज्ञेयं त्रयमेकं विदुर्बुधाः ।
भित्तिवर्णवियोगेन यथा चित्रं न लभ्यते ॥१५॥

कर्मज्ञानं तथा योगं विना योगान्न लभ्यते ।
यज्ञास्त्वेकायनाचारं कर्मयोगं वदन्ति हि ॥१६॥
सन्ध्यज्ञानमिति प्राज्ञा वदन्त्य (?) योगिनः ।
योगधर्म इति ख्यातः साक्षाद्भागवतो विधिः ॥१७॥
सर्वेन्द्रियैरपि सदा योगो युज्यत इत्यतः ।
अनुसन्धानुविज्ञान योगेन ब्रह्म शाश्वतम् ॥१८॥
यथाऽहमिन्द्रियैरात्मा सेव्यते सत्क्रियापरैः ।
बुद्धिं संस्थं परं ज्ञानं बुद्धिर्बुद्ध्यति तत्परम् ॥१६॥
विशुद्धैरिन्द्रियैरेव बोद्धुं तच्छक्यते न वा ।
इन्द्रियाणां विशुद्धित्वं भगवत्कर्म योगिता ॥२०॥
सर्वकर्म निवृत्तिर्वा दुर्लभा सा शरीरिणाम् ।
असद्विषयसंसृष्टै (रि) इन्द्रियै (र्वि?) हतामतिः ॥२१॥
न शक्नोति परं हन्तुं अविधेयाश्वमेधवित् ।
भगवत्कर्मसंसक्तैरिन्द्रियैर्विमला मतिः ॥२२॥
प्रयाति तत्परं दीपैः पदार्थादिव दृङ्निशि ।
यथाच्छिद्रघटस्यान्तः प्रदीपे स्थापिते निशि ॥२३॥
ज्योतिर्मयानि छिद्राणि तथा द्वाराणि योगिनः ।
अज्ञानतमसा पूर्वं हृदयं मूढचेतसाम् ॥२४॥
द्वाराण्यपि ततः पूर्णान्यकृत्वान्येव कुर्वते ।
सर्वदा योग एवायमेवमेकायनो मुनिः ॥२५॥
मनसा केवलं रात्र्यां सेन्द्रियेण तथान्यदा ।
इन्द्रियेण कृ साः हि मनो ब्रह्मणि बद्धयते ॥२६॥

निबद्धचते तन्निर्मूलं पारतद्रवबिन्दुवत् ।
अस्थिरे मनसि स्रोतो विषयाने(व) य(धा)वति ॥२७॥

मनस्तदाह्लदं मुग्धं रमते सत्प्रवृत्तिभिः ।
नियोज्य सत्क्रियास्वेव खानि बद्धं परे मनः ॥२८॥
रमते तत्परेणैव स्वाधीना (?) गुणं(:सद्) सुखम् ।
सम्यक् सद्विषयेष्वेव निवृत्तैरिन्द्रियैर्मनः ॥२९॥
सत्त्वं ब्रह्मणि कालेन निष्ठितैरेव तिष्ठति ।
यदा तु भगवत्पादसरसीरुहयोर्मनः ॥३०॥
निश्चलं रमते चित्तं कामकृत्यस्तथा बुधः ।
अनिर्जितेन्द्रियो सिद्धो भगवद्योगएव सः ॥३१॥
जहाति भगवत्कर्म पतितो याति रौरवम् ।
योगोऽयमेव यागश्च बाह्या ये व्याधयोऽभवन् ॥३२॥
सर्वं शरीरक्लेशाय येषु कृष्णो न चिन्त्यते ।
उत्सृज्य भगवत्कर्म सन्न्यासे हतसंशयः ॥३३॥
निष्प्रयोजनदेहानां तेषां न सुलभो हरिः ।
इन्द्रियाणि प्रवृत्तानि कर्मस्विति न हीयते ॥३४॥
हीयते सातियाज्ञानि निषिद्ध ष्वनृतो यथा ।
भगवन्तं समुद्दिश्य तदेकशरणा नराः ॥३५॥
कदाचिन्न च हीयन्ते कार्म्य (काम्य) कर्मरता अपि ।
उक्तं श्रुतं स्मृतं दृष्टं स्पृष्टं रसितमेव यत् ॥३६॥
अवश्याद्याति तच्चित्तमथ कस्माद्विवर्जयेत् ।
यथा यथा परिचयं यत्र यत्र करोत्ययम् ॥३७॥

तथा तथा स तन्निष्ठो रमते तत्र तत्र च ।
अभागवत भागस्था क्षीयते वासना यथा ॥३८॥
तथा यतेत पुरुषो मनोवाक्कायकर्मभिः ।
सर्वत्र मैत्रीं कुर्वीत विवादं नाचरेत्क्वचित् ॥३९॥
न नासाचपलः कर्मी न जिह्वाचपलो भवेत् ।
अन्येषामिन्द्रियाणां च चापल्यं वर्जयेद् बुधः ॥४०॥
नान्यैरवमतोद्द्यान्नान्यभक्तान्समाश्रयेत् ।
अधीतं नोत्सृजेच्छास्त्रं न ब्रूयादनृते क्वचित् ॥४१॥
शपथं नाचरेत्पादं संस्पृश्य गुरुदेवयोः ।
वाचि कर्मणि चित्ते च सर्वदा यश्शुचिर्भवेत् ॥४२॥
अतन्द्रितश्च शास्त्रार्थे योगसिद्धिं स गच्छति ।
अनुद्वणच्छत्र वासा नियतासनभोजनः ॥४३॥
अनुद्धतजनैर्युक्तो योगसिद्धिं स गच्छति ।
नक्तं न संचरेद्योगी संचरेद्यदि दण्डधृक् ॥४४॥
ससहायस्सावकाशः संचरेत्कार्यगौरवात् ।
कूपं च वृक्षमूलं च सभावासं रिपोर्गृहम् ॥४५॥
शून्यायतनमेवापि न पश्येन्नक्तमञ्जसा ।
नक्तमुक्तैर्न वक्तव्यं विवादं न स्मरेद्बुधः ॥४६॥
निष्प्रदीपे न भुञ्जीत विशेषान्निवृते पुनः ।
प्राग्रात्रो (?) मास्थाय भुक्त्वा च मितमत्वरः ॥४७॥
प्रोक्षितं सपवित्राद्भिराविशच्चयनोत्तमम् ।
यावन्निद्रा समभ्येति तावद्धि मनसा जपेत् ॥४८॥

निद्रान्तरे प्रबुद्धस्सन् कीर्त्तयेद्भगवद्गुणान् ।
सुवस्त्रवेषधरया स्नातया दुर्विचित्तया ॥४६॥
अरोगया दयितया स्वयमेवं विनिवेशयेत् (सदावसेत्) ।
या तु क्षयो रोग वृद्धिरश्रीसत्कर्मविप्लवः ॥५०॥
सौभाग्यायुर्यशो नाशः पुंसा स्त्रीष्वपि सर्गिणां ।
गायतां भगवद्गाथां कुर्वतां स्तोत्र मुच्चकैः ॥५१॥
शृण्वन् श्रोत्रसुखं नादं निद्रामनुभवेद्बुधः ।
स्वप्नेषु चैव दृष्टेषु प्रियां भार्यं गुरुं तथा ॥५२॥
विना न कथयेत्स्वप्नं अन्येषा (?) नमेव वा ।
दुःस्वप्नदर्शने सद्यः उत्थायाम्बुकृतक्रियः ॥५३॥
प्रणम्य पादयोर्देवं जप्त्वा स्तोत्राणि कीर्त्तयेत् ।
दुःस्वप्नानुगुणं प्रातः स्नानदानार्चनादिभिः ॥५४॥
कुर्याद्विशेषवत्कर्म यथा चित्तं प्रसीदति ।
सुखनिद्रारतः काले भवत्युत्थाय सत्वरः ॥५५॥
प्रक्षाल्य पादावाचम्य युञ्जीतापि यथाविधि ।
आद्यन्तवर्जं निद्राया योग्यं यामद्वयं निशि ॥५६॥
चतुर्थं याममुत्थाय योगी योगं समाचरेत् ।
साक्षात्परमयोगस्तद्द्वादशाक्षरविद्यया ॥५७॥
भगवद्वासुदेवस्य पादाम्बुरुहचिन्तनम् ।
ओमित्येकाक्षरं साक्षात् वासुदेवस्य वाचकः ॥५८॥
ओमित्युच्चारणेनैव वाच्यमानीयते परम् ।
ओमित्यानीय तद्ब्रह्म नमस्कार प्रदेन तु ॥५६॥

तदीयं तत्क्रियार्हं च तवैवेति निगद्यते।
अव्यक्तार्थतया तस्य प्रणवस्य विशेषतः ॥६०॥
तदर्थद्योतनादेतमुदितं भगवत्पदम्।
अन्यत्रापि च तद्दृष्टमित्यनन्यपरं वचः ॥६१॥
वासुदेव (?) इतिदन्तस्य चोपरि।
नमः परपदं योगादुपरिस्थपदद्वयम् ॥६२॥
चतुर्थ्यन्तमभून्नित्यं योगिनां योगसिद्धये।
ओङ्कारपदमेवैकं योगिनां योगसिद्धये ॥६३॥
द्वादशाक्षररूपेण परिणाममुपागतम्।
मन्त्रान्तरेष्वपि बुधा देवतान्तरभागिषु ॥६४॥
प्रयुञ्जते तदोङ्कारं मन्त्राणां प्राणसिद्धये।
मन्त्रान्तरे प्रयुक्तत्वाद्देवतान्तरगोचरे ॥६५॥
अवक्त्रर्थस्तथोङ्कारः केवलेनैव धारकं।
पक्वयोगशरीराणामेवं ज्ञानवतामपि ॥६६॥
समासन्नेऽपि तज्ज्ञाने तन्मात्रं नैव साधनं।
अपक्वयोगज्ञानानामपि वेदविदां नृणाम् ॥६७॥
द्वादशाक्षरयोगेन दूरस्थं तदिहान्तिके।
स्मृतमात्रो महामन्त्रो सुसूक्ष्मे द्वादशाक्षरे ॥६८॥
चित्तदर्पणसङ्क्रान्तः ससुखं लक्ष्यते हरिः।
अतश्च द्वादशान्तेन स्वाध्यायेन जनार्दनम् ॥६९॥
आसन्नतां प्रयात्याशु ब्रह्मण्यर्पितकर्मणां।
स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ॥७०॥

स्वाध्याय योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।
पाञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य च्छिद्रञ्चे (कै)कमिन्द्रिया(म्) ॥७१॥

ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा (?) तेः पादादिवोदकम् ।
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥७२॥

बुद्धिश्च न विचेष्टेत तमाहुः परमं हितम् ।
देवानामपि सर्वेषां समानायो जनार्दनः ॥७३॥

द्वादशाक्षरमन्त्रोऽयं मन्त्राणां नाथ उच्यते ।
यथौषधीनाममृतं मणीनां कौस्तुभो यथा ॥७४॥

सर्वेषामेव धर्माणां श्रेष्ठो भागवतो विधिः ।
सर्वधर्मान् समुत्सृज्य पाञ्चकालमनुव्रताः ॥७५॥

व्यामिश्रयागनिर्मुक्ता गच्छन्ति पुरुषोत्तमम् ।
व्यामिश्रयाजिनां ब्रह्मणि नर्पिलतसुवृत्तिनाम् ॥७६॥

यततामपि वा नित्यं पदमेषां परं स्थितं ।
अकर्मकर्तृ चैवस्याज्ज्ञानं वा कर्म संभवेत् ॥७७॥

कर्मयोगस्तथा वास्याद्योगः कर्मपरं तथा ।
तस्मात्परमकं शास्त्रं नास्मत्कर्मपरं तथा ॥७८॥

नास्मात्परमकं ज्ञानं नास्मात्परमकं सुखम् ।
ऋग्यजुस्सामसंज्ञेषु वेदशब्दः प्रयुज्यते ॥७९॥

इदं सदागमाख्यां तु वेदशास्त्र मितीरितम् ।
इति संक्षेपतः प्रोक्तः सदाचारो यथागमम ॥८०॥

तथा शास्त्रस्य माहात्म्यं विशेषश्चैकयाजिनां ।
इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणो भगवत्परः ॥
श्रियं यशश्च विपुलं दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥८१॥

इति श्रीशाण्डिल्यधर्मशात्रेशास्त्रप्रशंसावर्णनं नाम
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

॥ शुभम्भूयात् ॥

॥ श्री :

* कण्वस्मृतिः *
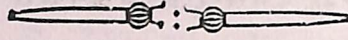
धर्मसारवर्णनम्

कण्वं नत्वा महाभागं मुनयो ब्रह्मवित्तमाः ।
युगभेदप्रभेदेन सर्वधर्मान्सनातनान् ॥ १ ॥
पप्रच्छुरखिलज्ञप्त्यै लोकानां हितकाम्यया ।
कण्व वेदविदां श्रेष्ठ सर्वलोकहिताय वै ॥ २ ॥
सर्ववैदिककृत्यानां मुख्यामुख्यगुणागुणम् ।
प्रविभज्य समासेन सुस्पष्टं कथयस्व नः ॥ ३ ॥
मुख्यं कल्पममुख्यं च गौणं काम्यमियत्तमः ।
एवमेतत्तथा नोचेत्साध्या साध्येचतत्परम् ॥ ४ ॥
चित्तंसद्यस्तत्रतत्र संग्रहेणानुविस्तरम् ।
सुस्पष्टं सुलभं तुल्ययोगयोग्यं तथा वद ॥ ५ ॥
इतिपृष्टो ब्रह्मनिष्ठ इदं प्रोवा च तान्प्रति ।
पृष्टं भवद्भिः परमं रहस्यं स्वर्गसाधनम् ॥ ६ ॥
चित्तशुद्धिकरं ब्रह्म ज्ञानकारणमद्य वै ।
न शक्यतेऽन्यैरेतद्धिवक्तुं श्रोतुं च कैश्चिदु ॥ ७ ॥
अथापि वः प्रवक्ष्यामि धर्मसारं श्रुतीरितम् ।
मुख्यामुख्ये विभज्यैव चित्तपूर्वं द्विजोत्तमाः ॥ ८ ॥

क्रिया कर्ता कारयिता कारणं तत्फलं हरिः।
सर्वमीश्वरमेवेति बुद्धिर्यस्य सदास्थिरा ॥ ९ ॥
स एव कृतकृत्यो हि सतु ज्ञानस्य भाजनम्।
तत्कृतस्य च कार्यस्य वैगुण्यं नैव जायते ॥१०॥
कदाचिदपि केनापि नात्र कार्या विचारणा।
यत्किंचिद्वा कृतं तेन पारमेश्वरतुष्टये ॥११॥
तदक्षयममोघं स्यादब्रह्मज्ञानैकसाधकम्।
यथाशास्त्रकृतं च स्यादशास्त्रकृतमप्यलम् ॥१२॥
परमेश्वरतुष्ट्यर्थकृतं तस्मात्तथा चरेत्।
तस्मादगू (णु) सर्वत्र परमेश्वरतुष्टये ॥१३॥
करिष्ये कर्मचेत्युक्त्वा सर्वकर्माण्युपक्रमेत्।
परमेश्वरशब्दंयेत्यकत्वान्यंशब्दमुत्तमम् ॥१४॥
कर्मादिषु प्रकुर्वन्ति तानि वैगुण्यमाप्नुयुः।
सद्यएव न संदेहस्तस्मात्तं तादृशशिवः ॥१५॥
परमेश्वरशब्दं ये कर्मादिषुसमाहितैः।
प्रवदेद्वैदिकैः सिद्धिः ब्रह्मशब्दोऽथवा सदा ॥१६॥
श्रीशब्दपूर्वको नित्यं तावन्मात्रेण साक्रिया।
सम्यक्कृता दोषशून्या सर्वलक्षणभूषिता ॥१७॥
सर्वाङ्गोपाङ्गसहिता सर्वमन्त्रकृता भवेत्।
देशःकालश्च वक्तव्यः कर्मादौ प्रत्यहं द्विजैः ॥१८॥
तत्र देशाखिलानां च मेरुदक्षिणभागगः।
षट्पञ्चाशत्प्रभेदेन कथितस्तं तथा वदेत् ॥१९॥

जम्बूद्वीपं भारतस्य वर्षं भारतखण्डकम् ।
सर्वसाधारणाम्प्रोक्तमिदं संकल्पमात्रके ॥२०॥
यस्मिन्देशे स्थितो मर्त्यस्तं देशं स्वगृहावधि ।
समुच्चरेत्पैतृकेषु नान्यत्रैवं विदुर्बुधाः ॥२१॥
गण्डक्या अपि गङ्गाया नर्मदायास्तथैव च ।
गोदावर्याश्चकृष्णायाः कावेर्याश्चततः परम् ॥२२॥
ताम्रपर्ण्याश्चसेतोश्चमध्यभागं पठेद्धि सः ।
कालं परार्धं प्रथमं कल्पं मन्वन्तरं युगम् ॥२३॥
तत्पादं संवत्सरं मासमृतुं पक्षं तिथिं ततः ।
क्रमाद्वरेणसंयुक्तं समुच्चार्य च तादृशे ॥२४॥
सप्तम्यन्तेन च तिथौ करिष्यामीति कर्मणः ।
नामोच्चार्य वदेदेवमेतत्सङ्कल्पमुच्यते ॥२५॥
संवत्सरऋतुर्मासोयुगः पक्षस्तिथिस्तथा ।
त एते कालभेदाःस्युश्चन्द्रगत्यासमुद्भवाः ॥२६॥
यावत्कलाश्चन्द्रस्य प्रथमायावदीरिता ।
वृद्धिक्षयौयावत्तुप्रथमेत्युच्यतेवुधैः ॥२७॥
एवं सर्वेऽपि तिथयो ज्ञेयाः पञ्चदशापि वै ।
सुरपीतस्यचन्द्रस्य कलावृद्धिक्षयौ स्मृतौ ॥२८॥
घटिकापष्टिसाध्या हि प्रकृत्याथापि तत्परं ।
अतिवृद्धिक्षयसमगतिभेदैस्तत्तत्तदातदा ॥२९॥
यामार्धयामघटिकाद्वित्रिपञ्चक्षणादयः ।
व्यवस्थारहिताश्चस्युस्तिथ्यादीनां निशापतेः ॥३०॥

तस्मात्सर्वेषु चाब्दादिकालभेदेषु चन्द्रमाः ।
एक एव भवेत्कर्तानान्यः कश्चन चोदितः ॥३१॥
सूर्यादीनां तु कर्तृत्वमुपचारात्प्रकीर्तितम् ।
वस्तुतस्तच्च कर्तृत्वं याथार्थ्यात्तु विधोर्मतम् ॥३२॥
तस्मान्मानस्तु चान्द्रोऽयं सर्ववैदिककर्मसु ।
परिग्राह्यो भवेन्नूनं तेन मानेन वैदिकः ॥३३॥
तस्मात्सर्वाणि कर्माणिनियनैमित्तिकान्यपि ।
पैतृकाण्यपि दैवानि यानिकान्यखिलान्यपि ॥३४॥
क्रान्तप्रयुक्तानि विना चान्द्रेणैव समाचरेत् ।
क्रियमाणेऽन्यथा तस्मिन्यस्मिन्कस्मिंश्चकर्मणि ॥३५॥
पक्षमासर्तुभेदः स्यात्तस्मात्संकल्प एव सः ।
अन्यथैव भवेन्नूनं तस्मात्तत्कर्म केवलम् ॥३६॥
अन्यथैवं कृतं स्याद्धि तेन तत्तु विनश्यति ।
कालभेदकृतं कर्म तस्मात्तन्न तथाचरेत् ॥३७॥
युगाब्दमासर्तुपक्षतिथयस्तत्रमुख्यतः ।
चान्द्रमाने संभवन्त्विक्कृताश्चनियताः पुनः ॥३८॥
यएते कथिताः सद्भिरन्ये ह्यनियताः किल ।
क्रान्तयो निखिलालोनिश्चयागमवर्जिताः ॥३९॥
तेषां मासत्वनामेदं मुख्यतस्तु न संभवेत् ।
मासादिमध्यान्तलक्ष्मराहित्येन तथोदितम् ॥४०॥
तदाहि तत्सम्यगेव प्रकृतेऽप्यनिरूप्यते ।
इन्द्राग्नी हूयते यत्र मासादिः संप्रकीर्तितः ॥४१॥

अग्नीषोमौ स्थितौ मध्ये समाप्तौ पितृसोमकौ ।
किंच तन्मासपर्यायशब्दानां तदनन्वयात् ॥४२॥
नराशयो मुख्यमासास्तेहीमेकथिताश्शिवाः ।
चैत्रादयो द्वादशापि सतु मेषा दयस्तुते ॥४३॥
माससामान्यशब्दाःस्युस्ते चैतेषु भवन्ति हि ।
तानप्युदाहरिष्यामि स्पष्टार्थं सप्र सांप्रतम ॥४४॥
दर्शान्तः पूर्णिमामध्यः ऋत्वर्धः प्रतिपन्मुखः ।
त्रिंशत्तिथिः पक्षयुगं कृत्स्नाब्दक्षयवृद्धिकः ॥४५॥
मासवाचकशब्दाः स्युस्त इमे तत्रनोतराम् ।
सौरमाने प्रवर्तन्ते मासेषु किल सर्वदा ॥४६॥
सर्वे मेषादिशब्दास्ते राशीनामेव वाचकाः ।
समासानां मुख्यतो वै गुणतश्चेत्कदाचन ॥४७॥
तद्वाचकत्वकार्याय भवन्ति किल तावता ।
कथं ते मुख्यमासाःस्युस्तद्द्वयंऋतुरीरितः ॥४८॥
तत्षट्कं वत्सरः प्रोक्तस्तस्मादब्दमृतुं ततः ।
मासं पक्षं तिथिं चापि मार्गेणानेन सन्ततम ॥४६॥
सम्यगालोच्य संकल्पेव्यत्यासे न भवेद्यथा ।
तथासमुच्चरेत्सर्वान न्यूनानतिरिक्ततः ॥५०॥
तिथ्यादीन्यदि संकल्पे व्यत्यासेनोच्चरेतदा ।
पुनः कुर्यात्तु तत्कर्म नष्टं तत्तेन तावता ॥५१॥
स्नानद्वये नित्यमेव संकल्पं सम्यगाचरेत ।
कालादीन्प्रवदेच्चापि त्वरन् यदि तदा पुनः ॥५२॥

संप्राप्तास्मदुरितक्षयद्वारेति ततः पुनः ।
परमेश्वरतुष्ट्यर्थं करिष्यामीति वा वदेत् ॥५३॥
करिष्ये वेति वा नित्यं नित्यकर्मसु केवलम् ।
अलमेतावदेवेति रहस्यं श्रुति(वेत्ति)तन्मनः ॥५४॥
यत्र यत्रोच्चार्यते सः शब्दोऽयं परमेश्वरः ।
श्रीशब्दस्तत्र तत्र स्यादन्यथा शुभभाङ्न तु ॥५५॥
शम्भुः पुण्यशिवश्रीभिरास्व(श्व)न्तः कालकीर्तनात् ।
भवन्ति श्रीशुभावासास्तस्मादेतास्तदा वदेत ॥५६॥
(भवन्त्यस्याः शुभाः सर्वे स्तोतारएतास्ततस्त्यजेत्)
आशौची प्रोक्तशंभ्वादि शब्दानां श्रुतिमात्रतः ।
आशौच मध्ये यदितान् श्रीशम्भु शुभपुण्यकान् ।
आशौची प्रवदेन्मोहात्तस्याशौचस्य सर्वदा ॥५७॥
वृद्धिरेव भवेन्नूनं तस्मात्तानति यत्नतः ।
प्रसमीक्ष्य त्यजेन्नूनमन्यथानर्थ एव वै ॥५८॥
भवेदेव न सन्देहः अतस्तानत्र संत्यजेत ।
नैमित्तिकेषु सर्वत्र सर्वेष्वपिशुचिर्यतन ॥५९॥
देशं कालविशेषांस्तान्संकल्पे प्रवदेद् भृशम ।
उक्तिरेव हि संकल्पः कर्मादिषु न मानसः ॥६०॥
सभाऽभ्यनुज्ञा च परावश्यकी दक्षिणा च सा ।
तिथिभेदान्मासभेदात्पक्षभेदादृतोस्तु वा ॥६१॥
अब्दभेदात्कर्मनष्टं प्रवदेन्नात्र संशयः ।
भेदो नामात्रसंकल्पे तथोक्तिरिति तत्स्मृतम् ॥६२॥
अयनस्यप्रभेदोक्तिर्नदोपाय भवेत्किल ।
यतोऽयनस्य सततं कर्तृभिर्नास्ति ततस्तथा ॥६३॥

मेषादीनामनेनैव नक्षत्रस्य च सर्वदा।
प्रभेदोक्तौ न दोषोऽस्ति तेन तेषां कदाचन ॥६४॥
उक्तिरावश्यकी नेति संकल्पे श्रुतिराह हि।
तस्मादब्दमृतुं मासं पक्षं तस्य तिथिं शिवाम् ॥६५॥
संकल्पे ह्यत्यजन्सर्वान्प्रवदेत्सर्वकर्मसु।
एतेषामन्यथोक्तौ चेत्संकल्पे तच्च कर्म वै ॥६६॥
नष्टमेव प्रभवति तेन तच्च पुनश्चरेत्।
अन्यथा दोषमाप्नोति नात्रकार्या विचारणा ॥६७॥
श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म विहितं वैदिकस्य यत्।
तदुक्तेनैव मार्गेण कर्तव्यं नान्यथा चरेत् ॥६८॥
यदि प्रमादेन कृतमन्यथा शास्त्रवर्त्मनः।
तस्यतद्दोषशान्त्यर्थं सद्यश्चित्तं श्रुतीरितम् ॥६९॥
स्मृत्युक्तं वाथ सूत्रोक्तं पुराणोक्तमथापि वा।
समाचरेद्विधानेन भक्तिश्रद्धापुरस्सरम् ॥७०॥
कृतमात्रे तु तस्मिन्वै प्रायश्चित्ते तक्षणात्ततः।
तद्दोषो विलयं याति तेनायं स्यात्कृती शुचिः ॥७१॥
भवेदेव न संदेहो न चेद्दोषोऽभिवर्तते।
कालेन महता भूयो दृषत्सु वटबीजवत् ॥७२॥
तस्माद्दोषं समुत्पन्नं सद्यएव प्रशामयेत्।
बाडवः प्रातरुत्थाय स्मरेदीश्वरमव्ययम् ॥७३॥
पादौ प्रक्षाल्य गण्डूषं कृत्वाऽऽचम्य विधानतः।
सप्तर्षीनपि मैनाकं मेरुं मन्दरपर्वतम् ॥७४॥

गन्धमादनसंज्ञं च लोकालोकं गिरीश्वरम् ।
हिमवन्तं च कैलासं पुनरन्याञ्छुभाकरान् ॥७५॥
पतिव्रताः पार्वतीम्वा अहल्यां द्रौपदीं शिवाम् ।
तारां मन्दोदरीं पुण्यां नित्यकल्याणसुन्दरीम् ॥७६॥
सीतामरुन्धतीं लक्ष्मीं भारतीं परमेश्वरीम् ।
इन्द्राणींपुनरन्याश्च नित्यकल्याणमूर्तिकाः ॥७७॥
ब्रह्मनिष्ठान्महाभागान्ब्राह्मणान्संशितव्रतान् ।
लोकपालान्लोकनाथान्ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् ॥७८॥
स्मृत्वा ब्रह्मैक्यसंधानं कृत्वा ब्रह्माहमित्यपि ।
सर्वेभ्यश्च नमस्कुर्यान्नमो महद्भ्यइति वै वदेत् ॥७९॥
तत्र ध्यानादि(?)स्मरणयोः कालादिनियमो नहि ।
यदावकाशो लभते तदानित्यं तु शक्यते ॥८०॥
कर्तुं किलाथ च पुनः प्रातश्चेत्तद्विशिष्यते ।
पादप्रक्षालनं नित्यं पश्चिमाभिमुखश्चरेत् ॥८१॥
यद्यन्यथाकृतं तत्तु तदाम्भस्तत्क्षणे परम् ।
मूत्रमेव भवेन्नूनं दक्षिणाभिमुखात्कृते ॥८२॥
उदगाभिमुखे चेत्तु तज्जलं रक्तमेव हि ।
प्राक्तु चेत्तज्जलं मद्यं तत्स्पृष्टोऽयं हि जायते ॥८३॥
पादप्रक्षालनं पश्चात्पश्चिमाभिमुखेन हि ।
कर्तव्यं सततं यत्नान्नान्यया हरिता क्वचित् ॥८४॥
सार्वकालिकधर्मोऽयं सार्ववर्णिक एव च ।
वैदिको निखिलो भूयो नूनं निश्चिनुताऽधुना ॥८५॥

श्राद्धे विवाहे यज्ञे च मौञ्ज्यां स्वस्य परस्य वा ।
दिगियं नियता प्रोक्ता तत्कर्मण्यागते सति ॥८६॥
दक्षिणादिक्कृते तस्मिन्कदाचिद्यदि मोहतः ।
अयं मन्त्रो जपार्थःस्यात्पवमानः सुवर्जनः ॥८७॥
प्राच्यादिशस्तथामन्त्रस्तदुत्तरइति श्रुतिः ।
उत्तरस्यां दिशि प्रोक्तस्तस्या अप्युत्तरो महान् ॥८८॥
श्राद्धकाले स्वयं चेत्तु तथा विप्रस्य वा वशात् ।
तस्यास्यचा(न्यृचे)ऽनुवाकस्य दशवारजपो भवेत् ॥८६॥
मौञ्ज्यां मोहेन चेद्भूयस्तथा कर्मण्य(न्या)(णि)दिक्षु वै ।
अग्ने तेजस्विन्ननुवाकं द्वादशबारकम् ॥६०॥
अग्नेस्तु पुरतस्तिष्ठन् प्रजपेत्पाणिपीडने ।
श्रीसूक्तं पूर्वानुवाकं तथापि द्विगुणं जपेत् ॥६१॥
यज्ञे तु संभारयजूंषि पत्न्यनुवाककम् ।
पुरुषसूक्तं वैष्णवं च ऋचं द्वादशवारकम् ॥६२॥
प्रजपेदेव तस्मात्तु पादप्रक्षालनं तदा ।
पश्चिमाभिमुखेनैव कर्तव्यं नान्यथा मतम् ॥६३॥
मुखशब्दमकुर्वन्वै नित्यं गण्डूषमाचरेत् ।
सर्वतो मुखहस्ताभ्यां शुद्धाभ्यां प्राङ्मुखोऽथवा ॥६४॥
उदङ्मुखो यथेच्छं वा सशुद्धकरतस्तदा ।
तथा शुद्धाभिरद्भिर्वा विपद्यपि न चाचरेत् ॥६५॥
यदि गण्डूषकाले तु मुखाच्छब्दः प्रजायते ।
वाग्गतं तज्जलं तस्य श्वमूत्रसदृशं भवेत् ॥६६॥

तद्दोषपरिहाराय गायत्रीं त्रिशतं जपेत् ।
एवमाचमने प्रोक्तं जलपाने च भोजने ॥९७॥
भक्षणे चापि भक्ष्याणां खाद्यानामपि खादने ।
भोज्यानां भोजने चापि तथा वै लेह्यचोष्ययोः ॥९८॥
अशब्दं सर्वतः कुर्वन् तत्तत्कर्म समाचरेत् ।
यदि शब्दं तथा कुर्वन् सद्यो निरयमृच्छति ॥९९॥
तद्दोषपरिहाराय पूर्वचित्तं समाचरेत् ।
विशेषतस्तक्रदधिपयोदधिघृतादिषु ॥१००॥
यदि शब्दः समुत्पन्नः पाने वा भक्षणे यदि ।
महाननर्थो भवेत्सद्यः तद्द्रव्यं मद्यमेव हि ॥१०१॥
भवेदेव न सन्देहस्तस्य चित्तं ततस्त्विदम् ।
पक्षं तु यावकाहारो निराहारो दिनत्रयम् ॥१०२॥
अष्टानां वा चतुर्णां वा ब्राह्मणानां च भोजनम् ।
कुर्यादेव न संदेहोऽथवा गायत्रमाचरेत् ॥१०३॥
त्रिसहस्रजपं मासं संहितात्रयमेव वा ।
चित्तं तत्कथितं तस्मान्न तत्कुर्यात्तथा द्विजः ॥१०४॥
नित्यं मूत्रपुरीषादिकर्मस्वेषु प्रचोदितम् ।
यत्र यत्र ह्याचमनं द्वयं (तत्र) तत्र परो विधिः ॥१०५॥
अयमेव समाख्यातः प्रथमाचमने खलु ।
मन्त्रो मानसिकः कार्यः कदाचिन्न तु वाच(चि)कः ॥१०६॥
द्वितीयाचमने सम्यङ्मन्त्रोच्चारस्तु वाचिकः ।
न मानसः कदा कार्यः प्रथमे तु तथा चरेत् ॥१०७॥

तद्दोषाय भवेदेव तथा तन्न समाचरेत् ।
तद्दोषपरिहाराय तान्मन्त्रांस्तु ततः परम् ॥१०८॥
पुण्डरीकाक्षदशकं जपपूर्वंशताष्टकम् ।
प्रजपेदन्यथा दोषः स तु शान्तो भवेन्न तु ॥१०९॥
कदाचित्तु जलाभावे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ।
त्रिवारं तत्र पूर्वं वै तूष्णीमेव ततः परम् ॥११०॥
ओंकारस्तु समुच्चार्यो नचेत्कृष्णस्मृतिः परा ।
शिवस्मृतिर्वा परमा कर्तव्या स्यात्सभक्तितः ॥१११॥
विभक्त्यैव प्रथमया वचनं तत्स्मृतिर्भवेत् ।
प्रायश्चित्तेषु सवत्र नामस्मृतिविधानके ॥११२॥
उक्तिरेव समाख्याता न तु मानसईरितः ।
मन्त्राणामप्येवमेव सर्वत्र विहितो हि वै ॥११३॥
सर्वदाचमनं तद्धि नामकं यत्प्रशस्यते ।
मान्त्रिकं तु सदा कर्तुं शक्यते स तु तत्किमु ॥११४॥
चेत्तत्तु च प्रवक्ष्यामि यदि शुद्धस्तवापरम् ।
कर्तुं हि मन्त्राचमनं शक्यते नान्यथा ततः ॥११५॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु सर्वदेशेषु चाखिलैः ।
सुलभाचमनं विद्धि नामाचमनमेव वै ॥११६॥
कर्तव्यत्वेन सौलभ्यादङ्गीकृतमिदं परम् ।
माषमग्नजलस्यैव पानं तत्र परं मतम् ॥११७॥
न्यूनाधिकाभ्यां तच्चेत्तु महत्पापं समश्नुते ।
तद्दोषपरिहाराय सन्ध्यावन्दनकर्मणि ॥११८॥

त्रिपदा नामगायत्री जलप्रक्षेपणं बुधैः ।
विहितत्वेन कथितं तेन तच्छाम्यतेऽखिलम् ॥११९॥
प्रायश्चित्तोक्तमन्त्राणां सर्वेषां सर्वदा परम् ।
किं कार्यमपरिज्ञाने इदं विष्णुश्च व्याहृतिः ॥१२०॥
कर्तव्यत्वेन विहिते गायत्री च तथा तदा ।
नैतेभ्यस्तारकाः सन्ति तस्मात्तान्प्रवदेद् बुधः ॥१२१॥
नैर्ऋत्यां निषुनिक्षेपे कुर्यान्मूत्रपुरीषके ।
जलपात्रेण मृत्पात्रं शुचौ निक्षिप्य दूरतः ॥१२२॥
उदगह्नि तथारात्रौ एवं वै दक्षिणामुखः ।
यद्येतद्व्युत्क्रमात्कुर्यात्सूयश्चेति महामनुम् ॥१२३॥
कृत्वा शौचं विधानेन ततस्तु प्रजपेत्तदा ।
अग्निश्चेति च मन्त्रं च अबद्धं मनुरेव च ॥१२४॥
चतुर्विंशति वाचं वै शतमष्टोत्तरं शतम् ।
गायत्रीमपि तापेन ततश्शुद्धो भवेदसौ ॥१२५॥
मेहने चैकवारं स्याद्गुदे पञ्च तथैव हि ।
पादयोः करयोश्चापि पृथक्त्वेन समाचरेत् ॥१२६॥
एव हि मृत्तिकाशौचं गृहस्थानां विधीयते ।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां स्याच्चतुर्गुणम् ॥१२७॥
वर्णी गृही वनस्थो वा न कुर्यान्मृत्तिकाक्रियाः ।
पयस्तुर्यांशपर्याप्तं तस्य चित्तमिदं स्मृतम् ॥१२८॥
मृत्तिकेहनमन्त्रादि कृत्वा तत्परमां गतिम् ।
पर्यन्तं हि त्रिवारं स्याज्जपं कृत्वा शुचिः स्वयम् ॥१२९॥

एककालस्य चित्तं स्यादेवं तत्कालसंख्यया ।
सम्यक्समीक्ष्य तत्कुर्यादन्यथा भ्रष्ट एव हि ॥१३०॥
भवेदेव न संदेहस्तदूर्ध्वं चेत्तथाविधैः ।
पुनस्संस्कारतश्शुद्रो भविष्यति न चान्यथा ॥१३१॥
यदि प्रक्षालनं त्यक्त्वा मेहनस्य गुदस्य वा ।
चरेद्विप्रो व्रात्यएव न संभाष्योऽखिलैरपि ॥१३२॥
मोहना (त्) क्षालनान्मासं मात्राद्यदिविपर्ययात् ।
भ्रष्टो भवेत्ततो भूयः पुनस्संस्कारतश्शुचिः ॥१३३॥
यथार्थकथनान्नित्यं चित्ते कर्ता भवेन्न तु ।
बुद्धिपूर्वगुदप्रक्षालनशून्योऽभक्षणे ॥१३४॥
जाते तु सद्यः पतितस्तद्यथार्थोक्तितः परम् ।
आषण्मासाच्चित्तकर्मकर्तुं शक्यं ततः परम् ॥१३५॥
पतितो नात्र सन्देहश्चित्तं तस्य च चोदितम् ।
पुनर्गर्भविधानेन पुनः संस्कारतस्तराम् ॥१३६॥
शुद्धिः प्रकथिता सद्भिस्तप्तस्यैव न चान्यथा ।
कृत्वा तु तादृशं कर्म न कृतं चेति वक्ष्यति ॥१३७॥
संत्याज्य एव सततं न योग्यो यस्य कस्यचित् ।
चरणौ च करौ सम्यक् प्रक्षाल्य च ततः परम् ॥१३८॥
नाचामेद्यदि तूष्णीकं भवेन्नात्रसंशयः ।
पुनः प्रक्षाल्याचामेच्च तौ पापस्य विशुद्धये ॥१३९॥
अनाचम्यैव यो मोहाद्वेदवर्णं समुच्चरेत् ।
भ्रूणहत्यामवाप्नोति तत्पापविनिवृत्तये ॥१४०॥

पाहि त्रयोदशाख्यमनुवाकं शतं जपेत् ।
लौकिकोक्तेरिदं विष्णुं प्रजपेद्दशवारकम् ॥१४१॥
कदाचिन्मोहतो विप्रः अकृत्वा दन्तधावनम् ।
स्नायात्कृत्वा दन्तशुद्धिं पुनः स्नायाद्यथाविधि ॥१४२॥
तृणपर्णैस्सदा कुर्यादमामेकादशीं विना ।
तयोरपि च कुर्वीत जम्बूप्लक्षाम्लपर्णकैः ॥१४३॥
अष्टकासु मृताहेषु असामनुयुगादिषु ।
महालयेषु पुण्येषु संक्रान्तिष्वयनद्वये ॥१४४॥
व्यतीपाते गजच्छाया ग्रहणादिषु सूतके ।
पुनरन्यासु तिथिषु स्वजन्मत्रितये तथा ॥१४५॥
दन्तधावनतः पापं महदाप्नोति केवलम् ।
तद्दोषपरिहाराय अग्नेर्मन्वानुवाककम् ॥१४६॥
स्नात्वा संकल्प्य विधिना प्रजपेत्पञ्चवारकम् ।
पवित्रपाणिराचान्त उपविश्यैव नान्यथा ॥१४७॥
तिष्ठन्धावन्प्रजल्पन्वा जपेद्यदि निरर्थकम् ।
भवेदेव न सन्देहस्तस्मात्तन्न समाचरेत् ॥१४८॥
यदि संध्यां प्रकुर्वीत चाकृत्वा दन्तधावनं ।
व्यर्था भवेत्तु सा संध्या तस्मात्तद्भूय एव वै ॥१४९॥
दन्तधावनतः पश्चात्कुर्वीतैव यथाविधि ।
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिर्भविष्यति ॥१५०॥
तथैव पैतृके कुर्यात्तद्भिन्नेषु तथा न तु ।
नित्यं स्नानं द्विजः कुर्यात्प्रातरुत्थाय धर्मतः ॥१५१॥

देवर्षिपितृतृप्त्यर्थं अन्यथा तेऽखिलाः परम् ।
शपन्त्येतं जीवनाशावशतः कोपिता हि ते ॥१५२॥
स्नातुं प्रयान्तं विबुधाः पितरो मुनयोऽखिलाः ।
दृष्ट्वा पयोऽर्थिनः सन्त अनुधावन्ति पृष्ठतः ॥१५३॥
यदि तेषां तज्जलं हि दत्वैव किल मौढ्यतः ।
सर्वस्वाङ्गसमुत्सृष्टमन्यत्र किल गच्छति ॥१५४॥
तूष्णीं तिष्ठन्ति वा मूढा भवेत्तच्छापभाजनम् ।
तस्मात्स्नात्वा प्रयत्नेन देवादीनां विधानतः ॥१५५॥
देयमेव भवेन्नूनं सर्वस्वाङ्गविनिर्गतम् ।
स्नानाङ्गतर्पणं चापि नित्यं कार्यं विधानतः ॥१५६॥
अकृते तर्पणे तस्मिन्वृथैव प्रभवेत्तु तत् ।
कुर्वीत तर्पणं सर्वं स्नानेषु किल मार्जनम् ॥१५७॥
संकल्पं तद्द्वयंचापि नचेत्स्नानं तु तद्भवेत् ।
यद्यशक्तो भवेत्स्नातुं सलिलेषु विधानतः ॥१५८॥
नदीतटाककूपेषु स्नानमुष्णेन वा चरेत् ।
कण्ठस्नानं कटिस्नानं पादस्नानं तु वा चरेत् ॥१५९॥
तत्रापि यद्यशक्तश्चेत्सर्वमुष्णेन वाऽऽचरेत् ।
अथवा कापिलस्नानं प्रोक्षणस्नानमेव वा ॥१६०॥
स्नातस्नानं वा कुर्वीत शुद्धवस्त्राणि वा धरेत् (धारयेत्) ।
कायानुगुणतस्सर्वं कार्यमेव न चान्यथा ॥१६१॥
प्रातस्संक्षेपतः स्नानं होमार्थं तु विधीयते ।
मध्याह्ने तु यथाशास्त्रं शनैस्सर्वं समाचरेत् ॥१६२॥

जलस्नानं सर्वथा चेदशक्तः कर्तुमेव वै ।
कायानुगुणतो यद्वा स्नानमेकं समाचरेत् ॥१६३॥
बहुप्रोक्तेषु सर्वेषु दिव्यस्नानं विशेषतः ।
दुर्लभं सर्वमेतद्धि गङ्गास्नानसमं हि तत् ॥१६४॥
न संकल्पादि तत्र स्यात्तर्पणं प्राणसंयमः ।
तथैवाचमनं वापि वायव्येऽपि तथैव च ॥१६५॥
तत्तु प्रयत्नसाध्यं स्यात्सायं प्रातस्तथान्तरे ।
न वायव्यसमं स्नानं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥१६६॥
तद्गङ्गास्नानतुलितं पञ्चपातकनाशनम् ।
उपपातकसंदोहनिर्मूलकरणक्षमम् ॥१६७॥
ततस्सन्ध्यां प्रकुर्वीत शक्तः स्नानप्रपूर्विकाम् ।
नक्षत्रसहितां पूर्वां पश्चिमां सूर्यसंयुताम् ॥१६८॥
असावादित्यमन्त्रेण ध्यानं तत्क्रियतेसदा ।
ब्राह्मणस्यैव संध्या स्यात्संधावह्नक्षपामुखात् ॥१६९॥
सात्वर्घ्यपूर्वकर्ता स्याद्गायत्र्यार्घ्य त्रयं चरेत् ।
सम्यगुच्चार्य तां वर्णस्वरतः क्रमतस्तथा ॥१७०॥
ब्राह्मण्यमूलं नैव स्यान्नान्यदस्ति जगत्त्रये ।
तन्मूलं तु ततस्साहि संध्यानां त्रितयेऽनिशम् ॥१७१॥
जप्यात्यन्तैकनियमशतैर्यन्त्रशताधिकात् ।
एतन्मन्त्रजपेनैव ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥१७२॥
सर्वलोकैकवन्द्यत्वं सर्वाचार्यत्वमेवच ।
वश्याकर्षणविद्वेषस्तम्भनोच्चाटनादिकम् ॥१७३॥

निग्रहानुग्रहौ सर्वमहिमासर्वपूज्यता ।
एतन्मूलानि सर्वाणि तस्मादेतं मनुं परम् ॥१७४॥
यथाशास्त्रमधीत्यैव स्वरवर्णक्रमान्वितम् ।
सम्यगेव जपेद्विद्वान् त्रिसंध्यासु यथोक्तितः ॥१७५॥
अस्यास्तु ब्रह्मविद्यायाः स्वरवर्णादिशून्यतः ।
संध्यात्रयीकरणतो ब्राह्मण्यं दूषितंतराम् ॥१७६॥
दोषयुक्तं च भवति वर्णोच्चारणतः परम् ।
सर्वस्वरादिशून्ये न व्यत्यासः स्वरतस्तथा ॥१७७॥
तद्ब्राह्मण्यं तादृगेव भवेदेव न संशयः ।
एतन्मत्रं समीचीनं प्रोक्ते कर्मणि वैकृते ॥१७८॥
अर्थाः सर्वेऽपि शुध्यन्ति तद्ब्राह्मण्यं च पुष्कलम् ।
अतिशुद्धं महच्छ्रीमत् प्रभवेद्वीर्यवत्तरम् ॥१७९॥
चतुर्विंशतिवर्णाना मुक्तिमात्रेण केवलम् ।
आभासमात्रब्राह्मण्यं तत्र तिष्ठति केवलम् ॥१८०॥
तस्मात्सम्यक्स्वरयुतं तन्मन्त्रं वेदचोदितम् ।
विप्रत्वसिद्धयेऽधीत्य संध्याकर्मणि सिद्धये ॥१८१॥
ब्रह्मध्यानार्घ्यमात्रो यः पुरापद्मभुवाखिलाः ।
श्रुतयो विशदत्वेन ब्राह्मणानां प्रदर्शिताः ॥१८२॥
तस्माद् वेदान्विधानेन सम्यग्गुरुमुखात्परम् ।
अधीत्याग्रं तदन्तस्थां गायत्रीं शिरसा सह ॥१८३॥
नित्यमावर्तयेद्भक्त्या त्रिसंध्यासु महाशुचिः ।
भूत्वा स्नात्वा स्वरैस्तत्तद्वर्णकैरतिशोभनैः ॥१८४॥

प्रजपेद् ब्राह्मणो धीमांस्तदर्थस्यानुचिन्तया ।
योनः प्रचोदयान्नित्यं धियः कर्मसु सत्सु वै ॥१८५॥
वरेण्यं सवितुश्चापि देवस्य परमात्मनः ।
गायत्र्याख्यं च तद्भर्गस्तेजो धीमहि चिन्तया ॥१८६॥
इत्येवं प्रजपेद्भक्त्या ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
एव तं तदर्थानुस्मरणपूर्वकं प्रजपेत्सदा ॥१८७॥
जपं करोति यस्सोऽयं स उ ब्रह्मविदांवरः ।
जीवन्मुक्तोऽपि सोऽयं स्याद् दुर्घटोऽयं महात्मनाम् ॥१८८॥
योगिनामपि दिव्यानां तदर्थस्य महाजपः ।
तल्लाभो यस्यकस्य स्यात्स सर्वेषां भवेत्किल ॥१८९॥
तथैवार्थानुसंधानं यस्य स्यात्स तु चोदितम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं वै सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥१९०॥
परं ब्रह्म परं धाम परं ध्येयं परात्परम् ।
जगद्धेतुः श्रुतिप्रोक्तं जगज्जन्मादिकारणम् ॥१९१॥
न सन्देहोऽत्र कथितः संदेही पापभाग्भवेत् ।
तादृगर्थानुसंधानं कर्ता यस्तस्य केवलम् ॥१९२॥
अपेक्ष्यं नास्ति किमपि लोकेऽस्मिन्सचराचरे ।
स एव कृतकृत्यो वै स एव ब्रह्मवित्तमः ॥१९३॥
परं त्वत्र प्रवक्ष्यामि केवलं वस्तुतो यथा ।
बहवो ब्राह्मणा भूमौ मन्त्रमात्रं सलक्षणम ॥१९४॥
समुच्चरन्तः परमं भक्त्या संध्यामुपासते ।
तावतैवात्रजगती चोदयास्तमयौ स्मृतौ ॥१९५॥

एतावती च तद्वृष्टिर्भावाभावौ शिवाशिवौ ।
सुखदुःखेजन्ममृती जगत्कार्यंप्रवर्तते ॥१९६॥
जगत्कृत्यं जगत्कर्ता चक्रमे विप्रसंध्यया ।
येनके नचिदन्येन गुह्यमेतन्मयोदितम् ॥१९७॥
सर्वेषामपि लोकानां सर्वेषां नाकिनामपि ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां मखानां वहुना किमु ॥१९८॥
सर्वकृत्यं संध्ययैव सम्यगेव सुसाधितम् ।
ब्राह्मणानां प्रसादेन नचेत्किमपि नास्ति वै ॥१९९॥
संध्याभावे सर्वलोकविनाशः सद्य एव वै ।
भवेदेव न सन्देहो ब्राह्मणास्तादृशा हि वै ॥२००॥
सर्वत्रापि च वतन्ते कलौ चैतत्तु केवलम् ।
तिष्ठेतिरोहितत्वेन देवाज्ञातादृशा परो ॥२०१॥
ब्राह्मणाः सर्वजगतां निदानं परमं परम् ।
तद्विना चेन्नकिमपि तेनैवैतत्प्रवर्तते ॥२०२॥
तत्कारणं हि गायत्री वेदमाता जगन्मयी ।
तयैतत्सृज्यते सर्वं तयैतत्पाल्यते परम् ॥२०३॥
संह्रीयते (?) तयैवेति सैषा किल जगत्प्रसूः ।
स्त्रीलिङ्गेन श्रुतौ नित्यं लीलया व्यवह्री(?)यते ॥२०४॥
लिङ्गानां वचनानां च हृदयं तत्र ब्रह्मणि ।
सर्वलिङ्गैः सर्वशब्दैर्वचनैरखिलैरपि ॥२०५॥
प्रतिपाद्यं परं ब्रह्म नान्यत्किमपि विद्यते ।
स्त्रीलिङ्गंव्यवहारोऽयं यथा भवति तत्तथा ॥२०६॥

देवता हृदयं प्रोक्तं पुलिङ्गो देवईरितः।
नपुंसके ब्रह्मविद्या तदेतदखिलंस्मृतम् ॥२०७॥
गायत्र्यास्तु छन्दो वै गायत्र्येव न चेतरत्।
विश्वामित्रऋृषिः प्रोक्तो देवता सविता स्मृता ॥२०८॥
मुखमग्निः समाख्यातशिखा ब्रह्म प्रकीर्तिता।
नारायणस्तु हृदयं शिखारुद्रः समीरितः ॥२०६॥
महामन्त्रस्य तस्यान्यवर्णग्रहणमात्रतः।
ब्राह्मण्यं मुख्यतः प्रोक्तं प्रथमं तु ततः पुनः ॥२१०॥
स्वरवर्णसमीचीनसमुच्चारणतत्परम्।
पौष्कल्यं तस्य संप्रोक्तं राहित्यात्सुस्वरस्य तु ॥२११॥
तद्दुर्ब्राह्मण्यमेवस्याल्लुप्तवर्णैस्सुमध्यमे।
अब्राह्मण्यं प्रकथितं तयोर्ब्राह्मण्ययोस्ततः ॥२१२॥
परिहाराय यत्नेन कालेन महता शनैः।
वेदाभ्यासमुखेनैव गायत्रीं गुरुवाक्यतः ॥२१३॥
समीचीनां तु कृत्वेमां प्रजपेन्नित्यमञ्जसा।
संशोधनं तु गायत्र्या वेदाभ्यासः परो भवेत् ॥२१४॥
वेदाभ्यासेन वाग्दोषाः दुष्टवर्णस्वरादिकाः।
शनैश्शनैर्विनश्यन्ति वज्रवाचो भवन्ति च ॥२१५॥
एतदर्थं पुरा ब्रह्मा तन्माध्याह्निककर्मणि।
हंसमन्त्रेणार्घ्यमेकं गायत्र्याकल्पयत्प्रभुः ॥२१६॥
तस्मिन्मन्त्रे समीचीनस्वाधीने सति तत्परम्।
सम्यग्वक्तुं हि शक्यन्ते मन्त्राः सर्वत्र कर्मणि ॥२१७॥

तस्माद्ध्ययनं नित्यं गायत्र्याः किल केवलम् ।
समीचीनोच्चारणैकहेतवे तस्य नान्यथा ॥२१८॥
तस्मादेवंविधिःख्यातो गायत्रीग्रहणात्परम् ।
वेदैकाध्ययनं नित्यं तत्संस्कारैकहेतवे ॥२१९॥
एवं सति तु यो मूढो गायत्रीग्रहणात्परम ।
अनधीत्यैव तं वेदमसंशोध्यैव तामपि ॥२२०॥
गायत्रीं वर्णसंयुक्तामुच्चरेद्वेदवर्जनात् ।
श्रममन्यत्रकुरुते शास्त्रजाले वृथाश्रमी ॥२२१॥
वेदास्तस्तुयोलोके सोऽस्वाधीनैकवाग्भवेत् ।
देवी स्वाधीनवाकप्रोक्तस्तेन मन्त्रादिकं सदा ॥२२२॥
सम्यगुच्चारणाच्चैव प्रभवेत्किलसन्ततम् ।
सर्वदक्षस्तु वेदीस्यात्सर्वसिद्धिश्च तेन सः ॥२२३॥
प्रभवेदपि ते नैव इदं नित्यं समभ्यसेत् ।
वेदान्वेदौ नचेद्वेदं शाखामात्रं तु केवलम् ॥२२४॥
अध्येतव्यं प्रयत्नेन नचेद्ब्राह्मणः स्मृतः ।
दुर्ब्राह्मणो वा नो चेत्तु ब्राह्मणब्रुर्न संशयः ॥२२५॥
अथवा ब्रह्मबन्धुःस्यात्तएते ब्रह्मयोनिजाः ।
स्वकृत्यतस्तुचत्वारस्तेषां लक्षणमुच्यते ॥२२६॥
ब्रह्मवीर्यसमुत्पन्नः सम्यङ्मन्त्रैर्न संस्कृतः ।
अश्रोत्रियैकता तेन कर्माभासैकसंस्कृतः ॥२२७॥
अब्राह्मणइतिप्रोक्तो मन्त्राभासजपादिकः ।
गर्भाधानादिसंस्कारचौलोपनयनैर्युतः ॥२२८॥

वेदशून्येन ततपित्रा सुधीर्भक्त्याप्रपूजितैः।
सदसत्कृतसंस्कारोदुर्ब्राह्मणइति स्मृतः ॥२२९॥
मन्त्रशून्यकृतैः सर्वैः संस्कारैर्नाममात्रकैः।
कृतसंज्ञैः प्रतिष्ठायै विप्रस्योङ्कारपूर्वतः ॥२३०॥
संस्कृतः स्यादब्राह्मणब्रूस्तूष्णी``` नामधरस्तुसः।
गृहीतमात्रं गायत्रीवर्णैकस्वरशून्यतः ॥२३१॥
अकालकृतसंध्याख्यकृत्यं पण्डितमान्यपि।
किंवेदेनेति यत्किंचिद्व्य(तो)वानिखिलोऽपिवा ॥२३२॥
यत्किंचिन्निखिलानांस्याद्यावत्कस्यापि नास्ति हि।
इत्येवं प्रलपन्दुष्टो दुष्टाभिरतियुक्तिभिः ॥२३३॥
दूषयन्श्रोत्रियान्विप्राञ्छास्त्रमात्रकृतश्रमः।
ब्रह्मबन्धुरितिख्यातो ब्रह्मविद्भिस्ततस्सदा ॥२३४॥
यस्माद्वेदाध्ययनतो गायत्रीं वेदमातरम्।
उपनीतैः परं यत्नात्परैर्द्वादशवत्सरैः ॥२३५॥
कृत्वा शुभां समीचीनां शास्त्रस्वरसमन्विताम्।
संध्यात्रये च प्रजपेत्तादृशेनजपेन वै ॥२३६॥
गायत्री सिद्धिदा यत्नाच्छनैर्भवति नान्यथा।
शुद्धस्वरयुता देवी हंसमन्त्रसमन्विता ॥२३७॥
सम्यग्जप्त्वा(प्ता) ब्रह्मविद्या सायुज्यफलदायिनी।
सम्यगुच्चारणं पूर्वमृषिदेवादिचिन्तनम ॥२३८॥
पश्चान्न्यासस्तदर्थस्यानुसंधानं ततः पुनः।
उत्तरोत्तरतो मुख्यः सर्वमर्थानुचिन्तनम् ॥२३९॥

सिध्यत्येव न सन्देहश्चिन्तनं तच्च वै क्रमात् ।
अनेकजन्मकृतिनो भविष्यन्ति न चान्यथा ॥२४०॥
असावादित्यो ब्रह्मेति ध्यानरूपकृतेन्तराम् ।
संध्यायै समनुष्ठानयोग्यतायै प्रचोदिताः ॥२४१॥
आपोहिष्ठात्रयो मन्त्राः यं जुष्टेन नव स्मृताः ।
प्रोक्षणे विनियुक्ताः स्युर्दधिक्राव्णां च संगताः ॥२४२॥
हिरण्यादिचतस्रश्च द्विपदा च शिवा तथा ।
स्नानमाचमनं चापि प्राणायामस्ततः पुनः ॥२४३॥
सङ्कल्पो निखिलं चैतत् संध्यानुष्ठानहेतवे ।
तत्पूजारूपमेव स्यादर्घ्यदानं समन्त्रकम् ॥२४४॥
रक्षोनिरसनादन्यदर्चनं तस्य किं स्मृतम् ।
तेनार्चयित्वा तां ध्यायेद्ब्रह्मत्वेनाथ तत्स्वयम् ॥२४५॥
अस्मीति चैवं संध्या हि संध्ययोस्तांतु समाचरेत् ।
उभयोःकालयोर्मध्ये द्विवारं ब्राह्मणः सदा ॥२४६॥
मध्यसंध्या च कर्तव्या मध्याह्ने तद्वदेव हि ।
त्रिवारमन्वहं प्रोक्तं संध्याकर्म द्विजन्मनः ॥२४७॥
यावज्जीवं भावना सा शक्तिःकर्तुं न चेदपि ।
अर्घ्यदानात्परं सम्यगसावादित्यमन्त्रकम् ॥२४८॥
वदेद्वाचा केवलं वा तावन्मात्रेण केवलम् ।
ब्राह्मण्यं सुस्थिरं तिष्ठेत्ततः कुर्यात्प्रदक्षिणम् ॥२४९॥
ब्राह्मण्यं गोपनीयं हि सर्वदेशेषु सर्वदा ।
मन्त्रोक्तिमात्रतो नित्यं तदर्थस्यानुचिन्तनम् ॥२५०॥

योगिनामप्यंशक्यं स्यात्तत्कर्ता यश्च कश्चन ।
स महात्मा महाभागो ब्रह्मनिष्ठो महामनाः ॥२५१॥
जीवन्मुक्तश्च ब्रह्मैव नात्रकार्या विचारणा ।
संध्यामूलमिदं ब्राह्मं स्नानमूलं तथैव च ॥२५२॥
शौचमूलं मन्त्रमूलं जपमूलं क्रियापरम् ।
वेदशास्त्रोक्तमूलं च सर्वं गायत्रिकं स्मृतं ॥२५३॥
ध्यानप्रदक्षिणापश्चादोमित्येकाक्षरादिकम् ।
सम्यगुच्चार्य संयम्य नासिकाग्रहपूर्वकम् ॥२५४॥
दशप्रणवगायत्रीं रेचकैः पूरकैस्तराम् ।
कुंभकैस्तद्विधानेन प्राणायामं जपंश्चरेत् ॥२५५॥
कृत्वा त्रिवारं तत्पश्चात्कृत्वा संकल्पमप्यसौ ।
सहस्रवारं मुख्यं हि शतवारं हि मध्यमम् ॥२५६॥
अधमं दशवारं स्यात्करिष्यैवमिति स्म वै ।
जपं कुर्याद्विधानेन मन्त्रं तत्तत्स्वरान्वितम् ॥२५७॥
तत्तद्वेदी जपेद्भक्त्या तद्वेदस्वरभिन्नतः ।
वेदभ्रष्टो भवेत्सद्यस्तद्दोषशमनाय वै ॥२५८॥
तदवान्तरभेदयज्ञस्तत्क्रमेणैव तं मनुम् ।
त्रिमुहूर्तं जपेद्भक्त्या तद्दोषात्तु प्रमुच्यते ॥२५९॥
तज्ज्ञानमात्रे विकलो ब्रह्मबंध्वादिनामकः ।
परितप्तस्सदा विद्वान् नित्यं परिचरन्भिया ॥२६०॥
उपकुर्वन्परं कुर्वन्प्रदक्षिणनमस्क्रियाः ।
दृष्टमात्राद्ब्रह्मनिष्ठान्श्रोत्रियान्वेदपारणा(गा)न ॥२६१॥

समुद्दिश्य प्रयत्नेन तत्पादसलिलं तदा ।
पिबन्धरंश्च शिरसा पक्षे पक्षे यतश्शुचिः ॥२६२॥
ब्रह्मकूर्चविधानेन तत्पिबन्होमपूर्वकम् ।
कालं नयेच्छुचिः स्वस्य तादृशस्यास्य भेषजं ॥२६३॥
समीचीनमहासंध्यारहितस्य दुरात्मनः ।
नामानि तारकाणि स्युः प्रजप्तानि जगत्पतेः ॥२६४॥
वेदाक्षरैकशून्यस्य पुराणान्तर्गताः पराः ।
श्लोकाः केचन संप्रोक्ताः स्नानसंध्यादिकर्मसु ॥२६५॥
न वैदिकः पुराणोक्तैर्मन्त्रैः कुर्यात्कथंचन ।
किंचित्कर्मापि तस्मात्तैर्वैदिकैरेव वाचरेत ॥२६६॥
सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशापराम् ।
संध्यां नोपासते ये तु कथं ते ब्राह्मणाः स्मृताः ॥२६७॥
कलौ तु केवलं तिष्ठेद्गायत्रीवर्णमात्रतः ।
तदेकदेशतश्चापि क्रियानुकरणादपि ॥२६८॥
ब्राह्मण्यं तच्च पूज्यं स्यान्न विचार्यं प्रयत्नतः ।
न निषेध्यं विशेषेण गोपनीयतमं भवेत् ॥२६९॥
संध्ययोः स्नानतो मौञ्ज्याः बाह्यैकक्रियया परम् ।
मोदनीयं हि विप्रत्वं न विचार्यतमं भवेत् ॥२७०॥
मूकस्यापि च विप्रत्वमस्तीत्येवेति केचन ।
प्रोचुर्महर्षयो मौञ्ज्यां गायत्रीजलपानतः ॥२७१॥
जले संलिख्य गायत्र्या मन्त्रैः कृत्वाखिलाः क्रियाः ।
प्राशयेत्तं विधानेन मूकविप्रत्वसिद्धये ॥२७२॥

तज्जातानां परं तत्तु विप्रत्वं दुर्लभं तराम् ।
ब्रह्मचित्तैकसंभूत्या पञ्चपूर्वात्परंतराम् ॥३७३॥
तावत्क्रियाभिः सम्यऽवै कृताभिस्तत्कुलेऽपि वै ।
विप्रत्वं प्रभवेद् भूयश्चास्खलद्विप्रकृत्यतः ॥२७४॥
यदि मध्ये तत्कुलीनाः प्रास्खलन्वै स्वकृत्यतः ।
नष्टा एव भवेयुर्वै तावत्तत्र समुद्भवाः ॥२७५॥
वेदशास्त्रपराश्चापि सत्क्रियाभिश्च संस्कृताः ।
सत्कर्मिणोऽपि नितरां नान्ययोग्याइतिश्रुतिः ॥२७६॥
ते परेषां हव्यकव्ययोग्याइत्येव तत्परम् ।
ब्रह्मविद्भिः प्रकथिताः परिनिष्ठः कुलोद्भवः ॥२७७॥
विप्रत्वप्रकृतिं याति नचेन्मूकस्तु केवलम् ।
को वानुमेयः सद्भिर्वै सदसत्तद्विलक्षणः ॥२७८॥
गायत्रीवर्णरहिते क्रियामात्रैकभूषिते ।
कथं तिष्ठति विप्रत्वं मूके किं वहुना पुनः ॥२७९॥
विप्रसंध्याकारकोऽपि स्वक्रियायै महत्तराम् ।
एनो महदवाप्नोति गवां (संध्या?) तद्रोधनेन च ॥२८०॥
विप्रसंध्यारोधनस्य बालस्तस्य विरोधिनः ।
तत्पानसमयेऽतीव भक्तमत्तुं समुद्यतम् ॥२८१॥
विघ्नकर्तुः श्राद्धकाल(ले)विघ्नकर्तुर्दुरात्मनः ।
रतिकल्याणमौञ्ज्यादिपरतत्कालहारिणः ॥२८२॥
एकःस्याच्चैव संकल्पो यद्देवादेवजालकम् ।
कूष्माण्डं कथितं दिव्यं शतवारजपात्तु वै ॥२८३॥

सर्वेषु श्रुतिरुत्कृष्टा रुद्रैकादशिनी श्रुतौ।
पञ्चाङ्गरुद्रन्यासेन सर्वकल्मषनाशनी ॥२८४॥
विप्रसंध्याविघातस्य कर्ता सद्यः स्वयं तदा।
तस्य संध्यां यतःकुर्यादन्यथा किल्बिषी भवेत् ॥२८५॥
न संध्याविघ्नकरणादन्यत्पापं तु विद्यते।
ब्राह्मणस्य क्षत्रियादेरपि शूद्रस्य वा पुनः ॥२८६॥
संध्यापरं तु होमः स्यात्सा च संध्याजपोऽपि वा।
मित्रस्यचर्षणीमन्त्रादुपस्थानादिकं परम् ॥२८७॥
आहिताग्नेः पूर्वमेव चोदयादंशुमालिनः।
निखिलं तद्विजानीयादग्नेरुद्धरणं तथा ॥२८८॥
आहिताग्नेरग्निहोत्रं सर्वश्रुतिसमीरितम्।
निखिलेभ्यश्च कर्मभ्यः सततं ह्यतिरिच्यते ॥२८९॥
तत्कर्मणः सर्वकर्मजालं यत्तदशेषकम्।
परं तद्योग्यतामात्रं संपात(द)कमिति स्मृतम् ॥२९०॥
तस्मात्तदुदयात्पूर्वं स्मार्तं निर्वर्त्य चाखिलम्।
ततः संकल्पनियतस्त्वग्निहोत्रस्य कर्मणः ॥२९१॥
होष्यामीत्येव संकल्प्य सायम्प्रातः समाचरेत्।
संकल्पानन्तरं तस्य तदुद्धरणमुच्यते ॥२९२॥
अकृत्वैव (तु) संकल्पं न तदुद्धरणं चरेत्।
कृते तस्मिश्चसंकल्पे तन्मध्ये स्मार्तकर्म तत् ॥२९३॥
न किंचिदपि कुर्वीत महावैदिककर्मणि।
कर्मणोऽन्यस्य संकल्पेऽन्यकर्मान्तरमुच्यते ॥२९४॥

प्रबलं वैदिकं कर्म सर्वेष्वपि च कर्मसु ।
तत्कृत्वैवपुरापश्चात्पित्रोः कुर्याच्छवक्रियाम् ॥२६५॥
शवे निपतिते गेहे पित्रोरपि पुनः किमु ।
स्नात्वार्द्रवाससा सस्वं अग्निहोत्रं यथा पुरा ॥२६६॥
निर्वर्त्य तत्परं सर्वं कुर्यादिति परा श्रुतिः ।
तद्वैदिकस्य कृत्यस्य संकल्पेऽस्मिन्कृते यदि ॥२६७॥
यस्य कस्यचिदेकस्य तदन्तःपातिनामपि ।
मध्ये वा ऋत्विजां नूनमाशौचं सूतकन्तु वा ॥२६८॥
नास्त्येवेति ततः प्राह तस्मादत्र तु ऋत्विजः ।
स्नात्वा कर्माणि कुर्वीरन् कर्मकाले तु तत्पुनः ॥२६९॥
वैतानिकस्थलं त्यक्त्वा दूरे तिष्ठति नात्र तत् ।
यावत्कर्म ततो भूयो बहिरन्वेति तं पुनः ॥३००॥
एवं चेदृत्विजामन्यद्गोत्रिणामपि केवलम् ।
लग्नानां तत्र विप्राणां कीदृशं कर्म तद्भवेत् ॥३०१॥
तत्तादृशं कर्म तस्मादुपमारहितं परम् ।
तत्परस्य ब्राह्मणस्य वैदिकस्य महात्मनः ॥३०२॥
तद्धर्माः पृथगेव स्युः पितृदीक्षादयोऽखिलाः ।
गर्भदीक्षादयः सर्वे तस्यास्य च पृथक् पृथक् ॥३०३॥
दिङ्मात्रमपि चोच्यन्ते वैदिकस्यान्वहं तराम् ।
उदयास्तमयात्पूर्वं सूर्योपस्थानमीरितम् ॥३०४॥
प्रतिपक्षेष्टितस्तद्वत्क्षुरकर्म हि पर्वणि ।
अतः सपित्रोशब्दं सा (दीक्षाकेशस्थितिः सदा)
केशधारणरूपिणी ॥३०५॥

कन्याकुम्भकुलीरेषु पत्नीगर्भे सुसन्ततम् ।
प्रत्यब्दमासपक्षेषु चानुमनुयुगादिषु ॥३०६॥
प्रोच्यते वेदवाक्येन तस्मात्तु क्षुरकर्म तत् ।
आहिताग्नेः पर्वणि हि कथितं तु विशिष्यते ॥३०७॥

इष्ट्यभावेऽपि तत्कर्म मात्रादपि च केवलम् ।
यत्किंचित्कर्मणादिष्टिकर्मैकदेशतः ॥३०८॥
कर्मणादिष्टिसिद्धिश्च भवत्येवेति तत्कृतम् ॥३०९॥

यावतः कर्मणः कर्तुमशक्तावपि तस्य वै ।
अङ्गमात्रास्यात्तु कृतौ समीचीनं भवेत्किल ॥३१०॥
सोऽयं तस्मादाहिताग्नेर्न कालादिनिरीक्षणम् ।
क्षुरस्य कार्यं नैव स्यात्सकालः क्षुरकर्मणः ॥३११॥

नित्यतः समुपक्रान्तस्तस्याइष्टे रुपक्रमे ।
त्यक्तनष्टाग्निहोत्रस्याहिताग्नेरेवमप्यति ॥३१२॥
चोदितं तद्धि चैवं स्यादाहिताग्नीतरस्य च ।
वर्णिनो ग्रहणश्चापि वैदिकस्यैव केवलम् ॥३१३॥
उपाकर्मणि चोत्सर्गे व्रतानां सन्ततं तराम् ।
यदा तदा क्षुरं स्याद्धि न कालादिनिरीक्षणम् ॥३१४॥
कूष्माण्डे गणहोमे च प्रायश्चित्ते ह्युपस्थिते ।
सूतकान्ते प्रसूत्यन्ते व्रते(त)चान्द्रायणादिषु ॥३१५॥
नैमित्तिकब्रह्मकूर्चे न कालादिनिरीक्षणम् ।
देवासुरसुराणां त(त्)त्रिविधं परिकीर्तितम् ॥३१६॥

श्मश्रूपपक्षकेशानां मानवं प्रथमं स्मृतम् ।
उपश्मश्रुकेशवपनं तदनन्तर.......म् ॥३१७॥
एतद्भिन्नं तृतीयं स्यादासुरत्वसमंजसम् ।
केचित्त्वर्घ्यं प्रदायाथ स्वमत्या तत्परं शुचिम् ॥३१८॥
समुद्धृत्य विधानेन चोदयान्तर्दशोत्तरम् ।
जपं कुर्वन्ति गायत्र्यास्तत्क्रियाभध्य एव वै ॥३१६॥
उदयानन्तरं सूर्योपस्थानमनन्तरम् ।
अग्निहोत्रं हि कुर्वन्ति तदेतदसमंजसम् ॥३२०॥
कर्ममार्गस्य कालं वै ज्ञानिमार्गस्य चेत्पुनः ।
ब्रह्मार्पणधिया सर्वं कर्म तत्क्रियते परम् ॥३२१॥
स्नानसंध्याग्निहोत्रादि स्मार्तं वैदिकजालकम् ।
यत्कर्म तद्‍ब्रह्मधिया क्रियते किल तेन वै ॥३२२॥
को भेदः कर्मणां चेति कृत्स्नानां ब्रह्मरूपतः ।
तस्मात्कृत्वान्वहं सन्तः कृत्वैतद् बाधकन्तराम् ॥३२३॥
न भवेदिति च प्रोचुस्तदनुष्ठानमेतदु ।
नोत्तमत्वेन मन्वन्ते ज्ञानिनो वैदिकाः परम् ॥३२४॥
न कर्मणि तु भिन्नस्य कर्मणः समुपक्रमः ।
विधिर्नालमिति प्रोचुस्तदुपर्यपि केचन ॥३२५॥
इष्टमध्येऽग्निहोत्रं तत्क्रियते वा न चेत्पुनः ।
अन्वाधानात्परं भूयस्त्यज्यते किं तदुच्यताम् ॥३२६॥
अतः स्यात्कर्ममध्येऽपि कर्मान्यत्कार्यमुच्यते ।
वस्तुतस्तु परं वच्मि मध्येऽस्मिन्स्मार्तकर्मणः ॥३२७॥

कार्यान्तरं न कुर्वीत यावत्कृत्वा ततश्चरेत्।
नौपासनात्परो धर्मो ब्राह्मणस्येह विद्यते ॥३२८॥
औपासने किलाधानमर्धं यावत्तु वा द्विधा।
तेनाग्निहोत्रं तत्पश्चाद्दर्शादिस्तदनन्तरम् ॥३२९॥
आग्रयणं चातुर्मास्यं निरूढपशुरेव च।
अग्निष्टोमादयः पश्चात्क्रतवो निखिलाः स्मृताः ॥३३०॥
तस्मादौपासनसमं न धर्मान्तरमस्ति हि।
अग्नौ प्रास्ताहुतिस्सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ॥३३१॥
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।
तस्मादौपासने सूर्यायाहुतिर्दीयते परा ॥३३२॥
तावन्मात्रेण सर्वेषामन्नादानां धरातले।
महतां विद्यमानानां योगिनां ब्रह्मवादिनाम् ॥३३३॥
जङ्गमानां च सर्वेषां क्षुधार्तानां विशेषतः।
अन्नमन्नं महाक्षन्नः को वा तस्या निवृत्तये ॥३३४॥
प्रदास्यति महाभागः अटतामिति सर्वतः।
भक्ष्यभोज्यैश्च लेह्यैश्च चोष्यैरपि सुधास्रवैः ॥३३५॥
सूपेन परमान्नेन नानाशाकविशेषतः।
प्रभूतसर्पिषा दध्ना पयसा मधुना फलैः ॥३३६॥
दातुरन्धस्तु यत्पुण्यं तत्कोटिगुणितं फलम्।
महदाप्नोति परमं नात्रकार्या विचारणा ॥३३७॥
औपासने परा देवा वेदाः शास्त्राणि कृत्स्नशः।
तीर्थानि पुण्यक्षेत्राणि व्रतानि विविधान्यपि ॥३३८॥

कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि दानानि विविधान्यपि ।
तुलाभारमुखान्येवं यानि लोकेऽधिकानि वै ॥३३९॥
फलाधिकानि वर्तन्ते तत्कर्ता तानि विन्दति ।
तस्मादौपासनं सायं प्रातश्च सुसमाचरेत् ॥३४०॥
धृत्वोखया विशेषेणविवाहेऽग्निविशेषवित् ।
बिभृयादुखयैवैनं न तु भूमौ विनिक्षिपेत् ॥३४१॥
भूमौ तु गार्हपत्यस्य स्थापनं स्मृतिचोदितम् ।
औपासनस्य तत्प्रोक्तमुखं कृत्वा ततो यथा ॥३४२॥
सौलभ्याधारणामूलं भवेत्तस्यां निधायतम् ।
नित्यानुहरणं कुर्यात्कृते त्वैवं हि तद्गृहे ॥३४३॥
भव्यानुहरणे पूर्वं बभूवुर्यानि कृत्स्नशः ।
मङ्गलानि प्रतिदिनं महोत्सवपरम्पराः ॥३४४॥
पूर्वं तु शेषहोमस्य विप्रागमविशेषकाः ।
तदर्चनाविशेषाच्च तद्भोजनपरम्पराः ॥३४५॥
सर्वबन्ध्वागमाश्चापि स्वस्तिवाचनपूर्वकाः ।
असंख्याका अनन्ताः स्युर्मङ्गलध्वनयोऽनिशम् ॥३४६॥
उख्यानुहरणं यत्तत्क्रियते गृहिणान्वहम् ।
सायंप्रातश्च विधिना मङ्गलायतनं हि तत् ॥३४७॥
तस्यानुहरणं पश्चाद्रथस्योत्सवनादिकः ।
गृहप्रवेशहोमाख्य आग्नेयश्च तथाविधः ॥३४८॥
सप्तर्षि अरुन्धतीपूजादर्शनादिमहोत्सवः ।
औपासनसमारंभस्तद्गतेर्वनमर्चनम् ॥३४९॥

तद्दीक्षानियमा दिव्या दम्पत्यालापनादिकाः ।
महदाशीरुत्सवश्च भूषणोत्सव एव च ॥३५०॥
दीपोत्सवो दीपशान्तिः कुलाचारादयोऽखिलाः ।
चौर्योत्सवो हेलनाख्यो बन्धुभक्तिमहोत्सवः ॥३५१॥
गीतोत्सवो वाद्यरंध्रभाषणोत्सवसंज्ञकाः ।
शेषहोमो नाकबलि महेन्द्राणी(णं?) समर्चनम् ॥३५२॥
त्रयस्त्रिंशत्कोटिसंख्या तद्देवानां समर्चनम् ।
महादिशामुत्सवश्च ताम्बूलोत्सव एव च ॥३५३॥
तद्दम्पती महापूजा तन्नामोक्त्युत्सवः परः ।
गृहाद्ग्रामविनिर्याणांमहाजलमहोत्सवः ॥३५४॥
हारिद्रजलतच्चूर्णगन्धकुङ्कुमवस्तुभिः ।
दोलोत्सवोदेवतोद्वासनसंज्ञोत्सवः परः ॥३५५॥
कङ्कणोद्वासनोबन्धोद्वासनादिकमित्यतः ।
यद्द्रव्यजातं तत्सर्वमन्वहं तत्ततोऽधिकम् ॥३५६॥
भवत्येव ततो यत्नादुख्यमग्निं सदा धरेत् ।
यदि भूमौ निक्षिपेत्तु तपद्भूमिशुचिः सदा ॥३५७॥
सशान्ति कुरुते तस्मात्परं तण्डुलहोमतः ।
गार्हपत्याख्यकश्चित्तु पुरोडाशादिना न तु ॥३५८॥
हविषापाशुकेनैव नित्यशान्तो भवेदहो ।
नचेद्गार्हपत्याख्यो यजमानस्य सन्ततम् ॥३५९॥
तस्मिन्नतीते वर्षतौ पललं हि तदिच्छति ।
वह्नयो वैदिकात्तस्माद्गार्हपत्यादिकास्त्रयः ॥३६०॥

पञ्चपाकास्तापनीया नायमौपासनः कदा ।
तथाकर्तुमशक्तश्चेत्समारोपणतोऽपि वा ॥३६१॥
अश्मनः समिधो वापि भर्तव्यः सन्ततं द्विजैः ।
परित्यजेद्यदि शुचिं विरहीत्युच्यते बुधैः ॥३६२॥
सायं प्रातस्ततो नित्यं वह्न्युपस्थानमाचरेत् ।
होमात्परमुपस्थानं कार्यो होमस्ततः पुनः ॥३६३॥
होमं विना ह्युपस्थानं न कदाचित्समाचरेत् ।
प्रवरस्यदितत्काले शुचिर्भक्त्या समन्वितः ॥३६४॥
सूर्यायेदं नममेति तद्गृहाभिमुखो जपेत् ।
बुध्वा तं होमकालं वै तथास्विष्टकृतश्च वै ॥३६५॥
चतुर्थ्यन्तेन तत्पश्चात्तदुपस्थानमाचरेत् ।
प्रणमेत प्रयत्नेन गोत्राभिवादनं च तत् ॥३६६॥
कुर्यादेव विधानेन न तु तूष्णीं स्वयं शुचौ ।
लौकिके जुहुयाद्यत्र कुत्रापि यदि वै तदा ॥३६७॥
चरेद्वृथा हि तत्कर्म तथा नष्टं भवेद्ध्रुवम् ।
यतोऽयं वह्निरेवं हि भार्याधीनो बभूव हि ॥३६८॥
पुरा तु ब्रह्मसदने निर्णयस्तु तथा कृतः ।
औपासने स्थिते गेहे भार्याधीनेन कुत्रचित् ॥३६९॥
प्रवासे यजमानस्य यदि प्रत्यब्दमागतम् ।
तदा तु लौकिके कुर्यादग्नौ पाणौ नचाचरेत् ॥३७०॥
दर्भस्तंबेऽप्सुवा जायामग्नौकरणमापदि ।
न कुर्यादेव सहसा पाण्यादिषु हि याजुषः ॥३७१॥

नियमोऽयं याजुषस्य श्राद्धकर्मणि पावकः।
वैदिकः कथितः सद्भिर्बह्वृचानां तथैव हि ॥३७२॥
मुख्यः कल्पः पावके स्यादग्नौ करणकर्मणः।
विकल्पात्पाणिहोमोऽपि तदादिस्तदनन्तरम् ॥३७३॥
प्रयतो वैश्वदेवान्ते ब्राह्मणानतिथीनपि।
भोजयीत च बालादीन्मानुषोऽयं महासवः ॥३७४॥
अजस्रं वैश्वदेवादाववसानेऽथवा शुचिः।
औदुम्बर्यश्चसमिधो जुहुयाद्दश वा शतम् ॥३७५॥
तावत्संख्यान्नाहुतीश्च श्रीकामः कालयोर्द्वयोः।
देवयज्ञोऽयमुदितः केचित्तु शकलाहुतिः ॥३७६॥
इमं यज्ञं तमेवोचुर्यत्पितृभ्यः स्वधेति वै।
तर्पणं क्रियते यत्तु पितृयज्ञं प्रचक्षते ॥३७७॥
येयं पूर्वं बलिः प्रोक्ता वायसानां शुनामपि।
एषा(ष) वै भूत यज्ञः स्यादतिथीनां तु भोजनम् ॥३७८॥
नृयज्ञः कथितः सद्भिर्ब्रह्मयज्ञस्त्रयीमयः।
एवं पञ्चमहायज्ञाः श्रुतिप्रोक्ताः सनातनाः ॥३७९॥
नैषामङ्गाङ्गिभावोऽस्ति स्वतन्त्रास्ते परस्परम्।
तर्पणं ब्रह्मयज्ञस्य देवादीनां यदीरितम् ॥३८०॥
तदङ्गमेवतस्याः स्यात्तच्चनित्यमितीरितम्।
देवानां प्रथमं तत्र तर्पणं समुदीरितम् ॥३८१॥
ऋषीणामथ तत्प्रोक्तं पितॄणां तु ततः परम्।
ब्रह्मादयोऽपि ये देवा वेदोक्ता अष्टमे मताः ॥३८२॥

नमोब्रह्मणसुस्पष्टाः काण्डानुक्रमतो मताः।
तत्तद्वेदेष्वेवमेव काण्डानुक्रमतस्त्विमे ॥३८३॥
ज्ञेया एव न चान्येऽत्र ब्रह्मवादिभिरीरिताः।
ऋषयस्त्वेवमेव स्युः पितरोऽपि तथा मताः ॥३८४॥
श्रुतिसंबन्धिनः कृत्स्नास्तत एव हि तर्पणम्।
तेषामेव प्रकर्तव्यत्वेन तच्चोदितं परम् ॥३८५॥
गणास्त एव कथिता अग्नये वायवेत्यादिना।
एकादशैते कथिताः पत्न्यानेनादिकाः स्मृताः ॥३८६॥
तत्रपत्न्यनुवाकेयाः पत्न्यस्ता एव चोदिताः।
एतत्त्वनुवाकोक्तपत्नीनां मन्त्रमूलतः ॥३८७॥
पठनादप्यपत्नीकः सपत्नीक इतीरितः।
अपत्नीको ब्रह्ममेधानध्यायी श्रोत्रियोऽपि सन् ॥३८८॥
सपत्नीको···ब्रह्ममेधाध्यायी न संशयः।
पत्नीपुत्रादिराहित्ये वैकल्यं श्रोत्रियस्य न ॥३८९॥
विशेषेण ब्रह्ममेधाध्येतुस्तन्नास्ति सन्ततम्।
पञ्चभार्यो दशसुतोऽप्यपत्नीकोऽप्यपुत्रवान् ॥३९०॥
यो ब्रह्ममेधानध्यायी स एव कथितस्तथा।
भार्यामात्रविहीनेन ब्रह्ममेधी महामनाः ॥३९१॥
पत्नीमन्त्रैकसंलब्धसंस्कारहोतृसंस्कृतः।
नित्यपत्नी समायुक्तस्तुच्छपत्नीविनाशतः ॥३९२॥
अपत्नीकः कथमयं भवतीत्यसकृत्तराम्।
मीमांसा चात्रकर्तव्या धर्मब्रह्मादिवादिभिः ॥३९३॥

ब्रह्म वै चतुर्होतारः तेभ्यो यज्ञोऽधिनिर्मितः।
स हि नारायणो ब्रह्मा पुरुषरूपेण तत्र च ॥३९४॥
वर्तते चानुवाकेन चोत्तरेण जगन्मयः।
सृष्टिस्थितिविनाशानां कर्ताकारणकारणम् ॥३९५॥
करणस्यापि करणं जगज्जन्मादिकारणम्।
सत्यज्ञानानन्दमयं सदसच्चिन्मयात्मकम् ॥३९६॥
तद्रूपेणावतीर्णं तत्तस्याध्येता तदात्मकः।
ब्रह्मवाद्युच्यते सद्भिः स यैर्न निषिध्यते ॥३९७॥
स सर्ववेदयज्ञौघसत्कर्मव्रतकृन्मतः।
स उ वै वैदिकश्रेष्ठःकर्मिष्ठः कर्मठोऽशठः ॥३९८॥
सर्वाचार्यः सर्वबन्धः संप्रदायप्रवर्तकः।
सर्वाचारस्थापकश्च सर्वलोकविलक्षणः ॥३९९॥
सूक्ष्मधर्मार्थतत्वज्ञः सोऽयं किल विशेषवित्।
वेदमार्गानुसारी च परं वेदोक्तमेव हि ॥४००॥
करोति कर्मनान्यत्तु गौणमुख्ये तथा बलम्।
देशकालमहापात्रद्रव्ययोगादिकेक्षणे ॥४०१॥
मुख्यं तत्समनुष्ठानं कुरुते किल सन्ततम्।
सत्कर्मभिः सदा पूजां करोति कुलसंभवः ॥४०२॥
सपत्रपुष्पादि कृता देवस्य परमात्मनः।
भवेन्नतु सदापूजा किन्तु साकर्मभिः कृतैः ॥४०३॥
यथाशास्त्रादिविहितैरलभ्यैर्महतीति सा।
प्रोच्यते तद्विशेषज्ञैः स हि सर्वोत्तमोत्तमः ॥४०४॥

सा सर्वसाधारणतो न कर्तुं शक्यते किल।
साधारणाश्चपुरुषास्तादृशं दूषयन्त्यपि ॥४०५॥
तां क्रियां तत्स्वरूपं च तन्मन्त्रान्वेदवर्जितान्।
मोचयन्तः स्वकां पूजामधिकत्वेन केवलम् ॥४०६॥
वर्णयन्तः परं भावमजानन्तः श्रुतेः पदम्।
व्यत्यासयन्ति सन्मार्गा न मार्गान्वर्णयन्त्यपि ॥४०७॥
तदीयमार्गभाग्यो वै वैदिकोऽपि न वैदिकः।
अखण्डवैदिको मार्गः सर्वेषामेव कर्मणाम् ॥४०८॥
आरंभकाले सङ्कल्पे परमेश्वरतुष्टये।
करिष्यामीति संकल्प्य तत्तत्कर्म यथाविधि ॥४०९॥
समनुष्ठाय तत्पश्चात्तत्तत्कर्मान्त एव हि।
प्रीणातु भगवान्देवः परमात्मा सदा हरिः ॥४१०॥
अनेन कर्मणा चेति त्यागं कुर्याज्जलेन वै।
एतच्चक्रधरस्यास्य पूजनं महदेककम ॥४११॥
सद्भिरुक्तं विधानेन परमैर्वैदिकोत्तमैः।
पूजनं देवदेवस्य परं कर्मभिरेव वै ॥४१२॥
कथितं तत्समासेन तानि कर्माणि सांप्रतम्।
प्रवक्ष्यामि क्रमेणैव ब्रह्मज्ञानैकसाधकम् ॥४१३॥
औपासनं वैश्वदेवं पार्वणं च तथाष्टकाः।
मासिश्राद्धं सर्पबलिरीशानबलिरेव च ॥४१४॥
अग्निष्टोमोऽतिपूर्वश्च उक्थ्यः षोडशसंज्ञिकाः।
अतिरात्रोप्तोर्यामश्च वाजपेयश्च सप्त वै ॥४१५॥

कथितास्तु समासेन हविर्यज्ञास्तथैव च ।
अग्निहोत्रं च दर्शादि तथैवाग्रयणं महत् ॥४१६॥
चातुर्मास्यनिरूढे च सौत्रामणिरतः परम् ।
पितृयज्ञाश्च कथिता एकविंशतिसंज्ञिकाः ॥४१७॥
कर्म यद्यपि तत्प्रोक्तं त्रिक्षणस्थायि केवलम् ।
तानीमानि तु कर्माणि नित्यान्याहुर्मनीषिणः ॥४१८॥
कथं तदिति हि प्रोक्ते वीप्सावाक्येन केवलम् ।
तेन तत्कर्म कथितं केचिदत्र महर्षयः ॥४१६॥
चत्वारिंशत्संस्काराः प्रोचुरेवं च तद्यथा ।
पद्यापद्यापि वक्ष्यामि क्रमेणैव पुनश्च तैः ॥४२०॥
गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोनाम(जात)कर्म च ।
नामान्नप्राशनं चौलं मौंजीव्रतचतुष्टयम् ॥४२१॥
स्नानं गोदानिकं चेति विवाहः पैतृमेधिकम् ।
परं निष्क्रमणं त्वेवं परो विष्णुबलिः परः ॥४२२॥
तदंगभूतया दिव्यं सर्वाण्युक्तानि च क्रमात् ।
यस्य वेदश्चवेदी च विच्छिद्यते त्रिपौरुषम् ॥४२३॥
स वै दुर्ब्राह्मणो नाम सर्वकर्मबहिष्कृतः ।
दौर्ब्राह्मण्यविनाशाय द्विजो भक्त्या धिया युतः ॥४२४॥
नित्यमेव यतस्तस्माद्यज्ञाने तान्सदा यजेत् ।
पितॄणां प्रजया पश्चादेतेषु त्रिषु सर्वदा ॥४२५॥
चेतसा भीतियुक्तेन तदापाकरणहेतवे ।
स्वाध्यायोऽयं ह्यधी(मखे)तव्यो(?)महातन्नियमैर्युतः ॥४२६॥

अनधीत्यैव यो वेदं शास्त्रेषु कुरुते श्रमम् ।
स पापीयानृषिस्नृणान्मुक्तो नैव भवत्यलम् ॥४२७॥
विप्रजन्म समासाद्य वेदं तमनधीत्य च ।
तेन वेदेन किं चेति वदन्मम महाजडः ॥४२८॥
शास्त्रमात्रश्रमोऽतीव सप्ततन्तून्विहाय च ।
सुखार्थं मैथुनं कुर्वन्नदन्निष्टमटन्वनम् ॥४२६॥
संपादयन्वृथातीव सत्क्रियाश्च विसृज्य वै ।
कुटुम्बभरणेऽतीव नित्यजागरसंमुखः (संयुतः) ॥४३०॥
लुठन्महीतले तूष्णीमधोगच्छति मानवः ।
अनधीतैकवेदोऽपि तत्क्रियामन्त्रमात्रतः ॥४३१॥
कृत्वा कर्माणि नित्यानि ज्योतिष्टोममुखानि वै ।
ब्राह्मणो ब्रह्म सायुज्यं लभते नात्र संशयः ॥४३२॥
त्रिपूर्ववेदविच्छित्ताविन्द्राग्नी पशुना यजेत् ।
त्रिपूर्वसोमविच्छित्तौ दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तये ॥४३३॥
तदाश्विनाख्य पशुना यजेतैवाविचारयन् ।
वेदोक्तकर्मभिर्नित्यैरेभि...... रेव(हि?) जायते ॥४३४॥
चित्तशुद्धिर्ब्राह्मणस्य नान्यैः कर्मशतैरपि ।
वेदोक्तमार्गो यो दिव्यः कथितश्चित्तशुद्धये ॥४३५॥
सुलभोऽयं तमेवातः सेवेतैव विचक्षणः ।
चित्तशुद्धिर्वंशवृद्धिः पितृणां (तु) प्रसादतः ॥४३६॥
पितृप्रसादः श्राद्धेन न चान्येन कदाचन ।
एकविंशति यज्ञेषु मासि श्राद्धं तथाष्टकाः ॥४३७॥

महापितृयज्ञश्च पितृयज्ञस्तथैव च ।
पैतृकाणि हि कर्माणि चत्वार्याहुर्मनीषिणः ॥४३८॥
प्राधान्येनैव चोक्तानि जातकर्ममुखानि तु ।
मानुषाणि तु सर्वत्र प्रसिद्धानि जगत्त्रये ॥४३६॥
पराणि दैविकान्याहुः सर्वाण्येतानि वै द्विजः ।
प्रतिसंवत्सरं कुर्यादेव पित्र्याणि शक्तितः ॥४४०॥
शक्तिसाध्यानि कार्याणि कथं कुर्यादकिंचनः ।
प्रभूतधनधान्यानि ह्यग्निहोत्रमुखानि वै ॥४४१॥
इत्याहुः केचनाचार्या वैखानसमहर्षयः ।
अपरे वालखिल्यास्तु वैदिकामतयोऽब्रुवन् ॥४४२॥
यस्य त्रिवार्षिकं वित्तं लक्षं लक्षार्धमेव वा ।
स कथं मत्तमातङ्गमग्निहोत्रमुपासते ॥४४३॥
पुनरन्ये ह्यश्मकुट्टाः स्वमतं प्राहुरुत्तमम् ।
रंभासंभोगकार्याय स्वर्गोऽयं विहितः पुरा ॥४४४॥
पितामहेन देवेन तत्कार्याय मखः परः ।
रंभासंभोगकामा ये तैरेवाहिसह्निक्रतुः ॥४४५॥
समनुष्ठेय एवेति नान्यकार्याय स स्मृतः ।
नैमिशा(ष)दि महाक्षेत्रे विद्यमानेश्वरार्चनात् ॥४४६॥
मुक्तिर्नात्र विरोधो हि तस्मात्कुर्याद्धरेः सदा ।
प्रतिमासु पुराणेषु मृद्दारुप्रस्तरात्मसु ॥४४७॥
पत्रैः पुष्पैः फलैरर्चा षोडशैरुपचारकैः ।
नित्यपूजां विशेषेण तथा नैमित्तिकान्यपि ॥४४८॥

काम्यपूजां पक्षपूजां मासर्त्वब्दादिपूजनम् ।
जलाभिषेकपुष्पादिधूपाद्यैश्च निवेदनैः ॥४४६॥
ब्राह्मण्यं ब्राह्मणे जातो न्यायोऽथायं क्रियामुखैः ।
उच्यते ब्राह्मणश्चेति स तु जातो महाऋणी ॥४५०॥
स्वाध्यायाध्ययनाच्चापि ब्रह्मचर्यमुखादिना ।
ऋणं तं प्रथमं लंघ्यं यज्ञैर्देवं ततस्तरेत् ॥४५१॥
सात्वतं विधिमास्थाय गीतनृत्तार्पणेन च ।
हरेर्गानं च नृत्तं च नटनं च विशेषतः ॥४५२॥
सदा ब्राह्मणजातीनां विहितं नृत्यकर्मवत् ।
अर्धास्तमित आदित्ये पुनरर्धोदयेऽनिशम् ॥४५३॥
दिवैवाराधनं तस्य देवस्य परमात्मनः ।
कैवल्यदं सद्य एव तथा तदवलोकनम् ॥४५४॥
यत्किंचित्क्रियते कर्म लौकिकं वैदिकं तथा ।
भोजनं गमनं दानमलङ्कारोऽथ भूषणम् ॥४५५॥
सर्वं तत्प्रीतये कुर्यात्तन्निर्माल्यपरो भवेत् ।
तेनोपभोक्त(भुक्त)स्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चितः ॥४५६॥
उच्छिष्टभोज...नश्च तस्य मायां जयत्यसौ ।
वैदिकानि तु कर्माणि शक्रादिप्रीतये खलु ॥४५७॥
भवन्ति वै..मुक्तिरसा भवत्यत्र कथं तथा ।
मुख्यं तमेव स्वीकार्यं विप्रत्वस्य हि सिद्धये ॥४५८॥
गार्हस्थ्यं धर्मकार्याय परोपकृतिहेतवे ।
एवं ते वैदिकं मार्गमश्मकुट्टादयोऽखिलाः ॥४५६॥

वैखानसैकदेशापि चक्रदूषणमेव वै ।
ते तु क्रमेण तद्भक्त्या वैखानसमहर्षयः ॥४६०॥
बालखिल्यास्तु संभूत्वा पश्चाज्जन्मान्तरे पुनः ।
संप्रक्षाला भवन्त्येव पश्चाज्जन्मान्तरे किल ॥४६१॥
मरीचिपाः संभवन्ति तस्मिञ्जन्मनि केवलम् ।
वेदमार्गानुगां बुद्धिं संप्राप्य महतीं ततः ॥४६२॥
पितृभिश्शिक्षिताः सम्यग्वेदाभ्यासपरास्तरां ।
वासं गुरुकुले कृत्वा ऋचस्सामानि तानि च ॥४६३॥
यजूंषि लब्ध्वा पुण्येन भवेयुः किल कर्मणा ।
सन्तः सत्पथगा धीराश्चांचल्यैकविवर्जिताः ॥४६४॥
सतां यजुस्सामऋचः श्रीर्दिव्या महती परा ।
तद्वन्तश्चतदर्थज्ञास्तदनुष्ठानतत्पराः ॥४६५॥
क्रमेणैव लभन्ते तं पन्थानं ब्रह्मवादिनाम् ।
सम्प्राप्य दिव्यज्ञानं तन्निदिध्यासनतत्परः ॥४६६॥
सायुज्यनाम(मि)कां मुक्तिं लभन्ते सद्गुरोस्तराम् ।
प्रसादेनैव कृपया पितृणामर्चया तथा ॥४६७॥
अयमेव महामार्गो वेदोक्तात्यन्तसौलभः ।
अन्यः पन्था नायनाय श्रुतिरेवमुवाच सा ॥४६८॥
ब्राह्मणस्यैव तद्विद्याशिक्षितस्य विशेषतः ।
द्वावेव श्रवणादीनां वेदवाक्यविचारतः ॥४६९॥
सूत्राणां(शि) क्षया चापि मुक्तिः स्यात्तादृशी परा ।
विना वेदान्तवाक्यानां दिव्योपनिषदामपि ॥४७०॥

दिव्यं ज्ञानं भवेन्मुक्तिः साक्षात्तेषां न संशयः ।
तदर्थभाषाशास्त्राणि चित्तव्यामोहकानि वा ॥४७१॥
वैदिकेन ततस्तानि त्याज्यान्येव विपश्चिता ।
तथा सत्कर्मकालेषु भाषा या लौकिकी च सा ॥४७२॥
वर्जनीया प्रयत्नेन तच्चित्तज्ञानशुद्धये ।
दिव्यभाषा सदा ग्राह्या वैदिकेन महात्मना ॥४७३॥
विशेषात्कर्मकालेषु ततोऽपि श्राद्धकर्मसु ।
महामौनेककालेषु क्रियाकारादिना तथा ॥४७४॥
विलोकनादिना कुर्यात्पापसंदर्शनं नृषु ।
यदि मौनं त्यजेद्वाऽपि हठान्मोहाच्छलात्तथा ॥४७५॥
वैष्णवी निष्कृतिर्दिव्या चेततुश्चतथा पराः ।
दिव्या व्याहृतयो यद्वा गायत्री वातिपावनी ॥४७६॥
वेदमन्त्रं विना नान्यत्तारकं न हि विद्यते ।
दुरालापादिकालेषु नामान्याहुर्विपश्चितः ॥४७७॥
पावनानि हरेरन्यदस्तीति परमं स्मृतम् ।
तस्माद्वैदिककृत्येषु निष्णातः सर्वदा भवेत् ॥४७८॥
नित्यं यजेत निखिलैर्नित्यैर्नैमित्तिकैरपि ।
शक्तस्त्वहीनक्रतुभिश्शतसंवत्सरादिभिः ॥४७९॥
यजेतैव सदा विष्णोरर्चनाय द्विजाग्रणीः ।
अवेदवादिनो दुष्टान् धार्मिकान्धर्मदूषकान् ॥४८०॥
तथागतांस्त्यक्तयज्ञान्कुचित्तान्यज्ञदूषकान् ।
परित्यजेद्दूरतो वै तान्यास्यान्यवलोकयेत् ॥४८१॥

विशेषेण ब्रह्मविद्या विषये वै वृथा कलिम् ।
न कुर्यादेव सहसा शक्त्या नित्यःस वो भवेत् ।।४८२।।

नानाहिताग्निस्तिष्ठेत्तु न च दुर्ब्राह्मणोऽपि वा ।
येन केनाप्युपायेन दौर्ब्राह्मण्यं समागतम् ।।४८३।।

अपि स्वीकृत्य चण्डालान्नाशयेत धनं द्विजः ।
दौर्ब्राह्मण्येन नष्टस्याश्रोत्रियत्वेन वा तथा ।।४८४।।

असोमयाजित्वेनैवं को लोकः स्यादहन्तराम् ।
नैव जाने नैव जाने नैव जाने पुनः पुनः ।।४८५।।

वेदविद्भ्यस्ततो यत्नाद्विच्छित्तिर्नभवेद्यथा ।
मनुष्ययत्नः कर्तव्यस्तद्यत्नादपि केवलम् ।।४८६।।

अदृष्टलाभो भवति विशेषेण न संशयः ।
नाहीनक्रतुभिस्तिष्ये(?)यज्ञेतैव न चान्यथा ।।४८७।

कलापहीनक्रतवो दुस्साध्याः स्युर्हि देहिनाम् ।
सर्वक्रतूनां प्रथममाधानात्तु परंतराम् ।।४८८।।

अग्निष्टोमस्त्वनुष्ठेयः अतिरात्रोऽथवा सदा ।
अतिरात्रे प्रथमतो यदि चेत्समनुष्ठिते ।।४८९।।

अधिकारस्तूत्तरेषु तेषु क्रतुषु नैव वै ।
अग्निष्टोमे प्रथमतः कृते तु किल वच्म्यहम् ।।४९०।।

क्रतूनामपि सर्वेषामनुष्ठानाय योग्यता ।
उत्तरेषां भवेदेव नात्रकार्या विचारणा ।।४९१।।

अतिरात्रात्परं तस्यानुष्ठानं तु विनैव हि।
अग्निष्टोमस्य मुख्यस्य नोत्तरक्रतुयोग्यता ॥४९२॥
एष हि प्रथमो यज्ञो निखिलानां मुखं परम्।
ततोऽप्यत्यग्निष्टोमः स्यादुक्थ्यः षोडशिका ततः ॥४९३॥
अतिरात्रोऽप्तोर्यामश्च वाजपेयश्च तत्क्रमः।
त एते सप्तसंख्याकाः सोमसंस्थाश्च सन्ततम् ॥४९४॥
अनुष्ठेया ब्राह्मणेन अकरणे प्रत्यवायिकाः।
हविर्यज्ञास्ततो भूयः अग्निहोत्रं ततः पुनः ॥४९५॥
दर्शश्चपौर्णमासश्चाग्रयणं तत्परं तथा।
चातुर्मास्यानि प्रोक्तानि निरूढपशुरेव च ॥४९६॥
सौत्रामणिस्तत्परं स्यात्पितृयज्ञोऽन्त्य उच्यते।
एतानि किल कर्माणि चतुर्दशमहान्त्यपि ॥४९७॥
नित्यानि कथितानि स्युः पावनानि द्विजन्मनाम्।
ब्राह्मण्यपूर्तिरेतैःस्यादेतत्पूर्वाणि तानि हि ॥४९८॥
औपासनं वैश्वदेवः पार्वणं त्वष्टका तथा।
मासि श्राद्धं सर्पबलिरीशानबलिरेव च ॥४९९॥
सप्तैते पाकयज्ञाः स्युरेकविंतिसंख्यया।
कथितानि समस्तानि गृहिणो न तु वर्णिनः ॥५००॥
वर्णिनोऽध्ययनं त्वेकं गुरुशुश्रूषणं तथा।
अग्निकार्यं प्रतिदिनं भिक्षाचरणमेव च ॥५०१॥
विप्रस्य जातमात्रस्य जातकर्म प्रकीर्तितम्।
कर्तव्यत्वेन विहितं दिनाद्द्वादशमात्तु तत् ॥५०२॥

नित्यं कर्तुं भवेद्भूयस्त्वतीतेषु दशस्वपि ।
अहन्येकादशदिने नामकरणाख्यकर्मणा ॥५०३॥
कर्तुं तच्च कृते भूयस्तच्च नामाख्यकं परम् ।
तत्परस्मिन्नपि दिने कर्तुं वै शक्यते दिने ॥५०४॥
दिनेऽतीते द्वादशे तु भक्तप्राशनकर्मणा ।
सहैव विहितं शास्त्रान्न पृथग्भिन्नकालतः ॥५०५॥
मासि षष्ठे तच्च कर्म कालेऽतीते तु तस्य च ।
वर्षे तृतीये चौलेन नान्तरा तच्च वै स्मृतम् ॥५०६॥
तस्य कालेऽप्यतीते तु मौञ्ज्या सह विधीयते ।
कर्तव्यत्वेन सततं जातकादीनि यानि वै ॥५०७॥
तास्युस्ता निखिलान्यत्र मौञ्ज्या सह विधानतः ।
तदानीमेव कार्याणि न तु भिन्नेन नेहसा ॥५०८॥
कर्म कर्मान्तरेणैव कर्तव्यं स्यात्प्रयत्नतः ।
यद्यतीतं कृतं कर्म भिन्ने काले प्रमादतः ॥५०९॥
अपनीतेर्न तस्यापि पुनः करणमर्हति ।
पृथग्भिन्नं भिन्नकालः समुहूर्तादयः स्मृताः ॥५१०॥
प्राजापत्येन मुख्येन तद्द्वितीयादिना मुखम् ।
कर्तव्यं स्यादुपाकर्म तथा चोत्सर्जनं पुनः ॥५११॥
प्राजापत्याख्य काण्डानि व्रतानि नव वै तथा ।
सौम्यान्यपि च दिव्यानि सप्ताग्नेयानि संविधिः ॥५१२॥
वैश्वदेवाख्यकाण्डानि षोडश स्युर्हि संख्यया ।
प्राजापत्ये तत्र काण्डं पौरोडाशे विधीयते ॥५१३॥

याजमानं द्वितीयं स्याद्धोतारश्च तृतीयकम् ।
हौत्रं चतुर्थं संप्रोक्तं पितृमेधश्च पञ्चमम् ॥५१४॥
एतेषां ब्राह्मणानि स्युरनुब्राह्मणमेव च ।
काण्डत्रयं प्रकथितं नवकाण्डं च चोदितम् ॥५१५॥
तस्यास्य नवकस्यापि उपाकृतिरथापरम् ।
उत्सर्जनं च कथितं समारंभे समापने ॥५१६॥
तद्दूयं(भूयः?) चोदितं सद्भिरेवं सौम्यस्य तत्परम् ।
आध्वर्यवं ग्रहश्चापि दक्षिणा च ततः परम् ॥५१७॥
समिष्टयजूंषि तत्पश्चादवभृथयजूंष्यपि ।
वाजपेयशुक्रियाणि सवश्चेति ततस्तथा ॥५१८॥
ब्राह्मणानि च तेषां वै सौम्यानि स्युर्मनीषिणः ।
आपउन्दन्नु (न्तु) देवस्य प्रश्वद्वितयमध्वरः ॥५१९॥
सजोषा इन्द्रपर्यन्ता आदधे प्रमुखाग्रहः ।
ब्रह्मसंपदमानोनुवाकावप्यध्वरौ मतौ ॥५२०॥
उदुत्यमनुवाकांस्त्रीन् दक्षिणामूचिरे बुधाः ।
ब्राह्मणत्रयमेतेषां षष्ठकाण्डउदाहृतः ॥५२१॥
सत्रात्प्राचोऽनुवाकांस्त्रीनपि तद्ब्राह्मणं विदुः ।
उभये वै प्रश्न आद्य पञ्चमौ षष्ठसप्तमौ ॥५२२॥
अग्ने प्रपाठके तुर्यमन्तिमाश्चतुरस्तथा ।
अध्वरब्राह्मणं प्राहुरनुवाकानिमानपि ॥५२३॥
त्रिवृत्सोम इति प्रश्नः सवाख्यः परिकीर्तितः ।
नमोवाचे तदूर्ध्वौ तु प्रश्नौशुक्रिय तद्विधिः ॥५२४॥

पाकयज्ञमितिप्रश्नसप्तमाद्याःषडीरिताः ।
अनुवाकानाजपेयुस्तद्विधीन्प्रथमाष्टके ॥५२५॥
प्रश्ने द्वितीये देवा वै यथेत्यष्टौ प्रचक्षते ।
एवं नवोदिताः काण्डाः सौम्यानाहुर्मनीषिणः ॥५२६॥
अग्न्याधानं प्रथमतः अग्निहोत्रं ततः परम् ।
अग्न्युपस्थानमित्येव महाग्निचयनं तथा ॥५२७॥
सावित्रं नाचिकेतश्च चातुर्होत्रं ततः परम् ।
वैश्वसृजोरुणायेति तद्ब्राह्मणमतः परम् ॥५२८॥
अनुब्राह्मणमेवं च सप्ताग्नेयानि चोचिरे ।
राजसूयः प्रथमतः पशवः स्युस्ततः परम् ॥५२६॥
इष्टयः स्युस्ततः सर्वा नक्षत्रेष्टिः परातनः ।
दिवश्येना अपाघाश्च सूक्तवाकानि तानि च ॥५३०॥
उपानुवाक्यं च तथा याज्यानुवाक्यास्तथा पराः ।
नरमेधोऽश्वमेधश्च पशुबन्धस्तथैव च ॥५३१॥
ब्रह्ममेधस्तथा कृत्यं सौत्रामणिरथक्रमः ।
अच्छिद्रमखिलं चापि वैश्वदेवाख्यकाण्डकम् ॥५३२॥
सम्यक् षोडशसंख्याकं सर्वाण्येतानि कालतः ।
प्राप्तान्येव भवेयुर्हि कार्याणि ब्राह्मणेन हि ॥५३३॥
आद्यकाण्डाष्टमः प्रश्नः राजसूयः प्रकीर्तितः ।
तद्ब्राह्मणं त्रयः प्रश्नाः षष्ठाद्याः प्रथमेऽष्टके ॥५३४॥
वायव्यं काम्यपशवः परे काण्डेष्टयस्त्रयः ।
सौत्रामण्यच्छिद्रनक्षत्रेष्टयः समुदाहृताः ॥५३५॥

तुभ्यन्ताद्यास्तथा प्रोक्ता दिवश्येनादयश्च ताः ।
स्वाद्वीन्तानर्वनग्नेर्न इति प्रश्ना यथाक्रमम् ॥५३६॥
सौत्रामण्यच्छिद्रनक्षत्रेष्टयः समुदाहृताः ।
उभावामाद्योत्यानुवाका द्व्यधिकविंशतिः ॥५३७॥
युक्ष्वाहीत्यनुवाकश्च याज्या विद्वद्भिरीरिताः ।
वेदव्रतानि कृत्वैवं स्नानं कुर्याद्विधानतः ॥५३८॥
विधानेन ततो यत्नाल्लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।
प्रधानहोमं निर्वर्त्या वाहयेत्तां समन्त्रकम् ॥५३६॥
सम्यक् प्रवाहारयेद्वा वह्निमाहृत्य गोपथे ।
स्वधाम च विधानेन समागत्या विलम्बयन् ॥५४०॥
गृहप्रवेशहोमाख्यं कुर्यादेवसमन्त्रकम् ।
स्थालीपाकं तथाग्नेयं विधानेन समाचरेत् ॥५४१॥
कन्यादातृगृहात्तस्य निर्गतस्य शनैश्शनैः ।
मार्गं चंक्रमतो मन्त्रैः कुर्वाणस्य च तत्क्रियाः ॥५४२॥
दिनानि यानि मार्गे स्युस्तेषु कालद्वयेऽन्वहम् ।
गुप्तिहोमः प्रकर्तव्यो विवाहाग्नेर्विशेषतः ॥५४३॥
अकृते तु पुनस्तस्मिन्सोऽयमग्निर्विनश्यति ।
पुनः प्रधानहोमस्य प्राप्तिरेव भविष्यति ॥५४४॥
पुनस्तदग्निसिध्यर्थमियं निष्कृतिरुच्यते ।
नान्यत्र निष्कृतिः प्रोक्ता गुप्तिहोमं ततश्चरेत् ॥५४५॥
गुप्तिहोमं करिष्येति वह्नेः संरक्षणाय मे ।
संकल्प्यैवं विधानेन परिषिच्य समन्त्रकम् ॥५४६॥

तदाहुतिद्वयं कुर्यान्नान्यत्किमपि विद्यते ।
अयं हि गुप्ति(प्त)होमे स्यान्नित्यं कालद्वये चरेत् ॥५४७॥
तदग्निरक्षणायैव तदाद्येवं विधीयते ।
प्रधानाहुत्यथविवाहाग्निसिद्धिर्भवेत्किल ॥५४८॥
स्थालीपाकादथपुनस्तदुपक्रम उच्यते ।
औपासनस्य कृत्यस्य कर्मणः श्रुति बोधनात् ॥५४९॥
तावन्मासस्तु पक्षो वा ऋतुर्वाप्ययनं शरत् ।
अहनद्योदिनं वापि मार्गमध्ये विधानतः ॥५५०॥
सायं प्रातस्तस्य कालो न गृहे सोऽयमुच्यते ।
शकटारोहणात्पश्चाद् वध्वा कृशानुना सह ॥५५१॥
होमकाले मार्ग मध्ये गुप्तिहोमोऽय मुच्यते ।
गृहप्रवेशहोमस्य चार्वागेव ततः परम् ॥५५२॥
यावज्जोवाख्य संकलपपत्न्या कार्याद्विजन्मनाम् ।
अनुज्ञायं दक्षिणतः तेषां स्वप्रार्थनादितः ॥५५३॥
औपासनारंभतुर्ययामिन्यपरपक्षके ।
शेषहोमं प्रकुर्वीत मङ्गलस्नानपूर्वकम् ॥५५४॥
विवाहात्पूर्व दिवसे नान्दीश्राद्धमुदाहृतम् ।
ततः परं विधानेन लाजहोमात्परं तराम् ॥५५५॥
तद्दीक्षायामनुष्ठेया दीक्षाधर्माः सनातनाः ।
नातपे संचरेद्वापि न ज्योत्स्नायां हिमेऽपि वा ॥५५६॥
नैव स्नानं प्रकुर्वीत तटाके वा सरित्यपि ।
ह्रदेवा देव खाते वा कूपे वा पल्वलेऽपि वा ॥५५७॥

वेशान्ने दीर्घिकायां वा न मन्त्रैरघमर्षणैः।
स्नानाङ्गतर्पणं नैव न संकल्पोऽपवा तथा ॥५५८॥
नित्यमुष्णेन तत्कुर्यात्सलिलेन सुगन्धिना।
अलंकृतेन पात्रेण वेष्टितेनापि पर्णकैः ॥५५९॥
गन्धाक्षतादिभिः सम्यक् संस्कृतेन कृतेन च।
तथा तैलहरिद्राभ्यामुद्वर्तनमुखादिकम् ॥५६०॥
सर्वमङ्गलवाद्यैश्च विना शीर्षं चरेदपि।
संध्यात्रयं प्रकुर्वीत धार्यं चन्दनमेव वै ॥५६१॥
नान्येन पुण्ड्ं कुर्वीत कुङ्कुमाक्तः सदा भवेत्।
सदापुष्पः सदाचूर्णसुगन्धो दिव्यभूषणः ॥५६२॥
नैकान्नाशी भवेच्चापि सदा बन्धुभिरेव च।
सुमङ्गलीभिर्विप्रैश्च भोजनं तदनुज्ञया ॥५६३॥
कालद्वयं यथेच्छं च चरेदेव विधानतः।
प्रत्यक्षलवणं त्यक्त्वा भक्ष्यभोज्यादिकं यथा ॥५६४॥
क्षुदुत्पत्तिर्भवेत्तीक्ष्णा प्रभूताज्येन तच्छिवम्।
भुञ्जीयादखिलं भव्यं द्रव्यं बुध्वा(ध्या)भिधारितम् ॥५६५॥
यद्यत्र निखिलं द्रव्यं संमुखः सुमुखो मुदा।
अश्नीयादेव सततं प्रसन्नः सन्वसेदपि ॥५६६॥
दिवास्वापी भवेन्नैव नाहर्भुक्तिद्वयं चरेत्।
वध्वा तथाशयीतैव पृथङ्नैव कदाचन ॥५६७॥
कृत्वा दण्डं गन्धलिप्तं मध्ये कृत्वा च तं यतन्।
अभ्यर्च्य विधिना देवबुद्ध्या स्पृष्ट्वैव तं स्वपेत् ॥५६८॥

दण्डं छत्रं वैणवं च तिरस्करणिकामपि।
विचित्रामूध्र्वगां कृत्वा चतुर्भिः षड्भिरुत्तमैः ।।५६९।।
अष्टभिर्वा द्विजैर्धीरैर्वेदघोषपुरस्सरम्।
गीतवादित्रसंघैश्च सर्वमङ्गलसंवृतः ।।५७०।।
बहिर्गच्छेत्तदाऽऽगच्छेत्सायं प्रातश्च वर्षति।
न चरेन्नैव निर्गच्छेन्न तुषारेऽतिधर्मके ।।५७१।।
न तप्तायां धरायां वा सोपानत्कोऽपि मङ्गले।
नार्द्रायां कर्दमेवाऽपि गच्छेदपि च सङ्कटे ।।५७२।।
अवशादागतं दैवात्सूतकं मृतकं त्यजेत्।
इन्द्राण्युद्वासनात्तद्वदाकङ्कणविमोक्षणात् ।।५७३।।
लक्ष्मीनारायणध्यानपरत्वेन सदा भवेत्।
इन्द्राणीमपि गौरीणां सायं प्रातः समर्चयेत् ।।५७४।।
यदि मोहेन तेनार्चे नित्या मङ्गलभाग्भवेत्।
नित्यमौपासनं कृत्वा बृहत्सामेति मन्त्रतः ।।५७५।।
तद्भस्मना प्रकुर्वीत स्वरक्षां तद्विधानतः।
प्रयतानामिकाङ्गुल्या चेमांत्वमितिमन्त्रतः ।।५७६।।
वध्वारक्षां प्रकुर्वीत शुभिके शिरमन्त्रतः।
यामाहरेति मन्त्रेण मालिकामपि च स्रजम् ।।५७७।।
बिभृयादपि(च)य(त्ने)न नीराजनरतश्च वै।
तदा तदा च तन्मध्ये विप्राशीरपि सन्ततम् ।।५७८।।
अत्यन्तावश्यकी ज्ञेया मङ्गलेषु पदे पदे।
आगतानां विशेषेण बन्धूनां च द्विजन्मनाम् ।।५७९।।

याचकानां दरिद्राणामपि पूजाविशेषतः।
विधानेनैव कर्तव्यं वासोऽलङ्कार भूषणम् ॥५८०॥
दूरदेशान्तरस्थानां बन्धूनां सुहृदामपि।
विशेषेणात्र कर्त्तव्या मेलनं पूजनं परम् ॥५८१॥
कलहो नात्र कर्तव्यो नात्र कंचन पीडयेत्।
दुःखयेत्ताडयेद्वाऽपि नावमेत्तोषयेत्परम् ॥५८२॥
अत्रसद्बन्धुसुहृद्विप्रवैर्युदासीनपूजनम्।
गौरीशचीगनं(णं) सर्वं भवेदेव न चान्यथा ॥५८३॥
विप्रस्य करणं लक्ष्मीनारायणगतं भवेत्।
शत्रवोऽप्यत्र पूज्याः स्युर्दुर्हृदाः कलिचेतसः ॥५८४॥
दुष्टा दुराचाररता अपि पूज्या विशेषतः।
यथाशक्ति प्रदानैश्च सान्त्वसंवादनैरपि ॥५८५॥
शत्रवोऽप्यत्र(पूज्याः)वाच्याःस्युर्दत्वा देयमपि स्वयम्।
सर्वेष्वपि च भव्येषु युग्मशाकक्रियापरा ॥५८६॥
कर्तव्यायुगक त्याज्यं तत्रापि त्रयमेककं।
न कुर्यादेव सहसा कुर्याच्चेत्सद्य एव वै ॥५८७॥
कश्मलं तद्गृहे तस्मात्तादृशं वै परित्यजेत्।
सार्षपं तद्द्वयं कार्यं न कल्कान्यत्र कारयेत् ॥५८८॥
सम्यङ्(ग्)लवणशाकानि विशेषेण भवन्ति हि।
आर्द्रकं नारदं त्वाम्रं शिवमामलकं परम् ॥५८९॥
दिनाष्टकात्पूर्वमेव संपाद्याखिलवस्तुभिः।
संस्कृत्य सम्यग्लवणद्रव्यराशिपरिष्कृतम् ॥५९०॥

पात्राभिधारणं कृत्वा परिवेषणमादितः।
प्रकुर्यात्तत्सतीगानपूर्वकं भोजनेऽन्वहम् ॥५९१॥
बन्धूनां तत्र भोक्तॄणां द्विजानां च महात्मनाम्।
पयस्स्वाज्येषु दिव्येषु दधिरम्येषु भूरिषु ॥५९२॥
परयोः सन्निधौ भुक्तौ वैश्वदेवैकवर्जनात्।
यदत्र वृजिनं तन्न लक्ष्मीनारायणौ हितौ ॥५९३॥
तत्सन्निधानाद्गौर्याश्च शच्याशोभनगिर्वणाम्।
आसन्निधाने वरयोरपङ्क्तौ भोजने तराम् ॥५९४॥
कृच्छ्रत्रयं प्रकुर्वीत ताभ्यां चेद्भोजने कृते।
नैतत्किमपितत्प्रोक्तं पायसं कृसरं विना ॥५९५॥
नाचरेद्विदुषां भुक्तिं भक्ष्याभावे ह्ययं विधिः।
सत्सु भक्ष्येषु दिव्येषु परमान्नेषु भूरिषु ॥५९६॥
नैवकश्चित्तरामत्र नियमो मनुरब्रवीत्।
विप्रमध्ये सतीमध्ये विधवां नैव भोजयेत् ॥५९७॥
कल्याणवेदिकामध्ये तेषु सर्वदिनेष्वपि।
येषु केषु दिनेष्वेषु सतीषु ब्राह्मणेषु वा ॥५९८॥
अकेशीर्वा सकेशीर्वा एतानेवोपवेशयेत्।
न गाययेद्वा चैताभिर्गायन्तीर्वानिषेधयेत् ॥५९९॥
अपि ताभिः कृतं पाकं यत्नेनैव विवर्जयेत्।
चौले चोपनये चापि ताभिरप्याहृतं जलम् ॥६००॥
कुमारभोजनेऽप्येवं तथा ब्रह्मौदने शिवे।
नाङ्गीकुर्यात्तु पाकाय ताभिर्नाग्निं न चानयेत् ॥६०१॥

स्नानोदकाय पाकाय शाकसंवर्धनाय वा ।
नाभिः संवर्धिताश्शाक विशेषा दक्षिणामुखात् ॥६०२॥
पश्चिमाभिमुखाद्वापि कल्याणेषु तु पाचिताः ।
यदि भुक्तास्ते द्विजैर्वाताभ्यां तद्बन्धुभिस्तुवा ॥६०३॥
तद्गृहे मरणानि स्युरशुभानि पदे पदे ।
तस्मात्तद्वर्जयेद्यत्नात् नात्रकार्या विचारणा ॥६०४॥
यद्यप्यावश्यकास्तास्तु तादृशः पुनरेव च ।
पङ्क्त्यन्तरे यत्र कुत्र भोजयेद्बन्धुधर्मतः ॥६०५॥
नावमन्याश्चनायत्नात्पूजनीयाश्च वाग्यतः ।
मातृश्वश्रूस्तादृशैश्च नत्वान्यत्रैव भोजयेत् ॥६०६॥
गृहिणो वर्णिनो भोज्याः सन्तो यज्वान एव च ।
वानप्रस्थाश्च भोज्याः स्युरेषु कर्मसु केवलं ॥६०७॥
यतयो न प्रवेश्याः स्युरस्मिन्सदसि कर्मसु ।
न ताम्बूलं वर्णिनां स्यात्प्रदेयं नात्र सन्ततम् ॥६०८॥
भुक्तये सर्वभक्ष्यादी(न्) पयोदध्याज्यपिष्टकान् ।
भुक्तियोग्यान्प्रदद्याच्च स्रग्गन्धादि विवर्जयेत् ॥६०९॥
नैषु विद्यु त्यजु नस्य नामान्युच्चारयेद्धिया ।
तांबूलादिप्रदानेषु तत्तत्कालेषु केवलम् ॥६१०॥
योग्यान्मन्त्रानुच्चरेच्च नरमेधं विवर्जयेत् ।
रक्षोघ्नान् पितृसूक्तांश्च ब्रह्ममेधन्तथैव च ॥६११॥
कृत्स्नमारण्यकं काण्डं सन्तं प्राणादिकं त्यजेत् ।
समुद्रं गच्छजालं च तदोपनिषदादिकम् ॥६१२॥

नोच्चरेत तदान्यानि पुराणादीनि कृत्स्नशः।
पितृक्रियाप्रधानानि यामगाथादिकानि च ॥६१३॥
सप्रयत्नेनोच्चरेच्च पितृयज्ञादिकं तथा।
साकमेधं शुनासीरीयकं तद्वैश्वदेविकम् ॥६१४॥
वारुणं तत्प्रघासं च कल्याणेषु विवर्जयेत्।
कुम्भाण्डश्चापिकूश्माण्डमसूरः कन्दसंज्ञकः ॥६१५॥
मूलानिशाकुटादीनि कर्णप्रावरणं पुनः।
निंबो नैंब्यो महासौम्यः सोमकेतुश्शिवारुणः ॥६१६॥
कर्णमूलं कर्णदामं·········पाप्मनः।
पुण्यो वार्ताकजातीयः पटोलः पनसश्शिवः ॥६१७॥
उर्वारुस्सरणस्सारः सारणोपसरित्तटः।
एते शाकाश्शोभनदाः कल्याणेषु महर्षिभिः ॥६१८॥
मुख्यत्वेनैव कुर्वीत सर्वसाधारणेन वै।
देहे निपतिताः स्युश्चेत्प्रमादाद्वर्णविन्दवः ॥६१९॥
जपेत्पृथिव्यै स्वाहेति चानुवाकं पराश्शिवाः।
यदि वाकेन दैवेन ताडितस्त्वानपेन वा ॥६२०॥
पवते सदवाक्यानि तानि सर्वाणि वै जपेत्।
अवशाज्जलसिक्तश्चेदद्भ्यः स्वाहेति वा जपेत् ॥६२१॥
शुना स्पृष्टिरस्पृश्यादिभिरेव वा।
हरिद्रातैलचूर्णानि द्रव्यलिप्तो यदान्वहम् ॥६२२॥
उष्णोदकेन तु स्नानं पावमानीभिरेव च।
उत्तमाङ्गं विना स्नायादिदं विष्णु च तं जपेत् ॥६२३॥

व्याहृतीश्च यथाशक्ति प्रजपेत्तस्य शान्तये।
प... च्छिन्नेषु चान्येषु निमित्तेषु तदा यदि ॥६२४॥
संजातेष्वखिलेष्वेवं श्रीसूक्तं तारकं तराम्।
भूसूक्तं च कदाचित्तु लक्ष्मीसूक्तं कदाचन ॥६२५॥
न चेत्तु सर्वशान्त्यर्थं तृतीयदिवसे किल।
गणनाथं प्रपूज्यादौ ब्रह्माणं च सरस्वतीम् ॥६२६॥
लोकपालांस्तथावाह्य पूजयित्वा विधानतः।
विवाहमण्डपे भक्त्या सदः कृत्वा बहून्द्विजान् ॥६२७॥
अभ्यर्च्य समलंकृत्य प्रत्येकं तैश्चमान्त्रिकम्।
वेदोक्तामाशिषं दिव्यां गृह्णीयाद्दक्षिणादिना ॥६२८॥
सर्वपीडाविनिर्मुक्तः सर्वमृत्युविवर्जितः।
सर्वोपद्रवसंत्यक्तः सर्वारिष्टपराङ्मुखः ॥६२९॥
दीर्घायुर्दीर्घसंपत्कः पुत्रपौत्रसमन्वितः।
संप्राप्तकामः संप्राप्तब्रह्मविद्यामहामनाः ॥६३०॥
ब्रह्मज्ञानं च संप्राप्य ब्रह्मसायुज्यमृच्छति।
किं चास्य वक्ष्ये माहात्म्यं य एवं महदाशिषम् ॥६३१॥
कल्याणमध्ये कुरुते कारयत्यपि वा उभौ।
कृतार्थौ सर्ववेदानां यद्वा पारायणे फलम् ॥६३२॥
यन्मखानां च सर्वेषां करणे फलमुच्यते।
एते द्वे तत्र योक्तानां नित्यनैमित्तिकात्मनाम् ॥६३३॥
काम्यानामखिलानां च ध्रुवं वै तदुदाहृतम्।
महत्तद्दिव्यसन्दोहकृतप्राप्तमहाशिषाम् ॥६३४॥

दौर्ब्राह्मण्यं कुले तेषां नास्त्येवादशपूर्वकम् ।
सर्वं यागप्रतिनिधिः कल्पोऽयं कश्चन स्मृतम् ॥६३५॥
ब्राह्मणानां पुरा सृष्टं ब्रह्मणैव महात्मना ।
वेदक्रियासुचालस्यायेऽपि वातीवदुर्ह्रदः ॥६३६॥
तेषामपि हितार्थाय महाशीरियमुत्तमाम् ।
सृष्टा किलातिचपलं सर्ववेदस्वसारतः ॥६३७॥
समुद्धृत्य समुद्धृत्य चैकीकृत्य च तां चिरात् ।
प्रकाशिता जगत्यत्र तदेतत्तादृशं शिवम् ॥६३८॥
महत्तु वैदिकं कर्म ब्राह्मणानां सुमेधसाम् ।
यद्यत्र शोभने तस्य वस्त्रं कौतुकमुत्तमम् ॥६३९॥
वध्वाहतस्य माङ्गल्यं वह्निस्पृष्टं भवेद्यदि ।
दग्धमान्तं तथार्धं वा यत्किंचिदपि वा पुनः ॥६४०॥
उपदीकाहताः केशाः मूषकैर्वापि दंशिताः ।
द्वेषाच्छन्तुभिरुत्कृन्ता येषां तेषां च कर्मणाम् ॥६४१॥
आयुष्यसूक्तपठनं लक्ष्मीसूक्तस्य वै तदा ।
पुनर्वस्त्रान्तरादीनां तत्तन्मन्त्रैः परिग्रहः ॥६४२॥
निष्कृतिर्विहिता सद्भिर्वेदविद्भिर्द्विजोत्तमैः ।
यदि चण्डालसंस्पर्शो वरयोः संभवेत्तदा ॥६४३॥
तदास्यान्मङ्गलस्नानं हरिद्रोष्णजलेन तु ।
यदि श्वकाकसंसृष्टिस्तदुष्णेनैव वारिणा ॥६४४॥
हरिद्रामिश्रिते नैव घृतेन च विधीयते ।
स्नानात्परं रुद्रजपस्त्रिवारं निष्कृतिर्मता ॥६४५॥

आतपे यदि मूत्रस्य पुरीषस्य भवेन्न तु।
दीक्षायामत्र तु तयोश्छत्रेण सह वै तदा ॥६४६॥
इदं विष्णुर्याहृतीश्च त्र्यंबकं च सुपावनम्।
पश्चाच्च शुद्धाचमनादष्टवारं जपेत् क्रमात् ॥६४७॥
पुनश्छत्रं तत्तन्मन्त्राद्गृह्णीयात्तद्विधानतः।
दीक्षासु सन्ततं तस्माद्विवाहस्य द्विजोत्तमः ॥६४८॥
सच्छत्रस्त्वातपे कुर्यात्त्यागं मूत्रपुरीषयोः।
शेषहोमात्परं प्रातः कुर्यान्नाकी बलिं शिवाम् ॥६४६॥
तद्विधानं च वक्ष्यामि शचीं गौरीं समर्चयेत्।
वेदिकेशानदिग्भागे कृसरान्ननिवेदनैः ॥६५०॥
त्रयस्त्रिंशत्कोटिसंख्यदेवानामर्चनं क्रमात्।
नमोऽन्तेनैव कुर्वीत सम्यक् संकल्पपूर्वकम् ॥६५१॥
अष्टाभिः कलशैः पूवभागैस्तद्वच्च सर्वतः।
संस्थितैः वेदिकां कृत्वाऽलंकृत्यैव विधानतः ॥६५२॥
तन्मध्ये पृथुलैः कुम्भैश्चतुर्भिः स्थापितैश्शिवैः।
तन्तुभिर्वेष्टितैर्गन्धैः पुष्पैस्ताम्बूलजालकैः ॥६५३॥
हरिद्राजलकुम्भेन द्विमुखेन सुपाथसा।
नवार्चान्यासससंसिक्तैः प्रादक्षिण्यक्रमेण च ॥६५४॥
तत्संख्याकैः पुष्पदीपैः पुरंध्रीभिः समुद्धृतैः।
परिक्रमणकर्त्रीभिस्तत्कृत्यमखिलं यथा ॥६५५॥
सर्वदेवपदस्पृष्टतद्ब्राह्मण्यसुघोषतः।
त्रिः परिक्रम्य विधिनादिग्जयादिकलांछनम् ॥६५६॥

जलाक्षताभ्यां संस्कृत्य पूजयित्वासतानपि ।
ऐरावतं च संपूज्य दक्षिणे चोत्तरे तथा ॥६५७॥
सुप्रतीकं धराधारं त्रिःपरिक्रम्य तत्परम् ।
प्रति प्रति प्रवादाभ्यां विनियम्य परस्परम् ॥६५८॥
(न तत्सौमङ्गल्यवद्यथा)
कृष्णान्मणींश्च तत्कण्ठे तद्देवानां च सन्निधौ ।
बध्नीयाद्गीतवादित्र पुरंध्रीगानपूर्वकम् ॥६५९॥
ततः पुनश्च संकल्प्य फलदानानि चाचरेत् ।
तथा तांबूलदानानि दक्षिणादीनि शक्तितः ॥६६०॥
ब्राह्मणेभ्यः प्रकुर्वीत तच्चालंकारपूर्वकम् ।
सभापूजां च कुर्वीत तदाशीः प्राप्य तत्परम् ॥६६१॥
दम्पती चोपवेश्योभौ दम्पती पूजनक्रियां ।
प्रकुर्यातां विधानेन तदीयामाशिषां शिवाम् ॥६६२॥
स्वीकुर्वतां तत्परं च दद्यात्ताभ्यां च दक्षिणाम् ।
तांबूलं च क्रमेणैव सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ॥६६३॥
तत्रत्यानां च सर्वेषां तांबूलं चापि दक्षिणाम् ।
शक्त्या लोभैर्न दद्याच्च मञ्चारोहणमेव च ॥६६४॥
डो(दो)लोत्सवोऽपि कर्तव्यो महाचूर्णोत्सवस्तदा ।
वीथीप्रदक्षिणं चापि पुनर्वेश्मप्रवेशनम् ॥६६५॥
जलक्रीडाविधानं च तांबूलस्य च भक्षणम् ।
मध्याह्ने मङ्गलस्नानं पुनश्च स्वस्तिवाचनम् ॥६६६॥

स्तंभपूजां चतुर्दिक्षु नमोऽन्तेनैव चोदिता।
पुष्पधूपादिनैवेद्यांतं वै तां तु समाचरेत् ॥६६७॥
ब्रह्मादीनां ततः पूजां पञ्चानामत्र कारयेत्।
नवानामत्र कल्याणे प्रत्यक्षान्नं निवेदनम् ॥६६८॥
भक्ष्यभोज्यैः फलैर्दिव्यैस्तांबूलैश्च सदीपकैः।
नीराजनान्तैः कर्तव्यमन्यथाऽल्पायुरेव हि ॥६६९॥
भवेदेव वरस्सेव्यो वधूः पश्चात्क्रमेण चेत्।
हरिद्रा, स्युर्बान्धवाश्च तथा तस्मात्समाचरेत् ॥६७०॥
हरिद्रामिश्रसलिलदेवता किल चोदिता।
वसन्तश्शोभनकरस्तस्य पूजा पराऽत्र वै ॥६७१॥
विशेषेण प्रकर्तव्या भाग्यबाहुल्यसिद्धये।
देवतोद्वासनं कुर्याद्यज्ञेनेति च मन्त्रतः ॥६७२॥
मोचनं कौतुकस्याथ तत्संपूज्याथ तच्चरेत्।
पुण्याहं वाचयेत्पश्चाद् ब्राह्मणानपि भोजयेत् ॥६७३॥
स्वीकुर्यादाशिषश्चापि दक्षिणादानपूर्वकम्।
य एवं विधिना भव्यं कुरुते ब्राह्मणोत्तमः ॥६७४॥
तस्य नन्दन्ति ते सर्वे वृद्धा ये प्रपितामहाः।
पितामहाश्च ये वृद्धा वृद्धा ये पितरस्तथा ॥६७५॥
त एते शुभदेवाः स्युः सप्तएते (?) कुलोद्भवाः।
तेषां तुष्ट्या कुलस्यास्य प्रवृद्धिर्जायते परा ॥६७६॥
एतेनैव विधानेन तस्मात्कल्याणसन्ततम्।
मर्त्यः कुर्वीत सततं नित्यकल्याणसिद्धये ॥६७७॥

कल्याणं पुत्रयोः कृत्वा द्वौषण्मासं ततः परम् ।
पित्रोर्विना मृताहं तु अन्यद्दर्शादिकं तु यत् ॥६७८॥
दूर्वाक्षताभ्यां तत्सव कुर्यादेवाविचारयन् ।
यदि दूर्वाक्षतांस्त्यक्त्वा कारुण्यानां पितृक्रियाम् ॥६७६॥
पितृव्यमातुलादीनामपि दर्शादिकं च यत् ।
तदादिकं दर्भतिलैःषण्मासं शुभात्परम् ॥६८०॥
पुत्रयोः स्वस्य वा मूढः सदादुःखी भवेदयम् ।
तस्मात्पैतृककृत्येषु स्वस्य वा पुत्रयोः शुभात् ॥६८१॥
षण्मासमध्यप्राप्तेषु दर्शनैमित्तिकादिषु ।
दूर्वाक्षताः प्रशस्ताः स्युर्न दर्भा न तिला अपि ॥६८२॥
पुत्रीविवाहः परमो विवाहात्तनयस्य वै ।
यतन(तनयः) स्वगृहेसम्यक्क्रियतेऽन्यत्र तस्य चेत् ॥६८३॥
तस्मात्पुत्रविवाहस्य षण्मासात्तु परं तराम् ।
शुभकर्मसमाचारः स्वनुष्ठेयो विपश्चिता ॥६८४॥
पुत्रोपनयनं तस्माद्विवाहात्तस्य कर्मणः ।
शुभाचरणनाम्ना वै सततं ह्यतिरिच्यते ॥६८५॥
यतो विवाहं पुत्रस्य स्वीकृतो हि गृहान्तरे ।
तस्मादत्रविवाहात्तु दुर्बलं नित्यमेव हि ॥६८६॥
अथापि सम्यक्कुर्वीत विवाहात्तु तयोः परम् ।
शुभाचरणकर्माख्यषण्मासं च शनैश्शनैः ॥६८७॥
तत्क्रमाच्चापि वक्ष्यामि मन्दवारे च सौम्यके ।
वरयोरुत्सवं कुर्यान्मङ्गलस्नानपूर्वकम् ॥६८८॥

बन्धूनां ब्राह्मणानां च सर्वेषां प्रीतिभोजनम् ।
नीराजनाशीर्वादौ च कर्तव्या चात्र दक्षिणा ॥६८९॥
भक्ष्यभोज्यादिकांश्चापि शतवादित्रपूर्वकाः ।
या याः क्रिया मङ्गलार्थास्तास्ताः सर्वा विचक्षणैः ॥६९०॥
अष्टमे दिवसे चैवं षोडशे दिवसे तथा ।
स्थालीपाके तथान्वारंभरण्यां चैवं च दर्शके ॥६९१॥
वारेषु शुक्रभान्वोश्च कुशलोत्सवमेव च ।
गमनागमने चैव निर्गमे पारिभद्रके ॥६९२॥
क्षेमोत्सवो द्वितीयेऽथ मासे कल्याणनामकः ।
शिवोत्सवस्तृतीयेऽथ तुर्येऽन्यश्रेयसात्मकः ॥६९३॥
पञ्चमे मङ्गलाख्यश्च षष्ठे भद्रकनामकः ।
वरस्य केशवृद्धिस्तु तदा किल विधीयते ॥६९४॥
भुक्त्युद्भवश्च तन्मध्ये यावत्तावत्तु चोदितम् ।
शुभवृन्दं तथा तस्मात्प्रकर्तव्यं विचक्षणः ॥६९५॥
एतादृशान्युत्सवास्तु कल्याणात्तु परं न तु ।
पुत्रस्य तु यतस्तस्मात्पुत्र्याः कल्याणमुत्तमम् ॥६९६॥
अतएवात्र भूयश्च लौकिकी वाङ्निरूप्यते ।
पुत्राच्छतगुणं पुत्री यदि पात्रो प्रदीयते ॥६९७॥
इति यासा सुमहती किं चात्र पुनरेकका ।
वैदिकी वाक् च दिव्यास्यात्स्पष्टार्था समुदीर्यते ॥६९८॥
पुत्रीदानं प्रशस्तं स्यादनेककुलतारकम् ।
तज्जातानां पुत्रतौल्यं पितृकर्मणि चोदितम् ॥६९९॥

एवं तु तनये दत्ते भिन्नगोत्राय चापदि।
तज्जातानां पुनः स्वस्य जनकस्य कुलं प्रति ॥७००॥
समाननकार्या······त(अ)ज्ञात प्रार्थनादिका।
सहस्राख्य परं भूयो दायादानां च तत्पितुः ॥७०१॥
तद्दायादिः प्रकर्तव्यो हरिद्राजललक्षणम्।
पश्चाच्च तत्स्वीकारोऽपि तदेतदखिलं कृतम् ॥७०२॥
किमासीदिति चालोच्य चेतसा पश्यताधुना।
गोत्रप्रवेशादयन तत्संसृष्टौ तथा नराम् ॥७०३॥
जातायामपि तस्याःस्यात्तद्गोत्रस्य च तादृशः।
तद्रिक्थसंबन्धकथा तत्समत्वकथापि वा ॥७०४॥
क्व जाता तत्परं चास्य वंशो दुर्बल एव हि।
बभूव किल हा तावत्प्रकृतिं याति केवलम् ॥७०५॥
तावदेव हि विप्रत्वं न्यूनत्वं समुपागतम्।
तत्रापि सम्यगधुना स्पष्टाय हि निरूप्यते ॥७०६॥
अन्यगोत्रप्रदत्तो यः स तु स्वपितरं क्रमात्।
पालयिता तस्य पित्रा च तत्पित्रा दत्तकेन वा ॥७०७॥
सपिण्डीकरणे सम्यग्योजयेत्तत्र बाधकम्।
न भवेत्किंचिदपि वा दत्तजस्तु पुरा किल ॥७०८॥
स्वपुत्रं न्यस्य तातैकगोत्रसिद्ध्यर्थमादरात्।
स्वतातगोत्रमित्युक्तस्वपितामहगोत्रकम् ॥७०९॥
स्वताततातगोत्रस्य सिध्यर्थमिति तन्मनः।
सुस्पष्टाय प्रकथितं तदर्थो गुरुणोदितः ॥७१०॥

अस्य गोत्रप्रदत्तोऽयं स तु स्वतनयं ततः।
जनकस्यैव गोत्रेण योजयेदिति वै मनुः ॥७११॥
अन्यथा तस्य गोत्रस्य साङ्कर्यं प्रभवेत्किल।
तेन चण्डालता भूयात्तद्वंशस्य ततस्त्यजेत् ॥७१२॥
यदि दत्तस्वतनये स्वगोत्रे न प्रवेशयेत्।
दत्तजावथ तज्जो वा तद्गोत्रद्वयजास्तुते ॥७१३॥
दत्तजः पितरं वृत्तं गोत्रे तत्पालकस्य वै।
पितुस्सपिण्डीकरणं कुर्यादिति मनोर्मतम् ॥७१४॥
दत्तस्य पितरं चेत्तु स्वगोत्राद्भिन्नगोत्रिणम्।
मुक्त्वैवं तूष्णीं तत्पश्चाद्योजयेत्तत्तादिभिः ॥७१५॥
तत्पिता जनको नैव तज्जस्तत्प्रपितामहे।
योजयेदेव धर्मेण शास्त्रेण च सुवर्त्मना ॥७१६॥
एवं पन्था महान्प्रोक्त एवं सत्यत्र दत्तजः।
स्ववंशसाङ्कर्यभिया युक्तो धर्मेण संयुतः ॥७१७॥
स्वपुत्रस्वपितुर्गोत्रे योजनाय स्वबन्धुभिः।
सम्यगालोच्य तान्ज्ञातिजनान्न्यूह्याखिलान्नपि ॥७१८॥
कृत्वा प्रदक्षिणं नत्वा वंशोद्धरणहेतवे।
इत्येवं प्रार्थयेत्सर्वान्वरं दत्वा शतं शमम् ॥७१९॥
सहस्रं विभवे कुर्याद्गोत्रभ्रष्टस्य मे सुतम्।
वंशसाङ्कर्यशून्योऽयं युष्मद्गोत्रे स्वकीयके ॥७२०॥
उपनेष्यामि यूयं च स्वीकृत्यैवं स्वगोत्रके।
हरिद्राजलपानेन कृतार्थं कुरुताधुना ॥७२१॥

सम्यक् त्रिपूर्वपर्यन्त असौ यद्यपि नैच्यभाक् ।
वंशजानामस्य पितुस्त्याग एकस्य चोदितः ॥७२२॥
पितामहस्य तत्पश्चाद्द्वितीयस्य ततः पुनः ।
तृतीयस्य परित्यागस्त्रयाणां तु ततः परम् ॥७२३॥
तद्वंशजानां सुस्पष्टं न्यङ्क्तं नैच्यं च तत्कुले ।
सुस्पष्टमेव पित्रादित्यागस्तत्र सुवर्त्मना ॥७२४॥
युष्मत्साम्यं तत्परं वै वंशजानां भविष्यति ।
तावदेतांस्यक्तपितॄन् पश्यन्तः कृपया बत ॥७२५॥
युष्माभिर्न समाह्येते पुत्रपौत्रादयस्त्रयः ।
गोत्रप्रवररिक्थादिव्यवहारेषु वच्म्यपि ॥७२६॥
कृपया विप्रमात्रत्वस्वीकारेण मुदायुताः ।
अङ्गीकृत्य च मामेवमेतद्वंशं च धर्मतः ॥७२७॥
समुद्धरत पाताद्य शरणं वोगतोऽस्म्यहम् ।
इत्युक्तास्तेऽपि सर्वे वै तथा कुर्युस्तदम्भसा ॥७२८॥
ओमित्येवेति तत्राग्नौ व्याहृतीश्चहुनेच्छतम् ।
ततो मौञ्जीं प्रकुर्वीत तत्पुत्रस्तदनन्तरम् ॥७२९॥
न तैस्समो भवेत्तावद्गोत्रा रिक्थक्रियादिषु ।
यावत्तु क्रमसापिण्ड्यसिद्धिः स्यात्तावदेव हि ॥७३०॥
स्वगोत्रागतपुत्रस्य तादृशस्य पितुर्मृतौ ।
आशौचं त्रिदिनं प्रोक्तमेवं मातुश्च तत्समम् ॥७३१॥
दर्शादिदेवताश्चापि पितामहमुखास्त्रयः ।
नोच्चार्यश्च पिता तेषु श्राद्धमात्रं त्रिपूर्वकम् ॥७३२॥

तन्मार्गेणैव कुर्वीत ततो मातामहाश्च वै।
पितामहस्य एतेऽस्य चैतस्यापि मृतौ पितुः ॥७३३॥
तथैवाशौचमित्युक्तं एवं किल महत्तरम्।
अत्यन्तबाधकं क्रूरमन्यगोत्रसुतस्य वै ॥७३४॥
परिग्रहे प्रकथितं ततस्त्वेतन्न चाचरेत्।
स्वभ्रातृषु स्वगोत्रे च कृते पुत्रपरिग्रहे ॥७३५॥
न किंचिद्बाधकं तत्स्यात्तस्मादेतच्छिवं बुधः।
समीक्ष्य सम्यगालोच्य पुत्रभावे प्रयत्नतः ॥७३६॥
स्वीकुर्याद् भ्रातृपुत्रादीन् तत्समाधानपूर्वकम्।
यद्यत्तत्रार्थितं दद्याद्ह्यात्मनः पुत्रसंशये ॥७३७॥
सर्वस्वं वा तस्य दत्वा तादृशी समये परम्।
गृह्णीयात्तनयं वंशोद्धरणाय विचक्षणः ॥७३८॥
पुत्रस्वीकारसमये यद्यदुक्तं पुरा तयोः।
न तस्यास्त्वन्यथाभावः कदाचिदपि धर्मतः ॥७३९॥
तदुक्तिलंघनकराः ब्रह्मघ्न इति सूरिभिः।
कथितो हि ततस्तं वै राजा राष्ट्रात्प्रवासयेत् ॥७४०॥
तनयग्रहणे यो वा तत्पित्रोः प्रार्थितं तदा।
दत्वा शपथपूर्वं वै पुनरन्यानि भाषते ॥७४१॥
पुनश्च पुत्रे संजाते चिराद्दैवेन दुर्मतिः।
तमेनं धार्मिको राजा तद्बन्धूंस्तत्परान्खलान् ॥७४२॥
तदुन्मुखांस्तत्सहायान् संताड्य च कपोलयोः।
न्यक्कृत्य भीषयित्वा च यथायोग्यं यथा मति ॥७४३॥

सर्वस्वहरणं कृत्वा तयोः पूर्वं निबन्धनाम् ।
चाञ्चल्यरहितां कृत्वा देशात्तस्मात्प्रवासयेत् ॥७४४॥
परस्मै पुत्रदाने तु महते तादृशं पुनः ।
बाधकं शास्त्रतो ज्ञेयं पुत्रीदाने तु साधकम् ॥७४५॥
दौहित्रः कर्ता(?) तनयश्चापि सर्वशास्त्रसमौ मतौ ।
विभक्तेषु तु तद्भ्रातृमुखेषु किल तत्परम् ॥७४६॥
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य कर्ता दौहित्र उच्यते ।
दौहित्रस्य तु कर्तृत्वं स(पुन) र्वै (स) पुत्रयोः ॥७४७॥
अभावे कथितं सद्भिः स्युश्चेत्ते तु एव हि ।
तेषामभावे दौहित्रो भ्रातृपुत्रेषु सत्सु चेत् ॥७४८॥
अविभक्तेषु तैः सर्वैस्तन्मुखेनैव केवलम् ।
सर्वं कारयितव्यं स्यात्प्रेतकृत्यमशेषकम् ॥७४९॥
नायं तद्धनभागी स्याज्ज्ञातयो धनभागिनः ।
यत्किंचित्तैः प्रीतिदत्तमस्य तद्भवति ध्रुवम् ॥७५०॥
न चेत्किमपि नास्त्येव विभक्तेषु तु तेषु वै ।
तद्धनं निखिलं चास्य धर्मतः प्रभवेद्ध्रुवम् ॥७५१॥
यत एवमिति प्रोक्ते पुत्राभावे तु चोदितः ।
प्रीत्यासन्नस्सपिण्डो यः कर्ता स इति निश्चयः ॥७५२॥
प्रीत्यासन्नस्सपिण्डत्वं दौहित्रस्येद मुख्यतः(मुच्यते) ।
इति तेषां सपिण्डानाममुख्यं तेन केवलम् ॥७५३॥
अङ्गादङ्गात्संभवति पुत्रवद् दुहिता यतः ।
तत्संभूतस्तु दौहित्रो भ्रातृपुत्रादयस्तथा ॥७५४॥

न भवेयुर्भ्रातृजा हि तदुत्पन्ना हि केवलम् ।
संबन्धस्तत्र नैतस्य पितृसंबन्धयोगतः ॥७५५॥
ते सपिण्डाः प्रकथितास्ते तत्संबन्धलेपकः (लेखतः) ।
अत एव च सोऽयं वै दौहित्रः सर्वकर्मसु ॥७५६॥
अमादर्शादिषु तथा श्राद्धाख्येषु च सन्ततम् ।
स्वौपासनाग्नौ पितृभिः समत्वेन निरन्तरम् ॥७५७॥
मातामहान् शास्त्रवर्त्ममहापन्थानमाश्रितः ।
यजते धनभागीवाऽधनभाग्यैर्हि केवलम् ॥७५८॥
तस्मात्सर्वसपिण्डानां दौहित्रो मुख्य उच्यते ।
निर्दिष्टं श्राद्धकृत्याय नान्यकृत्ये नियोजयेत् ॥७५९॥
निर्दिष्टमन्योद्देशेन न देवाय निवेदयेत् ।
निवेदितं यद्देवस्य न तदन्येन योजयेत् ॥७६०॥
तथा निवेदितेनापि रुच्यर्थं वापि योजयेत् ।
निवेदितेन रुच्यर्थं योजयेन्न निवेदितम ॥७६१॥
यथा निवेदितं पूर्वं स्वीकुर्याच्च तथैव हि ।
अपक्वमतिपक्वं वा अत्यन्तोष्णमनुष्णकम् ॥७६२॥
निवेदयेन्न देवाय किंतु तत्सम्यगेव हि ।
सुखोष्णयित्वा तत्पक्वं सम्यगेव समीक्ष्य वै ॥७६३॥
सूपशाकान्वितं कृत्वा भक्ष्याभोज्यादिसंयुतम् ।
अभिधार्याथ गायत्र्या परिषिच्य हविस्तथा ॥७६४॥
आत्मानं हि ततो मन्त्रैः प्राणापानादिभिश्चरेत् ।
नान्यकार्ये योजयेत्तत्कार्यमखिलं च यत् ॥७६५॥

योजयेत्तु भवेदेव नात्र कार्या विचारणा ।
हविः स्वीकरणान्तो वै यागस्सर्वाङ्गसंयुतः ॥७६६॥
एकं हविर्नान्यकार्यहेतवे प्रभवेत्किल ।
स्थालीपाकादिषु कृतं हविस्तद्ब्रह्मभोजने ॥७६७॥
प्रभूतसर्पिषान्यस्य कार्यस्य न भवेदहो ।
मधुपर्कादिषु कृतं यद्धविस्तत्तथैव हि ॥७६८॥
अन्यकार्याय न भवेच्छ्राद्धकर्मणि चेद्धविः ।
औपासनाग्नौ तत्पूर्वं कर्तव्यं मुख्यतो न चेत् ॥७६९॥
लौकिकाग्नौ सर्वजनसौलभ्यायैव केवलम् ।
औपासनकृतं चान्नमुद्धियादाज्ञया कृतम् ॥७७०॥
तन्मे(।)क्षणेनोद्धृतं च होतव्यमधिकोष्णतः ।
यावत्तु प्राशनं तेषां तावदुष्णं भवेत्तराम् ॥७७१॥
ततः परं च पिण्डेषु गतोष्णेषु नमो मनुः ।
नमस्काराय कथितस्तस्मात्पैतृककर्म यत् ॥७७२॥
अत्यन्तोष्णेन निर्वर्त्यं तस्य प्राशनकर्मणि ।
प्रोक्षणं सेचनं चापि यजमानस्य मुख्यतः ॥७७३॥
कर्तॄणां गौणतः प्रोक्ते कुमारस्य तु भोजने ।
गुरोरेव हि कर्तृत्वं भुक्तेस्सूनोर्मतं तराम् ॥७७४॥
सेचनं प्रोक्षणे नस्तो प्राशौदनिककर्मणि ।
हविर्भक्षणमात्रेषु सर्वत्रैवं विधीयते ॥७७५॥
एवमाग्रयणस्मार्ततण्डुलानां तथा पुनः ।
हविषश्चापि तत्प्रोक्तं नतैः कर्मान्तरं चरेत् ॥७७६॥

हविरन्तं सर्वकर्म तस्मिन्नष्टे पुनः क्रिया ।
होमे जाते विकल्पः स्यात्तस्मिञ्जातेऽपि केषुचित् ॥७७७॥
इष्यते सम्यगान्तं च सर्वेष्टिषु तु केवलम् ।
विनाशो(शे)भूयः(कर्तव्यः?)प्रारंभ इति वै जगुः ॥७७८॥
कदाचिद्दैवयोगेन संघातमृतिमत्सु चेत् ।
एकस्मिन्नेवकाले वै श्राद्धे वै समुपागते ॥७७९॥
तदानुक्रमशस्त्वेकपाकेनैव समन्त्रकम् ।
तन्त्रेण श्रपणं कृत्वा सर्वं कुर्यादचिन्तितम् ॥७८०॥
तत्कर्मं च प्रवक्ष्यामि पितुः प्रथमतश्चरेत् ।
विप्रानुद्वास्य भूयश्च तद्धविस्त्वनले पुनः ॥७८१॥
शास्त्रेण श्रवणं कृत्वा चाभिधार्य ततः किल ।
मातुः श्राद्धं प्रकुर्याच्च तद्धविः पूर्ववत्पुनः ॥७८२॥
संस्कृत्याथ पितृव्यस्य तद्वच्च ततः परम् ।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य तत्पत्न्याः कनिष्ठस्य तथैव वै ॥७८३॥
तत्कलत्रस्य तत्पुत्रक्रमेणैवं शनैश्शनैः ।
एकेनैव तु पाकेन सर्वं शक्यं हि शक्यते ॥७८४॥
शुभकर्मकृतं चान्नं न श्राद्धाय कदाचन ।
यच्छ्राद्धकार्यैककृतं न तत्स्याच्छुभकर्मणः ॥७८५॥
देवपूजा सर्वकालसर्वदेशशुभोत्तमा ।
तादृगर्थं तन्निमित्तकृतं संपादितं तथा ॥७८६॥
द्रव्यमन्नं जलं शाकं तत्संबन्धि यदुच्यते ।
न तन्नियोजयेत्पित्रे देवब्राह्मणसन्निधौ ॥७८७॥

श्राद्धं कुर्यात्प्रयत्नेन श्राद्धं कृत्वा विधानतः।
देवपूजां प्रकुर्वीत वैश्वदेवं ततः परम् ॥७८८॥
वैदिकोऽयं विधिःप्रोक्तः कर्मान्ते ब्रह्मयज्ञकम्।
प्रश्नब्रह्मपरो यस्तु शाखामात्रेऽतिपावने ॥७८९॥
शाखाध्यायी महाभागः पङ्क्तिपावनपावनः।
शाखामात्रैकदेशस्याध्ययनाच्छ्रोत्रियत्वकम् ॥७९०॥
न प्राप्नोत्येव विधिना शाखाध्यायी ततो भवेत्।
नित्यस्नानस्सदाचारः सदावह्निः सदाशुचिः ॥७९१॥
सदातुष्टस्सदाशान्तः सदासूयाविवर्जितः।
अग्निहोत्राद्यभावेऽपि वेदवेदिविवर्जितः ॥७९२॥
ब्रह्ममेधक्रियाशुद्धः पूर्वतुल्यो भवत्यपि।
इत्येतदुक्तं कण्वेन मुनिना धर्ममुत्तमम्।
शास्त्राणां प्रवरं शास्त्रं हिताय जगतां तराम् ॥७९३॥

॥ इति श्रीकण्वस्मृतिः समाप्ता ॥

शुभमस्तु

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

* दाल्भ्यस्मृतिः *

दाल्भ्यम्प्रतिऋषीणां धर्मविषयकः प्रश्नः

कृताभिषेकं दाल्भ्यं स्वे आश्रमे समुपस्थितम् ।
परिपृच्छन्ति तत्वज्ञं ऋषयो वेदपारगाः ॥ १ ॥
धर्माधर्मविवेकं च शुद्धिर्जातमृतस्य च ।
आयुष्यानि च तीर्थानि मासशुद्धिस्तथैव च ॥ २ ॥
श्राद्धकालं च ब्रह्मघ्नगोघ्नचण्डालसंकरम् ।
रसानां परिवेत्ता च कथयस्व यथायथम् ॥ ३ ॥
स्मृतिसारं प्रवक्ष्यामि यथा शङ्खेन भाषितम् ।
इष्टापूर्तविधिश्चैव प्रायश्चित्तविधिस्तथा ॥ ४ ॥
इष्टापूर्तौ तु कर्तव्यौ ब्राह्मणेन प्रयत्नतः ।
इष्टेन लभते मोक्षं पूर्ते स्वर्गोऽभिधीयते ॥ ५ ॥
एकाहमपि कौन्तेय भूमिस्थमुदकं कुरु ।
कुलानि तारयेत्सप्त यत्र गौ र्वितृषा भवेत् ॥ ६ ॥
भूमिदानेन ये लोका गोदानेन च कीर्तिताः ।
तान् लोकान् प्राप्नुयान्मर्त्यः पादपानां प्ररोहणे ॥ ७ ॥
वापीकूपतड़ागानि देवतायतनानि च ।
पतितान्युद्धरेद्यस्तु स पूर्तफलमश्नुते ॥ ८ ॥

अग्निहोत्रं तपः सत्यं देवानां प्रतिपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥ ९ ॥
इष्टापूर्तौ द्विजातीनां सामान्यौ धर्मसाधकौ ।
अधिकारी भवेच्छूद्रः पूर्ते धर्मे न वैदिके ॥१०॥
यावदस्थीनि गंगायां तिष्ठन्ति पुरुषस्य च ।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥११॥
देवानां च पितॄणां च जले दद्याज्जलाञ्जलीन् ।
असंस्कृतप्रमीतानां स्थले दद्याज्जलाञ्जलीन् ॥१२॥
केशाकीटकशंबूकमस्थिकंटकमेव च ।
स्थलेषु च न दातव्यं कदाचिदशुचिर्भवेत् ॥१३॥
वामहस्ते तिलान् स्थाप्य यस्तु तर्पयते पितॄन् ।
पितरस्तर्पितास्तेन रुधिरेण जलेन वा ॥१४॥
एकादेव(मेव) ऋषीणां तु द्वौ द्वौ तु सनकादयः ।
अर्हन्ति पितरस्त्रीन्स्त्रीन्स्त्रियश्चैकैकमंजलिम् ॥१५॥
नाभिमात्रे जले स्थित्वा सतिलं दक्षिणामुखः ।
त्रींस्त्रीनपोऽञ्जलीन् दद्यादुच्चैरुन्नतरं द्विजः ॥१६॥
जले चैव जलं देयं पितॄणां जलकाङ्क्षिणाम् ।
ततःस्थलेषु दातव्यं पितॄणां नोपतिष्ठति ॥१७॥
नोदकेषु च पात्रेषु नाशुद्धो नैकपाणिना ।
नोपतिष्ठति तत्तोयं यद्भूम्यां न प्रदीयते ॥१८॥
एकादशाहे प्रेतस्य यस्य चोत्सृज्यते वृषः ।
मुच्यते प्रेतलोकाच्च स्वर्गलोकं स गच्छति ॥१९॥

यद्युक्त्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत ।
यजेत वा अश्वमेधं नीलं वा वृषमुत्सृजेत ॥२०॥
लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः ।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥२१॥
प्रथमेऽह्नि तृतीये च पंचमे सप्तमे तथा ।
नवमैकादशे श्राद्धं तन्नवश्राद्धमुच्यते ॥२२॥
नवश्राद्धे त्रिपक्षे च षण्मासे मासिकाब्दिके ।
पतन्ति पितरस्तस्य यो भुङ्क्ते चापदि द्विजः ॥२३॥
मासिकानि यश द्वेस्यादाद्यष्टे ह्यर्धमासिके ।
ऊनषाण्मासिको नाब्दे श्राद्धं संख्यास्तु षोडश ॥२४॥
मृतेऽहनि तु कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम् ।
प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि ॥२५॥
यस्यैतानि न कुर्वीत एकोद्दिष्टानि षोडश ।
पिशाचत्वं स्थिरं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि ॥२६॥
सपिण्डीकरणादूर्ध्वं यत्र यत्र प्रदीयते ।
तत्र तत्र त्रयं कुर्यादेकतस्तु क्षयेऽहनि ॥२७॥
एकोद्दिष्टं परित्यज्य पार्वणं कुरुते तु यः ।
अकृतं तद्विजानीयात्समातृपितृघातकः ॥२८॥
नित्यं नैमित्तिकं कार्यं नित्यं तु परिलंघयेत् ।
आदौ नैमित्तिकं कुर्यात्पश्चान्नित्यं समाचरेत् ॥२९॥
अमायां तु क्षयो यस्य प्रेतपक्षेऽथवा यदि ।
सपिण्डीकरणादूर्ध्वं तस्योक्तः पार्वणो विधिः ॥३०॥

त्रिदण्डग्रहणादेव प्रेतत्वं नैव जायते ।
एकादशदिने पूर्णे पार्वणं तु विधीयते ॥३१॥
यस्य संवत्सरादर्वाक् सपिण्डीकरणं कृतम् ।
प्रतिमासं तथा तस्य प्रतिसंवत्सरं तथा ॥३२॥
तस्याप्यन्नं सोदकुंभं दद्यात्संवत्सरं द्विजः ।
नित्यत्वात् कुलधर्माणां पुंसां चैवायुषः क्षयात् ॥३३॥
अस्थिरत्वाच्छरीरस्य द्वादशाहः प्रशस्यते ।
मातुः सपिण्डीकरणं कथं कार्यं भवेत्सुतैः ॥३४॥
पितामह्या सहैतस्याः सपिण्डीकरणं स्मृतम् ।
पतिनैकेन कर्तव्यं सपिण्डीकरणं स्त्रियः ॥३५॥
सा मृतापि हि पत्यैक्यं मांसमज्जास्थिभिः सहः ।
मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत् पुत्रिकासुतः ॥३६॥
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तु पितुः पितुः ।
अथ चेन्मन्त्रविद्युक्तः शारीरैः पङ्क्तिदूषकैः ॥३७॥
अदुष्यं(दू?) तं यमः प्राह पङ्क्तिपावन एव सः ।
अग्नौ करणशेषं तु पितृपात्रेषु दापयेत् ॥३८॥
पितृपात्रं पितॄणां च न दद्याद्वैश्वदेविके ।
मृन्मयेषु (ण्म) च पात्रेषु श्राद्धे भोजयते पितॄन् ॥३९॥
दातुश्च नोपतिष्ठेत भोक्ता च नरकं व्रजेत् ।
हस्तदत्तं तु यत् स्नेहलवणव्यंजनादिकम् ॥४०॥
दातुश्च नोपतिष्ठेत भोक्ता भुंजीत किल्बिषम् ।
गण्डूषकरणात् पूर्वं हस्तं प्रक्षालयेद्द्विजः ॥४१॥

हतं दैवं च पित्र्यं च आत्मानं चोपपातकैः ।
द्विस्त्रिः पिबति गण्डूषं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः ॥४२॥
हतं दैवं च पित्र्यं च आत्मानं चोपपातकैः ।
अर्धं पिबति गण्डूषमर्धं त्यजति भूमिषु ॥४३॥
प्रीणन्ति पितरः सर्वे ये चान्ये भूमिदेवताः ।
हस्तवाताहतं धूपं श्राद्धे यः संप्रदास्यति ॥४४॥
हतं दैवं च पित्र्यं च आत्मानं चोपपातकैः ।
पवित्रग्रन्थिमुत्सृज्य निक्षिपेद्भूमिमण्डले ॥४५॥
प्रक्षिपेद्भाजने विप्रो भ्रूणहत्यां स विंदति ।
पिता च म्रियते यस्य जीवेत च पितामहः ॥४६॥
द्वौ पिण्डावेकनामानावेकस्मिन् प्रपितामहे ।
पितृणां त्रीणि पूर्वाणां पिता च वमते यदि ॥४७॥
तद्दिनं चोपवासश्च पुनः श्राद्धं परेऽहनि ।
जानुपातं बहिः पाणिं हुंकारं तर्जनं बलिम् ॥४८॥
हस्तावलीढनं कुर्याच्छ्राद्धघाती प्रजायते ।
पानीयं पिबतः पात्रे मुखतो गलितं यदि ॥४९॥
हसते वदते चैव निराशाः पितरो गताः ।
बर्बरीकुसुमं चैव केतकीकरवीरकम् ॥५०॥
जाती दर्शनमात्रेण निराशाः पितरो गताः ।
तुलसी शतपत्राणि भृंगराजस्तथैव च ॥५१॥
मारुतं मोगरं चैव पितृणां दत्तमक्षयम् ।
कुलित्थाशणकाढक्यो मसूरा याव नालकाः ॥५२॥

निः पावा राजमाषाश्च घ्नन्ति श्राद्धं पतत्यधः ।
श्राद्धे वै मृन्मयं(मृण्मयं)पात्रं मृत्तिकायाश्च लेपनम् ॥५३॥
साज्यं धूपं घृतं चैव निराशाः पितरो गताः ।
क्षारस्य तु यल्लवणमुच्छिष्टस्य तु यद्घृतम् ॥५४॥
मुखेन श्रमितं भुंक्ते द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ।
अंगुल्या दन्तधावेन प्रत्यक्षलवणेन च ॥५५॥
मृत्तिकाभक्षणं चैव तुल्यं गोमांसभक्षणम् ।
श्राद्धं कृत्वा परश्राद्धे यस्तु भुञ्जीत लोलुपः ॥५६॥
पतन्ति पितरस्तस्य लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।
श्राद्धं कृत्वा तु यो विप्रो नैव भुंक्ते कदाचन ॥५७॥
हव्यं देवा न गृह्णन्ति कव्यानि पितरस्तथा ।
पुनर्भोजनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम् ॥५८॥
दानं प्रतिग्रहो होमः श्राद्धभुगष्ट वर्जयेत् ।
श्राद्धे नियुक्तो भुक्त्वा च भोजयित्वाभिगम्य च ॥५९॥
व्यवायी रेतसो गर्ते मज्जयत्यात्मनः पितॄन् ।
देवपूर्वंभवेच्छ्राद्धमदैवं चापि यद्भवेत् ॥६०॥
ब्रह्मचारी भवेद्भुक्त्वा भुक्त्वा श्राद्धं च नैत्तिकम् ।
पितृपात्रं समुत्सृज्य्वा(ज्य)पिण्डांस्तत्र प्रदापयेत् ॥६१॥
अपुत्रा ये मृताः केचित् स्त्रियो वा पुरुषास्तथा ।
तेषां श्राद्धं तु कर्तव्यमेकोद्दिष्टं (?) पार्वणम् ॥६२॥
सूतकांतरितं श्राद्धं प्रमादाद्गलितं तथा ।
तद्दिनाद्द्वादशाहे वा कुर्यात् तन्मासपर्वणि ॥६३॥

प्रत्यब्दं पार्वणे नैव विधिना क्षेत्रजौरसौ।
कुर्यात्तामितरे कुर्युरेकोद्दिष्टं सुतादश ॥६४॥
द्वौ दैवे प्राक्त्रयः पित्र्ये उदगेकैकमेव वा।
मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम् ॥६५॥
बहूनामपि बन्धूनामेकश्चेत् पुत्रवान् भवेत्।
सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥६६॥
बहूनामेक भार्याणामेका चेत् पुत्रिणी भवेत्।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण पुत्रवत्य इति स्थितिः ॥६७॥
अष्टकासु च वृद्धौ च प्रेतपक्षे क्षयेऽहनि।
मातुः श्राद्धं पृथक् कुर्यादन्यत्र पतिना सह ॥६८॥
अन्वष्टक्यं च पूर्वेद्युर्मासि मास्यथ पार्वणम्।
काम्यमाभ्युदयमाष्टम्यामेकोद्दिष्टमथाष्टमम् ॥६९॥
चतुर्थाद्येषु साग्नीनामग्नौ होमो विधीयते।
पित्र्यद्विजपाणौ च उत्तरेषु चतुर्ष्वपि ॥७०॥
यच्च पाणितले दत्तं यच्चान्यदुपकल्पितम्।
एकीभावेन भोक्तव्यं पृथग्भावो न विद्यते ॥७१॥
प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
शस्त्रेणैव हता ये तु तेषां तत्र प्रदीयते ॥७२॥
मासिकेऽब्दे तु संप्राप्त अंतरामृतसूतके।
वदन्ति शुद्धौ तत्कार्यं दर्शे वापि मनीषिणः ॥७३॥
श्राद्धेऽहनि समुत्पन्ने मृतस्याविदिते दिने।
एकादश्यां तु कर्तव्यं कृष्णपक्षे विशेषतः ॥७४॥

समत्वमागतस्यापि पितुः शस्त्रहतस्य च।
एकोद्दिष्टं सुतैः कार्यं चतुर्दश्यां महालये ॥७५॥
महालये गयाश्राद्धे मातापित्रोः क्षयेऽहनि।
कृतोद्वाहोऽपि कुर्वीत पिंडदानं यथाविधि ॥७६॥
एकोद्दिष्टं दैवहीनमेकार्घ्यैकपवित्रकम्।
आवाहनाग्नौ करणरहितं त्वपसव्यवत् ॥७७॥
संकल्पं तु यदा कुर्यान्न कुर्यात्पात्रपूरणम्।
नावाहनाग्नौ करणं पिण्डांश्चैव न दापयेत् ॥७८॥
विवाहव्रतबंधोर्ध्वं वर्षमब्दार्धमेव वा।
पिण्डान्सपिण्डान् नो दद्यु र्न कुर्युस्तिलतर्पणम् ॥७९॥
नित्यश्राद्धमदैवं स्यादर्घ्यपिण्डविवर्जितं।
आमश्राद्धं तु नैव स्याच्छूद्रः कुर्यात्सदैव हि ॥८०॥
अपत्नीकः प्रवासी च यस्य भार्या रजस्वला।
आमश्राद्धो द्विजः कुर्याच्छूद्रः कुर्यात्सदैव हि ॥८१॥
या संख्या पक्वपाकस्य शुष्कं तद्द्विगुणं भवेत्।
चतुर्गुणं हिरण्यं तु श्राद्धकर्मणि संस्थितम् ॥८२॥
मातुः श्राद्धं तु पूर्वं स्यात् पितॄणां तदनन्तरम्।
ततो मातामहानां च वृद्धौ श्राद्धत्रयं स्मृतम् ॥८३॥
दशकृत्वः पिबेदापो गायत्र्या श्राद्धभुक् द्विजः।
ततः सन्ध्यामुपासीत होमं चैव यथाविधि ॥८४॥
चान्द्रायणं नवश्राद्धे पाराको(?) मासिके मतः।
पक्षत्रयेऽति कृच्छ्रं स्यात् षण्मासे कृच्छ्र एव तु ॥८५॥

आब्दिके पादकृच्छ्रं स्यादेकाहः पुनराब्दिके।
अत ऊर्ध्वं न दोषः स्याच्छंखस्य वचनं यथा ॥८६॥
शस्त्रविप्रहतानां च शृंगीदंष्ट्रीसरीसृपैः।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥८७॥
गोविप्रनृपहन्तृणामन्वक्षं चात्मघातिनाम्।
पाषण्डमाश्रितानां च निवर्तेतोदकक्रिया ॥८८॥
अग्निदाता तथा चान्ये ये चान्ये पाशछेदकाः।
तप्तकृच्छ्रेण शुध्यन्ति मनुराह प्रजापतिः ॥८९॥
गोभूहिरण्यहरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहेषु च।
यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाह ब्रह्मघातकम् ॥९०॥
गोभिर्हतं ततो बद्धं ब्राह्मणेन तु घातितम्।
तं स्पृशन्ति च विप्रा वोढारोऽग्निप्रदायकाः ॥९१॥
उद्यता सह यावंत एककार्येष्ववस्थिताः।
यद्येको घातयेत्तत्र सर्वे ते घातकाः स्मृताः ॥९२॥
बहूनां शस्त्रघातानामेकश्चेद्धर्मभेदनम्।
सर्वे ते शुद्धिमिच्छन्ति स एको ब्रह्मघातकः ॥९३॥
महापातकिसंस्पर्शे स्नानमेव विधीयते।
संस्पृष्टस्तु तथा भुंक्ते कृच्छ्रसांतपनं चरेत् ॥९४॥
यस्य चाण्डालिसंयोगो भवेत् किञ्चिदकामतः।
तत्र सान्तपनं कृत्वा प्राजापत्यद्वयं चरेत् ॥९५॥
कामतस्तु यदा कश्चिच्चण्डालीगमनं कृतम्।
चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यात्तप्तकृच्छ्रद्वयं चरेत् ॥९६॥

चण्डालोदकसंस्पर्शे स्नात्वा विप्रो विशुध्यति।
तेनैवोच्छिष्टसंस्पर्शे त्रिरात्रेणैव शुध्यति ॥९७॥
अज्ञानतः स्नानमात्रमन्येभ्योऽपि विशेषतः।
अत ऊर्ध्वं न दोषः स्यान्मदिरास्पर्शने तथा ॥९८॥
अस्थिभेदं गवां कृत्वा लांगूलशफच्छेदनम्।
पातनं चैव शृङ्गाणां मासार्धं यावकं पिबेत् ॥९९॥
यवसस्तावदूढव्यो यावद्रोहति तद्व्रणः।
तद्वर्णां दक्षिणां दद्यात्ततः पापात्प्रमुच्यते ॥१००॥
हले वा शकटे चैव दुर्बलं यो नियोजयेत्।
प्रत्यवाये समुत्पन्ने ततः प्राप्नोति गोवधम् ॥१०१॥
प्रयत्नाद्वापि कूपेषु वृक्षच्छेद निपातने।
गवाशनं कृन्तयित्वा ततः प्राप्नोति गोवधम् ॥१०२॥
अतिवाहातिदोहाभ्यां नासिकाभेदनेन तु।
नदीपर्वतसंरोधे पादोनं व्रतमाचरेत् ॥१०३॥
एका चेद्बहुभिः कैश्चिद्दैवाद्व्यापादिता यदि।
पादं पादं च हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक् पृथक् ॥१०४॥
एकपादं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत्।
योजने च त्रयः पादाः चरेत्सर्वं निपातने ॥१०५॥
रोम्णां तु प्रथमे पादे द्वितीये श्मश्रुवापनम्।
पादहीने शिखावर्जं सशिखं तु निपातने ॥१०६॥
पादे वस्त्रद्वयं दद्याद् द्विपादे कांस्यभाजनम्।
पादहीने च गां दद्यान्मिथुनं च निपातने ॥१०७॥

कथंचिद् वृषभं हत्वा होमधेनुं तथैव च।
अन्नं तु द्विगुणं कुर्याद्दक्षिणा द्विगुणा भवेत् ॥१०८॥
राजा वा राजमान्यो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः।
अकृत्वा वपनं तेषां प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥१०९॥
केशानां रक्षणार्थाय द्विगुणं व्रतमाचरेत्।
द्विगुणे तु व्रते चीर्णे द्विगुणा दक्षिणा भवेत् ॥११०॥
द्वौ मासौ पालयेद्वत्सं द्वौ मासौ द्वौ स्तनौ दुहेत्।
द्वौ मासौ चैकवेलायां शेषं कालं यथेच्छया ॥१११॥
औषधं पथ्यमाहारो दद्याद्गोब्राह्मणेषु च।
वैकल्यतः (लपतः?) विपत्तौ च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥११२॥
निशिबन्धविरुद्धेषु व्याघ्रसर्पहतेषु च।
अग्निविद्युन्निपातेषु प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥११३॥
स्नेहाद्वा यदि वा लोभाद्भयादज्ञानतोऽपि वा।
वदन्त्यनुग्रहं ये वै तत्पापं तेषु गच्छति ॥११४॥
बलत्वेन दशाहे तु प्रेतत्वं यदि गच्छति।
सद्य एव तु शुद्धिः स्यान्न शौचं नैव सूतकम् ॥११५॥
आदन्त जन्मनः सद्य आचूडान्नैशिकी स्मृता।
आव्रतात्तु त्रिरात्रं स्याद्दशरात्रमतः परम् ॥११६॥
आचूडाकरणात् सद्यः प्रदानान्नैशिकी स्मृता।
आविवाहात्त्रिरात्रं स्याद्दशरात्रमतः परम् ॥११७॥
अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम्।
गुर्वन्ते वाम्यनूचानमातुलश्रोत्रियेषु च ॥११८॥

चतुर्थे दशरात्रं स्यात् षण्णिशाः पुंसि पञ्चमे ।
षष्ठे चतुरहं प्रोक्तं सप्तमे तु दिनत्रयम् ॥११९॥
एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः ।
त्र्यहात् केवलवेदज्ञस्तद्धीनो दशभिर्दिनैः ॥१२०॥
मन्त्रकर्मपरिभ्रष्टाः संध्योपासनवर्जिताः ।
नामधारकविप्राणां भस्मांतं सूतकं भवेत् ॥१२१॥
संपर्काज्जायते दोषो नाऽन्यो दोषोऽस्ति ब्राह्मणे ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन संपर्कं नैव कारयेत् ॥१२२॥
आदावारभ्य आशौचं संयोगो यस्य नाग्निषु ।
आदावन्ते च विज्ञेयं यस्य वैतानि को विधिः ॥१२३॥
शवसूतकमुत्पन्नं पश्चाज्जातं न सूतकम् ।
शावेन शुध्यते सूतिः सूत्या शावं न शुध्यति ॥१२४॥
जातं जातेन शुद्धं स्यान्मृतकं मृतकेन तु ।
न जाते मृतशुद्धिः स्यान्न मृते जातकं तथा ॥१२५॥
मातुरग्रे प्रमीतिः स्यादशुद्धौ म्रियते पिता ।
पितुः शेषेण शुद्धिः स्यान्मातुः कुर्यात्तु पक्षिणीम् ॥१२६॥
स्रावे मातुस्त्रिरात्रं स्यात्सपिण्डाः शौचवर्जिताः ।
पाते मातुर्दशाहः स्यात्सपिण्डानां दिनत्रयम् ॥१२७॥
आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः ।
अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्यात् सूतकं तु यथोदितम् ॥१२८॥
शिशोरभ्युक्षणं प्रोक्तं बालस्याचमनं तथा ।
रजस्वलायाः संस्पर्शे स्नानमेव कुमारके ॥१२९॥

आचूडाकरणाद्बाल आदन्ताच्च शिशुः स्मृतः।
कुमारकस्तु विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबन्धनात् ॥१३०॥
विवाहव्रतयज्ञेषु त्वन्तरामृतसूतके।
पूर्वसंकल्पितार्थानि भोज्यानि मनुरब्रवीत् ॥१३१॥
विवाहचौलोपनयने यस्य माता रजस्वला।
तस्याः शुद्धेः परं कार्यं मांगल्यं मनुरब्रवीत् ॥१३२॥
एकविंशत्यहर्यज्ञे विवाहे दश वासराः।
पञ्चाहश्चोपनयने नान्दीश्राद्धं पुरो भवेत् ॥१३३॥
विवाहव्रतयज्ञेषु अन्तरामृतसूतके।
प्रारब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे तु सूतकम् ॥१३४॥
प्रारंभो वरणं यज्ञे संकल्पो व्रतसत्रयोः।
विवाहे मातृपूर्वं स्याच्छ्राद्धे पाकपरिक्रिया ॥१३५॥
निमन्त्रिते यदा विप्रे श्राद्धकर्मण्युपस्थिते।
विधिना चैव तत्कार्यं नाशौचं नैव सूतकम् ॥१३६॥
भुंजानेषु विप्रेषु सूतकं जायते यदि।
अन्यगेहोदकाचान्ताः सर्वे ते शुद्धिमाप्नुयुः ॥१३७॥
देशान्तरे मृतः कश्चित् सपिण्डः श्रूयते यदि।
न त्रिरात्रमहोरात्रं सद्यः स्नात्वा विशुध्यति ॥१३८॥
देशान्तरं तु विज्ञेयं षष्टियोजनमायतम्।
चत्वारिंशद्वदन्त्यन्ये त्रिंशदन्ये विपश्चितः ॥१३९॥
वाचो यत्र विभिद्यन्ते गिरिर्वा व्यवधायकः।
महानद्यन्तरं यत्र तद्देशान्तरमुच्यते ॥१४०॥

स्वगोत्रो वान्यगोत्रो वा यदि स्त्री यदि वा पुमान् ।
प्रथमेऽहनि यो दद्यात् स दशाहं समापयेत् ॥१४१॥
निर्दशे गुरुपाते च कृते चैवोर्ध्वदेहिके ।
ऊर्ध्वं त्रिरात्रमाशौचं दशाहमकृतक्रियः ॥१४२॥
आत्रिमासात् त्रिरात्रं स्यात् षण्मासे पक्षिणी स्मृता ।
अहः संवत्सरादर्वाक् ततः स्नानं समाचरेत् ॥१४३॥
रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके ।
पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदयते रविः ॥१४४॥
उदिते तु यदा सूर्ये नारीणां दृश्यते रजः ।
जननं वा विपत्तिर्वा यस्याहस्तस्य शर्वरी ॥१४५॥
उषसः प्राग्रजः स्त्रीणां विज्ञेयं दिनपूर्वकम् ।
अर्धरात्रावधिः कालः सूतकादौ विधीयते ॥१४६॥
रात्रिं कृत्वा त्रिभागां तु द्वौ भागौ पूर्व एव तु ।
उत्तरं तु परं ज्ञेयं युज्यते रुधिरःस्मृतः ॥१४७॥
रजस्वला यदि स्नाता पुनरेव रजस्वला ।
एकादशदिनादर्वागशुचित्वं न विद्यते ॥१४८॥
रजस्वलायां प्रेतायां संस्कारादीनि नाचरेत् ।
ऊर्ध्वं त्रिरात्रतः स्नातां शवधर्मेण दाहयेत् ॥१४९॥
या मृता सूतकी नारी या मृता च रजस्वला ।
पूर्ववस्त्रं परित्यज्य शवधर्मेण दाहयेत् ॥१५०॥
अन्तरिक्षे मृता ये वाऽप्यग्नौ चाप्सु प्रमादतः ।
उदक्यां सूतिकीं नारीं चरेच्चान्द्रायणत्रयम् ॥१५१॥

स्नापयेत् पञ्चगव्येन मृत्तिकाभिश्च लेपयेत्।
वंशपात्रेण तत्स्नानं ततः शुध्यति सूतिका ॥१५२॥
आतुरे स्नानमुत्पन्ने शतकृत्वा ह्यनातुरः।
स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुध्यति आतुरः ॥१५३॥
शुना पुष्पवती स्पृष्टा पुष्पवत्यन्यया तथा।
शेषान्यहान्युपवसेत् घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥१५४॥
अन्त्यजैः स्वीकृते तीर्थे तडागेषु नदीषु च।
पिबेत्पानीयमज्ञानात् पंचगव्येन शुध्यति ॥१५५॥
तडागकूपगर्ते तु चण्डालादिविदूषिते।
अपां शतघटोद्धारः पंचगव्येन शुध्यति ॥१५६॥
दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥१५७॥
परिवित्तिः परिवेत्ता या या च परिविंदति।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपंचमाः ॥१५८॥
पितृव्यपुत्राः सापत्नाः परनारीसुताश्च ये।
दाराग्निहोत्रधर्मेण न दोषः परिवेदने ॥१५९॥
ज्येष्ठो भ्राता यदातिष्ठेदाधानं नैव कारयेत्।
अनुज्ञातस्तु कुर्वीत शंखस्य वचनं यथा ॥१६०॥
आममांसं घृतं क्षौद्रं स्नेहाश्च पत्रसंभवाः।
म्लेच्छभाण्डगता ये वै आत्मभाण्डगताः शुचिः ॥१६१॥
पत्रचूर्णेषु यत्तोयं गोरसेषु च संस्थितम्।
न दूष्यं तद्भवेद्वारि इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥१६२॥

संग्रामे अट्टमार्गे च यात्रादेवगृहेषु च।
महोत्साहे महोत्पाते स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुःष्यति ॥१६३॥
दिवा(?)कपिच्छ(त्थ)छायायां रात्रौ दधिशमीषु च।
धात्रीफलेषु सप्तम्यामलक्ष्मीर्वसते सदा ॥१६४॥
शूर्पवातो नखाग्रबिन्दुः केशवस्त्रघटोदकम्।
मार्जनीरेणुसहितं हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥१६५॥
यत्र यत्र च संकीर्णं पश्येदात्मनमात्मना।
तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्या वर्तनं यथा ॥१६६॥
इदं दाल्भ्यकृतं शास्त्रं श्रावयिष्यति यो द्विजान्।
सवपापविशुद्धात्मा पुण्यलोकमवाप्नुयात् ॥१६७॥

॥ इति श्रीदाल्भ्यप्रोक्तं धर्मशास्त्रं समाप्तम् ॥

॥ शुभम्भूयात् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

* आङ्गिरसस्मृतिः *(२)

पूर्वाङ्गिरसम्

आङ्गिरसम्प्रति ऋषीणांमप्रश्नः

पावकप्रतिमं साक्षान्मुनिमाङ्गिरसं द्विजाः ।
ब्रूहि धर्मानशेषान्न इत्यूचुः प्रणिपत्य तम् ॥ १ ॥
तेभ्यः स तु ततः प्रीत्या शृणुध्वमिति चाफणत् ।
वच्मि तानखिलान् धर्मान् वैदिकान् मुक्तये परान् ॥२ ॥
धर्मः स्याच्चोदना प्रोक्तस्तदन्यस्तूपचारतः ।
लिङ्गादिरूपा सा ज्ञेया मुक्तिदा श्रुतिचोदिता ॥ ३ ॥
श्रुत्युक्तलिङ्लोट्तव्यप्रत्ययलक्षणलक्षिता ।
चोदना सैव नान्या सा पुराणस्मृतिचोदिता ॥ ४ ॥

पुराणोक्तं न कुर्यात्

न वैदिकः पुराणोक्तैः कर्माणि मनुभिश्चरेत् ।
वेदोक्तैरेव तैर्मन्त्रैर्निखिलानि समाचरेत् ॥ ५ ॥
कर्ममध्ये पुराणोक्तमन्त्रोच्चारणमात्रतः ।
नश्येत्तु वैदिकं कर्म तस्मात्तु न तथाऽऽचरेत् ॥ ६ ॥
पुराणोक्तेष्वेषु सत्सु लौकिकेषु तथाऽऽचरेत् ।

मन्त्राभावे व्याहृतयः

मन्त्राभावे तु सर्वत्र स्मृता व्याहृतयः किल ॥ ७ ॥
अन्वये लिङ्गतोऽर्थाद्वा विरोधाभावतः परे।
तत्तन्मन्त्राः संभवन्ति तेषु तेषु तु कर्मसु ॥ ८ ॥
प्रायश्चित्तं दृश्यते न यत्र कुत्रापि तत्र वै।
तस्यैतत्कथितं दिव्यं प्रायश्चित्तं महत्तरम् ॥ ९ ॥
पुण्या व्याहृतयश्चेति सा ऋग्वा वैष्णवी शिवा।
सर्वपापप्रशमनी चिन्तितार्थैकदायिनी ॥१०॥
प्रायश्चित्तक्रियाहेतोर्निर्णीता विष्णुना पुरा।
न व्याहृतिसमो मन्त्रो न व्याहृतिसमो जपः ॥११॥
न व्याहृतिसमस्तीर्थो न व्याहृतिसमं तपः।
न व्याहृतिसमो यज्ञो न व्याहृतिसमाः क्रियाः ॥१२॥
तस्मात्सर्वत्र ता दृष्टाः प्रायश्चित्ताय केवलम्।
तस्माद्वैदिककृत्यानां लौकिकानामशेषतः ॥१३॥
प्रमादाकरणे कृत्स्ने तत्त्यागे बुद्धिपूर्वके।
अज्ञानिनां ज्ञानिनां च पावकास्तारकाः पराः ॥१४॥
उत्तारका व्याहृतयो ऋचा युक्तास्तया पुनः।

जातकर्माद्यतिक्रमे

कर्मणोऽकरणे जातनाम्नोर्व्याहृतयः स्मृताः ॥१५॥
दिनैकसाध्याः कथितास्तथा नामाख्यकर्मणः।
तथान्नप्राशनस्यापि चौलस्याकरणे ततः ॥१६॥

दिवसद्वयसाध्या याः परा व्याहृतयः स्मृताः ।
पश्चान्मौञ्जी प्रकर्तव्या मौञ्ज्यास्त्वकरणे तथा ॥१७॥
मुख्यकाले षोडशाब्दपर्यन्तं दशमादितः ।
दिनत्रयचतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टनवादिकाः ॥१८॥
रात्रयः कथितास्तस्य तज्जपस्तस्य निष्कृतिः ।
किमन्येषां कर्मणां तु यस्य नास्ति हि निष्कृतिः ॥१९॥
तस्यैताः कथिताः सद्भिः सततं वेदवादिभिः ।
जप्त्वैता व्याहृतीर्दिव्याः प्रायश्चित्ताय केवलम् ॥२०॥
(परिपूताः) ततः सद्यस्तत्तत्कर्म समारभेत् ।
पाकारम्भसमारम्भः श्राद्धमात्रस्य संततम् ॥२१॥
प्रभवेद्धि विशेषेण संकल्पस्तु न तस्य वै ।

श्राद्धपाकानन्तरमाशौचं यदि ।

यदि दैवाद्यत्नमध्ये भवेत्सूतकमृत्विजाम् ॥२२॥
तत्क्रियाकरणे तत्तु न तेषां वारकं भवेत् ।
तत्क्रियार्थं प्रथमतः स्नात्वा सम्यक् समन्त्रकम् ॥२३॥
तत्क्रियामथ कुर्वीत तावत्तेषां न सूतकम् ।
कर्मकाले तदाशौचं सद्यो विलयमेति वै ॥२४॥
वृत्ते कर्मणि भूयश्च तदुदेति स्वयं पुनः ।

पाकारम्भानन्तरं तद्वीथ्यां मृतिसंभवे

श्राद्धे पाकसमारम्भे वृत्तेऽथ निपतेच्छवम् ॥२५॥
तद्वीथ्यां तेन तच्छ्राद्धं दूषितं न भवेदपि ।

पाकारम्भात्पूर्वं तद्वीथ्यां नृतिसंभवे

पाकारम्भस्य पूर्वं तत्प्रभवेच्छ्राद्धवारकम् ॥२६॥
शवं वीथ्यां निपतितं पाकारम्भात्परं तु न।
उपक्रान्तस्य तस्यास्य सूतकं यदि मध्यतः ॥२७॥
अप्यागतं तेन तद्धि वारितं न भविष्यति।
तस्माच्छ्राद्धमुपक्रान्तं सूतकेऽपि तथाऽऽचरेत् ॥२८॥
आतर्पणं विधानेन पाकस्यारम्भतोऽखिलम्।

दर्शपूर्णमासेष्टिपशुबन्धानन्तरं श्राद्धम्

सर्वेषां व्रतकृच्छ्राणां वारकं श्राद्धमेककम् ॥२९॥
तस्यापि वारको यागः पौर्णमासश्च दार्शिकः।
पौर्णमासं च दर्शं च पशुबन्धं च तद्दिने ॥३०॥
समागतं समाप्याऽऽदौ पश्चाच्छ्राद्धं समाचरेत्।
पितृक्रियादिनप्राप्तयागानुष्ठानतोऽखिलाः ॥३१॥
वसवश्चापि रुद्राश्चाप्यादित्याश्चैव कृत्स्नशः।
तद्रूपाः पितरः सर्वे सर्वे चापि पितामहाः ॥३२॥
नित्यतृप्ता भवेयुर्वै निखिलाः प्रपितामहाः।
दीक्षाप्राप्त्या तु भूयिष्ठा तृप्तिस्तेषां भविष्यति ॥३३॥

महादीक्षामध्यगतश्राद्धम्

प्रत्यब्दमासस्तन्मासदीक्षा या न भविष्यति।
प्रत्यब्दमपि पित्रोस्तन्न पितृव्याादिकं मतम् ॥३४॥
महादीक्षामध्यगतं गतमेव भविष्यति।
महादीक्षागतस्यास्य तदन्ते करणं ननु ॥३५॥

दीक्षाभहत्यस्ता ज्ञेयाश्चतुर्विंशद्दिनाधिकाः ।

खर्वदीक्षामध्ये

तिस्रस्ताभ्यस्तु या न्यूनास्त्रिषडादिदिनात्मकाः ॥३६॥

खर्वात्मिकास्ता विज्ञेयास्तन्मध्यगतपैतृकम् ।

यद्वा तदन्ते तत्कार्यमन्यत्कबलितं तया ॥३७॥

दीक्षावृद्धौ

महत्या दीक्षया कर्म सत्रेष्वेवं गतं गतम् ।

न कार्यमिति वाच्यं किं दीक्षावृद्धौ कथंचन ॥३८॥

संप्राप्तमपि तच्छ्राद्धमवशाद्दैवयोगतः ।

तदन्त एव कुर्वीत तस्या अपि पुनः कदा ॥३६॥

दैवयोगेन चिद्वृद्धेर्महत्त्वं चेत्समागतम् ।

कारणान्तरसंगत्या तदन्ते चेत्कृताकृतम् ॥४०॥

दीक्षामध्यमृते न संस्कारः कर्तव्यः

तच्छ्राद्धं भवतीत्याहुर्दीक्षामध्यमृतानपि ।

न संस्कुर्यान्नापि पश्येत् संस्कुर्यात्तद्व्यतिक्रमे ॥४१॥

कर्मणो वैदिकस्यैवं प्राबल्यं प्रतिपादितम् ।

ब्रह्मविद्भिर्महाभागैर्धर्मज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः ॥४२॥

दानतीर्थव्रतादिभ्यः कृच्छ्रेभ्योऽपि विशिष्यते ।

वैदिकं तु महत्कर्म वैदिकं प्रभवेत्ततः ॥४३॥

शुद्धः सन्नेव कुर्वीत वैदिकं कर्म नाशुचिः ।

आशौचादशुचित्वं हि ब्राह्मणानां भविष्यति ॥४४॥

सूत्याशौचस्यास्पृश्यत्वम्

सूत्याशौचे मृताशौचे वैदिकं कर्म नाचरेत् ।
अस्पृश्यत्वं न सूत्यां स्यादाशौचे तु भवेद्धि तत् ॥४५॥
उभयोर्भोजनं कुर्यान्महागुरुनिपातने ।
अहोरात्रं भुक्तिहैन्यं सर्वेषामपि तन्मतम् ॥४६॥
अकालभुक्तिराशौचे सूत्याशौचे न तन्मतम् ।
संध्यामात्रं प्रकुर्वीत तयोर्मानसमन्त्रतः ॥४७॥
एकद्वित्रिचतुर्नारीनष्टाशौचस्य चेत्पुनः ।
आशौचे वर्तमानस्य संघाताशौचिनस्ततः ॥४८॥
साक्षादन्नस्य भुक्तिर्न संध्या सा स्याज्जले क्रिया ।

संततशौचसंभवे

शतज्ञातिगतग्रामवासिनः संतताधिनः ॥४९॥
सूतकान्ते पुनःप्राप्तसूतकस्य निरन्तरम् ।
अब्दं दृष्ट्वा ततो यत्नात्त्यक्त्वा तं ग्राममादरात् ॥५०॥
सद्यो देशान्तरे पित्रोः श्राद्धं कार्यमिति स्थितिः ।
यदा परंपराघोऽस्य (घस्य) जायते श्राद्धवारकः ॥५१॥
तदा संवत्सरं दृष्ट्वा सद्यो देशान्तरं व्रजेत् ।
यदि विघ्नो न जायेत श्राद्धस्याथ तथा तदा ॥५२॥
श्राद्धं तत्रैव कुर्वीत धृतयज्ञोपवीतवान् ।
एकदैव समाक्रान्तः सूतकत्रयतो यदि ॥५३॥
एकाशौचेन वा पश्चाद्यज्ञसूत्रं तु बिभृयात् ।
यज्ञसूत्रविहीनः स्यादनर्हः सर्वकर्मसु ॥५४॥

अभावे तस्य सूत्रस्य चेलं वाजिनमेव वा ।
धारयीत विधानेन न मन्त्रस्तत्र विद्यते ॥५५॥
सूत्रस्यैव भवेन्मन्त्रः शिखाहीनश्च तादृशः ।

शत्रुच्छिन्नशिखश्चेत्

शत्रुच्छिन्नशिखः सद्यो बिभ्रन् कर्णे शुचिर्यतन् ॥५६॥
समगोपुच्छलोमानि प्राजापत्यप्रपूर्वकम् ।
पुनःसंस्कारतः शुद्धः प्रभवेन्नात्र संशयः ॥५७॥

मध्यच्छेदे

मध्यच्छिन्ना यदा चूडा प्राजापत्येन शुध्यति ।

रोगादिना नाशे

शिखाया रोगतो नाशे कृत्स्नायाः संकटेऽपि वा ॥५८॥
अवशाद्धह्नितो वापि पुनः संस्कार एव हि ।
शिखारोहणतः पश्चान्न तत्पूर्वं समाचरेत् ॥५९॥
तावद्गोपुच्छलोमानि धार्याण्येव विधानतः ।
यथावत् सा तु न भवेद्वार्धकेण च रोगतः ॥६०॥

सप्तत्यूर्ध्वं रोमभिः

सप्तत्यूर्ध्वं तु चेत्तस्याः पूर्वतः पृष्ठतोऽपि वा ।
पार्श्वतः परितो वापि समुद्भूतैश्च रोमभिः ॥६१॥
शिखा कार्या प्रयत्नेन न चेन्नैवोपपद्यते ।
तत्स्थाने सर्वशून्ये तु परितो वापि किं पुनः ॥६२॥
ब्राह्मण्यसूचनायैवं तानि लोमानि धारयेत् ।
अन्यथा न भवेदेव तथा तस्मात्समाचरेत् ॥६३॥

एवं वर्षाष्टकेऽतीते तार्तीयीकाश्रमं व्रजेत् ।
शिखासूत्रं च तद्युग्मं ब्राह्मणत्वस्य मूलके ॥६४॥
यया कया च विधया शिखां सूत्रं च बिभृयात् ।
शिखाच्छेदो पञ्चवारं यदि जायेत शत्रुभिः ॥६५॥
ब्राह्मण्यं तस्य नष्टं स्यात् पुनःसंस्कारतोऽपि तत् ।

श्राद्धविघ्ने स्त्रीसंगे

श्राद्धविघ्ने समुत्पन्ने सन्ततं सूतकादिना ॥६६॥
अकृत्वैव तदा श्राद्धं नोपेयाच्च स्त्रियं तराम् ।
तदा यद्याहितो गर्भो ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ॥६७॥
तदा सकृत्सन्निपाते प्राजापत्यत्रयं चरेत् ।
असकृद्गमनाच्चापाग्रयानं च समाचरेत् ॥६८॥
तस्योपनयनं भूयश्चोदितं ब्रह्मवादिभिः ।
प्रविष्टपरकायो यः स्वभार्यां तेन वर्ष्मणा ॥६९॥
नोपेयात्तत्प्रविष्टः सन्नोपेयात्तस्य तामपि ।
तादृशं कर्म कुर्याच्चेत्तत्कुलं स्वकुलं च ते ॥७०॥
आत्मानं पातयेद्घोरे नरके रौरवाभिधे ।
नष्टे त्रिप्रायके श्राद्धे पूर्वस्मिन् हविषि क्वचित् ॥७१॥
तदा पुनस्तत्संपाद्य हुत्वा प्राणादिभिश्चरुम् ।
द्वात्रिंशदाहुतेः पश्चात्तच्छेषेण समापनम् ॥७२॥
यत्तत्त्रिप्रायकं श्राद्धं तस्यागूश्च समापनम् ।
अपराह्णे च मध्याह्ने सद्यः पक्वं भवेद्धि वै ॥७३॥

पृथक् पाकात्तस्य भुक्तिर्द्वितीये तत्र नैव सा ।
विप्राणां भुक्तिमात्रं स्यादाभान्त्येतत्समाचरेत् ॥७४॥
संभान्त्यथ मृताहस्य समारम्भो विधीयते ।
सर्वशेषं समादाय पिण्डांस्त्रीनेव निर्वपेत् ॥७५॥
अवशिष्टं प्राशयेच्च त्रिप्रायकविधौ तथा ।
यत्नान्महाभीतिमति पश्चात्स्याद्भूरिभोजनम् ॥७६॥

लाजहोमात्पूर्वं यदि रजस्वला

अर्वाक्तु लाजहोमस्य वधूर्यदि रजस्वला ।
हविष्मतीति मन्त्रेण शतकुम्भैर्विधानतः ॥७७॥
स्नापयित्वा विधानेन वस्त्राभ्यां संपरीत्यतः ।
जप्त्वा द्विवारं यत्नेन युञ्जानाहुतियुग्मकम् ॥७८॥
पृथगग्नौ स्थापितेऽथ जहुयात्संस्कृतं घृतम् ।
पश्चात्तन्त्रं प्रयोक्तव्यमाब्राह्मणविसर्जनम् ॥७९॥
योक्त्रं विमुच्य तां पत्नीं दूरतस्तु विनिक्षिपेत् ।
पश्चाच्चतुर्थदिवसे स्नातायां समनन्तरम् ॥८०॥
प्रवाहनादिकर्माणि विधिनैव समाचरेत् ।
उभयोस्तु तदा नित्यं विधिना स्यात्पयोव्रतम् ॥८१॥
तदौपासनहोमः स्यात् समारम्भात्तु तन्मतम् ।

लाजहोमात्परं चेत्

लाजहोमात्परं सा चेत्तदा तत्स्नानतः परम् ॥८२॥
अर्वाक्तु शेषहोमस्य तूष्णीकं मन्त्रवर्जितम् ।
वस्त्रद्वयं प्रदायास्यै ताभ्यामाच्छाद्य तत्परम् ॥८३॥

अपावृत्ते तृतीये च दिवसेऽथ चतुर्थके।
अह्नि द्वितीययामे वै शतकुम्भैरमन्त्रितैः ॥८४॥
अभिषेकं कारयित्वा शेषं कर्म समाचरेत्।

औपासने त्वनारब्धे द्वितीयेऽह्नि चेत्

औपासने त्वनारब्धे द्वितीयदिवसे यदि ॥८५॥
रजस्वला तदा तस्यै हविष्मन्मन्त्रसेचनात्।
परं वस्त्रद्वयं दत्वा तूष्णीकं मन्त्रवर्जनात् ॥८६॥
ताभ्यामाच्छाद्य तत्पश्चात्सहस्रै रुदकुम्भकैः।
चतुर्थदिवसे कुर्यादभिषेकं समन्त्रकैः ॥८७॥
पञ्चगव्यस्तिलैः श्वेतैः सर्षपैः सर्वधान्यकैः।
व्याहृत्या चैव गायत्र्या हुनेदष्टोत्तरं शतम् ॥८८॥
अष्टोत्तरसहस्रं चेत्सर्वदोषहरं परम्।
आयुष्यसूक्तं हुत्वाथ चरुणा लाजतोऽपि वा ॥८९॥
होमशेषं समाप्याथ कर्मशेषं समापयेत्।
पश्चाच्छुद्धिमवाप्नोति कर्मणस्तस्य केवलम् ॥९०॥
तत्पञ्चमेऽथ दिवसे त्वौपासनपरिग्रहः।
तयाथ संगमो मासाद्गर्भाधानविधानतः ॥९१॥
तद्गृहक्षेत्रमनसां परस्परविरोधतः।
निरुद्धप्रेतकृत्यानां सूतकं तत्समापनात् ॥९२॥
निरुद्धप्रेतकृत्या ये तद्द्रव्यहरणेच्छया।
तत्समापनपर्यन्तं तेषां तत्सूतकं भवेत् ॥९३॥

आशौचे नित्यनैमित्तिकादि

तत्समापनपर्यन्तं न कुर्युः शुभकर्म च ।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं ब्रह्मयज्ञादिकं तथा ॥६४॥
न स्वाध्यायं न वा होमं न सभायाः प्रवेशनम् ।

प्रेतकृत्यरोधे

कुर्वीत मनसा संध्यां न स्वादूनि च भक्षयेत् ॥६५॥
तानि कुर्यात्तु मोहेन स प्रेतो न सहिष्यति ।
शापं घोरं ददात्येव तस्मात्तत्कृत्यरोधनम् ॥६६॥
मनसापि न कुर्वीत तच्चाण्डालं प्रकीर्तितम् ।
कृत्यं घोरं हि दुष्टं तत्तादृशं न तदाचरेत् ॥६७॥

अत्यन्यायादि कलौ न कारयेत्

अत्यन्यायमतिद्रोहमतिक्रौर्यं कलावपि ।
अत्यक्रमं चात्यशास्त्रं न कुर्यान्न च कारयेत् ॥६८॥
यदि कुर्वीत मोहेन सद्यो विलयमेष्यति ।
कर्ता कारयिता चापि प्रेरकश्च निरोधकः ॥६९॥
तत्सहायश्च सर्वे ते लयमेष्यन्ति सत्वरम् ।
गृहक्षेत्रादिकं सर्वं न नित्यं शुभकारिणः ॥१००॥
तन्निमित्तमिदं रूपं पापं मर्त्यो न चाऽऽचरेत् ।
आगामिसूतकं ज्ञात्वा समुपक्रान्तकर्मणः ॥१०१॥
अङ्गापकर्षणं नैव कुर्यादिति मनोर्मतम् ।
समागते सूतकेऽपि समुपक्रान्तकर्मणः ॥१०२॥

अङ्गानि तत्तत्कालेषु कुर्यात्तत्र न सूतकी।
भवेदेव तदा सद्यो गते तस्मिन् पुनस्तथा ॥१०३॥

जीवत्पितृकपिण्डपितृयज्ञादिश्राद्धम्

अपि जीवत्पिता पिण्डपितृयज्ञं समाचरेत्।
मासि श्राद्धं तथा होमादष्टकां पितृयज्ञतः ॥१०४॥
पितुर्वियोगात्परतः पिण्डदानं समाचरेत्।
तेनायं श्राद्धकर्ता स्यान्न मातुः पिण्डदानतः ॥१०५॥
जीवे पितरि चेच्छ्राद्धे प्राप्ते नैमित्तिके यदि।
येभ्य एव पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यात्तु तत्सुतः ॥१०६॥
एवं पितामहे जीवे येभ्यो दद्यात् स हि स्वयम्।
तेभ्यो दद्यात्तु तत्पौत्रस्तथा स्यात्प्रपितामहे(हान्) ॥१०७॥

पितरि संन्यस्ते पातित्यादिदूषिते तत्पित्रादिश्राद्धम्

संन्यस्ते पतिते ताते भ्रान्तचित्ते चलात्मनि।
तत्कर्तृकाणि श्राद्धानि स्वयं पुत्रः समाचरेत् ॥१०८॥
तत्तत्कालेषु विधिवच्छ्राद्धकर्ता न तेन सः।
तेषामकरणात्सोऽयं सद्यश्चण्डालतां व्रजेत् ॥१०९॥
श्राद्धाधिकारी पिण्डस्य दानमात्रेण जायते।
ऋत्विक्त्वेन वृते तस्मिन् न तु कर्ता भवेदयम् ॥११०॥
पितुः पिण्डप्रदानेन श्राद्धकर्ता भवेदयम्।
श्राद्धाधिकारसिध्यर्थं कुर्यादेकादशेऽहनि ॥१११॥
पार्वणं तद्विधानेन पितुः सिद्धेरनन्तरम्।
कर्मन्दी ब्रह्मभूतस्य तदा तस्मिन्नियोजयेत् ॥११२॥

प्रतिसंवत्सरं सिद्धिदिने श्राद्धं समाचरेत्।
पश्चादाराधनं कुर्यात्तस्मिन्नो चेत्परेऽहनि ॥११३॥
ब्रह्मभूतस्य तस्यास्य सर्वदेवादिरूपिणः।
संगच्छते पितृत्वं च तेन रूपेण तं यथा ॥११४॥
तस्मिन् श्राद्धदिने भक्त्या यजेदेव विधानतः।
तादृक् तद्यजनं चास्य श्राद्धनामककर्मणः ॥११५॥
अधिकारित्वसिध्यर्थं तस्मात्तेनैव तं यजेत्।
न मातरं पितृत्वेन यजेत तु कथंचन ॥११६॥
पितृत्वं मातरि गतमेकशेषजमल्पकम्।
यथा न तत्कार्यकरं मातृत्वमपि तत्तथा ॥११७॥

पितृव्यपत्न्यादीनाम्

पितृव्यपत्न्यादीनां स्यात्तादृक्पत्नीत्वमेव हि।
तासां भवति तस्मात्तु न तन्मातृत्वमुच्यते ॥११८॥
पितृत्वमपि मातृत्वं दानतो नाशमेष्यतः।
तत्कर्मणि पुनः प्राप्ते जननीत्वादिना भवेत् ॥११९॥
पितृत्वमपि मातृत्वमेकत्रैव हि तिष्ठति।
न तिष्ठति तदन्यत्र क्रियाशतसहस्रकात् ॥१२०॥

गौणमातरि

गौणमातरि मातृत्वं पुरस्कृत्यार्थलोभतः।
समुच्चार्य क्रियां कुर्यान्न सा तद्गा भवेद्ध्रुवम् ॥१२१॥
लोभान्मातृत्वमन्यासु यदि निक्षिप्य मोहतः।
क्रियां कुर्याज्जडमतिः सद्यश्चण्डालतां व्रजेत् ॥१२२॥

अतस्मिन् तत्त्वमारोप्य संस्कुर्याद्यदि कामतः।
निष्फलं याति तत्कर्म सोऽपि पातित्यमाप्नुयात् ॥१२३॥
पितृत्वं जनितर्यैव मुख्यतोऽन्यत्र गौणतः।
तत्पुरस्कृत्य चेत्कर्म कृतमन्यैः पुनः क्रिया ॥१२४॥
विहितेनैव पुत्रत्वं स्वीकारेण न चान्यतः।
समवाप्नोति बन्धूनां राजविद्वदनुज्ञया ॥१२५॥

भ्रातृजः कृतदारः कृतक्रियोऽपि।

भ्रातृजो वाक्यतः पित्रोर्ज्यैष्ठ्यकानिष्ठ्यवर्जितः।
पुत्रत्वं समवाप्नोति कृतदारः कृतक्रियः ॥१२६॥
सोऽप्येकश्चेदवाप्नोति नोभयोस्तु तथा विधिः।
जनितुर्मुख्यसूनुः स्यादन्यस्य गुणतः सुतः ॥१२७॥
मातुलत्वपितृव्यत्वसुतत्वाद्यनुबन्धकम्।
मुख्यतो यस्य यद्वा स्यात्तदुद्दिश्यैव तत्क्रिया ॥१२८॥
मुख्यानुबन्धनं त्यक्त्वा यः कर्म कुर्यात्प्रमादतः।
पितृव्यादिकमुच्चार्य पुनः कुर्यात्तु तां क्रियाम् ॥१२९॥

गोत्रनामानुबन्धव्यत्यासे

गोत्रनामानुबन्धानां व्यत्यासेनाप्यनेहसः।
यदि कुर्यात्क्रियां तां वै पुनः कुर्याद्यथाविधि ॥१३०॥
उपनीतस्तु चेदुपनेतृत्वेनैव तत्क्रिया।
विद्यादत्वेन तद्दातुर्भक्तदत्वेन तत्प्रदे ॥१३१॥
भयपत्वेन भयपे पितृव्यत्वेन तादृशे।
तत्तदुच्चारणं कृत्वा तत्तत्कर्म समाचरेत् ॥१३२॥

तदन्यथाकृतं तच्चेत् सम्यग्भूयः समाचरेत् ।

कर्तरि दूरगे प्रेष्यत्वेन कुर्वीत

मुख्यकर्त्रसमीपेऽन्यो न कुर्यात्स्वानुबन्धतः ॥१३३॥

तत्प्रेष्यत्वेन कुर्वीत प्रेषितस्तेन वै वृतः ।

अवृतस्तेन तत्प्रेष्यत्वेन तद्दूरगे सति ॥१३४॥

कृतं चेत्कर्म तद्भूयः संकल्पादि समाचरेत् ।

अन्येन कृते वाङ्मात्रदाने श्राद्धमात्रम्

वाङ्मात्रदत्तपुत्रस्तु कृतदारः कृतक्रियः ॥१३५॥

ग्राहकस्य न कुर्वीत दर्शादि न कदाचन ।

तत्पत्न्यास्तस्य च श्राद्धमात्रं सम्यक् समाचरेत् ॥१३६॥

प्रतिवर्षं प्रयत्नेन न दर्शादिकमाचरेत् ।

सतामेव हि बन्धूनां कर्म कुर्यात् प्रयत्नतः ॥१३७॥

भ्रष्टानामपि तुच्छानां पतितानां विकर्मिणाम् ।

न कुर्वीत क्रियां यत्नादपि स्नानं समाचरेत् ॥१३८॥

असतां पतितानां च भस्मान्तं सूतकं स्मृतम् ।

भ्रष्टपतितानां घटस्फोटनाधिकारिणः

जातिभ्रष्टानकर्मिष्ठान् पतितान् मातरं सुतम् ॥१३९॥

पितरं भ्रातरं पत्नीं पतिमेवं मिथोऽसतः ।

त्यजेद्धटप्रहारेण नान्यानेवं समाचरेत् ॥१४०॥

अनाथप्रेतसंस्कारे

अनाथप्रेतसंस्कारादश्वमेधफलं लभेत् ।

प्रेतनिर्वापणं कमत्र संस्कारशब्दतः ॥१४१॥

प्रेतसंस्काराभावे

अकृत्वा प्रेतसंस्कारं यो भुङ्क्ते कामकारतः।
तत्प्रेतकृतपापौघं तत्क्षणाल्लभतेऽखिलम् ॥१४२॥
तद्दोषशमनायाथ चापाग्रे स्नानमाचरेत्।
मासमात्रं प्रयत्नेन न चेदुक्थ्यं समाचरेत् ॥१४३॥

विप्रानुज्ञया यतिकृत्यम्

विप्राभ्यनुज्ञया कुर्यात् कर्ममात्रं विशेषतः।
पितृकृत्यं प्रेतकृत्यं तयोर्नो चेद्यतेरपि ॥१४४॥
विप्रानुज्ञां यतिरपि लब्ध्वा स्नात्वार्द्रवस्त्रतः।
प्रेतकृत्यं प्रकुर्वीत न चेत् कृत्यं तु तन्न तु ॥१४५॥
अपि शास्त्रकृतं कर्म बहुविप्रामतं तु यत्।
तदभ्यनुज्ञया तत्तु कर्मतः पुनराचरेत् ॥१४६॥
बहुविप्रतिरस्कारप्रद्वेषागःप्रदूषितम्।
तदभ्यनुज्ञारहितं यत्तत्कर्म पुनश्चरेत् ॥१४७॥

कर्तरि सन्निहितेऽकर्तृकृतं पुनः

यद्यकर्तृकृतं कर्म समीपे कर्तरि स्थिते।
धनवृत्तिगृहक्षेत्रहेतवे तत्पुनश्चरेत् ॥१४८॥

असगोत्रसंस्कृतावाशौचम्

असगोत्रमपि प्रेतं दाययेद्यः कथंचन।
स चापि गोत्रिभिस्तुल्यो दशाहं सूतकी भवेत् ॥१४९॥

मृताहस्य परित्यागे मातापित्रोः

मृताहस्य परित्यागे मोहात्कृच्छ्रद्वयं चरेत् ।
गायत्रीदशसाहस्रजपो गोदानमेव च ॥१५०॥
एवं पञ्चत्रिंशवर्षपर्यन्तं चित्त(त्र)मुच्यते ।
पृथक्त्वेन महाभागैस्तदूर्ध्वं पतितो भवेत् ॥१५१॥

नदीस्नाननेन निष्कृतिः

महानदीस्नानशतं पित्रोस्त्यक्ते तु पैतृके ।
निष्कृतिः कथिता सद्भिः पुनः संस्कारतस्तथा ॥१५२॥
नदीस्नानानि सर्वत्र सर्वकृत्येषु वच्मि वः ।
निष्कृतित्वेन विप्राणां वेदिनामभ्यनुज्ञया ॥१५३॥
न हि स्नानेन सदृशी निष्कृतिर्विहितास्ति हि ।
तस्मात्स्नानानि सर्वत्र तीर्थादिषु विशिष्यते ॥१५४॥

संहितापठनादिः

श्रुतिपारायणं यद्वा व्याहृतीनां जपोऽथवा ।
गायत्र्या वा जपो नो चेन्महारुद्रजपोऽथवा ॥१५५॥
पुरुषसूक्तजपो वापि संहितापठनं सकृत् ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिरपि पातकिनामपि ॥१५६॥

वेदमहिमा

वेदाक्षरोच्चारणतः सर्वनामफलं लभेत् ।
हरिनामानि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः ॥१५७॥
असंख्याकान्यनन्तानि सर्वाविलहराण्यपि ।
तान्येकवेदवर्णः स्यात्ताद्दशैर्दिव्यवर्णकैः ॥१५८॥

अमेयैः संवृतो वेदः साक्षान्नारायणात्मकः।
तादृशस्यास्य वेदस्य पठनात् सर्वकिल्बिषैः ॥१५९॥
सद्य एव विमुक्तः स्यात् पातकी नात्र संशयः।

ब्राह्मणस्य वेदाधिकारः

तादृशस्यास्य वेदस्य पठने ब्राह्मणस्य वै ॥१६०॥
अधिकारो न चान्यस्य संस्कृतस्यैव कर्मभिः।
तत्रापि परिशुद्धस्य कृतनित्यक्रियस्य वै ॥१६१॥
तत्रापि परिशुद्धस्य विशेषेषु दिनेष्वपि।
शुद्धाच्छुद्धः स्वतो वेदस्तदुच्चारणतः क्षणात् ॥१६२॥
देवनामान्यनन्तानि निखिलान्यघहानि वै।
असकृत्पठितानि स्युर्नात्र कार्या विचारणा ॥१६३॥
स्नानं कृत्वा प्रारभेच्च वेदं तं तादृशं शिवम्।

अस्नात्वारम्भे

यद्यस्नात्वैव मोहेन प्रारभेत् पातकी भवेत् ॥१६४॥
स्नानतः सर्वकर्माणि सिध्यन्त्येव न संशयः।

सर्वं स्नानमूलम्

स्नानमूलमिदं ब्राह्मं स्नानमूलमिदं तपः ॥१६५॥
स्नानमूलाखिला यज्ञाः स्नानमूलमिदं जगत्।
सर्वकृत्येषु सर्वत्र स्नानमेव परं मतम् ॥१६६॥
कृत्स्नेष्वशुचिषु स्नानं तारकं परिकीर्तितम्।

अस्पृश्यस्पर्शनादिकर्माङ्गस्नानम्

अस्पृश्यस्पर्शने चैवमभक्ष्याणां च भक्षणे ॥१६७॥

संकलीकरणे चांत्र मलिनीकरणे तथा।
अपात्रीकरणेऽन्यत्र जातिभ्रंशकरादिषु ॥१६८॥
सूतकादिषु सर्वेषु सर्वेष्वाशौचकर्मसु।
स्नानमेव परं प्रोक्तं सर्वकृच्छ्रव्रतादिषु ॥१६९॥
सर्वाद्यन्तेषु सत्रेषु तदेव परिकीर्तितम्।
अभोज्यभोजनेष्वेवं स्नानं तत्समुदाहृतम् ॥१७०॥
अकार्यकरणेष्वेषु मुख्यस्नानानि मुख्यतः।
भवेयुर्हि पवित्राणि तानीमानि ततः सदा ॥१७१॥
चरेद्यत्नेन शुध्यर्थं न चेत्किं वात्र शुध्यति।

वमने स्नानम्

स्वक्रियावमने सद्यः सवासा जलमाविशेत् ॥१७२॥
अजीर्णवमने स्नानमौषधादिक्रियावशात्।

वमने स्नानाभावस्थलम्

वमनेऽप्यवगाहः स्यान्मक्षिकामूलतो यदि ॥१७३॥
नावगाहः प्रकर्तव्यस्तल्लेपक्षालनं परम्।
प्रकर्तव्यं प्रयत्नेन धारणं शुद्धवाससाम् ॥१७४॥

शाकमूलादिवमने

शाकैर्मूलैः फलैः पत्रैः कटुतिक्तरसादिभिः।
सद्यश्चेद्वमनं तन्न चिरकाले तु तद्भवेत् ॥१७५॥
यदा चेद्रोगवमनं तदा स्नानं विधानतः।
सद्य एव प्रकर्तव्यमघमर्षविधानतः ॥१७६॥

रात्रौ वमने

रात्रौ तु वमने जाते रोगाद्य प्यजीर्णतः।
अर्धरात्रादधस्तूष्णे पाथसि स्नानमुच्यते ॥१७७॥
तत्परं प्रातरेव स्यादिति शाकलभाषितम्।

स्वगोत्रत्यागेऽन्यगोत्रपरिग्रहणे

स्वीयगोत्रपरित्यागादन्यगोत्रपरिग्रहात् ॥१७८॥
प्रभवेत्पतितः सद्यः शुद्धः संस्कारतः पुनः।
स्वीयगोत्रपरित्यागो भिन्नगोत्रपरिग्रहः ॥१७९॥
द्वयमेतत्प्रकथितं स्त्रिय एव हि नुर्न तु।

अर्धोदयः

अर्कश्रुतिव्यतीपातयुक्ताऽमा पुष्यमाघयोः ॥१८०॥
असावर्धोदयो योगः कोट्यर्कग्रहसंनिभः।
अस्मिन् स्नातो चापकोटौ कुर्यात्स्नानशतं यदि ॥१८१॥
त्रिंशद्वर्षं त्यक्तपितृकर्मा शुद्धो भवेत्ततः।
महोदये तु तत्स्नानसहस्रं यदि भक्तितः ॥१८२॥
कुर्याद्वा कारयेद्वापि शुद्धः पूर्वाघतो भवेत्।
अन्यथा निष्कृतिर्नास्ति तादृशस्यास्य पापिनः ॥१८३॥
तं योगं सुसमीक्ष्येत तस्मात्तादृक्तु किल्बिषी।

पत्यन्येन चितारोहितायाः पुत्रस्य कृत्यम्

यदि साध्वी प्रमादेन पत्यन्येन चितिं व्रजेत् ॥१८४॥
कथं तत्कर्मकरणं पश्चात्तज्जातजन्मनाम्।
इति चिन्तापरा देवा बभूवुः किल वै चिरम् ॥१८५॥

पश्चादुद्भवद्वाणी दिव्या स्पष्टपदाक्षरा।
पत्यन्तनरयोगस्य षडब्दं कृच्छ्रमुच्यते ॥१८६॥

मोहात् प्राणपरित्यागे महापापस्य कर्मणः।
तस्याः षडब्दं संप्रोक्तं षड्गुणेनैव संयुतम् ॥१८७॥

सदानेनैव कुर्वीत लोभशाठ्यविवर्जितम्।
तद्दोषशमनायैव प्राणत्यागाख्यकर्मणः ॥१८८॥

चापाग्रयानं कृत्वादौ तत्र स्नानशतं चरेत्।
पक्षमात्रं प्रयत्नेन नित्यं प्रियपुरःसरम् ॥१८६॥

तच्छान्तिस्तेन नान्येन साधसाहस्रमज्जनैः।
ब्राह्मणानां प्रसादेन कूष्माण्डगणपाठतः ॥१६०॥

नित्यं त्रिवारं तत्रैव पश्चात्तु प्राकृतं चरेत्।
ततः शुद्धा भवेत्सा तु तैरेतैः कर्मभि शुभैः ॥१६१॥

जातिभेदेन निष्कृतिः

द्विगुणं राजयोगेन त्रिगुणं वैश्ययोगतः।
चतुर्गुणं शूद्रयोगादेवं निष्कृतिरीरिता ॥१६२॥

स्त्रियः पुनर्विवाहे

पुनर्विवाहिता मूढैः पितृभ्रातृमुखैः खलैः।
यदि सा तेऽखिलाः सर्वे स्युर्वै निरयगामिनः ॥१६३॥

पुनर्विवाहिता सा तु महारौरवभागिनी।
तत्पतिः पितृभिः सार्धं कालसूत्रगतो भवेत् ॥१६४॥

दाता चाङ्गारशयननामकं प्रतिपद्यते ।

तस्य निष्कृतिः

तद्दोषशमनायाथ प्रायश्चित्तमिदं परम् ॥१६५॥
दाता सेतुगतः सद्यो धनुष्कोट्यां समाहितः ।
नित्यं त्रिषवणस्नायी यावकाहार एव वै ॥१६६॥

संवत्सरं प्रयत्नेन वसेदेवान्वहं तराम् ।
स्वकृतं यच्च तत्पापं वदन्नित्यमटन् यतन् ॥१६७॥
सर्वेष्वपि च तीर्थेषु तप्तकृच्छ्रशतं चरेत् ।
ततः शुद्धो भवेदेवं वोढा चापि तदा पुनः ॥१६८॥

तद्दोषशमनायैव पुण्यं चान्द्रायणत्रयम् ।
यत्नात्कुर्वन् वसेत्तत्र ऋतुत्रयमतन्द्रितः ॥१६६॥
प्रतिनित्यं पञ्चगव्यं पिबंस्तद्विधिना रुदन् ।
निर्लज्जया लोकपुरः कूष्माण्डादीन् पठंस्तथा ॥२००॥

द्रुपदां नाम गायत्रीं गायत्रीं वेदमातरम् ।
संध्यात्रये सहस्राणि जपंस्तत्प्राख्यकं शिवम् ॥२०१॥
कृच्छ्रं विधानतः कृत्वा पुनःसंस्कारतः पुनः ।
पुटगर्भविधानेन शुद्धो भवति तत्र चेत् ॥२०२॥

न चेत्तप्तशतं कुर्यात् पुनरुपनया (यना)त्परम् ।
सा चेद्भर्तृद्वयं त्यक्त्वा सेतुस्नानसहस्रकम् ॥२०३॥
कृत्वा च यावकाहारा वर्षमात्रेण शुध्यति ।
यद्यपुत्रा पुत्रिणी चेत् पतेदेवाशु तैः सह ॥२०४॥

सा वै पुत्रैस्तदुद्भूतैश्चण्डालत्वं भजेत वै।

भ्रान्त्या पुत्रिकादिविवाहे जाते स्वमात्रशुद्धिः

यदि स्वसारं तनयां चिराद्भ्रान्त्यादिकृच्छ्रतः ॥२०५॥
विवहेन्मोहतो ज्ञाते कृत्वा चान्द्रसहस्रकम्।
चापाग्रयानतः पश्चात् पुटगर्भविधानतः ॥२०६॥
करणाज्जातकादीनां स्वमात्रस्य शुचिर्भवेत्।
परेषां शूद्रतुल्योऽयं ततस्तां बिभृयादपि ॥२०७॥
पूर्वधर्मं विनिक्षिप्य तस्यां भक्त्या जपन्वसेत्।

पुत्रे जाते

यदि तस्यां प्रजायेरंस्तांश्चण्डालेषु विन्यसेत् ॥२०८॥
ततः स्वयं च नित्यं वै यावकाशी चरेद्ध्रुवम्।
पापप्रख्यापनं कुर्वन् यावज्जीवं हरिं भजन् ॥२०९॥
पुण्यक्षेत्रेषु नियतं वसन् भक्त्या रसामटेत्।
विवाहितां च विधवां महामोहेन वञ्चकैः ॥२१०॥
दत्तां विवाह्य तज्ज्ञात्वा सद्यश्चण्डालतां व्रजेत्।
तद्दोषशमनायैवं पूर्ववत्तु समाचरेत् ॥२११॥
द्विगुणं निखिलं कृत्यं समुन्नेयं विचक्षणैः।

एकद्वित्रिचतुःपञ्चवारं विवाहिता

एकद्वित्रिचतुःपञ्चवारं वै या विवाहिता ॥२१२॥
अतिक्षुद्रैककालेषु पापैकबहुलेषु च।
विज्ञाता चेत्तु तां सम्यक् पृष्ट्वा गत्वा विचार्य च ॥२१३॥

तत्त्वं तस्यास्तु विज्ञाय प्रायश्चित्तं ततश्चरेत् ।
यत्र यत्र च सा गत्वा यं यं वा स्वजनैः सह ॥२१४॥

मायया मोहयामास वञ्चयित्वाऽतिचर्यया ।
तं तं ज्ञात्वा च संभाष्य तत्तद्वाङ्मूलमप्यलम् ॥२१५॥
श्रुत्वा पश्चाच्छ्रोत्रियेभ्यः श्रावयित्वाऽखिलं ततः ।
राज्ञे बन्धुनि चावेद्य प्रायश्चित्तं ततश्चरेत् ॥२१६॥

एतादृशेषु कृत्येषु सा क्षेत्रं प्रभवेद्ध्रुवम् ।
प्रथमोद्वाहकर्यैव परं त्वेषा परा न तु ॥२१७॥
कदाचिद्धर्मकृत्यानां न तस्यापि परस्य वा ।

तदपेक्षया वेश्या विशिष्यते

सा भोगमात्रयोग्यापि वेश्या तस्या विशिष्यते ॥२१८॥
तया चेत्तेषु कृत्येषु सपङ्क्तौ भोजनं तथा ।
सह वा भोजनं दुष्टं यदि पातित्यकारकम् ॥२१९॥

तच्छुध्यर्थं रसायां तु श्वभ्रे संछाद्य धर्मतः ।
खनित्वा याममात्रं वा घटिकाद्वयमेव वा ॥२२०॥
तस्मादुद्धृत्य पश्चात्तु जातकादि समाचरेत् ।
तप्तकृच्छ्रसहस्राणि धर्मतश्च समाचरेत् ॥२२१॥

नियतात्मा यावकाशी चापाग्रं तद्भवेच्छुचिः ।
पञ्च स्नानसहस्राणि स्वयं विप्रमुखेन वा ॥२२२॥
समाचरेत्ततः स्वस्य शुद्धो भवति केवलम् ।
न परेषामयं योग्य एवमाह पुरा भृगुः ॥२२३॥

प्रविष्टपरकायेन यदि संयोगमाप्नुयात् ।
त्रिमासयावकाहारा साध्वी शुध्यति नान्यथा ॥२२४॥
प्रविष्टपरवर्ष्माणं विज्ञातं स्वपतिं सती ।
प्रपालयेद्विशेषेण रतिमात्रं न चाचरेत् ॥२२५॥
काययोरेव संबन्धः पुरा संस्कृतयोः पुरा ।
नात्मनोरस्ति संबन्धो भिन्नकाये न चेत्ततः ॥२२६॥
आत्मान्यकायं स्पृश्येन्न तेन पातित्यमाप्नुयात् ।
सुराणामपि चैवं हि मनुष्याणां तु किं पुनः ॥२२७॥

अग्राह्यमूर्तयो ग्राह्यमूर्तयश्च

अग्राह्याभेद्यमूर्तीनां ग्राह्यभेद्यशरीरिणाम् ।
देवानां सुमहाभेदस्तारतम्यं च तत्परम् ॥२२८॥
स्पष्टमेव प्रभवति तेनाग्राह्याः सुरास्तु ये ।
ग्राह्यकायसुराणां वै प्रपूज्याः परमाः परम् ॥२२९॥
अधिका वन्दनीयाश्च ते न नीचास्तु तेन वै ।

अग्राह्यमूर्तिनिवेद्यम्

तन्निवेदितमत्यर्थं न तेषां परिकल्पयेत् ॥२३०॥
तेनापराधः सुमहान् प्रभवेन्न तथाचरेत् ।
अग्राह्याभेद्यमूर्तीनां ग्राह्यभेद्यनिवेदितम् ॥२३१॥
अयोग्यं सततं स्याद्धि शूद्रस्येव श्रुतिर्यथा ।
श्रौतस्मार्तक्रियादक्षः पैतृकोद्देशतोऽपि वा ॥२३२॥

निरुप्तमन्योद्देशेन न देवाय निवेदयेत् ।

निवेदितेनानिवेदितयोजने

निवेदितेन रुच्यर्थं योजयेन्नानिवेदितम् ॥२३३॥
तथा निवेदितं भूयो लवणं च नियोजयेत् ।
निवेदनादथ पुनस्तदादाय घृतेन वा ॥२३४॥
तैलेन लवणेनापि यत्नेन न नियोजयेत् ।
तदुच्छिष्टं न कुर्वीत तत्करेण न पीडयेन ॥२३५॥
न खण्डयेन्मिथोऽज्ञानान्न तत्प्रोक्षणमाचरेत् ।
परिषिञ्चेन्नैवमेव तूष्णीमास्ये विनिक्षिपेत् ॥२३६॥
गृह्णीयात्तु तदन्तर्वै न दन्तैरपि पीडयेत् ।
तदेतत्परमं शुद्धं निर्माल्यमतिदुर्लभम ॥२३७॥
देवानामपि तद्भोज्यं प्रयत्नेनातिभक्तितः ।
तदोपदंशं स्वीकुर्यान्निवेदितमहाक्षणे ॥२३८॥

भगवत्प्रसादग्रहणे भक्षणविषये

निवेदितस्य हविषो भक्षणे समुपस्थिते ।
आपोशनं न कुर्वीत प्रोक्षणं परिषेचनम ॥२३९॥
यदि कुर्वीत मोहेन रौरवं नरकं व्रजेत् ।
अन्नं पक्वात् समुद्धृत्य पृथक्पात्रे नियुज्य च ॥२४०॥
कृत्वा सुखोष्णं संस्कृत्य पश्चाच्छाखादिभिर्यजेत् ।

अत्युष्णादिनिवेदने

असह्योष्णं महोष्णं वा पक्वपात्रगमेव वा ॥२४१॥

यो निवेदयते मोहाद्देवाय नरकी भवेत् ।

निवेदनप्रकारः

तस्मादन्नं समुद्धृत्य पृथक्पात्रे निधाय च ॥२४२॥
कृत्वा यत्नात्सुखोष्णं च राशिं कृत्वाभिघार्य च ।
अतिशुद्धमतिश्रेष्ठं राजयोग्यं सुशोभनम् ॥२४३॥
शाकभक्ष्यफलोपेतं देवाय विनिवेदयेत् ।
तदन्नमपि यत्नेन पश्चाद्द्यात्समाहितः ॥२४४॥
अप्रोक्ष्यापरिषिच्यैवमप्राणाहुतिपूर्वकम् ।
उच्छिष्टमप्यकृत्वैव यत्नाद्द्यात्स्वयं शुचिः ॥२४५॥

स्वीकारप्रकारः

निवेदितानि वस्तू न दन्तैः परिघट्टयेत् ।
न खण्डयेच्छब्दयेच्च किं तु तूष्णीं तदम्बुवत् ॥२४६॥
रसवत्फलवद्यत्नात् प्राशयेच्च न शब्दयेत् ।
कण्ठतो वापि यत्नेन काष्ठभूतफलान्यपि ॥२४७॥

अर्भकेभ्यो दद्यात्

प्रदद्यादर्भकेभ्यो वै न स्वीकुर्यात्स्वयं यदि ।
स्वीकुर्यात्तु तदा नक्तमुपविष्टः शुचिस्थले ॥२४८॥
शब्दानजनयन्नेव तालुदन्तादिभिर्द्यदन् ।

गृहस्थस्य रात्रावुष्णोदकस्नानम्

गृही न रात्रौ स्नायीत यदि स्नायीत वारिणा ॥२४९॥
उष्णेन भवने विप्रसाक्षितो वह्निसाक्षितः ।
उष्णेन शक्तो न स्नायादशक्तश्चेत्तदाचरेत् ॥२५०॥

अभ्यङ्गम्

अभ्यक्तश्च तथा स्नायाच्छरीरारोग्यहेतवे ।
तत्स्नानं कथितं सद्भिर्न नित्यं तेन नाचरेत् ॥२५१॥
कर्म नैमित्तिकं तस्माद्देवानामपि नार्चनम् ।
यावन्नित्यादिकर्मौघं निर्वर्त्यैव विधानतः ॥२५२॥
पश्चादभ्यञ्जनस्नानं न चेत्काले तु मध्यमे ।
मध्याह्ने संगवे वापि स्नानं कृत्वा तु तादृशम् ॥२५३॥

माध्याह्निकस्नानम्

माध्यंदिनस्य कृत्यस्य पुनः स्नानं यथाविधि ।
कृत्वा तत्प्रारभेत्कर्म तेनैतत्कर्म नाचरेत् ॥२५४॥
मलापकर्षणार्थाय तद्धि स्नानं प्रकीर्तितम् ।

क्षुरस्नानम्

एवमेव क्षुरस्नानं कर्मायोग्यं प्रचक्षते ॥२५५॥
क्षुरस्नानात्परं यस्तु पुनः स्नानान्तरं विना ।
करोति वैदिकं कर्म न तत्फलमवाप्नुयात् ॥२५६॥
भवेदपि प्रत्यवायी तथातो नाचरेद्बुधः ।

प्रातःसायंपर्वादिष्वभ्यञ्जनस्नानम्

नाभ्यञ्जनं प्रकुर्वीत प्रातःसायं न पर्वसु ॥२५७॥
ग्रहणे श्राद्धकालेषु व्रतेषु निखिलेष्वपि ।
पुण्यवैदिकदीक्षासु न नक्तं क्षेत्रतीर्थयोः ॥२५८॥
सुप्त्वा भुक्त्वा हदित्वा वा दूरं गत्वा पिपासितः ।
अतिक्षुधातुरो रोगी न कुर्वीत कथंचन ॥२५९॥

अकृत्वा नित्यकर्माणि छर्दयित्वाऽतिताडितः ।
शप्तः शपित्वा व्याजेन घातयित्वा नरान् परान् ॥२६०॥
हृत्वा धनानि दीनानां न कुर्यात्तत्तु सर्वदा ।
स्वजनान् प्रेषयित्वा च न्यक्कृत्य गुरुबान्धवान् ॥२६१॥
तदवश्यककृत्येषु कर्तव्यत्वेन शाश्वतः(शाश्वतः) ।
महत्सूपस्थितेष्वेव तान्यकृत्वैव मौर्ख्यतः ॥२६२॥
न कुर्यादेव सहसा विग्रहोद्वर्तनं द्विजः ।

अभ्यञ्जनस्नानं सोदकुम्भनान्दीश्राद्धयोः

सोदकुम्भश्राद्धमात्रं कृत्वाभ्यञ्जनतः परम् ॥२६३॥
कुर्यादेवेति हारीतो नैवानेनेति वै मनुः ।
स्नातस्नानेन कुर्वीत न श्राद्धानि कदाचन ॥२६४॥
नान्दि(न्दी) ताभ्यां प्रकुर्वीतानुकल्पेनैव तत्स्मृतम् ।
स्नानमभ्यञ्जनं स्नानमशक्तस्य कदाचन ॥२६५॥
सोदकुम्भस्य नान्द्याश्च कर्तुः संपद्यते किल ।

क्रोशस्थितनदीस्नानाच्छ्राद्धम्

क्रोशस्थितनदीस्नानान्न पित्रोः श्राद्धमाचरेत् ॥२६६॥
महादवभृथाच्चापि शावाद्वार्पावगाहतः ।
तदङ्गस्नानतः सद्यः श्राद्धाख्यं कर्म तच्चरेत् ॥२६७॥

संकल्पः

कर्ममात्रस्य सर्वत्र प्राणानायम्य मन्त्रतः ।
करिष्य इति वागुक्तिरूपं संकल्पमाचरेत् ॥२६८॥

न संकल्पं विना कम नित्यकाम्यादिकं चरेत् ।
स मानसः स्यात्संकल्पः कर्तव्यो वाचिकः परः ॥२६९॥
यक्ष्य इत्येतद्वाक्येन तथा प्राह श्रुतिः शिवा ।
देशः कालश्च संकल्पे वक्तव्यौ तत्र चेत्पुनः ॥२७०॥
तिथिः काल इति प्रोक्तो व्यत्यासे तस्य कर्म तत् ।
नष्टमेव भवेत्सद्यस्तस्मात्तत्तु पुनश्चरेत् ॥२७१॥

पितृश्राद्धव्यत्यासे पुनश्चरेत्

एकस्मिन्नेव दिवसे पित्रोः श्राद्धमुपस्थितम् ।
तत्क्रमेणैव कर्तव्यं व्यत्यासे तु पुनश्चरेत् ॥२७२॥
मोहादतद्दिनकृतश्राद्धं चापि पुनश्चरेत् ।

शून्यतिथिकृतं पुनश्चरेत्

तथा शून्यतिथौ यत्नात्कृतं चापि पुनश्चरेत् ॥२७३॥
सूतकान्ते शून्यतिथिदोषोऽयं श्राद्धकर्मणः ।
कदाचिन्न भवत्येव तस्मात्तत्रैव तच्चरेत् ॥२७४॥

पितृश्राद्धात्परं कारुण्यश्राद्धम्

पितुः श्राद्धात्परं श्राद्धं कारुण्यानां समाचरेत् ।
तदन्यथाकृतं तच्चेत् परेद्युस्तत्पुनश्चरेत् ॥२७५॥
निमित्तग्रहणश्राद्धं कृत्वान्नेनापि तद्दिनम् ।
भूयः सम्यक् प्रकुर्वीत भिस्सयैव न चान्यथा ॥२७६॥

मातृपितृश्राद्धमेकदिनेऽन्नेन

पित्रोर्मृताहं सततमपि कृच्छ्रगतो नरः ।
अन्नेनैव प्रकुर्वीत नामाद्येन कदाचन ॥२७७॥

ग्रहणादिषु शक्तश्चेद्भिस्सया तानि चाचरेत् ।
न चेदामादिना शुद्धस्तद्धर्मैरखिलैर्वृतः ॥२७८॥
ग्रहे मुहूर्तद्वितये गतेऽन्नश्राद्धमाचरेत् ।
अपि शक्तोऽपि तन्न्यूने तादृक्छ्राद्धं न चाचरेत् ॥२७६॥

चाक्रिकश्राद्धम्

चाक्रिकं ग्रहणं मुख्यमायनं तदमुख्यकम् ।
पुष्पवन्मण्डलसममध्यभागप्रपीडितम् ॥२८०॥
यन्नीललक्ष्मपृथुलं वर्तुलं तत्त्रियामगम् ।
तच्चाक्रिकमिति प्रोक्तं ग्रहणं पितृतृप्तिदम् ॥२८१॥
तच्च पञ्चशताब्दानामेकदा वै भविष्यति ।

ग्रहणे भोजननिषेधः, वृद्धबालातुराणां न

ग्रहस्य चाक्रिकस्यास्य पूर्वं यामत्रयं नरैः ॥२८२॥
भोजनं नैव कर्तव्यं वृद्धबालातुरान्विना ।
अपराह्णे न मध्याह्ने मध्याह्ने न तु संगवे ॥२८३॥
संगवे तु न तु प्रातः पृथुकानां तु केवलम् ।
स्तन्यपाने न दोषोऽस्ति तत्काले केवलेऽपि वा ॥२८४॥
यवाग्वाः पयसो वापि पानीयस्या(श)शरतसमम् ।
नियमोऽयं प्रकथितो न तदूर्ध्वं तु तच्चरेत् ॥२८५॥
अयनग्रहणे मुख्ये पौनः पुन्यगते सकृत् ।
कोणैकदेशसंस्पृष्टे तन्न्यूनसमथस्थिते ॥२८६॥
यामद्वयं सार्धयामद्वयं यामत्रयं तथा ।
सार्धयामत्रयं यामचतुष्टयमिति क्रमात् ॥२८७॥

अधिकारप्रभेदेन भोजनस्य निरूपणम् ।
यदेतत्तस्य सर्वस्य प्रवदामि विनिर्णयम् ॥२८८॥
तत्कालाजीर्णराहित्ये हृदयं तन्निबोधत ।
एवं स्थिते पुनर्वच्मि यामतः सार्धयामतः ॥२८९॥
जीर्णशक्तिमतो भुञ्चेत्तत्काले क्षुद्भवेद्यदि ।
न दोषः कथितः सद्भिः कदाचिद् वयोगतः ॥२९०॥
अजीर्णः स्यात्तदा दोषः सुमहान् प्रभवेदपि ।
तस्माद्यामद्वयं सर्वैर्भुक्तिस्त्याज्या विचक्षणैः ॥२९१॥
अत्यन्तातुरादीनाम्
विशेषः कोऽपि भूयश्च प्रोच्यते सुमहान् परः ।
रोगिणोऽप्यतिमात्रस्य चौषधातिक्षुदश्नतः ॥२९२॥
क्रूरग्रहातितप्तस्य पिशाचावेशिनस्तथा ।
वश्याकर्षणविद्वेषस्तम्भनोच्चाटनादिभिः ॥२९३॥
पीडितस्य विशेषेण मूर्छितस्यातिताडनैः ।
तत्कालभक्षणमपि न दुष्यति कदाचन ॥२९४॥
अत्युत्क्रान्तिप्रवृत्तस्य चिरत्यक्तान्धसस्तथा ।
अप्राशनोत्पन्नमृतिसंशयस्य विशेषतः ॥२९५॥
तत्कालभक्षणावृत्तिर्न दोषाय भवेदयम् ।
सर्वेषामपि वर्णानां सर्वाश्रमनिवासिनाम् ॥२९६॥
मुख्यो साधारणो धर्मस्तत्कालाजीर्णशून्यता ।
यामत्रयादिकाः कालास्तत्र तत्र प्रचोदिताः ॥२९७॥

तैस्तैस्ते निखिला ज्ञेया नृभेदेन विवक्षिताः ।

ग्रस्तास्तके सकामिनिष्कामिनोः

सोमं ग्रस्तास्तगं सूर्यमपि वा शास्त्रदृष्टितः ॥२६८॥

मुक्तं ज्ञात्वा ततः स्नात्वा निष्कामो भोजनं चरेत् ।

शुभ्रांशुचण्डांशुलोककामी चेन्न तु भोजनम् ॥२६६॥

चरेदेव न संदेहस्तल्लोकाकामिनः परम् ।

दोषाय भोजनत्याग एवमाह प्रजापतिः ॥३००॥

अग्निहोत्रम्

विहितस्य परित्यागादग्निहोत्रस्वरूपिणः ।

पीतमातृस्तनरसो जनकाशौचमोचने ॥३०१॥

सहिष्णुर्न भवेत्तस्मात्तत्पूर्वं तत्समाचरेत् ।

दत्तपुत्रः

आरान्न्यक् सोदरसुतस्तर्णकः कर्मवर्जितः ॥३०२॥

कृतकर्मत्रयकृतो यो दत्तः प्रवरः स्मृतः ।

मातापितृभ्यां दानं ग्रहणं च

दद्यातां दम्पती पुत्रं गृह्णीयातां च दम्पती ॥३०३॥

तयोरेवाधिकारोऽयं तद्दाने तत्प्रतिग्रहे ।

ब्राह्मणानां सपिण्डेषु कर्तव्यः पुत्रसंग्रहः ॥३०४॥

सगोत्रेष्वथवा कार्यो ह्यन्यत्र तु न कारयेत् ।

असंस्कृतो दत्तसूनुः पितुश्चाप्यकृतक्रियः ॥३०५॥

न तद्धनमवाप्नोति तद्वृत्तौ का कथा पुनः ।

जातकर्मादिना तस्य पुत्रत्वं नान्यथा मतम् ॥३०६॥

मौञ्ज्यन्तेनातिहर्षेण सर्वमत्या समन्त्रतः।
पुत्रो ज्ञातिमतो दत्तः कृतसर्वपितृक्रियः ॥३०७॥
यदि स्वयं तदा सर्वां तद्वृत्तिं लभते पराम्।
सर्वस्य प्रतिमन्त्रस्य पितृहेतुप्रपाठनात् ॥३०८॥
दत्तस्य तद्भूलाभः स्यात्तत्पूर्वं सा न सिध्यति।
हिरण्यकक्ष्यामन्त्राणां पठनात्तत्त्रयं पुनः ॥३०९॥
प्रदूरीकृत्य तज्ज्ञातीनवशादेति चाखिलम्।
दत्तसूनुः पित्रान्येन संस्कृतो यदि तद्वृतः ॥३१०॥
तदा तु तद्धनं सर्वं ज्ञातिसाधारणं भवेत्।
स्वयमेव पितुर्दत्तः कर्म कुर्यात्प्रयत्नतः ॥३११॥
तद्धनं तु न चेत्सद्यस्तज्ज्ञातिगतमेव वै।
दत्तोऽयमसगोत्रश्चेत्सदा दुर्बल एव वै ॥३१२॥
भवेदेव न संदेहः शास्त्रेऽमुत्र परत्र च।
यदि जामी तत्र भवेत्तन्मुखं नावलोकयेत् ॥३१३॥

अवश्यं पुत्रसंग्रहः कर्तव्यः

यथाकथंचित्पुत्रस्य संग्रहः कार्य एव वै।
दौर्बल्ये स्वस्य संजाते धर्मज्ञेन महात्मना ॥३१४॥
जलबुद्बुदसंकाशं वर्ष्मैतत्कथितं बुधैः।
न हि प्रमाणं जन्तूनामुत्तरक्षणजीवने ॥३१५॥
तस्मादात्महितं नित्यं चिन्तयन्नेव तच्चरेत्।

अपुत्रस्य लोको नास्ति

नापुत्रस्य तु लोकोऽस्ति पुत्रिणस्तु त्रिविष्टपम् ॥३१६॥

ब्रह्मलोकादयो लोकाः स्वाधीना एव सर्वदा ।

पुत्रवानग्निमान्

पुत्रवानग्निमान्नित्यं पुत्रवान् श्रोत्रियः स्मृतः ॥३१७॥

पुत्री साक्षाद्ब्रह्मविच्च पुत्रवानेन भाग्यवान् ।
ये ये धर्माः स्वेन ते ते पुत्रेणैतेन तत्क्षणात् ॥३१८॥
संपादिता भविष्यन्ति नात्र कार्या विचारणा ।
न पुत्रवानपत्नीकः किं तु सोऽयमपुत्रवान् ॥३१९॥

अनग्निको न पुत्री स्यादपुत्रोऽनग्निमान् स्मृतः ।
पुत्रेण स्थावरं दानं फलवद्दानमेव च ॥३२०॥
यद्यल्लोके महत्सर्वं दुर्लभं पुत्रिणी चरेत् ।
पुत्रयत्नं सदा कुर्याद्वैदिकं लौकिकं शुभम् ॥३२१॥

तस्मादृतुमतीं भार्यां सदा स्वस्थो न लङ्घयेत् ।
लङ्घयेद्यदि तां मूढो भ्रूणहत्यामवाप्नुयात् ॥३२२॥
ऋतुस्नातदिने सोऽयं युवा श्रोत्रिय एव वा ।
न कव्याय भवेदेव पुत्रवान् यदि तद्भवेत् ॥३२३॥

जातमात्रे पुत्रमुखवीक्षणम्

पुत्रेण जातमात्रेण ऋणान्मुक्तो भवेदयम् ।
तस्मात्पुत्रस्य जातस्य पश्येत्सद्यो मुखं पुमान् ॥३२४॥

न पश्यतस्तल्लपनमृणान्मुक्तिर्न जायते ।
येन केन प्रकारेण तस्मात्कुर्वीत मानवः ॥३२५॥

पुत्रसंपादनं धीमान् दुर्बलश्चेद्विशेषतः ।

वृत्तिदत्तादयः

वृत्तिदत्तं कल्पयेद्वा मौञ्जीदत्तमथापि वा ॥३२६॥
विवाहदत्तमथवा यज्ञदत्तं न चेत्परम् ।
वृत्तिदत्तः कुलान्यष्टौ मौञ्जीदत्तस्तु षोडश ॥३२७॥
विवाहदत्तो द्वात्रिंशद्यज्ञदत्तस्तरिष्यति ।
चतुः षष्टिकुलान्यस्य लीलया सद्य एव वै ॥३२८॥
अपुत्रदत्तवृत्त्या यः प्राणवृत्तिं चरत्यलम् ।
वृत्तिदत्त इति ख्यातस्तनयः पुण्यलोककृत् ॥३२९॥
धनतो यस्य यो लोके ह्युपनीतो भवेदहो ।
स मौञ्जिदत्त इत्याख्यस्तनयस्तु ततोऽधिकः ॥३३०॥
एवमेव भवेदन्यस्तनयः परलोकदः ।
विवाहदत्तसंज्ञः स्यात्ततोऽपि द्विगुणः परः ॥३३१॥
ततोऽधिको यज्ञदत्तस्तनयः पितृवल्लभः ।
त एते तनयाः सर्वे तत्तत्कर्मैकपूर्तये ॥३३२॥
कृतेन धनदानेन भवन्ति किल नान्यथा ।
तस्मात्सन्तः किलैतेषां कर्मणामेकतो धनम् ॥३३३॥
न गृह्णन्ति महात्मानो परलोकदिदृक्षवः ।
कणशः कणशः सङ्क्षयः प्रतिगृह्य ततस्ततः ॥३३४॥
शनैः शनैश्च कालेन महता तानि चाचरेत् ।
एवं कृतेषु तेष्वेषु महत्सु किल कर्मसु ॥३३५॥

नैकस्य तनयास्ते स्युस्तस्मात्तेषु तथाचरेत्।

अन्येषु सुतग्रहणम्

दुर्लभे(षु) तु सगोत्रेषु सपिण्डेषु सुते यदि ॥३३६॥
सुतं बन्धुषु वान्येषु गृह्णीयादन्यजातिषु।

सवर्णेषु ग्रहणम्

सवर्णेष्वेव कुर्वीत नासवर्णेषु तद्ग्रहम् ॥३३७॥
असवर्णेषु तत्कुर्वन् सद्यः पतति वर्णतः।

असगोत्रस्वीकृतौ

गृहीत असगोत्रश्चेत्तनयः पुरुषत्रयम् ॥३३८॥
कृतार्थतां प्रापयति तत्कुलं तदनन्तरम्।
संकीर्णमवशाद्याति यत्नतश्चेत्तरिष्यति ॥३३९॥
असगोत्रस्तु न ग्राह्यो गृहीतु: (तः) स्यात्स एव हि।
दत्तो रिक्थमवाप्नोति सन्ततिर्दातुरेव हि ॥३४०॥
तस्माद्दत्तसुतः स्वस्वतनयानुद्भवान् ततः।
जनकस्यैव गोत्रे तान् मौञ्ज्यां मन्त्रैः प्रवेशयेत् ॥३४१॥
यदि दत्तस्वतनयान् स्वगोत्रे न प्रवेशयेत्।
दत्तजो वाथ तज्जो वा तद्गोत्रद्वयजास्तु ते ॥३४२॥

विवाहे गोत्रद्वयत्यागः

एवं सत्यत्र जनने जातानां पाणिपीडने।
समागते तदा सम्यग्यत्नाद्गोत्रद्वयं त्यजेत् ॥३४३॥
तद्गोत्रद्वययुक्त्यर्थज्ञानाय किल तत्परम्।
तज्जातानां विवाहस्य तदार्षद्वयमाचरेत् ॥३४४॥

अभिवन्दनादौ द्विगोत्रत्वम्

नित्याभिवन्दने सन्ध्यावन्दने काम्यवन्दने ।
कृत्स्नार्षेयं त्वेकगोत्रे परस्मिन्नपि गोत्रके ॥३४५॥
स्वीकृत्यार्षद्वयं तेन योजयित्वा ततः परम् ।
एकमेव वदेद्गोत्रमेकद्वित्र्यार्षकं तथा ॥३४६॥
पञ्चसप्तार्षकं वैतन्नवैकादशकार्षकम् ।
गोत्रमेकं भवेदेवं त्रयोदशकमार्षकम् ॥३४७॥
एवं पञ्चदशार्षं च गोत्रं तत्प्रभवेदपि ।
एवं जातानि गोत्राणि दत्तावृत्त्युद्भवानि वै ॥३४८॥
वर्तन्ते भूतले तस्माद्गोत्रिणस्तान्विचार्य च ।
पृष्ट्वा तत्संशयस्त्याज्य एतावन्त्येव भूतले ॥३४९॥
गोत्राणि शास्त्रसिद्धानि चैकार्षेयाणि कानिचित् ।
द्व्यर्षेयाणि त्र्यार्षेयाणि पञ्चार्षेयाणि सन्ति हि ॥३५०॥
एतावन्त्येव सर्वत्र शास्त्रसिद्धानि नेतरत् ।
आद्यदत्तैकतद्दत्तपारम्पर्येण केवलम् ॥३५१॥
दृश्यन्ते ब्राह्मणाः सप्तदशार्षेयावधीतरे ।

दत्तजादीनां पूर्वगोत्रम्

तस्माद्दत्तजपुत्रांस्तान् पूर्वगोत्रे प्रवेशयेत् ॥३५२॥
विना प्रवेशं यदि ते परं प्राप्तैकगोत्रिणः ।
यदि स्युर्मोहतः पश्चात्पूर्वं तज्जनकस्य च ॥३५३॥
गोत्रं वर्ज्यं विवाहादावेवं सत्यत्र कालतः ।
अज्ञात्वा पूर्ववृत्तान्तं गोत्रे तज्जनकस्य च ॥३५४॥

विवहेरन् महानर्थः प्रभवेत्किल केवलम् ।
पूर्ववृत्तेऽथ विज्ञाते तां त्यक्त्वा मातृवत्तु ताम् ॥३५५॥

पालयेदेव धर्मेण पश्चात्कृच्छ्रत्रयं चरेत् ।
तद्दोषपरिहाराय तत्र जातांस्तु चेत्ततः ॥३५६॥

चण्डालेष्वेव निष्कम्पं योजयेदिति निर्णयः ।
असगोत्रसुतं तस्मान्न स्वीकुर्यात्कथंचन ॥३५७॥

बुद्धिमान् धर्मवित्किंतु पौर्वापर्यविशेषवित् ।
सगोत्रेष्वेव कुर्वीत शास्त्रतः पुत्रसंग्रहम् ॥३५८॥

भ्रातृजेषु न विवाहहोमादिः

भ्रातृजेषु विवाहो न न स्वीकारश्च सत्क्रिया ।
न होमादिश्च कार्यो वै वाङ्मात्रेणैव पुत्रता ॥३५९॥

भ्रातृपुत्रादिपरिग्रहः

भ्रातृपुत्रेषु तिष्ठत्सु नान्यं ज्ञातिजनं तथा ।
न स्वीकुर्याद्दूरगं वा स्वीकृतश्चोर एव सः ॥३६०॥

पुत्रग्रहणकाले तु तत्पित्रोर्मानसं तदा ।
तोषयित्वा प्रदानाद्यैर्भविष्यत्कालकृत्यकम् ॥३६१॥

कृत्वा च शपथं बाढं बन्धुराजादिभिर्जनैः ।
तत्पुत्रस्य च मर्यादा चैवमित्यपि वै पुनः ॥३६२॥

जातेऽपि चौरसे भूयः करोम्येवं न संशयः ।
दृढयित्वा स्वयं पश्चात् स्वीकुर्यात्तनयं ततः ॥३६३॥

न चेद्दोषो महानेव भविष्यति न संशयः ।

स्वीकृत्यनन्तरमौरसोत्पत्तौ

स्वीकृत्य परपुत्रं यः संजाते त्वौरसे पुनः ॥३६४॥
पुरोक्तान्यन्यथाकृत्वा मोहात्तदहितं चरन् ।
प्रलपंस्तद्दुरुक्तानि मम मास्त्वयमद्य वै ॥३६५॥
वदेत्पापी महाक्रूरस्तेन भूर्भारवत्यलम् ।
तं देशाद्धार्मिको राजा ताडयित्वा प्रवासयेत् ॥३६६॥
सर्वस्वं तस्य गृह्णीयात्तस्मिन् जनपदे न चेत् ।
न वर्षेत्किल पर्जन्यः राष्ट्रक्षोभोऽपि जायते ॥३६७॥

पुत्रप्रदानसमये यदुक्तं तत्कर्तव्यम्

पुत्रप्रदानसमये तत्पित्रोर्ग्राहकेण या ।
वागुक्ता तां ततः काले तिरस्कर्तुं न शक्यते ॥३६८॥
तद्बन्धुभिस्तेन राज्ञा तैर्जनैर्दातृदापकैः ।
तद्भार्याभिस्तत्तनयैर्येन केनापि वा पुनः ॥३६९॥
पुत्रप्रदानसमये प्रोक्तवाक्यं तु तत्परम् ।
अल्पं महदशक्यं वा शक्यं वा तन्न लङ्घयेत् ॥३७०॥
स्वकार्याय पुरा प्रोक्त्वा जनानां पुरतो दृढम् ।
इच्छंस्तदन्यथयितुं यतते यस्तु या जडा ॥३७१॥
ऊर्ध्वं लोकं न यातो वै भ्रूणहत्यामवाप्नुतः ।

भर्तुः पितुर्वा वाक्यातिक्रमे

स्वपुत्रहितमिच्छन्त्यो भर्तृवाक्यं पुरोदितम् ॥३७२॥

तिरस्कुर्वन्ति सहसा ता वै निरयभाजिनः ।
भर्तुः पितुर्वा यद्वाक्यं तदा पूर्वमुदीरितम् ॥३७३॥
पत्नी पुत्रोऽथवा मौर्ख्यादनृतं मौर्ख्यचोदितम् ।
दुःश्रुतं परुषं क्रूरमस्मत्कार्यविरोधि तत् ॥३७४॥
नाप्यकुर्म स्वीकरणमिति वक्तॄन् दुरात्मनः ।
न्यक्कृत्य वाचा धिक्कृत्य ताडयित्वा कपोलयोः ॥३७५॥
शीघ्रं प्रवासयेद्देशात् साधून् सम्यक् प्रपूजयेत् ।

भ्रातृपुत्रस्वीकृतौ दत्तस्य समांशः

स्वीकृतभ्रातृसूनोश्च पश्चाज्जातौरसस्य च ॥३७६॥
समभागः सदा प्रोक्तस्तदन्यस्य पुनर्यदि ।

सगोत्रस्य तुरीयभागः

तुर्यभागः सगोत्रादेरेवमाह पितामहः ॥३७७॥
औरसो वयसा न्यूनो ज्येष्ठ एव न संशयः ।
नष्टे तु पालके ताते स्वीकृतो वयसाधिकः ॥३७८॥
उपनीतः कलत्री वा जातपुत्रोऽथवा यजन् ।
यत्नाच्च तं नोपयेद्दत्तो जातं तदौरसम् ॥३७९॥
कनिष्ठो धर्मतो दत्तो ह्यप्ययं वयसाधिकः ।
न्यूनोऽपि वयसा ज्येष्ठः औरसो नात्र संशयः ॥३८०॥

दत्तेनौरसे उपनीते

तस्माद्दत्तः स्वयं पश्चाज्जातं धर्मेण पूर्वजम् ।
धर्मन्यूनो नोपनयेद्यदि मोहेन तादृशम् ॥३८१॥

प्रमादेन ह्युपनयेत् स्यातां तौ पतितौ ध्रुवम् ।
न तयोर्द्वन्द्वभावोऽस्ति कदाचित्तु परस्परम् ॥३८२॥

मृतभार्ययत्यादिपुत्रग्रहणम्

मृतभार्यो यतिर्वर्णी विश्वस्ता दूरभर्तृका ।
पुत्रं न प्रतिगृह्णीयाद्दूरभार्योऽपि सूतकी ॥३८३॥
अधिकारो मिलितयोर्दम्पत्योरुभयोरपि ।
कदाचिन्न पृथक्त्वेन तद्दाने तत्प्रतिग्रहे ॥३८४॥
सूतिप्रजननस्थानापन्नयुग्मद्वयस्य चेत् ।
वस्तुनो मेलनं पुत्रदानं तद्ग्रहणं भवेत् ॥३८५॥
सूतिप्रजननस्थानयुग्मद्वन्द्वमनःसुखम् ।
अचञ्चलं स्थिरं तुष्टं चेन्मनस्तच्चरेन्ननु ॥३८६॥
दम्पती दम्पतीचित्तं तुष्टं कृत्वाम्बरादिभिः ।
कृत्वा च शपथं गाढं भविष्यत्कार्यहेतवे ॥३८७॥
साक्षिणां पुरतो नूनं देवब्राह्मणसन्निधौ ।
राज्ञो बन्धुनि चावेद्य गृह्णीयातां सुतं ततः ॥३८८॥

तत्काले प्रतिज्ञाय तदकरणे

शपथानन्तरं कालान्मर्यादा या कृता पुरा ।
नरांस्तानुल्लङ्घ्यत राजा राष्ट्रात्प्रवासयेत् ॥३८९॥

पत्नीषु सुतस्वीकारकाले या सन्निहिता सा माता, अन्या सपत्नीमाता

सुतस्वीकरणे याऽऽरात्स्थिता साऽम्बास्य वै भवेत् ।
सापत्नी जननी दूरस्थिता भवति नान्यथा ॥३९०॥

अन्ये मातृमातामहादयः

द्वे तिस्रो वा स्थिताश्चेत्तु तदारादेव केवलम् ।
पुत्रग्रहणतुष्ट्यैव भर्त्रा साकं हृदा तया ॥३६१॥
निखिला मातरो ज्ञेया बहुमातृक एव सः ।
तदानीं स्वीकृतसुतो नात्र कार्या विचारणा ॥३६२॥
तासां च पितरः सर्वेऽप्यस्य मातामहाः स्मृताः ।
सर्वश्राद्धेष्वनेनाथ सर्वान् मातामहान् क्रमात् ॥३६३॥
एकस्मिन्नेव तत्पिण्डे योजयेद्वा पृथक्तु वा ।
पिण्डान्वा निक्षिपेत्तेषां स्मर्तृणामत्र केवलम् ॥३६४॥
वचनानां समत्वेन विकल्पस्तुल्य एव हि ।
यथारुचि प्रकुर्वीत यथा वा पुरतः कृतम् ॥३६५॥
तथैव पश्चात्कुर्वीत सर्वत्रैवं हि निर्णयः ।

सपत्नीपिता न मातामहः

सपत्नीजननीतातो न तु मातामहो भवेत् ॥३६६॥

सपत्नीमातृतर्पणम्

सपत्नीजननी नित्यतर्पणे द्व्यञ्जली लभेत् ।
स्वमातृवत्त्र्यञ्जलिं सा कदाचिदपि नो लभेत् ॥३६७॥
पुनर्विवाहितेनैवं तद्भार्या द्व्यञ्जलिं लभेत् ।
अपुत्रा वा सपुत्रा वा तत्समा सा प्रकीर्तिता ॥३६८॥

तस्या औपासनाग्नौ श्राद्धम्

तस्या औपासने श्राद्धमग्नौ कुर्यान्न लौकिके ।
यदि कुर्यात्प्रमादेन कुलं तस्य विनश्यति ॥३६९॥

पत्न्या अग्निः

यतः पत्नीमृतदिनं पितृनाशदिनेन वै।
तुल्यत्वेनैव कथितं तस्याः को वा विमूढधीः ॥४००॥
लौकिकाग्नौ प्रकुर्वीत स्वसमाया विचक्षणः।
सा विद्यमाना भार्यैव मृता चेन्मातृवर्गगा ॥४०१॥

भ्रातृपुत्रग्रहणविधिः

कृतत्रयविवाहस्य पत्नीं दृष्ट्वा चिरं पृथक्।
द्वादशाब्दमलभ्यैतं तद्रजोदर्शनात्परम् ॥४०२॥
पुत्रग्रहः प्रकथितो मुख्योऽयं तद्ग्रहे विधिः।
तत्र साक्षात्कनिष्ठस्य सुतश्चेज्जातमात्रकः ॥४०३॥
प्रवरः कथितः सद्भिस्तस्य व्यवहितश्च चेत्।
तस्मान्न्यूनो भवेत्पुत्र एवं द्वित्रिविभेदतः ॥४०४॥
भ्रातुः पुत्रो भवेन्न्यूनः सद्यः स्तन्यरसग्रहात्।
परं तद्ग्रहणात्पुत्रस्तस्मान्न्यूनः प्रजायते ॥४०५॥
एवमन्येषु नवसु जातहोमात्परं पृथक्।
दिनभेदेन तन्न्यूनो दत्तो भवति पुत्रकः ॥४०६॥
ततो ज्येष्ठस्य चेत्पुत्रस्तन्न्यूनो नात्र संशयः।
न चाप्येकद्वित्रिभेदाद् भ्राता व्यवहितो यदि ॥४०७॥
तस्य सूनुस्तथा न्यून एवमेव पुनस्त्वथा।
सापत्नीमातृतनया उन्नेया ज्येष्ठतः परम् ॥४०८॥
तनयाः शास्त्रमार्गेण न्यूना एव भवन्ति ते।
एवं पितृव्यतनयतनयाश्च पृथग्विधाः ॥४०९॥

तन्न्यूना एव कथिताः सगोत्रा एवमेव वै।
विज्ञेयाः किल किं भिन्नगोत्राश्चेत्तु ततः पुनः ॥४१०॥
किं वाच्यमस्ति तज्ज्ञात्वा बुद्धिमान् कालदेशकौ।
समालोच्य विधानेन कुर्यात्पुत्रस्य संग्रहम् ॥४११॥

विभागे भ्रातरस्तुल्याः

विभागे भ्रातरस्तुल्यास्तत्पुत्रास्तत्समा हि यत्।
ते गृहीत्वा न तुर्यांशं तल्लभन्ते सुतोद्भवे ॥४१२॥
सममेव लभन्तेंऽशमौरसेन समा हि ते।
धर्मपत्न्यां समुद्भूत औरसः कथितो बुधैः ॥४१३॥
द्वितीयादिसमुद्भूतो न तत्साम्यमवाप्नुयात्।

कामजपुत्राः

धर्मपत्नीसुतं प्राहुरौरसं ब्रह्मवादिनः ॥४१४॥
द्वितीयादिसुतान् सर्वान् कामजानिति चोचिरे।
धर्मपत्नीसुतो ज्यैष्ठ्यं दत्ताद्गौरवमाप्नुयात् ॥४१५॥
पश्चाज्जातः कनिष्ठोऽपि द्वितीयादिसुतास्तु चेत्।
पित्र्यादिक्रियया कालाद्धर्मपत्नीसुतैः समाः ॥४१६॥
भवन्त्यपि न संदेहस्तथापि पुनरेककम्।
प्रवदामि समुद्भूतस्तस्मात्तत्कार्यकृद्भवेत् ॥४१७॥
वयोऽधिको दत्तसुतो न तत्कार्ये प्रभुर्भवेत्।
दत्तसूनुर्धर्मपत्न्याः सति तातेऽथवा न चेत् ॥४१८॥
द्विभार्यके क्रियाकृच्चेत्तद्भार्याया (अथापि वा)।
दत्तसूनुस्तयोरन्यतरस्य यदि कर्मकृत् ॥४१९॥

सत्यौरसे तत्समोऽयं प्रभवेदिति वै मनुः ।
दौहित्रो यदि दत्तः स्याद्भ्रातृजो वा तथाविधः ॥४२०॥
औरसेनैव तुलितौ सततं धर्मतत्परौ ।
दत्तस्य पितरौ प्रोक्तौ ग्राहकावेव संततम् ॥४२१॥
पितृत्वमपि दत्तेन तिष्ठेज्जनकयोर्न तु ।
दानहोमात्परं तस्मात्पितरावस्य तौ मतौ ॥४२२॥
पितृत्वमपि मातृत्वमेकत्रैव हि तिष्ठति ।
न तिष्ठति तदन्यत्र क्रियाशतसहस्रकात् ॥४२३॥
पितृत्वं मातरि गतमेकशेषजमल्पकम् ।
यथा न तत्कार्यकरं मातृत्वमपि तत्तथा ॥४२४॥
पितृव्यपत्न्यादीनां स्यात्ताद्दक्पत्नीत्वमेव हि ।
तासां भवति तस्मात्तु न तन्मातृत्वमुच्चरेत् ॥४२५॥

प्रजापतिभ्यो ह्यभिमानसूनुः
पितृव्यसूनुस्त्वथवा सगोत्रः ।
ज्येष्ठः कनीयान्न भवेत्तथैको
न भिन्नगोत्रो न सगोत्रविद्विट् ॥४२६॥

सगोत्र्यसंमतः सूनुर्यः कश्चन समागतः ।
पुत्रत्वेनोदरपरो नाभिमानसुतो भवेत् ॥४२७॥
धर्मपत्नीसुतो वर्णी द्वितीयादिसुतो गृही ।
जातपुत्रोऽप्याहिताग्निर्न समस्तेन वर्णिना ॥४२८॥
धर्मपत्नीसुतो बालो द्वितीयादिसुतो युवा ।
आहिताग्निर्दशसुतो न समस्तेन चोदितः ॥४२९॥

स एव पितृकृत्येषु मुख्यकर्ता न संशयः।
अनुपेतोऽप्यसौ यद्यप्यथ तत्कर्तृ सोऽखिलम् ॥४३०॥
कारयेज्ज्येष्ठमुखतस्तथा चेत्कर्म तत्परम्।
जातमात्रे धर्मपत्नीसुते गौणसुताः परे ॥४३१॥
द्वितीयादिपुरोद्भूता भवेयुस्तत्क्षणान्ननु।
धर्मपत्नीसुतोत्पत्त्या दत्ततत्कार्यसोऽपि च ॥४३२॥
द्वितीयादिसुतानां स्यात्सद्यो हैन्यं श्रुतीरितम्।
तत्पत्नीकर्मकर्ता चेद्द्वितीयातनयस्य सः ॥४३३॥

दत्तादौ विशेषः

दत्तोऽधिकश्चेद्भवति पितुर्यदि पुनस्तराम्।
असन्निधौ सन्निधौ वा ताते जीवति दत्तकः ॥४३४॥
तद्भार्याकर्मकर्ता चेत्तत्सुतापतिरिष्यते।
द्वितीयातनयश्चेत्तु कर्मकृद्दत्तकस्तदा ॥४३५॥
सद्यो हैन्यमवाप्नोति न ज्येष्ठातनयो यदि।
तातस्तद्धर्मपत्नी च समौ दत्तस्य संततम् ॥४३६॥
पराणि तत्कलत्राणि संस्कार्याणि सुतो न चेत्।
सुते सति स एव स्यात्तत्कर्मणि न चेतरः ॥४३७॥
सर्वदैवं समाख्यातो न तेनायं हि दुर्बलः।
दत्तेन तत्कलत्रस्य प्रथमस्य कृता क्रिया ॥४३८॥
सत्यन्यातनये तावन्मात्रेणायमथाधिकः।
तुर्यांशोऽपि समांशः स्यात्तादृशं कर्म तत्कृतम् ॥४३९॥

सति तत्तत्सुते तस्मात् पितृपत्न्या विचक्षणः।
ज्येष्ठायास्तत्कनिष्ठाजः स्वयं कर्म समाचरेत् ॥४४०॥
ज्येष्ठेन दत्तपुत्रेण तत्क्षेत्रस्य पितुस्तु वा।
कृते कर्मणि तस्य स्यादाधिक्यं तत्सुतात्परम् ॥४४१॥
ताते सति कलत्रस्य तत्पुरो ज्यायसोऽस्य चेत्।
कृतं कर्म हि दत्तेन सद्यः पुत्राधिको भवेत् ॥४४२॥
पुत्रेषु सत्सु दत्तेन पितुः कर्म कृतं तु चेत्।
न तदा तस्य वाधिक्यं स्वाम्यं किमपि लभ्यते ॥४४३॥
यदि तज्ज्येष्ठभार्याया अपुत्राया कृतं तु तत्।
कर्म तत्पुरतो नूनं दत्तः स्यादधिकः सुतात् ॥४४४॥
पितुः कर्म कृतं तेन दत्तेन यदि तत्परम्।
अप्ययं मुख्यकर्ता न मुख्यः स्यात्सुत एव वै ॥४४५॥
निखिलेभ्यो सुतेभ्योऽसावौरसो ह्यतिरिच्यते।

पत्नीविशेषाः, तत्र धर्मपत्नी

औरसो धर्मपत्नीजो धर्मपत्नी च केवलम् ॥४४६॥
याऽनेन पूर्वं बाला वा दुर्गुणा वा विवाहिता।
सैवास्य धर्मपत्नी स्याद्धर्मविद्भिरुदाहृता ॥४४७॥

द्वितीयपत्नी

तत्पश्चाद्या कुलीना वा सुरूपा वा वयोऽधिका।
न सास्य धर्मपत्नी स्याद्द्वितीया भोगिनी स्मृता ॥४४८॥
सति चेत्तनये तल्पे पुनः कामाद्विवाहिता।
द्वितीया भोगिनी नारी धर्मपत्नी न सोच्यते ॥४४९॥

पुत्राणां ज्यैष्ठ्यकानिष्ठ्यम्

धर्मपत्नीसमुद्भूतो ज्येष्ठपुत्र इति स्मृतः।
पत्नी तनयराहित्यकृतवैवाहिकस्य सा ॥४५०॥
येयमूढा धर्महेतोर्धर्मपत्न्यभिचोदिता।

भोगिनी

कलत्रे सति पुत्रे वा पौत्रे नप्तरि सन्ततौ ॥४५१॥
स्थितायां येयमूढा स्याद्भोगिनी काञ्चनाह्वया।

भर्मणावावातादिपत्नयः

भर्मणो(ऽमूनि)यानि नामानि तानि सर्वाणि कृत्स्नशः ॥४५२॥
लभतेऽतस्तु सा प्रोक्ता द्वितीया काञ्चनाह्वया।
न धर्मपत्नी भवति भोगिन्येव परा स्मृता ॥४५३॥
भर्मणेयं यतः साध्या वनिता तेन सा स्मृता।
सर्वस्वर्णपदैर्वाच्या वावातेति च फण्यते ॥४५४॥
परा दुर्वर्णनामानि यानि ख्यातानि भूतले।
तानि सर्वाण्यवाप्नोति तृतीयेति च तां विदुः ॥४५५॥
परिवृत्तीति तामेके विज्ञेयां विमलामति।
हरिद्रां हरिणीं कल्यां जगदुर्ब्रह्मवादिनः ॥४५६॥
एतासां तनयाः सर्वेऽप्युत्तरोत्तरदुर्बलाः।
धर्मपत्नीसुतान्न्यूना वयसाप्यधिकास्तराम् ॥४५७॥
प्रथमा धर्मपत्नी च सुभगा महिषीति च।
सत्कर्णीति च कल्याणी धर्मज्ञैः कथिता हि सा ॥४५८॥

धर्मपत्नीसुतो बालो मौञ्जीविरहितोऽपि वा ।
तिष्ठत्सु चान्यापुत्रेषु कर्मभिः सत्कृतेष्वपि ॥४५९॥
उत्तमः पितृकृत्येषु तस्मादग्निप्रदः स तु ।
तेन प्राधानिकं कर्म यद्यत्तत्तु तन्मुखात् ॥४६०॥
सम्यक्कारयितुं न्याय्यं मन्त्रान् सर्वान्परे सुताः ।
पठेयुर्वै विधानेन चैवं धर्मोऽखिलो महान् ॥४६१॥
विहितस्तु समासेन तेन यावत्कृतं न तु ।
तावत्स तु मृतो तातः परलोकं न विन्दति ॥४६२॥
प्रेतत्वाच्च न निर्मुक्तः क्षुत्तृष्णापीडितस्तराम् ।
शरणं यत्र कुत्रापि ह्यटन् धावन् स्खलन् भ्रमन् ॥४६३॥
नित्यं च सलिलाकाङ्क्षी प्रेतलोके ह्यधोमुखः ।
रुग्णो मुण्डश्च विकलो जडो भ्रान्तश्च दुर्मनाः ॥४६४॥
निवसेदेव सततं तस्मादौरस एव सः ।

धर्मपत्नीजस्य स्पर्शमात्रकर्तृत्वम्

धर्मपत्नीसमुद्भूतो ह्यपरिज्ञातवर्णकः ॥४६५॥
प्रेतकार्यस्पर्शमात्रं स्नात्वा कुर्यादमन्त्रकम् ।
तावन्मात्रेण तत्तातः कृतकृत्यः सुखीतराम् ॥४६६॥
सम्यक् पितृत्वमाप्नोति नित्यानन्दः प्रजायते ।
तत्तन्मातुस्तत्तनया मुख्यकर्तार ईरिताः ॥४६७॥
सत्स्वौरसेषु मुख्यत्वात्त एव कथिताः पराः ।
तत्तत्कर्मसु कर्तारो नान्यमातृसमुद्भवाः ॥४६८॥

धर्मपत्नीसुते बाले केवलं रहिताक्षरे ।
अस्पष्टस्पष्टवर्णे वा विद्यमाने मृते तु वा ॥४६९॥
कक्ष्यानन्तरनिष्ठेन येन केन सुतेन वा ।
तत्समेनाऽथवा भ्रात्रा शिष्येणान्येन बन्धुना ॥४७०॥
सर्वं कारयितव्यं स्यात्समन्त्रेणाऽत्र तत्र चेत् ।
यद्यत्प्राधानिकं कर्म तत्र तत्रास्य वै शिशोः ॥४७१॥

सान्निध्यं स्पर्शमात्रकर्तृत्वम्

स्पर्शमात्रः प्रकर्तव्यस्तत्सान्निध्यं च केवलम् ।
अपेक्षितं मृतस्यात्र महातृप्त्यैकहेतवे ॥४७२॥
तत्सान्निध्यस्पर्शमात्रात् स मृतः सुखभागलम् ।
भवेदेव न संदेहस्तथा तस्मात्तु तच्चरेत् ॥४७३॥
मृतस्यैतानि प्रोक्तानि तारकाणि महात्मभिः ।
कारकाणि महातृप्तेस्तानीमानि स्मृतानि हि ॥४७४॥

श्राद्धादावत्यन्ततृप्तिकराणि

जकारपञ्चकं त्वेकं धर्मपत्नीजसन्निधिः ।
तत्कार्यकरणं तद्वद्ग्रहणश्राद्धमेव च ॥४७५॥
गयाश्राद्धं च फल्गुन्याः शाकश्राद्धमथापि च ।
तथैव वरणं गौर्या वृषोत्सर्जनमेव च ॥४७६॥
महालयश्च पनसस्त एते निखिलाः पराः ।
अत्यन्ततृप्तिमुक्त्यैकनिदानानीति तान् जगुः ॥४७७॥
जन्मभूम्यादिकं तत्र तज्जकारस्य पञ्चकम् ।
मृतस्य तारकं पूर्वं तत्परं त्वौरसस्य वै ॥४७८॥

सान्निध्यं मृतिकाले तु द्वितीयादिसुतस्य वा।
परलोकानुकूला या मृतस्य प्रभवेत्तथा ॥४७९॥
तत्क्रिया मन्त्रपूर्वं मृतस्य प्रभवेत्तथा।
एवं स्याद्ग्रहणश्राद्धं गयाश्राद्धमथापरम् ॥४८०॥
तृप्तिदं फाल्गुनीश्राद्धमष्टोत्तरशतैरुत।
शाके श्राद्धं यत्क्रियते तदेकमथ तारकम् ॥४८१॥

गौरीदानं पितृतृप्तिकरम्

गौरीदानं वृषोत्सर्गः पाक्षिकोऽयं महालयः।
स्थापनं पनसाख्यस्य तानीमानि स्मृतानि हि ॥४८२॥
पितृणामपि सर्वेषां वल्लभानीति वै जगुः।
जकारपञ्चकं वत्सः परलोकगतस्य तत् ॥४८३॥
तृप्त्यै संतरणायापि प्रोवाचैवं न चेतरत्।

जकारपञ्चकम्

जलार्धं जाह्नवीतीरं जनार्दनमहास्मृतिः ॥४८४॥
ज्वलनो जननोत्पन्नसुतसान्निध्यमेव च।
जकारपञ्चकं प्रोक्तं कथितं जन्ममोचकम् ॥४८५॥

ग्रहणश्राद्धलक्षणम्

ग्रहस्पर्शादथ यतन् सद्यः पत्न्यादिभिर्वृतः।
तदान्नेनैव यच्छ्राद्धं करोति पितृतृप्तये ॥४८६॥
स्नात्वा तेनैव विधिना तद्ग्रहश्राद्धमुच्यते।
तदेतत्किल देवेशो भगवान् भूतभावनः ॥४८७॥

षोडशश्राद्धतुलितं महादानशताधिकम्।
प्रोवाच किल सर्वेशो गयस्य सुमहात्मनः ॥४८८॥
गयाफल्गुनिकाशाकश्राद्धान्येतत्समानि वै।
गौरीदानं तथैवेति वृषोत्सर्जनमेव च ॥४८९॥
महान्ति निष्क्रियाणीति मनुः कात्यायनोऽङ्गिराः।
कुत्सवत्साग्निभरतविश्वामित्रशुकादयः ॥४९०॥
नैतेषां तुल्यमपरं पैतृकं कर्म विद्यते।
लोकत्रयेऽपि परमं तस्मादेतेषु चैककम् ॥४९१॥
अपि कर्ता कृतार्थः स्यात् सुकृती पितृतारकः।
इत्येवमेनं जहृषुः पनसस्थापकं तु तम् ॥४९२॥
वयं न विद्मः को वा स दू दु)र्वासाजनकोऽथवा।
कुम्भोद्भवो दधीचिर्वा शिबिर्वा नहुषो नलः ॥४९३॥
मान्धाता वाऽप्यलर्को वा हरिश्चन्द्रोऽथवा महान्।
गयो रामोऽथवा श्रीमानेषु चैकोऽथवा न चेत् ॥४९४॥
एतत्समष्टिर्लोकानां हितायाऽत्र भुवः स्थले।
अवतीर्णो न सन्देह इति ब्रह्मा शिवो हरिः ॥४९५॥

पनसे स्थापिते महान् विशेषः

पनसस्थापकं प्रोचुः शलाटोस्तस्य पृष्ठतः।
सर्वे कण्टकरूपेण समाश्रित्यैव सन्ततम् ॥४९६॥
अष्टोत्तरशतश्राद्धदिव्यशाकविशेषकाः।
प्रवर्तन्ते यतस्तस्मात्तदा शाकसहस्रकम् ॥४९७॥

तस्यास्य द्विपथरूपस्य पितृप्राणैकरूपिणः ।
सर्वदेवस्वरूपस्य सर्वमन्त्रमयस्य च ॥४९८॥
सर्वयज्ञमहातीर्थसरिदग्निसुवर्ष्मणः ।
निखिलागमशास्त्रौघव्रतकृच्छ्रामृतान्धसाम् ॥४९९॥
निधानस्य पवित्रस्य पित्र्याकर्षणवर्ष्मणः ।
स्थापनं क्रियते येन तच्छायापत्रमूलकैः ॥५००॥
फलैः शलाटुभिर्वापि काष्ठैश्छायाभिरेव च ।
क्रियते पितृतृप्तिः स्याद्बुद्धिपूर्वमबुद्धितः ॥५०१॥
तस्य पुण्यफलं वक्तुं गुरुणा ब्रह्मणापि वा ।
शक्यं वर्षसहस्रेण फणिराजेन वा न तु ॥५०२॥
पुरा किल पितृतृप्तिहेतवोऽखिलशाककाः ।
तपस्तप्त्वा वरेणाऽथ ब्रह्मणः पनसं श्रिताः ॥५०३॥

अलर्कश्राद्धम्

अलकालर्ककारूषाच्युतचूताजरामराः ।
सप्तस्वेतेष्वच्युतश्चेदलर्कश्चाजरास्त्रयः ॥५०४॥
प्रतिमासजभेदेन स्मृता द्वादशजातयः ।
अतः षट्त्रिंशत्कसंख्या तस्मादेतत्त्रयस्य च ॥५०५॥
एतेषां मासजानां स्यादेकजातिशलाटुतः ।
तद्भिन्नैकादशानां च शलाटुफलभेदतः ॥५०६॥
द्वैविध्यं किल संप्राप्तं शलाटोरपि वै मुहुः ।
आर्द्रशुष्कप्रभेदेन द्वैविध्यं समुपागतम् ॥५०७॥

तद्वत्फलानां च पुनर्द्वैविध्यं समुपागतम् ।
तच्चैत्रामलको ग्राह्य आशरत्सपवित्रकः ॥५०८॥

दिव्यशाकाः श्राद्धार्हाः

वारुकः कर्मजः शारिः श्रीपर्णं श्रीकरः शमी ।
युगदो युग्मदो रम्यं वज्रपर्णी करीषकी ॥५०९॥
कारवल्ली त्रयी कारुः कामकृत् कामवारकः ।
कामवाही कामदूरः शाकुटद्वयमग्रिमा ॥५१०॥
कामप्रं कामदं कम्रः कलिङ्गः कलिवारुकः ।
अजश्रीरजचर्माख्यो दारुको धर्मदो दमः ॥५११॥
कुलंकारी मनुर्मानी राजश्रीः शेखरी नलः ।
नालकः कारकः खाद्यो गायत्रो हरिलोचनः ॥५१२॥
हरिदश्वो हयग्रीवः कारुण्यः कनकप्रियः ।
कार्मुकः कर्मकृत्कार्यो धैर्यदो मानकृत् कुणिः ॥५१३॥
शरच्छ्रीको मङ्गलको कुण्डोऽकुण्डो गुडप्रियः ।
फलश्रीर्मधुरग्रीवो दानदः कटुकः क्षमी ॥५१४॥
मान्मथो मधुरस्रावा वज्रघ्नो वज्रपञ्जरः ।
वल्मीकजो बालराजो बालपुत्रो बृहद्रथः ॥५१५॥
कर्णकारोऽक्षिरोगघ्नः प्रतीहारी वलीमुखः ।
शर्मकृन्नेत्ररोगघ्नो धान्यद्वेषी दरिद्रहृत् ॥५१६॥
कुशलः कर्मसुखकृत् कण्ठहृत् कनकप्रभः ।
विश्वाकरः पिप्पलघ्नः क्षुन्मूलो क्षुन्निवारणः ॥५१७॥

अग्निधामा धरानाथो धरावासो धराश्रयः ।
अद्रिराजो धर्मदेशी धर्माश्रयकरः प्रराट् ॥५१८॥
अनिकेतो निमिग्रीवो नीलनेत्रो मरुत्पतिः ।
मणिमालो बृहन्नालो नारदो लिकुचो नटः ॥५१९॥
कुम्भाडः कुण्डली चक्रः शैत्यकर्मा शताकरः ।
कल्याणाधार ईशान ईशानो दक्षिणास्पदः ॥५२०॥
शतवल्ली महावल्ली चक्रवल्ली निपानकृत् ।
द्रोणप्रियो द्रोणराजो गुल्महृत् कटुमूलकः ॥५२१॥
नित्यश्रीको नित्यपुष्पो निर्मलो बहुपुष्पकः ।
प्लक्षराजन्यसंभूतो हेतिमूलो निशाप्रियः ॥५२२॥
महादाहकरोऽश्वत्थः सुन्दरः पर्वताश्रयः ।
कर्दमाढ्यः कर्दमाधः सूपस्थानः सुरास्पदः ॥५२३॥
पूर्णपात्रं शर्मपात्रं शातकुम्भः स्थिराकरः ।
काव्यश्रीः श्रीकरः श्रीगः परागश्रुतिदीपनः ॥५२४॥
महामाली जीवमाली पाशाढ्यः पाशदुःसहः ।
प्रथितो प्राणतरणो देवराजप्रियः पणः ॥५२५॥
सद्योमूलः पण्यमतिः गरदूषो गणत्रिगः ।
गुहावासो गुहामूल्यं भरण्यं मुनिवन्दितः ॥५२६॥
मुनिप्रियो दन्तरिपुः शर्मकृच्छर्ममत्सरी ।
त एते दिव्यशाकाः स्युः श्राद्धकर्मणि चोदिताः ॥५२७॥
एतेषामम्लयोगेन तदयोगेन च द्विधा ।
भवेयुः किल ते भूय एतेषां पुनरेव वै ॥५२८॥

मध्ये शाकुटकादीनि मूलतः स्तम्भतस्तथा।
पत्रतस्त्रिविधो ज्ञेयः कानिचिच्छुष्कभेदतः ॥५२९॥
पक्केन जलतैलाभ्यां पृथक्त्वेन समष्टितः।
चूर्णकल्कप्रभेदेन यत्नतः स्यात्सहस्रकम् ॥५३०॥

पनसमहिमा

एतत्सर्वं चैकपात्रे निधाय किल पद्मजः।
अन्यपात्रे च पनसं तुलयामास पाणिना ॥५३१॥
तदा तु पनसः किंचिद्बभूवाधिक एव वै।
बृहती त्रिशतसमा तदा जाता हि पश्यताम् ॥५३२॥
आर्द्रकं षट्छतसमं तिलाः शतसमं तराम्।
एवं तुलायां त्रितयं संबभूव तदादि वै ॥५३३॥
भूतले ब्राह्मणाः सन्तः पवित्रे श्राद्धकर्मणि।
तुल्यं शाकसहस्रस्य तिलार्द्रकबृहत्ककम् ॥५३४॥
संपादयन्ति यत्नेन पितॄणामतितृप्तये।
तिलमाषव्रीहियवा मुद्गगोधूमशाककाः ॥५३५॥
काशा दशविधा दर्भा मुख्यामुख्याश्च ये मताः।
खड्गं दशविधं मांसं प्रेतपर्पटभूतपाः ॥५३६॥
वामदेवाद्यो विप्राः पितृसूक्तविशेषकाः।
गयादिपुण्यक्षेत्राणि वटभूरुह एव च ॥५३७॥
बिन्दुमाधवविश्वेशचतुर्दशपदानि च।
ईशानादिमुखान्येवं गधाधरमहेश्वरौ ॥५३८॥

भागीरथी फल्गुनी च यमुना च सरस्वती ।
पितृसूक्तानि सर्वाणि वैष्णवानि विशेषतः ॥५३९॥
रक्षोघ्नानि पवित्राणि पुनरन्ये तथाविधाः ।
श्राद्धद्रव्यविशेषाः स्युः पितॄणामतिवल्लभाः ॥५४०॥
ते सर्वे पनसस्त्वेकः सुमहाक्षयकारकः ।
एतस्मिन् पनसे लब्धे सर्वश्राद्धनिदानके ॥५४१॥
मृताहदिवसे पुण्ये नित्यतृप्ताः सुतोषिताः
पितरस्सुन्दिलाः सद्यो भवन्त्येवेति सा श्रुतिः ॥५४२॥
एवं सत्यत्र यो मर्त्यः पनसस्थापको हृदा ।
मत्याऽमत्याथवाऽतीव भक्त्याऽभक्त्याथवा पुनः ॥५४३॥
ज्ञानेनाऽज्ञानतो वाऽपि भूतले यत्र कुत्रचित् ।
स एव कथितः सद्भिर्गयाश्राद्धसहस्रकृत् ॥५४४॥
पनसं सहकारैश्च कदल्यादिद्रुमैः सह ।
स्थापयित्वा विधानेन यत्नात्संवर्धितैः शिवैः ॥५४५॥
चम्पकैः पाटलीभिश्च मधूकैः सुमनोरमैः ।
चन्दनैः स्पन्दनैर्नीपैस्तच्छायाभिश्च तत्फलैः ॥५४६॥
पत्रैः पुष्पैश्च तत्काष्ठैर्नानाशाकविशेषकैः ।
कुर्वन् स्ववृत्या प्रयतन् कुलकोटिसहस्रकैः ॥५४७॥
ब्रह्मलोकमवाप्येह तत्सायुज्यमवाप्नुयात् ।
पनसं यत्र कुत्रापि दृष्ट्वा सद्यो महामनाः ॥५४८॥
तत्काष्ठपत्रकुसुमशलाटुफलमुख्यकैः ।
येन केनापि वा तृप्तिं पितॄणां तां समाचरेत् ॥५४९॥

सद्य एव ब्राह्मणेभ्यो लब्धमात्रे च तत्फले।
दृष्टमात्रेऽथवा भक्त्या दद्याद्वै पितृतृप्तये ॥५५०॥
शलाटुं पानसं पत्रं फलं दृष्ट्वा तु यो नरः।
पितृतृप्तिमकृत्वैव तूष्णीं तिष्ठेन्महाजडः ॥५५१॥
तं तस्य पितरः सर्वे शपन्ति किल कोपतः।
दृष्टमात्रे तु तस्मात्तु पानसद्रव्यमुत्तमम् ॥५५२॥
येन केनाप्युपायेन पत्रेण च फलेन वा।
शलाटुना छायया वा पितृतृप्तिनिमित्तकम् ॥५५३॥
यत्किंचिदपि वा तेषु ब्राह्मणेभ्यः प्रदापयेत्।
तावन्मात्रेण पितरो नित्यतृप्ता भवन्ति वै ॥५५४॥
एवं सत्यत्र यः कश्चिद्भाग्यवान् पनसी नरः।
तद्द्रव्यैरनिशं भक्त्या तृप्त्यकृत् पातकी भवेत् ॥५५५॥
गालवस्तु पुरा विप्रो दृष्ट्वा बीजानि भक्तितः।
क्रयेण पञ्चषान् गृह्य पितृप्रीत्यै बुभुक्षितः ॥५५६॥
स्वयं पत्न्या भक्षयित्वा पितृतृप्तिं चकार ह।
तावन्मात्रेण ते चापि परं तृप्ताः शताब्दकात् ॥५५७॥
आनन्दसागरे मग्ना बभूवुरिति नः श्रुतम्।
पुरा कुशवने पुण्ये माण्डव्यो वेदवित्तमः ॥५५८॥
महाविन्ध्याटवीमार्गे पनसं कार्तिकेऽवशात्।
दृष्ट्वार्कं च ततस्तूष्णीं समालोच्य क्षणात्परम् ॥५५९॥
तत्पत्राणि पवित्राणि पतितानि भुवः स्थले।
दृष्ट्वा समादायैतानि निपुणः सर्वकर्मसु ॥५६०॥

तानि स्वकरतः शीघ्रं कृत्वा पत्रपुटं त्वरन् ।
कस्मैचिद्विप्रपुत्राय पात्राय जलकांक्षिणे ॥५६१॥
समुद्युक्ताय पातुं तज्जलं भूमिगतं कथम् ।
पास्यामि सलिलं वेति समालोकयतेतराम् ॥५६२॥
पिबत्यनेकतरसा पितृप्रीत्यै पितॄन् महान् ।
स्मृत्वा ददौ तदा तेऽपि समागत्यातिसत्वरम् ॥५६३॥
तावन्मात्रेण संतुष्टा गयाश्राद्धशताधिकात् ।
अतिहर्षं गताः सद्यस्तमेनं भूरितेजसम् ॥५६४॥
आशीर्भिश्च प्रशस्ताभिः प्रत्यक्षेणैनमीक्ष्य ते ।
परं तृप्ताः स्मेति चोक्त्वा त्वं कृतार्थो महानसि ॥५६५॥
शास्त्रार्थधर्मतत्त्वज्ञस्त्वमस्मत्परितृप्तिकृत् ।
इत्युक्त्वाऽऽभाष्य ते तेन तत्पदं चक्रपाणिनः ॥५६६॥
पश्यतस्तस्य पुरतो जग्मुः किल सुरोत्तमैः ।
प्रार्थनीयं विशेषेण सोऽयमेतादृशो महान् ॥५६७॥
पितॄणां पनसः श्रीमान् वल्लभः परमो महान् ।
कारश्च कारवल्लीकः कारुकः कालिको करुत् ॥५६८॥
पञ्चैते ब्रह्मपुरतो देवानां शृण्वतां तदा ।
इदमूचुर्वचो दुःखादस्माकमपि सन्ति हि ॥५६९॥
कण्टकानि ततो भूयः खराणि सुमहान्त्यपि ।
त्वमस्माकं तु तत्साम्यं किमर्थं नाकरोर्विभो ॥५७०॥
इत्येवमतिदैन्येन पौनःपुन्येन केवलम् ।
रुरुदुः किल दुःखार्तास्तानेतांस्तादृशान्विभुः ॥५७१॥

नाकिनां पुरतो भूयः प्रहसन् वाक्यमब्रवीत् ।

रोदनम्

यन्माहात्म्यसुमहतो जन्मसिद्धातिसुश्रियः ॥५७२॥
दृष्ट्वा विभूतिं परमामसहन्नेव केवलम् ।
तत्साम्यमिच्छुरारान्मे रोदनं कृतवानसि ॥५७३॥
तस्मादेतत्प्रभृति ते भुवने ये दरिद्रिणः ।
श्राद्धैककरणाशक्ता अष्टोत्तरशतेष्वपि ॥५७४॥
श्राद्धेषु केषुचित्कालविशेषेषु कथंचन ।
रोदनाच्छ्राद्धकरणफलं ते प्राप्नुयुः परम् ॥५७५॥

कारस्य श्लाघ्यत्वम्

यस्मादत्यम्लवचनं मत्पुरः प्रोक्तवानसि ।
देवानां शृण्वतां चापि तस्मात्त्वं श्राद्धकर्मसु ॥५७६॥
नित्याम्लयुक्तो वर्तस्व कार रे रे कृती भव ।
कारवल्ल्यादयो यूयं स्वेषां कण्टकसाम्यतः ॥५७७॥
तत्साम्यचेतसो यस्मादङ्गीकुर्मश्च सांप्रतम् ।
युष्मान् श्राद्धेषु सर्वेषु तद्योग्या भवतैव वै ॥५७८॥
तत्साम्यं तत्त्रयस्यैव मिलित्वैव पृथङ् न तु ।
नित्यं शाकसहस्रस्य बृहत्यादेस्तु वो न तु ॥५७९॥
युष्माकं श्राद्धयोग्यत्वमात्रं मद्वचसा मतम् ।
सकण्टकबृहत्यस्ता मनसा पूर्वमेव वै ॥५८०॥
साम्यं कण्टकतस्तस्य पनसस्य त्वकामयन् ।
युष्मदीयमिमं वृत्तं ज्ञात्वा तूष्णीं व्यवस्थिताः ॥५८१॥

अतिचातुर्यतोऽतीव निपुणाश्च विचक्षणाः ।
ज्ञात्वा तद्धृदयं सर्वमवलेपं तथाविधम् ॥५८२॥
सर्वं ज्ञात्वा विधास्यामि लोकेष्वद्य च श्रूयताम् ।
मन्वादिषु मदीयेषु युगादिषु चतुर्ष्वपि ॥५८३॥
अष्टकासु च पुण्यासु संक्रान्तिषु च वृद्धिके ।
नैमित्तिके च तासां स्यादयोग्यत्वं तथाविधम् ॥५८४॥
तत्र चैतासु याः क्रूराः प्रेतकर्मणि ता. पराः ।
संभवन्तु न चान्येषु मर्यादैवं मया कृता ॥५८५॥

उर्वारुमहिमा

एतस्मिन्नन्तरे तत्र देवसृष्टोऽतिसुन्दरः ।
पत्रपुष्पमहावल्लीशलाटुफलसंवृतः ॥५८६॥
समागत्यातिचपलात् कैलासाद्धरणीधरात् ।
नत्वा बद्धाञ्जलिपुटश्चोर्वारुर्मम का गतिः ॥५८७॥
इति चोवाच लोकेशं भगवन्तं पितामहम् ।
तादृशं तं समुद्वीक्ष्य गौरीवाक्येन केवलम् ॥५८८॥
शम्भुना लोकनाथेन सृष्टं शुद्धैकविग्रहम् ।
समागतं महाप्रह्वं महागुरुषु वत्सलम् ॥५८९॥
शुद्धसत्वं दूरगवं ज्ञात्वा तं सर्वसुन्दरम् ।
अतिप्रशस्यं चोवाच देवानां पुरतो विभुः ॥५९०॥
त्वमुर्वारो स्थाणुसृष्टो भवानीवचसा यतः ।
स्वयं प्रकृत्या च महान् शान्तो दान्तो महामनाः ॥५९१॥

गुरुप्रियो विनीतश्च सततं गुरुवत्सलः।
अवलेपैकरहितश्चाद्यप्रभृति भूतले ॥५९२॥
दैविकेषु च पित्र्येषु कल्याणेषु नवेषु च।
नैमित्तिकेषु नित्येषु काम्येषु सकलेष्वपि ॥५९३॥
कृत्स्नक्रियाविशेषेषु बालवृद्धातुरादिषु।
नित्ययुक्तः सदा योग्यः शलाटूनां दशासु च ॥५९४॥
दशास्वेवं फलानां च शाश्वतो भव शाश्वतः।
पितॄणां सर्वदात्यन्तं वल्लभः परमो भव ॥५९५॥
वसन्तमाधवस्य त्वं ग्रीष्ममृत्युंजयस्य च।
महावर्षाः सप्ततन्तुः शरत्काल्यस्तथा पुनः ॥५९६॥
हेमन्तवनराजन्यः शिशिरः शीतलः शिवः।
सुखाकरः शुभकरो नित्यकल्याणकारकः ॥५९७॥
प्रथितो भव सर्वेषां पानसैराम्रकैः शिवैः।
रम्भाभिस्तुलितो भूयः कदाचिदधिकस्तथा ॥५९८॥
विद्वत्स्तुत्यो राजमान्यो त्वज्जातीयकषोडशैः।
संग्राह्यो भव सर्वत्र सर्वनेत्रप्रियोऽनिशम् ॥५९९॥
सर्वदा सर्वसंवृद्धो भवोर्वारोऽतिवर्धितः।
मरुत्कृतो तु त्वद्बीजविक्षेपणमुखादितः ॥६००॥
फलबीजसमुत्पत्तिपर्यन्तं किल सर्वदा।
तद्दृष्टित्रयतः शुद्धो महान्मन्त्रपरिष्कृतः ॥६०१॥
त्रयस्त्रिंशत्कोटिसंख्यदेवानां वल्लभो भव।
इति स्तुतः पूजितश्च शासितो विहितोऽनघः ॥६०२॥

अत्यन्तपितृतृप्त्यैककारकः किल कारितः।
उर्वारुस्तादृशः प्रोक्तः संग्राह्यः श्राद्धकर्मसु ॥६०३॥

उर्वारुत्यागे दोषः

तादृशं तमिमं यो वै मौढ्याच्छ्राद्धेषु संत्यजेत्।
सद्य एव पितुर्द्रोही भवेदेव न संशयः ॥६०४॥
देवद्रोही श्रुतिद्रोही सर्वद्रोही स एव हि।
विधिघ्नः श्राद्धहन्ता स्यात्तानीमानि प्रवक्ष्यतः ॥६०५॥

षण्णवतिश्राद्धानि

अमामनुयुगक्रान्तिधृ(व्य)तिपातमहालयाः।
तिस्रोऽष्टका गजच्छाया षण्णवत्यः प्रकीर्तिताः ॥६०६॥
मासिश्राद्धानि तान्येवं मासि मासि कृतानि वै।
अष्टोत्तरशतानि स्युस्तानीमानि ततः पुनः ॥६०७॥
पित्रोर्मृताहः कथितोऽलङ्घनीयः कथंचन।
रविं च प्रथमे पादे कविं चैव द्वितीयके ॥६०८॥
त्रयोदश तृतीये स्यादमाव्याख्यानमुच्यते।
पुनर्निरूप्यते स्पष्टममावाक्यस्य सांप्रतम् ॥६०९॥
अमावास्या द्वादश स्युर्मनवस्तु चतुर्दश।
युगादयश्च चत्वारः क्रान्तयो द्वादश स्मृताः ॥६१०॥
धृतयश्चापि पाताश्च त्रयोदश त्रयोदश।
महालयाः पञ्चदश अष्टका द्वादश स्मृताः ॥६११॥
गजच्छाया तथा चैका षण्णवत्य इतीरिताः।
प्रतिमासं प्रकर्तव्यत्वेन तानि च सांप्रतम् ॥६१२॥

कीर्तितानि द्वादश हि मिलित्वैतेऽखिलान्यपि ।
अष्टोत्तरशतानि स्युः श्राद्धानि विहितानि वै ॥६१३॥
प्रतिवर्षं प्रयत्नेन ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
अमावास्यास्तत्र क्लृप्ता मासान्ता नित्यमेव वै ॥६१४॥
अत्रैव पितृयज्ञश्च कर्तव्यत्वेन चोदितः ।
श्रुत्युक्तोऽयं पितृणां स्यादतितृप्त्यैककारकः ॥६१५॥
श्राद्धानां प्रकृतित्वेन चोदितः स्मृतिकर्तृभिः ।
नैतस्मात्तु परं श्राद्धं विद्यते यत्र कुत्रचित् ॥६१६॥
श्रुत्युक्तमेतदेव स्यादेतन्मात्रे कृते तु चेत् ।
सर्वाण्यपि कृतानि स्युरथवैतद्दिने तु यैः ॥६१७॥
श्राद्धं वै क्रियते तद्वा प्रकृतिश्चेति वै जगुः ।
इतरैः सर्वपित्र्याणां श्रुतितो ब्रह्मवादिनः ॥६१८॥
यदनुष्ठानतः सर्वानुष्ठानं जायतेतराम् ।
तदेव प्रकृतिः प्रोक्ता हि कैश्चिद्ब्रह्मवादिभिः ॥६१९॥

दर्शश्राद्धम्

दर्शानुष्ठानतः सर्वश्राद्धानि स्युः कृतानि वै ।
इति सर्वे त्रयो लोकास्तूष्णीं तिष्ठन्ति केवलम् ॥६२०॥
न केनापि च तस्मात्तु दर्शः संत्यज्यते परः ।
दर्शमात्रेऽनुष्ठितेऽस्मिन् येन केन प्रकारतः ॥६२१॥
सर्वाण्यनुष्ठितानि स्युरिति वै लोकसंस्थितिः ।
न तत्र साक्षाच्छ्राद्धं च क्रियते येन केन वा ॥६२२॥

क्रियते कृतिना तत्तु भूतले येन केनचित् ।
तेनाप्युदकमात्रेण श्राद्धेनापि कृतेन वै ॥६२३॥
सर्वाण्यपि कृतान्येवेत्येवं सर्वैकनिश्चयः ।
स दर्शस्तादृशस्यानुष्ठाता यो ब्राह्मणोत्तमः ॥६२४॥
अग्निहोत्री स एव स्याद्दर्शयाज्यक्षयाज्यपि ।
सोमयाजी सर्वयाजी तत्त्यागी ब्रह्मघातकः ॥६२५॥
स एव कर्मचण्डालस्तमेनं ब्रह्मघातकम् ।
दृष्ट्वा समागतं पापं वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥६२६॥
प्रकृतिश्राद्धमात्रश्च दर्श एव न चापरः ।
पितृयज्ञमुखादेव प्रकृतित्वं तदीरितम् ॥६२७॥
तत्रैव विहितोऽयं हि पितृयज्ञः श्रुतीरितः ।

दर्शाब्दिकौ तुल्यौ

दर्शो मृताहश्च समौ न कदाचित्तु शक्यते ॥६२८॥
येन केनापि वा त्यक्तुं तत्त्यागी चेत्पतत्यधः ।
पित्रोर्मृताहस्त्वन्नेन कार्यः स्यात्तु न चान्यतः ॥६२९॥
न हेम्नान्नेन होमेन पिण्डदानेन मन्त्रतः ।
अक्षेण शष्पैर्मन्त्रैर्वा न दुःखेन तदाचरेत् ॥६३०॥
किं त्वग्नौकरणाद्ब्रह्मभोजनात्पिण्डदानतः ।
कृतं भवति तत्कर्म न चेच्चण्डालतां व्रजेत् ॥६३१॥

दर्शाब्दिकौ न त्याज्यौ

मृताहोऽलङ्घनीयः स्याद्दर्शश्चापि तथाविधः ।
येन केन प्रकारेण शक्यते किल दुर्बलैः ॥६३२॥

अकिंचनैर्दुर्बलैर्वा व्याधितैर्वा विशेषतः।
बाधितैर्धावमानैर्वाऽज्ञातवासिभिरेव वै ॥६३३॥
नष्टक्रियैर्नष्टधनैर्मृतप्रायैरथापि वा।
त्यक्तुं न शक्यते श्राद्धं मृताहाख्यं कथंचन ॥६३४॥
मृताहस्ताद्दशः क्लृप्तः प्रतिवर्षं च चान्द्रतः।
मानेनैव भवेन्नूनमक्लृप्तोऽन्येन चेद्भवेत् ॥६३५॥
अत्यन्तावश्यको न स्यादक्लृप्तश्चेत्तु यो भवेत्।
क्लृप्तस्यावृत्तिरित्येव मर्यादा शास्त्रसंमता ॥६३६॥
तिथ्यग्नी न तिथिस्तिथ्याशे कृष्णेभोऽनलो ग्रहाः।
तिथ्यर्कौ न शिवोऽश्वोऽमातिथी मन्वादयः स्मृताः ॥६३७॥
तस्मात्तु क्लृप्ता इत्युक्तास्ततश्च क्रान्तयः स्मृताः।
सूर्यराशिक्रमणतश्चाऽक्लृप्ता इत्युदीरिताः ॥६३८॥

संक्रान्तिस्वरूपम्

अयने द्वे च विषुवौ चतस्रः षडशीतयः।
चतस्रो विष्णुपद्यश्च संक्रमा द्वादश स्मृताः ॥६३९॥
स्थिरभेष्वर्कसंक्रान्तिर्ज्ञेया विष्णुपदाह्वया।
षडशीतिमुखं ज्ञेयं द्विःस्वभावेषु राशिषु ॥६४०॥
सौम्ययाम्यायने नूनं भवतो मृगकर्कटौ।
तुलामेषोभयं ज्ञेयं विषुवं सूर्यसंक्रमे ॥६४१॥

संक्रान्तिपुण्यकालः

अहःसंक्रमणे पुण्यमहः कृत्स्नं प्रकीर्तितम्।
रात्रौ संक्रमणे भानोर्व्यवस्था सर्वकर्मसु(सङ्क्रमे) ॥६४२॥

सौम्ययाम्यायनद्वन्द्वे विशेष इति वै जगुः ।
अतात्याप्राप्य तत्कालं पुण्यकाल उदाहृतः ॥६४३॥
संक्रान्तिष्वखिलास्वेवं तत्कालः पुण्यदः स्मृतः ।
या याः सन्निहिताः नाड्यस्तास्ताः पुण्यतमाः स्मृताः ॥६४४॥
अयने द्वे च विषुवे चतस्रः षडशीतयः ।
चतस्रो विष्णुपद्यश्च संक्रमा द्वादश स्मृताः ॥६४५॥
त्रिंशत्कर्कटके नाड्यो मकरे विंशतिः स्मृताः ।
वर्तमाने तुलामेषे नाड्यस्तूभयतो दश ॥६४६॥
षडशीत्यां व्यतीतायां षष्टिरुक्ताः प्रणाडिकाः ।
पुण्यायां विष्णुपद्यां च प्राक् पश्चादपि षोडश ॥६४७॥
अर्धरात्रात्तदूर्ध्वं वा संक्रान्तौ दक्षिणायने ।
पूर्वमेव दिने कुर्यादुत्तरायण एव वै ॥६४८॥

अन्नश्राद्धे कुतपः

यद्यत्तु पैतृकं कर्म श्राद्धमन्नेन चेत्पुनः ।
कुतपे तद्धि कुर्वीत तद्भिन्नस्य तु चेदयम् ॥६४९॥
विधिः ख्यातो न सन्देहो धर्मविद्भिः सनातनैः ।
ओदनश्राद्धमात्रस्य संक्रान्तीनां च कृत्स्नशः ॥६५०॥
द्वादशानां तथान्येषां कुतपो मुख्य उच्यते ।
तद्भिन्नस्नानदानादितर्पणादिषु ते स्मृताः ॥६५१॥
तदा तदा तु विहिता एते कालविशेषकाः ।
श्राद्धकर्तुस्तु सर्वत्र कृतिनः काल एककः ॥६५२॥

कुतपो वेदवचसा मुख्यः प्रोक्तो न चेतरः।
सोऽपि यस्मिन् दिने सम्यग्दक्षिणायनकालकः ॥६५३॥
तमुत्तरायणे कुर्यादुत्तरायणमेव हि।
कुतपस्य तु यत्र स्याल्लोभपूर्वं तथाचरेत् ॥६५४॥

दर्शसंक्रान्त्यादिश्राद्धानि

तत्क्रान्तियुग्मश्राद्धादिकृत्यं सर्वं यथा लभेत्।
औत्तरे ह्ययने सम्यक् कुतपेऽस्मिन् तथाऽऽचरेत् ॥६५५॥
संक्रान्तिमात्राः कथिता अक्लृप्ता इति सूरिभिः।
एवं धृतिश्च पातश्च षड्विंशतिकसंख्यया ॥६५६॥
कथिताः किल सर्वाण्यप्यक्लृप्तान्येव केवलम्।

महालयः

महालया बहुविधाः पूर्वं पञ्चदशेति वै ॥६५७॥
षोडशैवेति केचित्तु दशेति च तथापरे।
पञ्चैवेति त्रयं चेति एकमेवेति केचन ॥६५८॥
षोढा ताः कथिताः सद्भिरष्टका द्वादश स्मृताः।
यदेन्दुः पितृदैवत्ये हंसश्चैव करे स्थितः ॥६५९॥
याम्या तिथिर्भवेत्सा तु गजच्छाया प्रकीर्तिता।

श्राद्धदेवताः

कर्माणि कानि ख्यातानि त्रिदैवत्यानि केवलम् ॥६६०॥
षड्दैवत्यानि कानि स्युर्नवदैवत्यकानि च।
तत्रादौ तु त्रिदैवत्यं मृताहस्त्वेक उच्यते ॥६६१॥

षड्दैवत्यस्तु दर्शः स्यादष्टका नवदेवताः ।
अष्टकासु च वृद्धौ च गयायां च मृतेऽहनि ॥६६२॥
मातुः श्राद्धं पृथक् कुर्यादन्यत्र पतिना सह ।
पतिना सह कर्तव्यं पृथक्त्वेन कृते यदि ॥६६३॥
तत्पैतृकमहासङ्गसौख्यविघ्नकरं भवेत् ।
पितृवर्गस्तु पूर्वं स्यान्मातृवर्गस्ततः परम् ॥६६४॥
ततो मातामहानां च वर्गोऽयं तत्कलत्रतः ।

पित्र्येऽप्रदक्षिणम, शून्यललाटता च

पितृवर्गो यत्र पूर्वं तत्र स्यादप्रदक्षिणम् ॥६६५॥
अपसव्यं तथा शून्यललाटं प्रभवेदपि ।
यत्र यत्राऽऽपसव्यं स्यात्तत्र तत्राऽप्रदक्षिणम् ॥६६६॥
तथा शून्यललाटं च प्रधानाङ्गं च तत्स्मृतम् ।

तत्र गृहालंकारो न कर्तव्यः

यत्रैतत्त्रितयं तत्र गृहालंकरणं न तु ॥६६७॥

मातृवर्गे प्रदक्षिणादि

मातृवर्गो यत्र पूर्वं तत्र स्यात्तु प्रदक्षिणम् ।
सव्यं पुण्ड्रललाटं च मङ्गलस्नानमेव च ॥६६८॥
गृहालंकरणं चापि मङ्गलानि तथा पुनः ।
पितॄणां च क्रमो मुख्यो भवत्यपि च सन्ततम् ॥६६९॥
प्रपितामहपूर्वं स्यात्तत्पितामहमध्यकम् ।
पित्रन्त एव कथितं तदुच्चारणलक्षणम् ॥६७०॥

श्राद्धभेदेन विश्वेदेवाः

तेषां च विश्वेदेवास्ते सत्यसंज्ञिकनामकाः।
सर्वत्र वृद्धशब्दश्च प्रयोक्तव्यश्चतुर्ष्वपि ॥६७१॥
तथैव मातृवर्गेऽपि तार्तीयीके च वर्गके।
जननक्रमतश्चेदं तेषामुच्चारणं भवेत् ॥६७२॥
एतद्विरुद्धं तत्सर्वं तद्विरुद्धमिदं परम्।
निःशेषमिति बोद्धव्यं ते सर्वे देवताः किल ॥६७३॥
वसवः पितरोऽत्र स्यू रुद्राश्चापि पितामहाः।
प्रपितामहाश्च कथिता आदित्या इति तद्गणाः ॥६७४॥

सापिण्ड्यनिरूपणम्

एतत्त्रयात्पूर्वकस्य चतुर्थस्य सकृत्किल।
श्राद्धस्य करणं प्रोक्तं पाथेयाख्यस्य सूरिभिः ॥६७५॥
तदेवं सप्तपूर्षाख्यं सापिण्ड्यस्य निरूपणम्।
आशौचं च दशत्रिदिनमेकदिनम्
तावत्तु सूतकं सर्वं तज्जानां संप्रकीर्तितम् ॥६७६॥
समानोदकसंज्ञाश्च ततो भूयः सगोत्रिणः।
तदूर्ध्वमिति विज्ञेयं तेषां तत्सूतकं ततः ॥६७७॥
त्रिदिनं चैकदिवसं पश्चात्स्नानं च बोधितम्।
क्रमेणैव परं यावत्तावत्पर्यन्तमेव वै ॥६७८॥
स्नानमात्रं च कथितं प्रसंगादिदमीरितम्।
जीवच्छ्राद्धं तु तत्प्रोक्तं सर्वश्राद्धविलक्षणम् ॥६७९॥

चत्वारिंशद्देवताकमथवा पञ्चसंख्यया ।
पुनः समेतं तत्प्रोचुरतस्तद्द्विविधं स्मृतम् ॥६८०॥
श्राद्धानि कानिचिद्भूयो देवतासहितान्यपि ।
अदैविकानि च पुनस्तानीमानि च भण्यते ॥६८१॥
वृद्धिश्राद्धं गयाश्राद्धं घृतश्राद्धं तथैव च ।
दधिश्राद्धं तृणश्राद्धममादीन्यखिलान्यपि ॥६८२॥
सदैविकानि ख्यातानि प्रेतश्राद्धानि कृत्स्नशः ।
अदैविकानि प्रोक्तानि सोदकुम्भाने कृत्स्नशः ॥६८३॥

अमादिश्राद्धे कर्तव्यानि

प्रेतश्राद्धेषु सर्वत्र संकल्पो मुख्यतः स्मृतः ।
अभ्यनुज्ञापि परमा सा चात्राऽऽवाहनं मतम् ॥६८४॥
सपाद्यार्घ्यगन्धधूपदीपपुष्पाणि केवलाः ।
तिलाः सर्वत्र तूष्णीकाः कृत्स्नं वेदमनुं विना ॥६८५॥
तत्र पूजा प्रकर्तव्या पिण्डदानं च दक्षिणा ।
आवश्यक्यत्र परमा दध्याज्ये वस्त्रमेव च ॥६८६॥
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत कुतपं नावलोकयेत् ।
पिण्डानि वायसेभ्यो वा गृध्रेभ्यो वा निवेदयेत् ॥६८७॥
न चेज्जलचरेभ्यो वा नान्यत्र तु विनिक्षिपेत् ।

एकोद्दिष्टाधिकारिणः

भ्रात्रे भगिन्यै पुत्राय स्वामिने मातुलाय च ॥६८८॥
मित्राय गुरवे श्राद्धं पितुर्मातुः स्वसुस्तथा ।
श्वशुराय श्यालकाय चैकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥६८९॥

अपिण्डकानि सपिण्डकानि च श्राद्धानि

युगक्रान्तिमनुश्राद्धं प्रेतश्राद्धादिकं तथा।
अपिण्डकानि ख्यातानि सपिण्डानीतराणि च ॥६६०॥
महालयषोडशत्वे गजच्छायाऽत्र नो भवेत्।
षण्णवत्यत्वसंख्यायै सा हि पञ्चदशत्वतः ॥६६१॥
यया कया संख्यया वा तया षड्विधया भवेत्।
महालयत्वस्य सिद्धिर्विशेषे तु फलं तथा ॥६६२॥
सर्वत्रैवं समाख्याता प्रयासाधिक्यतः फलम्।
प्रभवत्येव सुमहन्नात्र कार्या विचारणा ॥६६३॥

महालयः

महालयः पाक्षिकोऽयं द्विविधः परिकीर्तितः।
एकविप्रानेकविप्रभेदेन किल तत्र वै ॥६६४॥
एकविप्राख्यपक्षस्य स्वरूपं वच्मि पूर्वतः।
महालयानां सर्वेषामापक्षान्तस्य केवलम् ॥६६५॥
ये वृताः प्रथमदिवसे वान्येषां च केवलम्।
त एव नान्ये कर्तव्याः पक्षान्ते श्राद्धदक्षिणा ॥६६६॥
एकदैव हि देया स्यान्न देया स्यात्तदा तदा।
अनेकविप्रपक्षे तु प्रतिनित्यं च वाडवाः ॥६६७॥
भिन्नभिन्नाः प्रकर्तव्याः प्रतिनित्यं पृथक् पृथक्।
दक्षिणा च प्रदातव्या प्रतिपूर्षं पृथक् पृथक् ॥६६८॥
प्रतिवर्गं न चेद्विप्रा वरणीया विधानतः।
षड्दैवत्यं तु सर्वत्र नवदैवत्यमेव वा ॥६६९॥

ख्यातो महालयः सद्भिः षड्विधोऽपि महालयः ।
एवमेव प्रकर्तव्यो नान्यथा तं समाचरेत् ॥७००॥

सकृन्महालयः

चरेद्यदि विशेषेण नानादैवतकेन वै ।
सकृन्महालयः सोऽयं स भवेत्किं तु स स्मृतः ॥७०१॥
गयाश्राद्धसमः कोऽपि कथितः परमो महान् ।
अनिर्वाच्योऽखिलैः शास्त्रैर्महाश्राद्धविशेषकः ॥७०२॥
तादृशश्राद्धकर्तापि षड्दैवत्येन संयुतम् ।
नवदैवतकेनापि विष्णुना वा समन्वितम् ॥७०३॥
धुरिलोचनसंयुक्तं कुर्याच्छ्राद्धं महालयम् ।
सकृत्पक्षेण वा पूर्वप्रोक्तपक्षेषु येन वा ॥७०४॥
पक्षेण केनचित्कुर्यात् स महालयकृद्भवेत् ।
न चेदयं गयाश्राद्धतुलितं यं च कंचन ॥७०५॥
पुण्यं श्राद्धविशेषं वै कुर्यादेवेति सा श्रुतिः ।

महालयस्य भरण्यादीनां श्लाघ्यत्वम्

दिने दिने गयातुल्यं भरण्यां गयपञ्चकम् ॥७०६॥
दशतुल्यं व्यतीपाते पक्षमध्ये तु विंशतिः ।
द्वादश्यां शतमित्याहुरमायां तु सहस्रकम् ॥७०७॥

महालयकालः

आषाढीमवधिं कृत्वा यस्याः पक्षस्तु पञ्चमः ।
महालय इति प्रोक्तः पितॄणां श्राद्धसंपदे ॥७०८॥

यतीनां महालयः

तत्र पक्षे यतीनां तु द्वादश्यां श्राद्धमाचरेत् ।

दुर्मृतानाम्

चतुर्दश्यां विशेषेण दुर्मृतानां चरेत्क्रियाम् ॥७०९॥

सुमङ्गल्याः

सुमङ्गलीनां कथितं नवम्यां श्राद्धमेककम् ।
अश्रोत्रियकलत्राणां यावत्तद्भर्तृवर्तनम् ॥७१०॥
प्राणिलोके ततस्तत्तु कुर्याद्वा न तु वा द्वयम् ।
एतदस्ति ह्यनुष्ठानं सकृन्महालये तु चेत् ॥७११॥
यावत्पैतृकधर्माः स्युस्तुलितस्तेन स स्मृतः ।
अतीतो यदि पक्षः स तद्भिन्नेऽपरपक्षके ॥७१२॥
तदन्यस्मिन् तादृशे वै तदन्यस्मित् तथाविधे ।
यावत्तु वृश्चिकस्तिष्ठेत् तावत्तत्तु समाचरेत् ॥७१३॥
अदर्शने वृश्चिकस्य जाते तत्पितरः परम् ।
धनुर्मासे तु संप्राप्ते श्राद्धाकरणमीक्ष्य वै ॥७१४॥
सद्यः शापप्रदानायोद्युक्ता एव भवन्ति वै ।
तावदेव ततो भक्त्या श्राद्धं महालयाख्यकम् ॥७१५॥
विधिनैव प्रकुर्वीत न चेद्दोषो महान् भवेत् ।
येन केन प्रकारेण ततश्च श्राद्धमेककम् ॥७१६॥
कुर्यादेव पितुः श्राद्धतुल्यं प्रत्यब्दमेव वै ।

महालये परेऽहनि तर्पणम्

प्रत्यब्दधर्मा निखिलाः सकृन्महालयस्य ते ॥७१७॥

भवेयुरेव तस्मात्तु परेऽहन्येव तर्पणम् ।
श्राद्धे यावन्त उद्दिष्टास्ततपरेऽहनि तान् यजेत् ॥७१८॥

रव्युदयात्पूर्वं तर्पणम्

तच्छेषतिलदर्भैस्तु पूर्वं सूर्योदयस्य वै ।
प्रनष्टपितृकश्चेत्तु तर्पणस्याधिकाययम् ॥७१९॥
स प्रनष्टप्रसूर्नित्यं तर्पणेऽधिकृतो भवेत् ।

जीवत्पितृकश्राद्धम्

मासिश्राद्धे पितृयज्ञे नान्दीश्राद्धे च सन्ततम् ॥७२०॥
जीवत्तातोऽपि कर्ता स्यादाहोमात्करणं स्मृतम् ।
पूर्वद्वये तु सततं नान्दीश्राद्धं तु सर्वदा ॥७२१॥
येषामेव पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यात्तु तत्सुतः ।
ताते भ्रष्टे च संन्यस्ते रुग्णे रोगैकपीडिते ॥७२२॥
यत्कर्तव्यं तेन कर्म पैतृकं तत्सुतश्चरेत् ।

श्राद्धे वैदिकाग्न्यधिकारिणः

पित्रोः श्राद्धं स्वपत्न्याश्च सपत्नीमातुरेव च ॥७२३॥
मातामहस्य तत्पत्न्याः श्राद्धमौपासने भवेत् ।
तद्भिन्नानां तु सर्वेषां श्राद्धं स्याल्लौकिकानले ॥७२४॥
अपुत्राणां पितृव्यानां भ्रातृणामग्रजन्मनाम् ।
तत्पत्नीनां च सर्वासां लौकिकाग्नौ यथाविधि ॥७२५॥
अवश्यत्वेन कर्तव्यं न त्याज्यं धर्मतोऽखिलैः ।
प्रत्यब्दं श्राद्धमात्रं स्यात् पितृश्राद्धसमानतः ॥७२६॥

अष्टकामासिश्राद्धम्

माघकृष्णाष्टमी यस्यां रात्रौ कुर्यात्समन्त्रकम् ।
होमं दध्यञ्जलिस्तस्यापूपस्य स्थानके ततः ॥७२७॥
नवम्यां तु ततो भक्त्या श्राद्धं कुर्याद्विधानतः ।
मासिश्राद्धविधानेन तावन्मात्रेण केवलम् ॥७२८॥
तानि शिष्टानि सर्वाणि ह्येकादश किलाऽष्टकाः ।
कृता एव भवेन्नूनं लघूपायोऽयमुच्यते ॥७२९॥
अष्टकासु यथा दर्शश्राद्धतोऽखिलपैतृकाः ।
कृतप्राया इति तथा लघूपायः प्रकीर्तितः ॥७३०॥
सर्वाणि पृथगेव स्युः कार्याणि नियमेन वै ।
अष्टोत्तराणि ख्यातानि कदाचित्तु विशेषतः ॥७३१॥
असमर्थस्य तु प्रोक्तो लघूपायस्तु कश्चन ।
समर्थस्तु यथाकल्पं प्रतिसंवत्सरं द्विजः ॥७३२॥
सर्वाणि कुर्याच्छ्राद्धानि न चेद्दोषश्च कीर्तितः ।

श्राद्धप्रयोगः

श्राद्धप्रयोगश्च मया कृत्स्न एवोच्यतेऽधुना ॥७३३॥

निमन्त्रणम्

निमन्त्रणं च पूर्वेद्युः प्रकर्तव्यं विधानतः ।

निमन्त्रणार्हाः

विप्राणां वेदिनां नित्यं कार्यं नाऽवेदिनां तराम् ॥७३४॥
कुक्षौ तिष्ठति यस्यान्नं वेदाभ्यासेन जीर्यते ।
कुलं तारयते तेषां दश पूर्वान् दशाऽपरान् ॥७३५॥

वेदाध्यायी तु यो विप्रः सततं ब्रह्मणि स्थितः ।
साचारः साग्निहोत्री च सोऽग्निर्वै कव्यवाहनः ॥७३६॥

वेदहीननिमन्त्रणे

मन्त्रपूतं तु यच्छ्राद्धमन्त्राय प्रयच्छति ।
तदन्नं तस्य कुक्षिस्थं रुदत्येव न संशयः ॥७३७॥
शपत्येनं प्रदातारं स्वस्य तं तादृशं किल ।
यजनं च प्रदातारं तदन्नं तद्धृदि स्थितम् ॥७३८॥
यावतः पिण्डान् खलु स प्राश्नाति हविषोऽल्पकः ।
तावतः शूलान् ग्रसति प्राप्य वैवस्वतं यमम् ॥७३९॥
दातृहस्तं च छिन्दन्ति जिह्वाग्रमितरस्य च ।
पश्यतश्चक्षुषी चैव शृण्वतः श्रोत्रयुग्मकम् ॥७४०॥
दुर्लभायां स्वशाखायां भोक्तृनन्यान्निवेदयेत् ।

स्वशाखीयः श्लाघ्यः

पित्रोः श्राद्धे विशेषेण स्वशाखीयान्निवेदयेत् ॥७४१॥
कन्यादानं पितृश्राद्धं शुद्धकच्छेभ्य एव च ।
प्रदेयं स्यात्प्रयत्नेन नासत्कच्छेभ्य एव वै ॥७४२॥

अभोज्याः

रोगयुक्तं दुष्टबुद्धिं दुष्टचारित्रतत्परम् ।
सदोषकं च सद्वेषं कुनखं श्यावदन्तकम् ॥७४३॥
नित्याऽप्रयतवर्ष्माणं दुर्वर्णं च कुरूपिणम् ।
नक्षत्रजीवनं दासकृत्यं शूद्रैकजीविनम् ॥७४४॥

शूद्रैकयाजकं शूद्रपुष्टं शूद्रनिकेतनम् ।
शूद्रप्रतिग्रहपरं नित्ययाचकमेव च ॥७४५॥
तथा पल्लविकं क्रूरमात्मसंभाविनं शपम् ।
अतिमानिनमग्राह्यं निष्क्रियं वेदनिन्दकम् ॥७४६॥
वेदविक्रयिणं नित्यं ग्रामयाजकमेव च ।
ब्रह्मविद्वेषिणं चैव ब्रह्मस्वहरणोन्मुखम् ॥७४७॥
परदारपरं दुष्टं परदारैकचिन्तकम् ।
त्यक्तभार्यं दत्तपुत्रं पुत्रविक्रयिणं तथा ॥७४८॥
मातापित्रोरुपोष्टारं गुरुद्रोहिणमेव च ।
धनसंग्रहणोद्युक्तमानसं धनिनं कटुम् ॥७४९॥
निर्दयं दानविमुखं नास्तिकं परदूपकम् ।
मणिकारस्वर्णकाररजकादिपुरोहितम् ॥७५०॥
अधिकाशमतृप्तं च दुर्वादं दाम्भिकं जडम् ।
वेदकर्मत्यागपूर्वशास्त्रमात्रकृतश्रमम् ॥७५१॥
नास्तिकं किंभविष्यन्तमृणिनं त्यक्तवेदकम् ।
त्यक्तस्नानं त्यक्तसंध्यं निवृत्तक्षुरकर्मकम् ॥७५२॥
कृतार्धक्षुरकर्माणं तुच्छं विकसितमेहनम् ।
फल्गुं कुब्जं तथा चान्धं बधिरं भ्रान्तमुल्बणम् ॥७५३॥
उन्मत्तं दुर्बलं सन्नं कोपिनं कुनखं रतम् ।
कुण्डकं गोलकं व्रात्यमशुचिं परसूतकम् ॥७५४॥
पराञ्जिनं पराधीनं कर्षकं वार्धुषिं नृपम् ।
नृपवृत्तिं वैश्यवृत्तिं शूद्रवृत्तिं दुराशयम् ॥७५५॥

अत्यन्तचपलं श्रान्तमवीरापतिमेव च ।
तथैव गर्भिणीनाथमभोज्यान्नं दुरागसम् ॥७५६॥
अश्रोत्रियसुतं कारुधृतवस्त्रं च दुःशठम् ।
गायकं व्रणिनं क्षुद्रभाषिणं तुच्छभाषकम् ॥७५७॥
हास्यकारं नटं नाट्यविद्यं बुरुडकृत्यकम् ।
क्षुद्रजीवं कार्यजीवं नित्यवेतनजीविनम् ॥७५८॥
न भोजयेत्प्रयत्नेन निमन्त्रणदिनात्परम् ।
दिनत्रयं वर्जयित्वा (त्वा) वृणुयादतिचर्यया ॥७५९॥
अनुमासिकभोक्तारं पक्षमात्रं परित्यजेत् ।
ऊनमासिकभोक्तारं मासमात्रं परित्यजेत् ॥७६०॥
नग्नश्राद्धे वर्षमात्रं नवश्राद्धे तदर्धकम् ।
षोडशे सार्धवर्षं तु सपिण्डे च द्विवत्सरम् ॥७६१॥
वर्जयित्वा द्विजं पश्चाद्ग्राहयेच्छ्राद्धकर्मणि ।
शूद्रामश्राद्धगं सम्यक् त्यजेद्वर्षत्रयं तथा ॥७६२॥
नृपवैश्यश्राद्धभिरसाभक्षकं सन्ततं तराम् ।
वर्जयेदव्दमात्रं तु ग्रामचण्डालकर्मसु ॥७६३॥
आमश्राद्धगृहीतारं तद्दिने नावलोकयेत् ।
दिवारात्रमसंभाष्यो दिवाकीर्त्यपुरोहितः ॥७६४॥
पुण्यकाले त्वसंभाष्यः कुलालानां पुरोहितः ।
भानुवारे भौमवारे शुक्रवारे च सन्ततम् ॥७६५॥
असंभाष्यः प्रयत्नेन परसौनपुरोहितः ।
पर्वणोर्योगकालेषु द्विजवेश्यापुरोहितः ॥७६६॥

नावेक्ष्या एव चैते वै यदि दृष्टास्तदा तदा ।
अग्नेर्मन्वेऽनुवाकस्य पठनात्कृतकृत्यता ॥७६७॥
तीर्थप्रतिग्रही दृष्टो यदि श्राद्धदिने तराम् ।
तीर्थजीवी तदावासी तत्पुरोहित एव च ॥७६८॥
यदा दृष्टस्तदा सूर्यं पश्येमेति विलोकयेत् ।

वरणम्

त्रिपूर्षचर्यावृत्तान्तः स्पष्टो यस्य भवेत्तराम् ॥७६९॥
तादृशं प्रयतं दान्तमलोलुपमदाम्भिकम् ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टं श्रोत्रियं वेदिनं शुचिम् ॥७७०॥
नित्याग्निं पूर्ववयसं सुधियं सत्कुलोद्भवम् ।
तस्मात्प्रत्युपकारैकरहितं सुमुखं द्विजम् ॥७७१॥
समीक्ष्य वरयेत्सम्यग्ब्राह्मणं श्राद्धकर्मणि ।
आदौ संकल्प्य प्रयतः सपवित्रकरस्तथा ॥७७२॥
दर्भपाणिः कृतप्राणायामोऽत्वरतरस्तराम् ।
अक्रोधनश्च सुमुखो वाचा संकल्पमाचरेत् ॥७७३॥
देशं कालं च संकीर्त्य तथा च प्रकृते ततः ।
पितॄन् देवान् प्राकृतान्वै समुद्दिश्य च प्राकृतम् ॥७७४॥
करिष्ये कर्म चैवेति संकल्पं प्रथमं चरेत् ।

प्रसादाय दर्भदानम्

विश्वेषामत्र देवानां स्थानमाहवनीयके ॥७७५॥
क्षणं कृत्वा प्रसादोऽद्य करणीय उदीर्यते ।
इत्येवं दक्षिणे हस्ते दद्याद्दर्भान् द्विजस्य वै ॥७७६॥

एतद्धि वरणं प्रोक्तं पितॄणामेवमेव वै ।

मण्डलपूजा

कृत्वा तु वरणं पश्चादों तथेति च चोदिते ॥७७७॥
कृत्वा तु मण्डलं शुद्धं गोमयेन विधानतः ।
मण्डलं पूजयित्वादौ दैवं पैतृकमेव च ॥७७८॥
मण्डलात्पश्चिमे भागे ब्राह्मणे स्वागतीकृते ।
तत्रैव विसृजेत्पाद्यं क्षालयेन्मण्डलोपरि ॥७७९॥

गुल्फयोरधः क्षालनम्

पादप्रक्षालनं श्राद्धे वरं स्याद्गुल्फयोरधः ।
पितॄणां नरकं घोरं रोमसंसक्तवारिणा ॥७८०॥
यद्रि स्याद्रोमसंसक्तं पादप्रक्षालने भवेत् ।
तद्दोषपरिहाराय आजानु क्षालयेत्परम् ॥७८१॥

आचमनप्रकरणम्

आदावन्त्ये च पाद्ये च विष्टरे विकिरे तथा ।
उच्छिष्टपिण्डदाने च षट्सु चाचमनं स्मृतम् ॥७८२॥

कर्तुः पूर्वं भोक्तुराचमने

कर्ताऽनाचम्य यद्भोक्ता कुर्यादाचमनक्रियाम् ।
शुनो मूत्रसमं तोयं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥७८३॥

देवादिभोजनदिक्

उदङ्मुखस्तु देवानां पितॄणां दक्षिणामुखः ।
प्रदद्यात्पार्वणे सर्वं देवपूजाविधानतः ॥७८४॥

वरणत्रयकालः

केचिद्रात्रौ तु पूर्वेद्युस्तद्दिने प्रातरेव च ।
कुतपे तद्दिने भूयस्त्रिवारं श्राद्धमूचिरे ॥७८५॥
सकृदेवेति तज्जामितया श्राद्धं प्रकुर्वते ।
तत्स्थाने वरणं कृत्वा श्राद्धं सर्वं प्रकुर्वते ॥७८६॥
ओं भूर्भुवः सुवरिति स्वाहान्तमन्त्रो वै ततः ।

विष्टरः

अयं वो विष्टरश्चेति प्रदद्याद्विष्टरं तथा ॥७८७॥
स्वधाशब्दं पितृस्थाने सर्वत्रैवं विधीयते ।
अनेनैव तु मन्त्रेण तत्पूजा विहिता परा ॥७८८॥
अयं हि परमो मन्त्रः पितॄणामर्चने महान् ।
प्रयोक्तव्यः श्राद्धदिने मन्त्राः प्राकृतमातृकाः ॥७८९॥
विश्वान् देवान् पितॄन्वापि संबुध्योच्चार्य तत्परम् ।
पूर्वोक्तेनैव मन्त्रेण विष्टरं प्रतिपादयेत् ॥७९०॥
षष्ठ्यन्तेनासनं दद्यात्क्षणश्च क्रियतामिति ।
क्षणं दद्यात्तु दर्भेण हस्तसंस्पर्शनेन वा ॥७९१॥
प्राप्नुवन्तु भवन्तश्च तारपूर्वेण वै वदेत् ।
अर्घ्यं कृत्वा कृतः प्रोक्तः कर्तव्य इति चेत्ततः ॥७९२॥
दर्भानास्तीर्य भूपृष्ठे तत्र पात्रमधोबिलम् ।
निक्षिप्य तदुपर्येवं दर्भैराच्छिद्य वै ततः ॥७९३॥
उद्धृत्य प्रोक्ष्य तत्पात्रे यवान्निक्षिप्य शम्बरम् ।
भूर्भुवःसुवरापूर्वगन्धाक्षतसुमादिकम् ॥७९४॥

तत्र निक्षिप्य तच्चाम्भस्तद्धस्तेऽर्घ्यं प्रदापयेत् ।
आवाहनं च तत्पूर्वं परं वा तत्कृताकृतम् ॥७९५॥
यदि कर्तव्यधीः स्याच्चेत्तदा व्याहृतिभिश्चरेत् ।
या दिव्या इति वा नो चेद्देवा वोऽर्घ्यमिति ब्रुवन् ॥७९६॥
दद्यात्तमर्घ्यं देवेभ्यः पितृभ्यश्च क्रमेण वै ।
आवाहने विश्वेदेवा उशन्तस्त्विति युग्मकम् ॥७९७॥
उभयत्र प्रकथितं केचनात्रापरामृचम् ।
विश्वेदेवास इत्येकां विश्वेदेवेति वै पराम् ॥७९८॥
आगच्छन्त्विति तां चापि देवार्थे प्रजपन्ति वै ।
पितृस्थान उशन्तस्त्वा आयन्तु न इतीव वै ॥७९९॥
प्रजपेयुः केचनात्र तदेतत् कथितं परम् ।
कृताकृतं प्रकथितमनुक्ताबाधकं न तु ॥८००॥
वेदमात्रानुक्तितस्तु गन्धाक्षतयवादिकम् ।
धूपदीपदुकूलादि कृत्स्नं यज्ञोपवीतकम् ॥८०१॥
सर्वं व्याहृतिभिर्दद्यात्तूष्णीं वा तद्यथारुचि ।

अग्नौकरणम्

ततोऽग्नौ करणं कुर्याद्यदि पूर्वं स्वसूत्रतः ॥८०२॥
अनुक्तमन्त्रैः काश्चित्तु कृताः स्युस्ताः क्रियास्ततः ।
तत्पूर्वकृतसंकल्पकर्ममध्याधिकत्वतः ॥८०३॥

पुनःसंकल्पप्रकरणम्

तत्किंचिद्द्विगुणीभूयात् तद्द्वैगुण्यत एव वै ।
पुनः संकल्पयित्वैव तत्पूर्वकक्रियां चरेत् ॥८०४॥

सर्वत्रैवं विजानीयात् तत्तत्संकल्पकर्मसु।
न चेदेकस्य संकल्प एकधैव भवेद्धि वै ॥८०५॥
आसमाप्तेर्विधानेन प्रकृते पैतृके किल।
अनुक्तमन्त्रपठनात् पुनः संकल्पमाचरेत् ॥८०६॥
यद्युक्तमण्त्रमात्रेण यत्कर्म चलति स्थले।
तत्कर्ममध्ये न पुनः संकल्पः प्रभवेद्धि वै ॥८०७॥
तस्मात्संकल्पयित्वाऽथ चाग्नौकरणमारभेत्।

परिवेषणप्रकारपौर्वापर्यम्

संपरिस्तीर्य विधिना दर्भैस्तैर्दक्षिणाग्रकैः ॥८०८॥
अन्नमादाय पक्वात्तु चोपस्तीर्य ततः पुनः।
मेक्षणेनान्नमादाय मन्त्रमेतं श्रुतीरितम् ॥८०९॥
प्रतिकल्पैकपठितं सोमायेति हुनेद्धविः।
तच्छेषेण यमायेति अग्नयेति च तत्परम् ॥८१०॥
उद्देशत्यागमात्रं च प्राचीनावीतिनैव वै।
समुच्चार्य पुनश्चैव परिषिच्याप्रदक्षिणम् ॥८११॥
अमन्त्रकं विधानेन तदन्नं शिष्टमुद्धृतम्।
अर्धं क्षिपेद्विप्रपात्रे दत्वा हस्तोदकं ततः ॥८१२॥
दैवपात्रेऽभिघार्याथ पूर्ववच्च विधानतः।
अन्नं च पायसं भक्ष्यं व्यञ्जनानि फलानि च ॥८१३॥
पयो मधु घृतं चान्ते सूपं तु परिवेषयेत्।

अग्रे सूपदाने

यदि सूपादथ पुनर्वस्तु स्यात्परिवेषितम् ॥८१४॥

तद्राक्षसं भवेच्छ्राद्धं तथा तस्मान्न चाचरेत् ।

रक्षोघ्नमन्त्रम्

अन्नमाज्येनाभिघाय गायत्र्या प्रोक्ष्य तत्परम् ॥८१५॥
दधिनान्नं (दर्भेणान्नं) च प्रच्छाद्य चाहमस्मीति सूक्तकम् ।
प्रपठेदत्र विधिना राक्षोघ्नश्रुतिमध्यगम् ॥८१६॥

येन केनाप्युच्चारणमसमर्थस्य

स्वयं यद्यसमर्थश्चेन्मन्त्रोच्चारणकर्मणि ।
येन केन च विप्रेण वाचनीयं प्रयत्नतः ॥८१७॥
नैते मन्त्रा याजमाना अत्रोक्ताः किल कर्मणि ।
राक्षसानां विनाशाय वेदघोषः प्रशस्यते ॥८१८॥
स घोषो ब्राह्मणैः कर्तुं शक्यते प्रकृते किल ।

उष्णं दातव्यम्

अन्नं वस्तूनि यानीह पात्रेण सह केवलम् ॥८१९॥
चुल्लिस्थानि भवेयुर्हि तेभ्यः पात्रेभ्य एव वै ।
दर्विभ्यश्च समुद्धृत्य स्वल्पं स्वल्पं यथोष्मकम् ॥८२०॥
यदा भवेत्तदा तत्र विप्रेभ्यः परिवेषयेत् ।
ऊष्मभागा हि पितरश्चोष्मशून्यं न पैतृकम् ॥८२१॥
भवेदेव न सन्देहः पश्चादन्नं यथा पुरा ।
विप्रहस्ते जलं दत्वा गायत्र्या प्रोक्ष्य वै ततः ॥८२२॥
यदैवाहवनीयं वै दक्षिणाग्निं विधानतः ।
नित्यं वै गार्हपत्यं च परिषिञ्चति मन्त्रतः ॥८२३॥

सत्यं त्वर्तेन विधिना ब्राह्मणं परिषिच्य वै ।
पृथिवी तेति तत्सर्वमभिमृश्य ततः पुनः ॥८२४॥
समुपस्पर्शयित्वाथ पित्रादिभ्यो निवेदयेत् ।
प्रधानमेतद्धोमश्च समुपस्पर्शनं पुनः ॥८२५॥

मन्त्राः वाच्याः

एतन्मन्त्रत्रयं वाचा यजमानः समुच्चरेत् ।
एतन्मन्त्रत्रयं श्राद्धे प्रधानकमिहोच्यते ॥८२६॥
तथा पिण्डप्रदानस्य मन्त्राः केचन चोदिताः ।
एतदुच्चारणाशक्तौ व्यर्थं श्राद्धं भवेत्किल ॥८२७॥
तस्माद्यत्नेन महता होमाग्नेय इति त्रयम् ।
द्वयं वाथ पुनश्चैकं पृथिवी तेति किंचन ॥८२८॥
अन्नाभिमर्शने प्रोक्तममृतोपस्तराणकम् ।
पञ्च प्राणाहुतौ मन्त्राः प्राणायेत्यादिकाः पराः ॥८२९॥
यथावदेव वाचा ते प्रवाच्या श्राद्धकर्मणि ।
न चेच्छ्राद्धं भवेन्नैतदेतैर्मन्त्रैर्भवेद्धि तत् ॥८३०॥
पश्चात्पिण्डप्रदानेऽपि मन्त्रा वाच्याश्च भक्तितः ।

मन्त्रवैकल्यनाशाय वेदघोषः

भोजने समुपक्रान्ते वेदघोषं प्रयत्नतः ॥८३१॥
कारयेद्विप्रमुखतः ऋग्यजुःसामभिस्तराम् ।
तेन वैकल्यदोषा ये रक्षोभिः परिकल्पिताः ॥८३२॥
सद्यो नष्टा भवेयुर्हि तस्मादेव तथाचरेत् ।
यथान्यघोषो विप्राणां शृणुयान्नात्र केवलम् ॥८३३॥

तथा घोषः प्रकर्तव्यः स्वयं परमुखात्तथा।
यत्नात्कारयितव्यश्च न चेद्दोषो महान् भवेत् ॥८३४॥
वेदोच्चारणसामर्थ्यविकलो यदि तत्करः।
नमो वः पितरो मन्त्रमात्रं भक्त्या जपेत्तु वै ॥८३५॥
इदं विष्णुर्व्याहृतीर्वा गायत्रीं वा विधानतः।
विष्णोरराटमन्त्रं वा गायत्रीं वैष्णवीमपि ॥८३६॥
न चेत्तु पौरुषं सूक्तमथवा तं त्रियम्बकम्।
आ वो राजानमन्त्रं वा मधुत्रयमथापि वा ॥८३७॥
नमो ब्रह्मण्यमन्त्रं वा दश शान्तिषु कामपि।
स्वाधीनां तामृचं नो चेद्गायत्रीं सर्वशून्यदाम् ॥८३८॥
प्रतद्विष्णुमन्त्रमिरावती धेनुमतीति च।
यजमानः स्वयं प्रीत्यै पितृभ्यो प्रवदेत्तराम् ॥८३९॥
भोजनान्ते च संपन्नं प्रददेत्पुरतः स्थितः।
तृप्ताः स्थेति द्विवारं तदुक्त्वा दद्यात्तदन्नकम् ॥८४०॥
तत्रैव विकिरेत्पात्रसमीपे तत्पुरः स्थितः।
उच्छिष्टपिण्डं च दद्यादुत्तरापोशनं ततः ॥८४१॥
सर्वाण्येतानि शिष्टानामाचारेण न चोक्तितः।
सूत्रकारस्य वेदस्य कृतेऽभ्युदयमुच्यते ॥८४२॥
अकृते प्रत्यवायो न पुनरन्यानि केवलम्।
तत्तत्क्रियाविशेषेषु तूष्णीकं वेदमन्त्रकैः ॥८४३॥
अत्रानुक्तैर्महाकालविलम्बो बाधकाय वै।
भवेदेव न सन्देहः श्राद्धमन्त्रो य ईरितः ॥८४४॥

तन्मात्रस्य समीचीनप्रोक्त्यै तत्कर्म साधु वै।
भवेत्किलान्यथा तद्धि किं भवेदिति साधुभिः ॥८४५॥
सम्यगालोचनीयोऽतो श्राद्धमन्त्रोक्तिमात्रतः।
यावान् कालविलम्बः स्यात्तावानेवात्र केवलम् ॥८४६॥
प्रामाणिको हि तद्भिन्नोऽविहितश्च विधानतः।
कर्मणो बाधकायैव साधकाय भवेन्न तु ॥८४७॥
तस्माद्विद्वान् सूत्रवेदविहितं यावदेव वै।
तावदेव प्रकुर्वीत सर्वसौख्याय केवलम् ॥८४८॥
आत्मनो ब्राह्मणानां च भोक्तॄणां शास्त्रवर्त्मनः।

शास्त्रविरोधि त्याज्यमेव

यथावदेव कुर्वीताधिकं शास्त्रविरोधि यत् ॥८४९॥
सर्वं सम्यक्परित्याज्यं विहितं यत्तदाचरेत्।
विप्राणां भोजनात्पश्चात्तच्छास्त्राधिककृत्यतः ॥८५०॥
समागतात्पुनः प्रोक्तः संकल्पो नान्यथाचरेत्।
अपां मध्येन चाच्छिन्द्य दर्भान् मूलैः सकृद्धतैः ॥८५१॥
शुन्धन्तां पितरः प्रोक्ष्य आयन्त्वित्यभिमन्त्र्य च।
सकृदाच्छिन्नमन्त्रेण संस्तीर्यैव ततः पुनः ॥८५२॥
मार्जयन्तेति मन्त्रेण ततो दद्यात्तिलोदकम्।
सकृदाच्छिन्नदर्भेषु त्रिषु स्थानेषु तत्परम् ॥८५३॥
एतत्तेति च मन्त्रेण दद्यात्पिण्डत्रयं पुनः।
यन्मे मातेति मन्त्रं तत् पितृभ्य इति वै पुनः ॥८५४॥

अत्र पितरोऽमुत्र च अमी मदमतः परम् ।
ये समानास्ततो भूयो येन जातास्ततः परम् ॥८५५॥
वीरं धत्तेति तत्प्राश्याघ्राय वा तत्परं पुनः ।
मार्जयन्तेति मन्त्रेण पूर्ववच्च तिलोदकम् ॥८५६॥
दत्वाञ्जनाभ्यञ्जने च वासश्छित्वा विधानतः ।
नमो व इति मन्त्रेण नमस्कारान् समाचरेत् ॥८५७॥
गृहान्न इति मन्त्रं च ऊर्जं वहन्तीमनु ततः ।
उत्तिष्ठत पितरो मनो न्वाहुवेति मन्त्रकम् ॥६५८॥
पुनर्न इति भूयश्च यदन्तरिक्षमिति वै ।
मन्त्रान् जप्त्वा क्रमेणैवं पिण्डांस्तान्पूजयेत्ततः ॥८५९॥
पितृपिण्डार्चनं यैस्तु क्रियते दर्भपत्रकैः ।
तण्डुलैरक्षतैः पुष्पैस्तिलैरपि यवैस्तथा ॥८६०॥
प्रीणिताः पितरस्तेन यावच्चन्द्रार्कमेदिनी ।

पुत्रकलत्रादिभिः पितृप्रदक्षिणनमस्कारः

वासोभिः पूजयेत्पिण्डान् यथाशक्त्या विचक्षणः ॥८६१॥
दक्षिणाभिश्च ताम्बूलैर्धूपदीपादिभिस्तथा ।
प्रदक्षिणनमस्कारैः पुत्रपौत्रादिभिः सह ॥८६२॥
कलत्रैः परिवारैश्च न चेत्तस्य कुलं तराम् ।
न वर्धते क्षीयते च काले काले शनैः शनैः ॥८६३॥
त एव पिण्डाः पितरस्तद्रूपेण स्थिताः परम् ।
भवेयुः पूजनार्थाय नात्र कार्या विचारणा ॥ ॥८६४॥

अप्रत्यक्षा हि पितरो वायुरूपं समाश्रिताः ।
आकाशरूपमापन्नाः कालभेदेषु सन्ततम् ॥८६५॥
नित्यमाकाशरूपास्ते श्राद्धकालेषु भक्तितः ।
समाहूतास्तदा सद्यो वायुरूपं समाश्रिताः ॥८६६॥
समायान्ति मनोवेगात्पिण्डकाले तु ते पुनः ।
तत्प्रविश्यैव पुत्राणां हिताय क्षणमञ्जसा ॥८६७॥
तिष्ठन्ति किल तत्पूजास्वीकाराय ततो यतन् ।
तत्पूजां विधिना कुर्यात्ततश्चेत्पुत्रकामुकः ॥८६८॥

मध्यमपिण्डं परिमृज्य

प्रयच्छेन्मध्यमं पिण्डं धर्मपत्न्यै समन्त्रकम् ।
आधत्त पितरश्चेति ततः सा नियता शुचिः ॥८६९॥
प्रगृह्याञ्जलिना भक्त्या प्राङ्मुखी मौनमाश्रिता ।
तं प्राश्य विधिनाचम्य तत्पश्चात्तु त्रिरात्रकम् ॥८७०॥
कुर्वन्ती भोजनं भर्तुर्भुक्तेः पश्चात्सकृच्छुचिः ।
मुदिता हर्षितातीव दुःखिता मलिना तथा ॥८७१॥
भावयन्ती महारुद्रं तं कालं निनयेदपि ।
तावन्मात्रेण च ततः सा पुत्रं पुष्करस्रजम् ॥८७२॥
लभते नात्र सन्देहो यदि सा स्याद्रजस्वला ।

श्राद्धदिने शूद्रभोजने

न शूद्रं भोजयेच्छ्राद्धे गृहे यत्नेन तद्दिने ॥८७३॥

श्राद्धशेषं न शूद्रेभ्यो न दद्यात्तु खलेष्वपि ।

पितृभोजनपात्रस्य खननम्

पितुरुच्छिष्टपात्राणि श्राद्धे गोप्यानि कारयेत् ॥८७४॥
खनित्वैव विनिक्षिप्य यथा श्राद्धे न गोचरम् ।

सोदकुम्भम्

कृतेऽकृते वा सापिण्ड्ये मातापित्रोः परस्य वा ॥८७५॥
तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं दद्यात्संवत्सरं द्विजः ।
अदैवं पार्वणश्राद्धं सोदकुम्भमधर्मकम् ॥८७६॥
कुर्यादाब्दिकपर्यन्तं संकल्पविधिनान्वहम् ।
कुर्यादहरहः श्राद्धममावास्यां विना सदा ॥८७७॥
यत्सोदकलशश्राद्धं न कुर्यादनुमासिके ।

प्रथमाब्दे न तिलतर्पणम्

प्रथमाब्दे न कर्तव्यं तिलतर्पणमित्यपि ॥८७८॥

सपिण्डीकरणात्परं श्राद्धाङ्गतर्पणम्

यदेतत्तत्तु कथितं वत्सराब्दे सपिण्डने ।
एकादशे द्वादशे वा सपिण्डीकरणं यदि ॥८७९॥
कृतं चेत्तत्पुरं सम्यक् सद्यः श्राद्धाङ्गतर्पणम् ।
कुर्वीतैव तथा दर्शं प्रतिमासं पृथक् पृथक् ॥८८०॥
अकृते तर्पणे भूयः पितरस्तस्य केवलम् ।
भवेयुर्दुःखिता घोरं पुनः प्रेतत्वशङ्कया ॥८८१॥

तेषां शङ्कानिरासाय मासिकेष्वङ्गतर्पणम् ।
श्राद्धान्ते विधिना कार्यं सद्य एव न संशयः ॥८८२॥
प्रतिमासं तदा दर्शे यच्छ्राद्धं तर्पणादिकम् ।
असंशयं प्रकुर्वीत न चेद्दोषो महान् भवेत् ॥८८३॥
श्राद्धभुक्तेः परं तेषां द्विजानां करशुद्धये ।
तिलैर्हस्तोदकं कार्यं षड्वारं दर्भपुञ्जतः ॥८८४॥
न चेत्तत्करशुद्धिश्च न भवेदेव केवलम् ।
मद्गोत्रं वर्धतां देव पितॄणां च प्रसादतः ॥८८५॥
इति ब्राह्मणपादेषु सपर्यां तां तदाचरेत् ।
विश्वेदेवप्रसादं च पितॄणां च प्रसादकम् ॥८८६॥
स्वीकृत्य शिरसा गृह्य देवाश्च पितरस्ततः ।
स्वस्ति ब्रूतेति वाचोक्त्वा ह्यक्षयोदकमित्यपि ॥८८७॥
अस्त्वित्यपि च तद्धस्ते शम्वरं सतिलाक्षतम् ।
यथाक्रमेण दद्याच्च वाचयिष्ये स्वधां तथा ॥८८८॥
स्वाहामपि च संप्रार्थ्य वाच्यतामिति तैस्ततः ।
संप्रोक्तस्तु ऋचे त्वेति धारां तां प्रवदेत्पराम् ॥८८९॥
पितृभ्यश्च प्रथमतः पितामहेभ्य एव च ।
प्रपितामहेभ्यश्च तद्वत् स्वधास्ता वाच्यतामिति ॥८९०॥
ब्रुवन्तु च भवन्तो वै ओं स्वधामिति वै वदेत् ।
संपद्यन्तां स्वधाश्चेति देवाश्चापि तथा पुनः ॥८९१॥
प्रीयन्तां पितरः पश्चात्पितामहास्ततः किल ।
प्रपितामहाश्च पितरस्तद्धस्ते सलिलं क्षिपेत् ॥८९२॥

पितॄणां रजतं, देवानां स्वर्णम्

ततः श्राद्धैकसाद्गुण्यहेतवे दक्षिणां मुदा ।
यथाशक्त्या प्रदद्याच्च पितॄणां रजतं परम् ॥८६३॥

हिरण्यं चापि देवानां वाजेवाजेति वै वदेत् ।
उत्तिष्ठतेति पितरः अनुगच्छन्तु देवताः ॥८६४॥

इत्युद्वास्य तु तान् पश्चादन्नशेषोऽखिलः पुनः ।
क्रियतां किमिति प्रोक्ते चेष्टैः स उपभुज्यताम् ॥८६५॥

इत्युक्तस्तु ततो भूयः स्वादुषँ सद इत्यतः ।
उपस्थानं पितॄणां तु कुर्यात्प्राञ्जलिना द्विजः ॥८६६॥

तेषां तामाशिषं गृह्य प्रणिपत्य विधानतः ।
अनुव्रज्य विधानेन स्वगृहस्यान्तिमे त्यजेत् ॥८६७॥

न चेत्सर्वत्र ताः प्रोक्ताः परा व्याहृतयः शिवाः ।
न चेत्तु वामदेवाय मन्त्रं परममुत्तमम् ॥८६८॥

प्रवदेत्तेन मनुना यद्यद्वैगुण्यमागतम् ।
कर्ममध्ये पैतृकेऽस्मिन् ज्ञानाज्ञानत एव वै ॥८६९॥

कर्तृभोक्तृमहादोषद्रव्यकालादिसंभवाः ।
लोभमोहाज्ञानचित्तकायकृत्यविशेषजाः ॥९००॥

महापराधाः सुक्रूराः परीहारैकवर्जिताः ।
ते सर्वे स्मरणात्तस्य महामन्त्रस्य वैभवात् ॥९०१॥

सद्यो विलयमायान्ति कर्मसाद्गुण्यमप्यति ।
प्रभवेत्सद्य एवैवं तस्मात्तु मनुमुत्तमम् ॥९०२॥

नमोद्वादशसंयुक्तं पठनीयं सकृत्किल ।
तावन्मात्रेण तत्कर्म परमं तृप्तिकारकम् ॥६०३॥
अच्छिद्रं सद्गुणं साङ्गं विकलैकविवर्जितम् ।
प्रत्यवायैकरहितं गयाश्राद्धशताधिकम् ॥६०४॥
भवत्येव न सन्देहस्तस्मात्तन्मन्त्रमुच्चरेत् ।

उच्छिष्टादि श्राद्धे सप्त पवित्राणि

उच्छिष्टं शिवनिर्माल्यं वमनं प्रेतपर्पटम् ॥६०५॥
श्राद्धे सप्त पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
पयसो वत्सपीतत्वादुच्छिष्टमिति नाम तत् ॥६०६॥
भगीरथप्रार्थनया तद्गङ्गात्यवलेपहा ।
तिरोधानं जटारण्ये कृत्वा तामधरद्यतः ॥६०७॥
तन्निर्माल्यं ततो गङ्गा सा प्रीत्यै परमा स्मृता ।
सा नित्यशुद्धा तद्योगाद्गङ्गा पतितपावनी ॥६०८॥
निर्दोषा सैव कथिता तद्भिन्ना सप्त याश्च ताः ।
अशुद्धाश्च कदाचित्स्युः शिवाङ्गपतिता तु सा ॥६०९॥
अत्यन्तैकपवित्रा हि नान्या वै तत्समा सरित् ।
तदीयोदकसंबन्धाद्यतिपित्र्यं कर्म तत्तु वै ॥६१०॥
अपवित्रसहस्रेभ्यो मुक्तं सद्यो भविष्यति ।
पितरो नित्यतृप्तास्ते नष्टक्षुत्काः पितामहाः ॥६११॥
पारमेश्वरसायुज्यं लभन्ते प्रपितामहाः ।
अप्यन्ये कुलजा एव स्युस्ते कुलसहस्रकम् ॥६१२॥

तत्रापि वैष्णवं धाम तत्क्षणात्प्रापितं भवेत् ।
त्रिरात्रफलदा नद्यः पुण्ये तदयनद्वये ॥६१३॥
अर्धोदये महोदये चक्रिके ग्रहणे तथा ।
पद्मकापिलषष्ठ्यां वा पुनरन्येषु ताः पुनः ॥६१४॥
विधिप्रयत्नरचिताऽवगाहनजपादिकैः ।
फलप्रदा हि सरितो न तथा जाह्नवी शिवा ॥६१५॥
दर्शनस्पर्शनध्यानैर्जन्तूनां जन्ममोचनी ।
तदुत्तरक्षणाद्गङ्गा तद्धार्गतनुसंभवा ॥६१६॥
सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यो रजस्वलाः ।
दिनत्रयमसंस्पृश्यास्तत्रादौ याः सरिद्वराः ॥६१७॥

महानद्यः

गोदावरी भीमरथी तुङ्गभद्रा च वेणिका ।
तापी पयोष्णी दिव्या स्युर्दक्षिणे तु सरिद्वराः ॥६१८॥
पावनी नर्मदा चैव यमुना च महानदी ।
सरस्वती विशोका च वितस्ता च तथा पुनः ॥६१९॥
दक्षिणायनकाले तु संप्राप्ते चावगाहनात् ।
परं त्रिदिनपर्यन्तं भवेयुस्ता रजस्वलाः ॥६२०॥
न तु सा शम्भुसंबन्धान्नित्यशुद्धा प्रकीर्तिता ।
जाह्नवी सरितां मुख्या सर्वलोकैकपावनी ॥६२१॥
ह्लादनी पावनी कामा कामनीया कलावती ।
करका कलुषघ्नी या नागाश्चैतास्तुरीयकात् ॥६२२॥

दिवसात् प्रभृति प्रोक्तास्तिस्रो रात्री रजस्वलाः।
सप्तमीप्रभृति ह्येवं सरितः काश्चनापराः ॥६२३॥
नलिनी निर्मला नारा गुर्वी गर्भा गरा धरा।
क्षरिका काशिका श्यामा दश प्रोक्ता रजस्वलाः ॥६२४॥
दारिद्र्यनाशिनी देया बाहुदा बहुला बला।
शर्मिष्ठा शयना स्वापा नव नद्यो रजस्वलाः ॥६२५॥
दशमीप्रभृति प्रोक्तास्तिस्रो रात्रीर्मनीषिभिः।
तप्ता तापा तापसा च विश्वामित्रा बृहद्वरा ॥६२६॥
धेना सेना सना सोमा नव नद्यो रजस्वलाः।
त्रयोदशीप्रभृत्येता कथितास्ता रजस्वलाः ॥६२७॥
कलिका वरुणा वामा सोमदा महिला कला।
त्वरिता लुलिता तारा षोडशप्रभृति स्मृताः ॥६२८॥
तिस्रो रात्रीरापगास्ता महाशुद्धा रजस्वलाः।
गारुत्मता गतिमती गतिदा गणवारिता ॥६२९॥
गुणाढ्या गुणदा शेषा सप्त नद्यः प्रकीर्तिताः।
एकोनविंशतिदिनप्रभृत्येता रजस्वलाः ॥६३०॥
शातद्रुश्च शतद्रुश्च वरणी वारुणी रसा।
हिरण्यदा हैमवती गजवासी मनस्विनी ॥६३१॥
रजस्वला नवैताः स्युर्द्वाविंशतिदिनादितः।
करतोया कालतोया वर्षतोया सरद्रसा ॥६३२॥
अन्तर्जला खेयतोया बृहत्तोया स्रवज्जला।
पञ्चविंशत्यादितो वै विज्ञेयास्ता रजस्वलाः ॥६३३॥

अष्टाविंशत्प्रभृति वै याः काश्चन जनैः किल ।
नदीति नित्यं कथ्यन्ते खन्यन्ते च तदा तदा ॥६३४॥
नदीगाः सिन्धुगा वापि पर्वतादिसमुद्भवाः ।
यत्र कुत्रापि वा जाताः क्षुद्रा दीर्घा जलैर्युताः ॥६३५॥
वर्षाजलाश्च खननजला लवणशम्बराः ।
सर्वास्ताः कथिताः सद्भिर्मासान्ते स्यू रजस्वलाः ॥६३६॥
विशेषेणाधुना प्रोक्ताः सर्वासां सरितामपि ।
प्रसंगात्तत्स्वरूपस्य माहात्म्यं च तथाविधम् ॥६३७॥
उक्तप्रायं विजानीयाद्या वा नित्यजलाः पुनः ।
उत्तमा इति ताः प्रोक्ता नदीनां सिन्धुसंगतः ॥६३८॥
आधिक्यं तत्प्रकथितं पुण्यक्षेत्रादिना तथा ।
क्षेत्रं चापि तथा ज्ञेयं नदीयुग्मैकमेलनात् ॥६३९॥
खननोत्पन्नसलिला तन्न्यूना कथिता तथा ।
खननाच्चाधिकजला तच्छ्रेष्ठा वै स्मृताखिलैः ॥६४०॥
पञ्चयोजनपर्यन्तप्रवहत्सलिलोत्तमा ।
उत्पत्तिप्रभृतिस्थैर्यवहत्सलिलसंयुता ॥६४१॥
परमा चोत्तमा चेति सा गङ्गेति च कण्यते ।
नदीनां प्रवरा गङ्गा तज्जलं श्राद्धकर्मणि ॥६४२॥
पावनं परमं प्रोक्तं वमनं मधु चोच्यते ।
तत्प्रेतपर्पटं साक्षात्पितॄणां दुःखवारकम् ॥६४३॥
खड्गपात्रं हि कुतपो दौहित्रो वा पुनः स्मृतः ।
शिवनिर्माल्यतः श्राद्धवैगुण्यं तत्प्रशाम्यति ॥६४४॥

पुनःकरणसंप्राप्तौ शिवनिर्माल्ययोगतः ।
प्रनष्टः प्रभवेद्दोषस्ते चात्रापि वदाम्युत ॥६४५॥

पुनःश्राद्धप्रकरणम्

विप्रवान्तावग्निनाशे पिण्डे च विदलीकृते ।
पिण्डगोलकसंयोगे दीपनाशे तथैव च ॥६४६॥
रजस्वलानाथभुक्तौ बुद्धिपूर्वं तथैव च ।
अशौचभुक्तावाशौचिसंस्पर्शे होमविस्मृतौ ॥६४७॥
अतिथौ तद्दिनभ्रान्त्या संकल्पकरणेऽपि वा ।
एकस्मिन्नेव दिवसे पित्रोर्व्यत्यासतः कृतः ॥६४८॥
तद्दिने चोपवासः स्यात्पुनः श्राद्धं परेऽहनि ।
आद्यश्राद्धे तु भुञ्जानविप्रस्य वमनं यदि ॥६४९॥
यत्ते कृष्णेति मन्त्रेण होमं कुर्याद्यथाविधि ।
षोडशश्राद्धभुञ्जानब्राह्मणस्तु वमेद्यदि ॥६५०॥
प्रेताहुतिस्तु कर्तव्या लौकिकाग्नौ यथाविधि ।

अनुमासिकाद्युच्छिष्टवमने

अनुमासिकेऽत्र कर्तव्य उच्छिष्टे वमनं यदि ॥६५१॥
कवले तु सुभुञ्जाने तृप्तिं चैव विनिर्दिशेत् ।
अमावास्यामासिके च ब्राह्मणो मुखनिःसृतम् ॥६५२॥
तथा महालयश्राद्धे पित्रादेर्वमनं यदि ।
पितामहादिवत्कृत्वा श्राद्धशेषं समापयेत् ॥६५३॥

उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पर्शे

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो भुञ्जानः श्राद्धकर्मणि।
शेषमन्नं तु नाश्नीयात्कर्तुः श्राद्धस्य का गतिः ॥६५४॥
तत्स्थाननामगोत्रेण ह्यासनादि तथार्चयेत्।
अन्नत्यागं ततः कृत्वा पावके जुहुयाच्चरुम् ॥६५५॥
पुरुषसूक्तेन जुहुयाद्यावद्द्वात्रिंशदाहुतिः।
होमशेपं समाप्याथ श्राद्धशेषं समापयेत् ॥६५६॥
अकृत्वा तु समीपे तु ब्राह्मणे वमनं यदि।
पुनः पाकं प्रकुर्वीत पिण्डदानं यथाविधि ॥६५७॥
उच्छिष्टस्पर्शनं ज्ञात्वा तत्पात्रं च विहाय च।
तत्पात्रं परिहृत्याथ भूमिं समनुलिप्य च ॥६५८॥
तस्य शीघ्रं विधायैव सर्वमन्नं प्रवेष्टयेत्।
परिषिच्य ततः पश्चाद्भोजयेच्च न दोषकृत् ॥६५९॥

अन्योन्यस्पर्शे

श्राद्धपङ्क्तौ तु भुञ्जानावन्योन्यं स्पृशतो यदि।
द्वौ विप्रौ विसृजेदन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥६६०॥
उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पर्शे शुना शूद्रेण वा तथा।
उपोष्य रजनीमेकां पञ्चगव्येन शुध्यति ॥६६१॥
इन्द्राय सोमसूक्तेन श्राद्धविघ्नो यदा भवेत्।
अग्न्यादिभिर्भोजनेन श्राद्धं संपूर्णमेव हि ॥६६२॥
इन्द्राय सोमसूक्तेन भोजनेनेति च त्रयम्।
विधानं कथितं सम्यग्व्यवस्था ह्यत्र चोच्यते ॥६६३॥

पिण्डदानात्परं यस्य कस्यचिद्ब्राह्मणस्य वै।
वमनाच्छ्राद्धविघ्ने तु तदा सूक्तजपाद्धि सा ॥६६४॥
श्राद्धसंपूर्णता ज्ञेया तत्पूर्वं चेत्तु दैवके।

पितामहविष्णुवमने

पितामहे तत्परस्मिन् विष्ण्वा वा वमने यदि ॥६६५॥
होमेनैव तदा ज्ञेया द्वयोर्यदि तदा पुनः।
तत्सूक्तजपहोमाभ्यां श्राद्धसंपूर्णता स्मृता ॥६६६॥

दर्शादौ छर्दने

पितृस्थानस्य विप्रस्य वमने यदि दर्शके।
पुनः पाकेन तच्छ्राद्धभोजनं विहितं तदा ॥६६७॥
आब्दिके वानुमासे वा तद्दिनोपोषणं भवेत्।
परेऽहनि पुनःश्राद्धं भोजनेनैव नान्यथा ॥६६८॥
एक एव यदा विप्रो भोजने छर्दितो यदि।
आब्दिके तु परेऽह्न्येव दर्शे वा यदि मासिके ॥६६९॥
तथैवाग्निं समाधाय होमं कुर्याद्यथाविधि।
तत्स्थाननामगोत्रेण चासनादि समर्चयेत् ॥६७०॥
अन्नत्यागं प्रकुर्वीत ततोऽग्नौ जुहुयाच्चरुम्।
प्राणादिपञ्चभिर्मन्त्रैर्यावद्द्वात्रिंशदाहुतिः ॥६७१॥
होमशेषं समाप्याथ श्राद्धशेषं समापयेत्।
पुनः पाकेन सद्यो वै श्राद्धस्य करणं स्मृतम् ॥६७२॥
दर्शादिष्वेव कथितं न प्रत्यब्दे कथंचन।
प्रत्यब्दस्य परेऽह्न्येव स्थानं विप्रस्य तत्स्मृतम् ॥६७३॥

उपवासार्थः

उपावृत्तिस्तु पाकेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ॥६७४॥
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः ।

अपुत्रासापिण्ड्यम्

पत्न्याः कुर्यादपुत्रायाः पत्युर्मात्रादिभिः सह ॥६७५॥
सापिण्ड्यमनुयाने तु जनकेन सहात्मजः ।

अनुगमने

मृतं यानुगता नाथं सा तेन सह पिण्डनम् ॥६७६॥
अर्हति स्वर्गवासेऽपि यावदाभूतसंप्लवम् ।
स्त्रीपिण्डं भर्तृपिण्डेन संयुज्य विधिवत्पुनः ॥६७७॥
त्रेधा विभज्य तत्पिण्डं क्षिपेन्मात्रादिषु त्रिषु ।
भर्तुः पित्रादिभिः कुर्याद्भर्त्रा पत्न्यास्तथैव च ॥६७८॥
सपत्न्या वाऽसपत्न्या वा न भेद इति गोभिलः ।

एकादशेऽहनि षोडशम्

केचिदत्र पृथक्प्रोचुस्तं पक्षं प्रवदाम्यहम् ॥६७९॥
एकचित्यां समारूढौ दम्पती निधनं गतौ ।
एकोद्दिष्टं षोडशं च पृथगेकादशेऽहनि ॥६८०॥
द्वादशेऽहनि संप्राप्ते पिण्डमेकं द्वयोः क्षिपेत् ।
पितामहादिपिण्डेषु तं पितुर्विनियोजयेत् ॥६८१॥
केचित्तमेव पिण्डं तु द्वेधा कृत्वा ततः परम् ।
उदग्भागगतं पिण्डं पितृवर्गे नियोजयेत् ॥६८२॥

यं दक्षिणस्थितं पिण्डं मातृवर्गे नियोजयेत् ।

तद्दिने परेद्युर्वा सहगमने श्राद्धम्

अत्र केचित्पुनः प्रोचुः प्रकारान्तरतः किल ॥६८३॥
तद्दिने वा परेद्युर्वा भर्तारमनुगच्छति ।
भर्त्रा सहैव शुद्धिः स्यात् श्राद्धं चैकदिने भवेत् ॥६८४॥
पैतृकं मरणं यत्र तदेवाहुः प्रधानकम् ।
केचित्तु मातृकं प्राहुरेवं पक्षद्वयं स्मृतम् ॥६८५॥
प्रचेता अत्र चोवाच स्वमतं तत्प्रवच्म्यहम् ।
भर्त्रा सह प्रमीतायाः मृतेऽहन्यपरेऽह्नि वा ॥६८६॥
आशौचं मरणोद्दिश्यं दहनादि तयोर्न तु ।
पुनः पक्षान्तरं प्रोक्तं कैश्चित्तत्र महर्षिभिः ॥६८७॥
पतिव्रता त्वन्यदिनेऽनुगच्छेद्या स्त्री पतिचित्त्यधिरोहणेन ।
दशाहतो भर्तुरघस्य शुद्धिः श्राद्धद्वयं स्यात्पृथगेककाले ॥६८८

तयोराशौचे मरणादि

भर्तारमनुगच्छन्ती पत्नी चेदार्तवा यदि ।
तैलद्रोण्यां विनिक्षिप्य लवणे वा स्वकं पतिम् ॥६८९॥
परं त्रिरात्रादहनं कुर्युस्ते बान्धवास्तया ।
श्राद्धं चैकदिने कुर्युर्द्वयोरपि हि निर्णयः ॥६९०॥
एकोद्दिष्टं षोडशं च भर्तुरेकादशेऽहनि ।
द्वादशेऽहनि संप्राप्ते पिण्डमेकं द्वयोः क्षिपेत् ॥६९१॥
पितामहादिपिण्डेषु तं पितुर्विनियोजयेत् ।
ब्रह्मवादिमतं भूयस्त्वन्यद्वक्ष्यामि शोभनम् ॥६९२॥

दह्यमानं तु भर्तारं दृष्ट्वा नारी पतिव्रता।
अनुगच्छेत्तयोः श्राद्धं पृथगेकादशेऽहनि ॥९९३॥

शिलाप्रतिष्ठापनादिकृत्यं सर्वं पृथक् पृथक्।
एकत्रैव प्रकुर्वीत पितुर्मातुः समन्त्रकम् ॥९९४॥
षोडशान्तं पृथक्कृत्वा सापिण्ड्यं द्वादशेऽहनि।
प्रेतत्वात्तु विमुक्तेन सह मातुः सपिण्डकम् ॥९९५॥

तत्पिण्डसंयोजनम्

स्त्रीपिण्डं भर्तृपिण्डेन संयुज्य विधिवत्पुनः।
त्रेधा विभज्य तं पिण्डं क्षिपेन्मात्रादिषु त्रिषु ॥९९६॥

मातुः सापिण्ड्याभावस्थलम्

अत्र विष्णुर्मतं स्वस्य सुलभायावदत्किल।
कृते पितुः सपिण्डत्वे मातुस्तु न सपिण्डनम् ॥९९७॥
पितुरेव सपिण्डत्वे तस्या अपि कृतं भवेत्।
स्त्रीणां पृथङ् न कर्तव्या सपिण्डीकरणक्रिया ॥९९८॥

दत्तेन पालकपितुः सापिण्ड्यम्

अन्यगोत्रप्रदत्तश्चेत्तनयः स्वपितुस्ततः।
पालकस्य प्रकुर्वीत तत्पित्रादिसपिण्डनम् ॥९९९॥

दत्तपुत्रकृत्यम्

विवादो नात्र कोऽप्यस्ति तादृग्दत्तसुतः पितुः।
स्वयं तद्भिन्नगोत्रोऽपि तद्गोत्रे योजयेच्च तम् ॥१०००॥

पितामहादिभिः सम्यक् यत्प्राचीनैकगोत्रकैः ।
दत्तपौत्रस्य पितरं प्रपितामहमुख्यकैः ॥१००१॥
त्यक्त्वा पितामहं त्वन्यगोत्रं सम्यक् ततः परम् ।
योजयेन्नात्र सन्देहस्तज्जं तत्प्रपितामहम् ॥१००२॥
त्यक्त्वा सम्यग्विचार्यैव स्वगोत्रैरेव योजनम् ।
कुर्यात्तद्विधिना नो चेत् पितृणां संकरो भवेत् ॥१००३॥
तेन दोषश्च सुमहान् प्रभवेदेव दुर्घटः ।
दत्तपुत्रोद्भवो यत्नात्सपिण्डीकरणे पितुः ॥१००४॥
त्यजेत्पितामहं यत्नात्तत्पुत्रः प्रपितामहम् ।
तत्पुत्रश्चेत्ततो वृद्धप्रपितामहमेव वै ॥१००५॥
एवं मातुः सपिण्डे तु दत्तपुत्रोद्भवश्चरेत् ।

अन्यगोत्रदत्तः

यद्यन्यगोत्रजो दत्तः सन्ततौ तत्परंपराम् ॥१००६॥
चतुष्कुलैकपर्यन्तं जातानां सङ्कटं महत् ।
तस्मिन् सपिण्डीकरणे तदानीं समुपस्थिते ॥१००७॥
भवत्येव हि तत्पश्चात् पञ्चमादि यथाक्रमम् ।
स्वयमेव भवेत्तावत्तद्वर्गे जन्मिनां महत् ॥१००८॥
अवेक्षणं जागरूकता च नित्ये स्मृते तराम् ।
तस्मात्सगोत्रे तनयं संगृह्णीयादपुत्रकः ॥१००९॥
शिष्टं सर्वं पूर्वमेव मया सम्यङ् निरूपितम् ।
पुत्रे जाते ततो भूयः पुत्रस्वीकरणादथ ॥१०१०॥

जातोऽधिकः प्रदत्तात्तु धर्मतः सर्वकर्मसु ।

पितुः श्राद्धस्य षण्मासात्पूर्वं प्रभृति कृत्यम्

पित्रोः श्राद्धस्य षण्मासात्पूर्वमेव तदा तदा ॥१०११॥

श्राद्धस्मृतिं प्रकुर्वन्वै कथाः काश्चन सन्ततम् ।

प्रकुर्वन् स्वजनैस्तिष्ठेदिष्टान् कांश्चिद्विशेषकान् ॥१०१२॥

तिलमाषव्रीहियवान् गुडमुद्गादिकान् मधु ।

कन्दमूलादिकान् कांश्चिद्वस्त्रकार्पासकादिकान् ॥१०१३॥

संगृह्य स्थापयेद्यत्नाद्दिव्यचन्दनखण्डकम् ।

दिव्योशीरं गुग्गुलुं च निक्षिपेच्चावनीतले ॥१०१४॥

शुष्कान् शलाटुकान् कांश्चिद्गोपयेच्छ्राद्धहेतवे ।

वृक्षेषु कांश्चिद्यत्नेन भूम्यन्तर्भूतले तथा ॥१०१५॥

कुसूलेषु दुकूलेषु पुनः कुम्भघटेषु च ।

स्थापयेन्निक्षिपेदेवं निखनेत्कांश्चिदप्युत ॥१०१६॥

समीचीनानि वस्तूनि दृष्टमात्राणि चेत्तदा ।

श्राद्धार्थमिति निश्चित्य प्रोक्त्वा स्वीयैश्च केवलम् ॥१०१७॥

गोपयित्वैव यत्नेन स्थापयेत्पालयेदपि ।

तदुक्तितत्कथातृप्ताः पितरो नित्यमेव वै ॥१०१८॥

आशीर्भिरेनं सततं वर्धयन्त्यपि तारिताः ।

कथातृप्तिः

भवन्ति कथया स्वर्गे पितृलोके च तेऽनिशम् ॥१०१९॥

कथया तृप्तिरेतेषां स्मृत्योक्त्या वचनादपि ।

तदीयकृत्यसंभाषाप्रियवस्तुप्रचारणैः ॥१०२०॥

विद्यमानाग्निरपि त्रिदिनात्पूर्वं पुनः

यत्नाद्दिनत्रयात्पूर्वं विद्यमानाग्निरप्यलम् ।
पुनःसंधानविधिना श्राद्धायाग्निं सुसंस्क्रियात् ॥१०२१॥

श्राद्धदिने वर्ज्यम्

औपासनं विना होममन्यं होमं तु तद्दिने ।
न कुर्यादेव विधिना यदि कुर्यात्तु तत्पतेत् ॥१०२२॥

श्राद्धदिने दानजपादि न कर्तव्यम्

दानाध्ययनदेवार्चाजपहोमव्रतादिकान् ।
न कुर्याच्छ्राद्धदिवसे प्राग्विप्राणां विसर्जनात् ॥१०२३॥
न दद्याद्याचमानेभ्यः फलपुष्पजलाक्षतान् ।
तण्डुलान् दधितक्राज्यशाकपात्रतृणस्थलम् ॥१०२४॥
काष्ठमूलकन्दभाण्डविद्यापुस्तकभूषणम् ।
ऋणमेवं धनं धान्यं चेलं वाऽनुग्रहादिकम् ॥१०२५॥
कल्याणवार्ताकोपादिचाटुपारुष्यभाषणम् ।
बालनिग्रहतद्ग्राहतत्संज्ञापादि वर्जयेत् ॥१०२६॥
उच्चैः संभाषणं हस्तताडनं हसनं वृथा ।
दुरालापं दुष्टलोकभाषणं दुष्टशिक्षणम् ॥१०२७॥
नैतानि कुर्याद्यत्नेन प्रत्यब्दे तु विशेषतः ।

मृताहे दर्शे

दर्शादिषु मृताहश्चेन्मृताहं पूर्वमाचरेत् ॥१०२८॥

पश्चाद्दर्शं प्रकुर्वीत पित्रोरेवायमुच्यते ।

मृताहे मातामहादिश्राद्धसंभवे

मातामहस्य तत्पत्न्याः सापत्नीमातुरेव च ॥१०२९॥
पितुः श्राद्धसमत्वेन प्रोचुः किल महर्षयः ।
दर्शे समागतं मन्वादिकं श्राद्धं समाचरेत् ॥१०३०॥
दर्शसिद्धिस्तावता स्याद्दैवतैक्येन केवलम् ।
सपिण्डकमपिण्डं वा दैवतैक्ये पृथङ् न तु ॥१०३१॥
कार्यं भवति तच्छ्राद्धं भिन्नदैवतके पुनः ।

नित्यनैमित्तिके प्राप्ते

पूर्वं नैमित्तिकं काय प्रत्यब्दे यदि तत्तदा ॥१०३२॥
प्रत्यब्दमागतं प्रत्यासत्तियोगवशाच्चरेत् ।
पितुः श्राद्धं प्रथमतो मातुः श्राद्धं ततः परम् ॥१०३३॥
पश्चान्मातामहस्यापि तत्पत्न्याश्च ततः परम् ।
पश्चात्सपत्नीमातुः स्यात्पश्चात्पत्न्या प्रकीर्तितम् ॥१०३४॥
सुतभ्रातृपितृव्याणां मातुलादिक्रमात्स्मृतम् ।

दर्शे बहुश्राद्धसंभवे

पित्रादिभिन्नश्राद्धानां कारुण्यानां यदा पुनः ॥१०३५॥
दर्शादिष्वागतानां चेन्मृताहानां तदा परम् ।
दर्शादिकं समाप्यैव कारुण्यश्राद्धमाचरेत् ॥१०३६॥
केचित्पत्न्याः पितृव्यस्य तत्पत्न्याश्च समागमम् ।
दर्शादिषु मृताहं वै पूर्वं कृत्वा ततः परम् ॥१०३७॥

दर्शादिकमनुष्ठेयमिति प्रोचुश्च तत्कृतौ ।
तस्माद्यथारुचिपरमात्मतृप्तिः प्रशस्यते ॥१०३८॥

वस्तुतोऽत्र पुनर्वच्मि पितृभ्यो यदि केवलम् ।
एतस्य परमो मुख्यस्तत्पत्नी वापि पत्न्यपि ॥१०३९॥
मातृत्वकार्यका(क)रणे महती सुमहत्यपि ।
तदा चेत्तन्मृताहं तु पूर्वं कृत्वा ततः पुनः ॥१०४०

दर्शादिकं प्रकुर्वीत न चेत्ते केवला यदि ।
नाममात्रेण कथितास्तदा दर्शादिकं पुरा ॥१०४१॥
कृत्वैव पश्चात्तच्छ्राद्धं कारुण्यानामिति स्थितिः ।
सर्वत्रैवं प्रकथितं स्वामिनः सख्युरेव वा ॥१०४२॥

पुरोहिताचार्ययोश्च प्रत्यासत्तिप्रभेदतः ।
श्राद्धस्य करणं प्रोक्तं पुनरप्युपकारिणः ॥१०४३॥
तेषां तेषां क्रियाभेदाच्छ्राद्धानुष्ठानमुच्यते ।
सर्वत्रैवात्मतुष्टिः स्याद्विदुषः परमोत्तमा ॥१०४४॥

केषांचित्कल्पप्रकारः

पुनर्विशेषः कोऽप्यस्ति प्रवक्ष्याम्यत्र तं पुनः ।
यतस्तातो यतो वृत्तिर्यतो जीवो यतः प्रसूः ॥१०४५॥
स स्वीकृतः श्राद्धतिथिभ्रष्टत्यक्तपिताऽपि वा ।
दर्शादिश्राद्धपरतो मृताहश्राद्धमाचरेत् ॥१०४६॥
पित्रात्यन्तैककलहे धावनावसरे सुते ।
जाते नष्टे च पितरि तथा मातरि तत्परम् ॥१०४७॥

अल्पकालमृतायां तु तत्तद्ग्रामस्थितैरपि ।
तदा तदा पालितो यो दैवाज्जीवन्प्रवर्धितः ॥१०४८॥
दृष्टमात्रैर्बाल्य एव विप्रबुध्यैव तैस्तराम् ।
संस्कृतश्चाध्यापितश्च ज्ञाताज्ञातैकगोत्रकः ॥१०४९॥
अज्ञातग्रामताताद्रिर्ज्ञातजातिर्जनोक्तितः ।
ततो विद्वान् महात्मा यो यतस्तात इति स्मृतिः ॥१०५०॥
एवमेव तथान्योऽपि तथावस्थाप्रभेदतः ।
यतोत्पत्तिस्तु कथिता अज्ञातग्रामसंभवः ॥१०५१॥
स्वजीवनप्रकारं यो बाल्ये द्वादशवार्षिकात् ।
न वेत्ति नष्टजनको यतोत्पत्तिस्तु कथ्यते ॥१०५२॥
मातरं यो न जानाति स्वकीयजनशून्यतः ।
तथा पित्रादिकान् सर्वान् प्रोच्यतेऽसौ यतः प्रसूः ॥१०५३॥
त एते किल सर्वेऽपि विपत्कालसमुद्भवाः ।
नष्टपित्रादिकजना दैवात्संप्राप्तजीवनाः ॥१० ४॥
यैश्च कैश्चिद्दृष्टमात्रैर्विप्रबुध्यैकपालितैः ।
अवस्थाभेदतः सर्वे तत्तन्नामाङ्किताः स्मृताः ॥१०५५॥
चत्वारः कथिताः सद्भिरतिदुःखैकजीवितम् ।
अतिबाल्ये ततो भूयो यौवने प्राप्तसंपदः ॥१०५६॥
दैवयोगेन विद्वांसः कर्मठाश्चापि वा भवन् ।
पितुर्मृततिथिं यो वा ज्ञात्वा बाल्येन केवलम् ॥१०५७॥
स्वयमेव श्राद्धहेतोर्मार्गशीर्षे ह्यमादिकम् ।
शास्त्रदृष्ट्या समालोच्य सद्भिरुक्तोऽथवा गृणन् ॥१०५८॥

स्वस्वीकृतश्राद्धतिथिरुच्यते ब्रह्मवादिभिः।

भ्रष्टक्रिया

मद्यपानादिना भ्रष्टः पिता यस्य बभूव वै ॥१०५९॥

मृतेस्तस्य परं प्रोष्य चतुर्विंशतिवार्षिकम्।

भ्रष्टक्रिया प्रकर्तव्या पुत्रेण विदितात्मना ॥१०६०॥

तस्य श्राद्धं ततः कार्यं तादृशस्य दुरात्मनः।

तादृक्पितृक्रियाकर्ता स उ भ्रष्टपिता स्मृतः ॥१०६१॥

पितुस्तु भ्रंशमात्रेण नायं भ्रष्टपिता भवेत्।

तादृक्कर्मैककरणसमयादथ तादृशः ॥१०६२॥

सर्वथा पतितस्य: पञ्चविंशद्वर्षात्परं क्रियारम्भः

भवत्यपि तथा त्यक्तपिता चापि प्रकथ्यते।

स्वयं चण्डालतां बुध्या प्राप्तो यो स्वजनैरपि ॥१०६३॥

बहिष्कृतश्च संत्यक्तस्तादृशं पितरं मृतम्।

पञ्चविंशतिवर्षेभ्यः परं पुत्रः स शास्त्रतः ॥१०६४॥

षडब्दं षड्गुणत्वेन वर्षयित्वातिकृच्छ्रकैः।

महाकृच्छ्रैस्तप्तकृच्छ्रैः पराकातिशतैरपि ॥१०६५॥

चापाग्रस्नानशतकैर्मन्त्रकुम्भसहस्रकैः।

गोसहस्रैर्विधानेन संस्कुर्यात्तस्य केवलम् ॥१०६६॥

प्रतिसंवत्सरं पश्चात्तादृक्छ्राद्धकरस्तु यः।

स उ त्यक्तपिता ज्ञेयस्त एते तनयाः सदा ॥१०६७॥

एवंजातीयका ये स्युस्ते सर्वे धर्मतत्पराः।

दर्शादिश्राद्धपरतो मृताहश्राद्धमाचरेत् ॥१०६८॥

तेषां श्राद्धैककरणमेतेषां स्वस्य केवलम् ।
प्रत्यवायैकशून्याय न चेद्दोषो महान् भवेत् ॥१०६६॥
तत्संभूतमहादोषपरिहाराय वा न चेत् ।
प्राप्तये कर्मठत्वस्य न चेदस्य तु केवलम् ॥१०७०॥
श्राद्धत्यागात् प्रत्यवायो भवेत्तस्मात्तथाऽऽचरेत् ।
नित्यं तेषां मृताहेषु दानधर्मादिकं चरेत् ॥१०७१॥
विप्राणां भोजनात्पूर्वं नियमोऽयमुदाहृतः ।
दुरात्मनां विशेषेण पूर्ववद्दोषशान्तये ॥१०७२॥
श्राद्धभुक्तेः परं तेषां न कुर्याद्भूरिभोजनम् ।

श्राद्धाङ्गतर्पणं परेऽहनि

परेद्युर्वा प्रयत्नेन श्राद्धाङ्गतिलतर्पणम् ॥१०७३॥
सद्य एव प्रकर्तव्यं पूर्वं पश्चात्तु वा तथा ।
अभिश्रवणमेवं स्यादेकेनैव हि कारितम् ॥१०७४॥
नान्नसूक्तं त्यागकाले प्राचीनावीतिकं न तु ।
अग्नौकरणहोमेऽपि तच्चावश्यकमुच्यते ॥१०७५॥

उद्देशत्यागकाले सव्यम्

उद्देशत्यागकाले च सव्यमेव भवेद्धि वै ।

मधुवाताद्यन्ते न

मधुवातादिकं भुक्तेरन्ते नैव वदेदपि ॥१०७६॥

विकिरं न कुर्यात्

विकिरं नैव कुर्वीत नित्यकर्माणि यानि वा ।
तानि सर्वाणि सर्वत्र धृत्वा पुण्ड्रं विधानतः ॥१०७७॥

निवेदितान्नतः पञ्चयज्ञान्तेऽतिथिपूजनात्।
पूर्वं तेषां प्रकर्तव्यं प्रत्यब्दादिककर्म वै ॥१०७८॥
तेषां श्राद्धे त्यागमात्रात्कृते सर्वं कृतं भवेत्।

वमने

अपि प्राप्तेऽपि वमने पितृस्थानस्य वा किमु ॥१०७९॥
न पुनः करणं कुर्याच्छ्राद्धशेषं समापयेत्।
पादप्रक्षालने तेषां मण्डलानर्चनं भवेत् ॥१०८०॥
पादप्रक्षालनार्थाय प्रदेयमुदकं परम्।
त एते निखिला धर्मा मृताहे केवलं स्मृताः ॥१०८१॥
न दर्शादिषु विज्ञेयास्तत्र धर्मा यथोक्तितः।
प्रकर्तव्या विशेषेण विकारोऽत्यन्तकुत्सितः ॥१०८२॥
मृताह एव कथितो नान्यतो यत्र कुत्रचित्।
श्राद्धान्ते वा परेद्युर्वा शक्तो यः पितृकर्मणि ॥१०८३॥
न कुर्यान्मोहतस्तूष्णीं विप्राणां भूरिभोजनम्।
अर्धतृप्ता हि पितरो भवेयुर्नात्र संशयः ॥१०८४॥

कर्तुर्भोजनाभावे

श्राद्धं कृत्वा तु यो मूढो न भुङ्क्ते पितृसेवितम्।
इष्टैः पुत्रैर्बन्धुभिश्च ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ॥१०८५॥
आचार्यैर्गुरुभिः सद्भिरागताभ्यागतैरपि।
पितरो नैव तृप्ताः स्युर्भुञ्जीयात्तेन तृप्तितः ॥१०८६॥
तद्वंश्यानामर्भकाणां विप्रभुक्तेरनन्तरम्।
तत्कांक्षितानि वस्तूनि भक्ष्यादीनि फलान्यपि ॥१०८७॥

स्वच्छन्दतः प्रदेयानि तावन्मात्रेण ते परम्।
अतितुष्टा महातुष्टाः परितुष्टाः प्रहर्षिताः ॥१०८८॥
पूजिताश्च भविष्यन्ति तस्माद्बालमनोरथम्।
पूरयेत्पितृतृप्त्यर्थं तद्दिनेषु विशेषतः ॥१०८९॥
तृप्ताः स्थेति तथा प्रोक्ते त्रिवारं पितृसूनुना।
भावयन्ति तदा ते वै चेतसा तु वयं तथा ॥१०९०॥
तृप्ता जातास्तथा त्वं च तृप्तो यदि तदा वयम्।
तृप्ता भूम न चेन्नोऽद्य का तृप्तिरिति वै तराम् ॥१०९१॥
दूयमानेन मनसा तिष्ठन्ति किल तेन वै।
सम्यग्भुञ्जीत वै पूर्वं यथा कुर्वन् भुजिक्रियाम् ॥१०९२॥
अतृप्ता एव नो ते स्युरिष्टैः पुत्रैश्च बन्धुभिः।
विप्रालंकरणे जाते गृहालंकरणं भवेत् ॥१०९३॥
पत्न्यादीनामलंकारः शिष्टब्राह्मणभोजनम्।
अन्वेव भोजनं तेषां तद्दिने क्रियते तु यत् ॥१०९४॥
तत्सर्वं प्रीतये तेषां भवेदेव न चान्यथा।
यद्वा तद्वा प्रकर्तव्यं तत्तत्सर्वं प्रयत्नतः ॥१०९५॥
अनन्तरं विप्रभुक्तेः पित्रुद्वासनतः परम्।
तत्पूर्वं लवमात्रं वा वस्तु किञ्चिदपि स्वयम् ॥१०९५॥

तिलद्रोणत्रयः

तिलद्रोणत्रयं कुर्यात्तद्दिने समुपस्थिते ॥१०९७॥
भक्ष्यास्तिलमयाः कार्यास्तिलकल्कं विशेषतः।
तिलचूर्णं तैलपिष्टं तिलभर्जनमप्युत ॥१०९८॥

तिलार्चनं तिलमुखं रक्षोहननमाचरेत् ।
तिलैर्विकिरणं कुर्याद्द्रव्यलोपेषु कृत्स्नशः ॥१०९९॥
समीचीनं तिलैः कुर्यात्तिलाः स्युः सोमदेवताः ।
सोमः पितॄणामाधारः सोमायैव तु हूयते ॥११००॥
सोऽयं हि पितृभिः प्रीतस्तद्दत्तं कव्यमुत्तमम् ।
सोमतृप्त्यैकजनकं तस्मात्सोमहुतं हविः ॥११०१॥
तत्कलावृद्धिजनकं सा कला पीयते हि तैः ।
वस्वादिभिः पितृभिस्तु तदेवं तत्तिलैः सदा ॥११०२॥
सर्वश्राद्धेषु पितरः पूजनीया विशेषतः ।

दर्शश्राद्धं तर्पणस्वरूपेण

सर्वाभावे विशेषेण तिलैर्जलविमिश्रितैः ॥११०३॥
दर्शादिकानि श्राद्धानि कार्याण्येव समन्त्रतः ।
स्वधा नमस्तर्पयामि पितरं च पितामहम् ॥११०४॥
प्रपितामहमेवं च वस्वादिकमयांस्तथा ।
नामगोत्रैकसंयुक्तान् श्राद्धं कृत्वाऽपि तत्परम् ॥११०५॥
तदङ्गतर्पणं कार्यं मृतस्यादौ तिलोदकम् ।
समारभ्य क्रियाः कार्यास्तस्मात्सन्ततस्तिलोदकम् ॥११०६॥
प्रथमश्राद्धमेवोचुः श्राद्धप्रतिनिधित्वतः ।
तदेवोचुश्च निखिला दुर्बलानां हितेच्छवः ॥११०७॥
समालोच्यैव शास्त्राणि श्रुतिमूलानि ते पुरा ।
मन्वादयो महात्मानस्तिला स्युस्तादृशाः किल ॥११०८॥

सतिलैर्विद्यते श्राद्धं विना सर्वत्र केवलम् ।
मुख्यद्रव्यैस्तिलैरद्भिः पैतृकं निखिलं भवेत् ॥११०९॥
सर्वेषां कर्मणामाद्या आप एव विशेषतः ।
परमाः कारणानीह तस्माद्ब्राह्मपुंगवाः ॥१११०॥
अप एव समाश्रित्य वर्षन्ते तोयदा महत् ।
जलं तत्रैव वर्तन्ते तदेव परमं स्थलम् ॥११११॥
प्रभूतैधोदकग्रामः सर्वदेशोत्तमोत्तमः ।
नदीतीरं विशेषेण तच्छताधिकमुच्यते ॥१११२॥
तत्रैव सकला धर्मा अनुष्ठेया हि सन्ततम् ।
नदी च सजला ज्ञेया न तच्छून्या कदाचन ॥१११३॥

इति पूर्वाङ्गिरसम्

इत्याङ्गिरसस्मृतौ पूर्वाङ्गिरसं समाप्तम् ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

* आङ्गिरसस्मृतिः * (२)

उत्तराङ्गिरसम्

प्रथमोऽध्यायः

धर्मपर्षत्प्रायश्चित्तानांवर्णनम्

विश्वरूपं नमस्कृत्य देवं त्रिभुवनेश्वरम् ।
धर्मस्य दर्शनार्थाय अङ्गिरा इदमब्रवीत् ॥ १ ॥
अथ त्रयाणां वक्ष्यामि प्रमाणं विधिमादितः ।
धर्मस्य पर्षदश्चैव प्रायश्चित्तक्रमस्य च ॥ २ ॥
प्रायश्चित्तं चतुष्पादं विहितं धर्मकर्तृभिः ।
परिषद्दशधा प्रोक्ता त्रिविधा वा समासतः ॥ ३ ॥
प्रमाणाभिहितं यत्तु सर्वमङ्गिरसा तदा ।
अप्रमेयप्रमाणस्य दुःखेनाधिगमो भवेत् ॥ ४ ॥
तस्मादङ्गिरसा पुण्यं धर्मशास्त्रमिदं कृतम् ।
उपस्थानव्रतादेशचर्याशुद्धिप्रकाशनम् ॥ ५ ॥
स धर्मस्तु कृतो ज्ञेयः स्वाधिष्ठानक एव वै ।
चतुर्भिः साधनैश्चैव धर्मः प्रोक्तः सनातनः ॥ ६ ॥

कृत्वा पूर्वमुदाहार्यं यथोक्तं धर्मकर्तृभिः ।
पश्चात्कार्यानुसारेण शक्त्या कुर्युरनुग्रहम् ॥ ७ ॥
यत्पूर्वमृषिभिः प्रोक्तं धर्मशास्त्रमनुत्तमम् ।
तत्प्रमाणं तु सर्वेषां लोकधर्मानुवर्णनम् ॥ ८ ॥
न हि तेषामतिक्रम्य वचनानि महात्मनाम् ।
प्रज्ञानैरपि विद्वद्भिः शक्यमन्यत्प्रभाषितुम् ॥ ९ ॥
स्वाभिप्रायकृतं कर्म विधिविज्ञानवर्जितम् ।
क्रीडाकर्मेव बालानां तत्सर्वं स्यान्निरर्थकम् ॥१०॥
इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे उपोद्धातो नाम प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः

परिषद् उपस्थानलक्षणम्

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि चोपस्थानस्य लक्षणम् ।
उपस्थितो हि न्यायेन व्रतादेशनमर्हति ॥ १ ॥
सद्यो निःसंशयः पापो न भुञ्जीतानुपस्थितः ।
भुञ्जानो वर्धयेत् पापं परिषद्यत्र वर्तते ॥ २ ॥
संशये न तु भोक्तव्यं यावत्कार्यविनिश्चयः ।
प्रमाणेनैव कर्तव्यं यावदाशासनं तथा ॥ ३ ॥
कृत्वा पापं न गूहेत गूह्यमानं तु वर्धते ।
स्वल्पं वाऽथ प्रभूतं वा धर्मविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ४ ॥

ते हि पापकृतां वैद्या बोद्धारश्चैव पाप्मनाम् ।
दुःखस्यैव यथा वैद्या सिद्धिमन्तो रुजायताम् ॥ ५ ॥
प्रायश्चित्ते समुत्पन्ने श्रीमान् सत्यपरायणः ।
मृदुरार्जवसंपन्नः शुद्धिं यायाद्द्विजः सदा ॥ ६ ॥
सचेलं वाग्यतः स्नात्वा क्लिन्नवासाः समाहितः ।
क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा ततः परिषदं व्रजेत् ॥ ७ ॥
उपस्थानं ततः शीघ्रमर्तिमान् धरणीं व्रजन् ।
गात्रैश्च शिरसा चैव न च किंचिदुदाहरेत् ॥ ८ ॥
ततस्ते प्रणिपातेन दृष्ट्वा तं समुपस्थितम् ।
विप्राः पृच्छन्ति यत्कार्यमुपवेश्यासने शुभे ॥ ९ ॥
किं ते कार्यं किमर्थं वा किं वा मृगयसे द्विज ।
पर्षदि ब्रूहि तत्सर्वं यत्कार्यं हितमात्मनः ॥१०॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे परिषदुपस्थानं नाम
द्वितीयोऽध्यायः ।

तृतीयोऽध्यायः

प्रायश्चित्तविधानवर्णनम्

सत्येन द्योतते राजा सत्येन द्योतते रविः ।
सत्येन द्योतते वह्निः सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
भूर्भुवःस्वस्त्रयोलोकास्तेऽपि सत्ये प्रतिष्ठिताः ।
अस्माकं चैव सर्वेषां सत्यमेव परा गतिः ॥ २ ॥

यदि चेद्वक्ष्यते सत्यं नियतं प्राप्यते सुखम् ।
यद्गृहीतो ह्यसत्येन न च शुध्येत कर्हिचित् ॥ ३ ॥
सत्येनैव विशुध्यन्ति शुद्धिकामाश्च मानवाः ।
तस्मात्प्रब्रूहि यत्सत्यमादिमध्यावसानकम् ॥ ४ ॥
एवं तैः समनुज्ञातः सत्यं ब्रूयादशेषतः ।
तस्मिन्निवेदिते कार्येऽपसार्यो यस्तु कार्यवान् ॥ ५ ॥
तस्मिन्नुत्सारिते पापे यथावद्धर्मपाठकाः ।
ते तथा तत्र कल्पेयुर्विमृशन्तः परस्परम् ॥ ६ ॥
आप्तधर्मेषु यत्प्रोक्तं यच्च सानुग्रहं भवेत् ।
परिषत् संपदश्चैव कार्याणां च बलाबलम् ॥ ७ ॥
प्राप्य देशं च कालं च यच्च कार्यान्तरं भवेत् ।
परिषच्चिन्त्य तत्सर्वं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥ ८ ॥
सर्वेषां निश्चितं यत्स्याद्यच्च प्राणान्न पातयेत् ।
आहूय श्रावयेदेको यः परिषन्नियोजितः ॥ ९ ॥
शृणुष्व भो इदं विप्र यत्त आदिश्यते व्रतम् ।
तत्तद्यत्नेन कर्तव्यमन्यथा ते वृथा भवेत् ॥१०॥
यदा च ते भवेच्चीर्णं तदा शुद्धिप्रकाशनम् ।
कार्यं सर्वप्रयत्नेन न शक्त्या विप्रपूजितम् ॥११॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे प्रायश्चित्तविधानं नाम
तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः

परिषल्लक्षणवर्णनम्

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपोनिश्चयसंयोगात्प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ १ ॥
प्रायश्चित्तसमं चित्तं चारयित्वा प्रदीयते ।
पर्षदा क्रियते यत्तत्प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ २ ॥
चत्वारो वा त्रयो वापि वेदवेदाग्निहोत्रिणः ।
ये तु सम्यक्स्थिता विप्राः कार्याकार्यविनिश्चिताः ॥ ३ ॥
प्रायश्चित्तप्रणेतारः सप्तैते परिकीर्तिताः ।
एकविंशतिभिश्चान्यैः पार्षदत्वं समागतैः ॥ ४ ॥
सावित्रीमात्रसारैस्तु चीर्णवेदव्रतैर्द्विजैः ।
यतीनामात्मविद्यानां ध्यायिनामात्मवेदिनाम् ।
शिरोव्रतैश्च स्नातानामेकोऽपि परिषद्भवेत् ॥ ५ ॥
एवं पूर्वं मयाप्युक्तं तेषां ये ये परे परे ।
स्ववृत्त्या परितुष्टानां परिषत्त्वमुदाहृतम ॥ ६ ॥
एषां लघुषु कार्येषु मध्यमेषु च मध्यमा ।
महापातकचिन्तासु शतशो भूय एव वा ॥ ७ ॥
अत ऊर्ध्वं तु ये विप्राः केवलं नामधारकाः ।
परिषत्त्वं न तेष्वस्ति सहस्रगुणितेष्वपि ॥ ८ ॥
जन्मशारीरविद्याभिराचारेण श्रुतेन च ।
धर्मेण च यथोक्तेन ब्राह्मणत्वं विधीयते ॥ ६ ॥

चित्रकर्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्मन्त्रपूर्वकैः ॥१०॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे परिपल्लक्षणं नाम
चतुर्थोऽध्यायः

पञ्चमोऽध्यायः

प्रायश्चित्तनियन्तृकथनम्

चातुर्वेद्यो विकल्पी च अङ्गविद्धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणो मुख्या पर्षदेषा दशावरा ॥ १ ॥
चतुर्णामपि वेदानां पारगा ये द्विजोत्तमाः ।
स्वैः स्वैरङ्गैर्विनाप्येते चातुर्वेद्या इति स्मृताः ॥ २ ॥
धर्मस्य पर्षदश्चैव प्रायश्चित्तक्रमस्य च ।
त्रयाणां यः प्रमाणज्ञः स विकल्पी भवेद्द्विजः ॥ ३ ॥
शब्दे छन्दसि कल्पे च शिक्षायां चैव निश्चयः ।
ज्योतिषामयने चैव सनिरुक्तेऽङ्गविद्भवेत् ॥ ४ ॥
वेदविद्याव्रतस्नातः कुलशीलसमन्वितः ।
अनेकधर्मशास्त्रज्ञः पठ्यते धर्मपाठकः ॥ ५ ॥
ब्रह्मचर्याश्रमादूर्ध्वमाश्रमाद्वृद्ध उच्यते ।
एषामेव तु वृद्धानां य एते संप्रकीर्तिताः ॥ ६ ॥
परिषद्ब्राह्मणानां च राज्ञां सा द्विगुणा स्मृता ।
वैश्यानां त्रिगुणा चैव पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणो ब्राह्मणानां तु क्षत्रियाणां तु पाठकः।
वैश्यानां चैव यो भ्रष्टा त एव व्रतदाः स्मृताः ॥ ८ ॥

अगुरुः क्षत्रियाणां तु वैश्यानां चाप्ययाजकः।
प्रायश्चित्तं समादिश्य तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥ ९ ॥

एवमुद्दिश्य वर्णेषु क्षत्रियादिषु दर्शनम्।
प्रवृत्तानां तु वक्ष्यामि प्रायश्चित्तमनुत्तमम् ॥१०॥

शूद्रः कालेन शुध्येत गोब्राह्मणहिते रतः।
दानैर्वाप्युपवासैर्वा द्विजशुश्रूषणे रतः ॥११॥

अपि वा मार्गमालम्ब्य क्षत्रधर्मेषु तिष्ठतः।
अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा ततोऽस्य व्रतमादिशेत् ॥१२॥

तस्माच्छूद्रं समासाद्य तथा धर्मपथे स्थितः।
प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं धर्मवेदविवर्जितम् ॥१३॥

आपन्नो येन वा धर्मो व्रतं वा येन तुष्यति।
ब्राह्मणानां प्रसादेन संतार्यः सर्व एव हि ॥१४॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे प्रायश्चित्तनियन्तृकथनं नाम
पञ्चमोऽध्यायः।

षष्ठोऽध्यायः

प्रायश्चित्ताचारकथनम्

पणे तु पर्षत्कल्पस्य कल्पस्य परिषद्बलम्।
कारिणश्चाप्युपस्थानं बलं सम्यङ्निवेदितम् ॥ १ ॥
अकल्पा परिषद्यत्र कल्पो वा परिषद्विना।
कार्यं वाप्यन्यथोक्तं वा शुद्धिस्तत्रास्य दुर्लभा ॥ २ ॥
परिषत्कल्पतो कार्या यथा सर्वे बलीयसः।
भवन्ति न तथा पापं तस्मिन् योगेऽवतीर्यते ॥ ३ ॥
एवमेतत्समासाद्य तद्योगं च प्रणश्यति।
महत्यां चाम्भसि क्षिप्तं यथाल्पलवणं तथा ॥ ४ ॥
एतद्योगप्रधानाय कार्याणि परिशोधने।
तद्द्रव्यं कर्मसंयोगाद्वस्त्राणामिव शोधने ॥ ५॥
यत्पापं शोध्यमानस्य कर्तुर्धर्मेण शास्त्रतः।
तद्वद्गच्छति कार्त्स्न्येन भागशः प्रब्रवीमि ते ॥ ६ ॥
गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्।
अन्तःप्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७ ॥
गुरु राजा यमो वाऽपि शास्ता धर्मेण युज्यते।
शास्ता संमुच्यते पापाद्दाहतो भयतः शुभम् ॥ ८ ॥
प्रायश्चित्ते यदा चीर्णे ब्राह्मणे दग्धकिल्बिषे।
धर्मं पृच्छामि तत्त्वेन तत्पापं क नु तिष्ठति ॥ ९ ॥
नैव गच्छति कर्तारं नैव गच्छति पार्षदम्।
मारुतार्कांशुसंयोगाज्जलवत्संप्रशीर्यते ॥१०॥

तेषां त्रेताग्निना दग्धं पावकस्य तु धीमतः ।
नश्यते नात्र संदेहः सूर्यदृष्टिर्हिमं यथा ॥११॥
प्रब्रूयात्पक्षतो यश्च बाह्यं यश्चापि पर्षदः ।
गच्छतस्तावुभौ मूढौ नरकं तेन कर्मणा ॥१२॥
अजानन् यस्तु विब्रूयाज्जानन्वाप्यन्यथा वदेत् ।
उभयोर्हि तयोर्दोषः पक्षयोरुभयोरपि ॥१३॥
अजानानां च दातॄणामदातॄणां च जानताम् ।
एवं भवेन्महादोषस्तस्माज्ज्ञात्वा वदेत्सदा ॥१४॥
यत्तु दत्तमजानद्भिः प्रायश्चित्तं समागतैः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा दातॄनेवोपतिष्ठति ॥१५॥
ये तु सम्यक्स्थिता विप्रा धर्मवेदाङ्गपारगाः ।
शक्तास्ते तारणे तेषामात्मनोऽनुग्रहस्य च ॥१६॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे प्रायश्चित्ताचारकथनं नाम
षष्ठोऽध्यायः ।

सप्तमोऽध्यायः

पापपरिगणनम्

आर्तानां मार्गमाणानां प्रायश्चितानि ये द्विजाः ।
जानन्तो न प्रयच्छन्ति ते च यान्ति समं तु तैः ॥ १ ॥
तस्मादार्तं समासाद्य ब्राह्मणं तु विशेषतः ।
जानद्भिः पर्षदः पन्था न हातव्यः पराङ्मुखैः ॥ २ ॥

प्रायश्चित्तं वक्तव्यम्

तस्य कार्यो व्रतादेशः प्रमाणार्थं हि दातृभिः ।
अज्ञानादुपदेष्टव्यः क्रमशः सर्व एव वा ॥ ३ ॥
भयादभ्युत्तरेत्कश्चिद्भयार्तं ब्राह्मणं क्वचित् ।
एवं पापात्समुद्धृत्य तेन तुल्यफलो भवेत् ॥ ४ ॥
अनर्थितैरनाहूतैरपृष्टैश्च यथाविधि ।
प्रायश्चित्तं न दातव्यं जानद्भिरपि च द्विजैः ॥ ५ ॥
तस्माज्जनैः प्रदातव्यमनुज्ञाप्य च पर्षदम् ।
न चान्येषु प्रजल्पत्सु चैवं धर्मो न हीयते ॥ ६ ॥
पातकेषु शतं पर्षत् सहस्रं महदादिषु ।
उपपापेषु पञ्चाशत् स्वल्पं स्वल्पेषु निश्चयः ॥ ७ ॥

पञ्चमहापातकिनः

ब्रह्महा स्वर्णहारी च सुरापो गुरुतल्पगः ।
एतैः संयुज्यते योऽन्यः पतितैः सह पञ्चमः ॥ ८ ॥

पतिताः

नारीपुरुषहन्ता च कन्यादूषी गवां च हा ।
चत्वारः पतिता प्रोक्ता यथा वै ब्रह्महादयः ॥
उपपातकास्त्वसंख्यातास्ते च गोघ्नादयस्तथा ॥ ९ ॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे पापपरिगणनं नाम
सप्तमोऽध्यायः ।

अष्टमोऽध्यायः

शूद्रान्नस्यगर्हिततत्ववर्णनम्

प्रतिग्रहे

आहिताग्निस्तु यो विप्रः प्रतिगृह्णाति शूद्रतः।
भोक्तॄणां समतां याति तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ १ ॥

शूद्रान्नभोजने

यस्तु वेदमधीयानो भुङ्क्ते शूद्रान्नमेव च।
शूद्रे वेदफलं याति शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ २ ॥

शूद्रं प्रशस्य स्वस्तिवचने

घ्रात्वा पीत्वा निरीक्ष्याथ स्पृष्ट्वा च प्रतिगृह्य च।
प्रशस्य स्वस्ति चेत्युक्त्वा भोक्ता एव न संशयः ॥ ३ ॥
एते दोषा भवन्तीह शूद्रान्नस्य परिग्रहे।
अनुग्रहं तु वक्ष्यामि मनुना चोदितं पुरा ॥ ४ ॥
आमं वा यदि वा पक्वं शूद्रान्नमुपसेवते।
किल्बिषं भुञ्जते भोक्ता यश्च विप्रः पुरोहितः ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्यान्येभ्यो दातव्यम्

गुरुवह्न्यतिथीनां तु भृत्यानां तु विशेषतः।
प्रतिगृह्य प्रदातव्यं न भुञ्जीत स्वयं ततः ॥ ६ ॥

शूद्रान्नरसपुष्टाधीयानस्य

शूद्रान्नरसपुष्टस्य चाधीयानस्य नित्यशः।
जपतो जुह्वतो वापि गतिरूर्ध्वं न विद्यते ॥ ७ ॥

षण्मासं भुक्तौ

षण्मासानथ यो भुङ्क्ते शूद्रस्यान्नं निरन्तरम् ।
जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते ॥ ८ ॥

अकृत्वैव निवृत्तिं यः शूद्रान्नान्म्रियते द्विजः ।
आहिताग्निर्विशेषेण स शूद्रगतिभाग्भवेत् ॥ ९ ॥
पक्वान्नवर्जं विप्रेभ्यो गोधान्यं क्षत्रियादपि ।
वैश्यात्तु सर्वधान्यानि शूद्राद्धान्यं न किंचन ॥१०॥

अनूदकं तु तत्सर्वं गन्धमाल्यविवर्जितम् ।
यथा वर्णेषु यद्दत्तं प्रतिगृह्णीत वै द्विजः ॥११॥
यत्तु क्षेत्रगतं धान्यं खले वा कण एव वा ।
सार्वकालं ग्रहीतव्यं शूद्रादप्यङ्गिरोऽब्रवीत् ॥१२॥

सत्पात्रे समनुज्ञातं दुग्धं यच्छुचिना भवेत् ।
यथा चौषधिकृत्यं स्याद्दध्ना वा पयसापि वा ॥१३॥
पात्रेभ्योऽपि तथा ग्राह्यं शूद्रेभ्यः प्राकृतादपि ।
शूद्रवेश्मनि विप्राणां क्षीरं वा यदि वा दधि ॥१४॥

निवृत्तेन न पातव्यं शूद्रान्नसदृशं हि तत् ।
अग्न्यगारे गवां गोष्ठे नदीविप्रगृहेषु च ॥१५॥
कूपस्थाने तथारण्ये पेयं चैव पयो दधि ।
आमं मांसं दधि घृतं धान्यं क्षीरमथौषधम् ॥१६॥

गुडो रसस्तथोदश्विद्ग्राह्योऽप्यान्येतानि नित्यशः ।
अभृतं चारनालं च ताम्बूलं सक्तवस्तिलाः ॥१७॥

फलानि पिण्याकमथो ग्राह्यमौषधमेव च।
अप्रणोद्यानि मेध्यानि प्रतिग्राह्याणि नित्यशः ॥१८॥
सूतके तु यदा विप्रो ब्रह्मचारी विशेषतः।
पिबेत्पानीयमज्ञानाद्भुङ्क्ते वा संस्पृशेत वा ॥१९॥
पानीयपाने कुर्वीत पञ्चगव्यस्य प्राशनम्।
त्रिरात्रोपोषणं भुङ्क्ते स्पर्शे स्नानं विधीयते ॥२०॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे शूद्रान्नादिनिषेधकथनं नामाष्टमोऽध्यायः।

नवमोऽध्यायः

अभक्ष्याभक्षणप्रायश्चित्तम्

अन्तर्दशाहे भुक्त्वान्नं सूतके मृतकेऽपि वा।
दशरात्रं पिबेद्वज्रं ब्राह्मणो ब्राह्मणस्य तु ॥ १ ॥
क्षत्रियस्यार्धमासं तु विशः पञ्चाधिकं तथा।
शूद्रस्यैव तु भुक्त्वान्नं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ २ ॥
आहिताग्निस्त्रिरात्रेण ब्रह्मक्षत्रविशामपि।
पञ्चरात्रं चरेद्भुक्त्वा श्रोत्रियस्याग्निहोत्रिणः ॥ ३ ॥
अत ऊर्ध्वं तु स्नातानां मासाशौचं न विद्यते।
दीक्षितानां च सर्वेषां राज्ञां सर्वनिधेस्तथा ॥ ४ ॥

ससत्रे दानधर्मे च पक्वमन्नं तु गर्हितम् ।
पञ्चरात्रं चरेद्‌कृच्छ्रं षडहं मध्यमाचरेत् ॥ ५ ॥
तथा चान्येष्वभोज्येषु त्र्यहमेवं समाचरेत् ।
अनापत्सु चरेद्‌भैक्ष्यं सिद्धं वस्तु गृहे वसन् ॥ ६ ॥
दशरात्रेचरेद्‌कृच्छ्रमापत्सु च त्र्यहं चरेत् ।
पतितानां च सर्वेषां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ ७ ॥
प्रतिमासदिनं दृष्टमन्यथा पतितो भवेत् ।
प्रतिसंवत्सरं वापि श्रोत्रियस्य भवेदिदम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मचारी यतिश्चापि विद्यार्थी गुरुपोषकः ।
अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च षडेते भिक्षुकाः स्मृताः ॥ ९ ॥
व्याधितस्य दरिद्रस्य कुटुम्बात्प्रच्युतस्य च ।
अध्वानां वा प्रयातस्य भैक्ष्यचर्या विधीयते ॥१०॥
ब्रह्मचारी शुना दष्टस्त्र्यहमेवं समाचरेत् ।
गृहस्थस्तु द्विरात्रं वाप्येकाहं वाग्निहोत्रवान् ॥११॥
नाभेरूर्ध्वं तु दष्टस्य तदेव द्विगुणं भवेत् ।
तदेव द्विगुणं वक्त्रे मूर्ध्नि चैव चतुर्गुणम् ॥१२॥
अत ऊर्ध्वं तु यत्स्नातः स्नानेनैव विशुध्यति ।
सर्वेष्वेवावकाशेषु तदा प्रव्रजितः स्वयम् ॥१३॥
अव्रती सव्रती वापि शुना दष्टस्तथा द्विजः ।
दृष्ट्वाग्निं हूयमानं तु सद्य एव शुचिर्भवेत् ॥१४॥
ब्राह्मणी तु शुना दष्टा सोमे दृष्टिं निपातयेत् ।
यदा न दृश्यते सोमः प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥१५॥

यां दिशं तु गतः सोमस्तां दिशं तु विलोकयेत् ।
सोममार्गेण सा पूता पञ्चगव्येन शुध्यति ॥१६॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे अभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तविधिर्नाम
नवमोऽध्यायः ।

दशमोऽध्यायः

हिंसाप्रायश्चित्तकथनम्

दण्डादूर्ध्वं तु यत्नेन प्रहरेत्तु निपातयेत् ।
द्विगुणं गोव्रतं तस्य प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १ ॥

दण्डलक्षणम्

अङ्गुष्ठमात्रं स्थूलः स्याद्बाहुमात्रप्रमाणतः ।
सार्द्रश्च सपलाशश्च दण्ड इत्यभिधीयते ॥ २ ॥

गवां रोधनादिना मरणे

रोधने बन्धने वापि योजने वा गवां रुजा ।
उत्पन्ने मरणे वापि निमित्तं तत्र विद्यते ॥ ३ ॥
पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् ।
योजने पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने ॥ ४ ॥
न नारिकेलेन न फालकेन
न मौञ्जिना नापि च वल्कलेन ।
एतैश्च गावो न हि बन्धनीया
बध्वा तु तिष्ठेत्परशुं प्रगृह्य ॥ ५ ॥

कुशकाशैस्तु बध्नीयादूर्ध्वं दक्षिणतोमुखम् ।
पाशलग्ने तथा दाहे प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ ६ ॥
यदि तत्र भवेच्छोकः प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ।
जपित्वा पावमानीयं मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ॥ ७ ॥
अक्षिभङ्गं गवां कृत्वा ललङ्गूलच्छेदनं तथा ।
पातनं चैव शृङ्गस्य मासार्धं यावकं पिबेत् ॥ ८ ॥
व्रणभङ्गे च कर्तव्यः स्नेहाभ्यङ्गश्च पाणिना ।
यवसश्चोपहर्तव्यो यावद्दृढव्रणो भवेत् ॥ ६ ॥
अस्थिभङ्गे तथा शृङ्गकटिभङ्गे तथैव च ।
यावज्जीवति षण्मासान् प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥१०॥
शृङ्गभङ्गेऽस्थिभङ्गे च चर्मनिर्मोचने तथा ।
दशरात्रं पिबेद्दुग्धं यावत्स्वस्ति भवेत्तदा ॥११॥
अन्यत्राङ्कनलक्ष्मभ्यां वाहनिर्मोचने तथा ।
सायं संगोपनार्थं तु न दुष्येद्रोधबन्धयोः ॥१२॥
यन्त्रेण गोचिकित्सार्थं मूढगर्भविमोचने ।
यत्ने कृते विपद्येत न दोषस्तत्र विद्यते ॥१३॥
औषधं स्नेहमाहारं दद्याद्गोब्राह्मणे हितम् ।
प्राणिनां प्राणवृत्त्यर्थं प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥१४॥
गजे वाजिनि वा व्याघ्रे खड्गे श्याममृगे वृके ।
सिंहे शुनि वराहे च मयूरे पक्षिणामपि ॥१५॥
काके हंसे च गृध्रे च टिट्टिभे खञ्जरीटके ।
यथा गवि तथा विन्द्याद्भगवान्मनुरब्रवीत् ॥१६॥

मोहाद्विरूढमाचार्यप्रत्यावृत्तौ तु यो द्विजः।
प्रायश्चित्तं न मृग्येत शृणु तस्यापि यो विधिः ॥१७॥
विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं भवेत्।
पश्चात्तु दह्यात्तापेन कृत्वा पापानि मानवः ॥१८॥
धनत्यागं गृहे कृत्वा सर्वत्यागेन शुध्यति।
द्रव्यैर्वा विपुलैर्विप्रान् तोषयेद्यः सुनिश्चितम् ॥१९॥

बालवृद्धाङ्गनानां प्रायश्चित्तम्

तन्नार्यः कामतः प्राप्ताः पापमर्धं समादिशेत्।
अर्वाक्तु द्वादशादब्दात् पुरुषो धर्मभाग्भवेत् ॥२०॥
अशीतिर्यस्य चापूर्णा वर्षार्धं सकलो विधिः।
प्रायश्चित्तस्य ये क्लीबबालवृद्धाङ्गनादयः॥
तेषु सर्वेषु संचिन्त्य पादमेकं समाचरेत् ॥२१॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे हिंसाप्रायश्चित्तकथनं नाम दशमोऽध्यायः।

एकादशोऽध्यायः

गोवधप्रायश्चित्तकथनम्

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो भुञ्जीत यावकम्।
अक्षारलवणं रूक्षं षष्ठे कालेऽस्य भोजनम् ॥ १ ॥
कृतावापो वने गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः।
द्वौ मासौ स्नानमभ्यङ्गं गोमूत्रेण विधीयते ॥ २ ॥

पादशौचक्रिया कार्या अद्भिः कुर्वीत केवलम् ।
व्रतिवद्धारयेद्दण्डं समन्त्रां मेखलां तथा ॥ ३ ॥
गाश्चैवानुव्रजेन्नित्यं रजस्तासां सदा पिबेत् ।
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेच्च व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ॥ ४ ॥
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्वा रात्रौ वीरासनं वसेत् ।
गोमतीं च जपेद्विद्वानोंकारं वेदमेव च ॥ ५ ॥
आतुरामभिशस्तां वा चोरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वप्राणैर्विमोक्षयेत् ॥ ६ ॥
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा स्वशक्तितः ॥ ७ ॥
आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले ।
भक्षयन्तीं न कथयेत् पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ८ ॥
अनेन विधिना गोघ्नो यस्तु गा अनुगच्छति ।
स गोहत्यात्मकात् पापान्मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९ ॥
ऋषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥१०॥
एतेषां विहितं पुण्यं कृच्छ्रमङ्गिरसा स्वयम् ।
धर्मविद्भिरनूचानैरुपपातकनाशनम् ॥११॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे गोवधप्रायश्चित्तं
नामैकादशोऽध्यायः ।

द्वादशोऽध्यायः

कृच्छ्रादिस्वरूपकथनम्

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम्।
यमधीत्य विमुच्यन्ति श्रुत्वा स्मृत्वा च वै द्विजाः ॥१॥
सदा त्रिषवणं स्नायात् सकृत्स्नात्वा पयः पिबेत्।
प्रातः स्नात्वा समारम्भं कुर्याज्जप्यं तु नित्यशः ॥ २ ॥
सावित्रीं व्याहृतीं वापि जपेदष्टसहस्रकम्।
ओंकारमादितः कृत्वा रूपे रूपे तथान्तरम् ॥ ३ ॥
स्थानं वीरासनं सक्तः कुर्यादासनमेव वा।
आसनं शल्यविद्धं स्यादमधःशायी भवेत्सदा ॥ ४ ॥
गव्यस्य पयसोऽलाभे गव्यमेव भवेद्दधि।
दध्यभावे भवेत्तक्रं तक्राभावे तु यावकम् ॥ ५ ॥
एषामन्यतमं यच्चाप्युपपद्येत तत्पिबेत्।
गोमूत्रेण तु संयुक्तं यावकं तत्पिबेद्द्विजः ॥ ६ ॥
एतत्तु विहितं पुण्यं कृच्छ्रमङ्गिरसा स्वयम्।
प्रणवात्तु समारम्भो नाम्ना वज्रमिति स्मृतम् ॥ ७ ॥
एतत्पातकयुक्तानां प्रायश्चित्तं विधीयते।
महापातकसंयुक्ता वर्षैः शुध्यन्ति ते त्रिभिः ॥ ८ ॥
अथोपपातकाश्चिन्त्यास्तथा कालं समादिशेत्।
कालस्य तु यथोक्तस्य ब्राह्मणस्तत्र कारणम् ॥ ९ ॥

ब्राह्मणा एव च क्षेत्रं ब्राह्मणा एव दैवतम् ।
ब्राह्मणानां प्रसादेन सूर्यो दिवि विराजते ॥१०॥
न ब्राह्मणसमं क्षेत्रं न ब्राह्मणसमोऽनलः ।
विधिर्न ब्राह्मणादूर्ध्वं न दैवं ब्राह्मणात्परम् ॥११॥
जपतां जुह्वतां चैव यच्छतां च सतामपि ।
क्षेत्रोऽग्नेस्तु सुसंभूतो ब्राह्मणोऽद्य विशिष्यते ॥१२॥
न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित् ।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥१३॥
देवतापितृभूतानां काचिद्भवति कस्यचित् ।
ब्राह्मणे देवताः सर्वाः स च सर्वस्य देवता ॥१४॥
यो हि यां देवतामिच्छेदाराधयितुमव्ययम् ।
सर्वोपायप्रयत्नेन तोषयेद्ब्राह्मणान् सदा ॥१५॥

समस्तसंपत्समवाप्तिहेतवः
समुत्थितापत्कुलधूमकेतवः ।
अपारसंसारसमुद्रसेतवः
पुनन्तु मां ब्राह्मणपादपांसवः ॥१६॥

इत्याङ्गिरसधर्मशास्त्रे कृच्छ्रादिस्वरूपकथनं नाम
द्वादशोऽध्यायः ।

इत्युत्तराङ्गिरसम्
इत्याङ्गिरसस्मृतिः ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

* भारद्वाजस्मृतिः *

प्रथमोऽध्यायः

भारद्वाजम्प्रति भृग्वादिमुनीनां सन्ध्यादिप्रमुखकर्मविषये प्रश्नः

हेमाद्रिशिखरे रम्ये सुखासीनं महाजनम् ।
भरद्वाजं मुनिश्रेष्ठं सर्वविद्यातपोनिधिम् ॥ १ ॥
पुण्यकीर्तिं पुण्यशीलं ब्रह्मनिष्ठं जितेन्द्रियम् ।
तमासाद्य मुनिश्रेष्ठः भृग्वाद्या मुनिपुङ्गवाः ॥ २ ॥
भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च शाण्डिल्यो रोहितः क्रतुः ।
हरितो गौतमो गर्गः शङ्खः कालातपोऽङ्गिराः ॥ ३ ॥
मार्कण्डेयश्च माण्डव्यः कपिलो नारदः शुकः ।
जमदग्निर्याज्ञवल्क्यो विश्वामित्रः पराशरः ॥ ४ ॥
एते वाऽन्येऽपि मुनयो धर्मज्ञा धर्मतत्पराः ।
सर्वोपचारैः सम्पूज्य वचनञ्चेदमब्रुवन् ॥ ५ ॥
भगवन्सर्वधर्मज्ञ सर्ववेदार्थपारग ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ सर्वसत्कर्मकोविद ॥ ६ ॥
सन्ध्यादि प्रमुखाः सर्वा नित्यनैमित्तिकाः क्रियाः ।
यास्ता द्विजौधिभिः(द्विजादिभिः) कार्या कथन्नो वक्तुमर्हसि

इति वृष्टो (पृष्टो) भरद्वाजस्तैर्महामुनिभिर्मुनिः ।
तान्प्रत्युवाच धर्मात्मा सन्तुष्टहृदयो भृशम् ॥ ८ ॥
पृष्टा युष्माभिरधुना याः क्रियास्ता महर्षिभिः ।
यथा क्रमेण कथ्यन्ते सन्ध्याप्रणतिपूर्विकाः ॥ ९ ॥
नित्यानुष्ठानरहितैर्द्विजैरधिकृतागमाः ।
यज्ञाः क्रतुश्च विधिवन्न भवन्ति फलप्रदाः ॥१०॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शुचि (र्भू) भूत्वा द्विजोत्तमः ।
अनुष्ठानम्प्रकुर्वीत प्रत्यहं शास्त्रचोदितम् ॥११॥
धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु समस्तेष्वागमेषु च ।
सारमुद्धृत्य वक्ष्यामि शृणुध्वमृषयोऽनघाः ॥१२॥
शास्त्रायणमिदं श्रेष्ठमध्येयं श्रद्धया सह ।
ज्ञे पूर्धिमिः(?)र्द्विजैः काममनुष्ठानादि साधनम् ॥१३॥
शास्त्रावतारो दिग्भेदः मलमूत्रपरिच्युतिः ।
शौचमाचमनं दन्तधावनं स्नापनं ततः ॥१४॥
सन्ध्या प्रणामश्च जपः ब्रह्मयज्ञश्चतर्पणम् ।
औपासनं वैश्वदेवं महायज्ञचतुष्टयम् ॥१५॥
भोजनं शयनं ध्यानं महाध्यानञ्च पूजनम् ।
पूजा द्रव्यं जपस्त्रक्ष(?) कलशं च क्रिया अपि ॥१६॥
यज्ञोपवीतञ्च कुशाः प्रणवो व्याहृतिस्ततः ।
साधनं प्रायश्चित्तञ्च क्रमोऽयं शास्त्रसंग्रहः ॥१७॥
दिग्(ङ्)निर्णयं समारभ्यो प्रायश्चित्तावधि क्रमात् ।
स पञ्चविंशत्याध्यायं धर्मशास्त्रं ब्रवीमि वः ॥१८॥

पञ्चविंशति कर्माणि प्रोक्तान्यध्यायरूपतः ।
एकैकस्मिन्किस्क(?) माध्याये प्रोक्तैका परिसंख्यया ॥१९॥
स पञ्चविंशत्यध्याये कर्मक्लृप्तिर्यथाक्रमम् ।
धर्मशास्त्रं समाख्यातं भारद्वाजमहर्षिणा ॥२०॥
इति भारद्वाजस्मृतौ सन्ध्यादिप्रमुखकर्मविषयक प्रश्न
वर्णनंनाम प्रथमोऽध्यायः ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

दिग्भेदज्ञानवर्णनम्

अथ विजानीयात्पूर्वादि दिग्भेदज्ञानपद्धतिम् ।
कथयिष्याम्यहं सम्यक् सर्वकर्मफलाप्तये ॥ १ ॥
पूर्वादि दक्षिणा वारुण्युदीची च यथाक्रमम् ।
दित(?श,श्चतस्रः परितः भवन्ति स्मृतिचोदिताः ॥२॥
यत्रोदेति सहस्रांशुः स्यात् (सा) पूर्वादिगुदाहृता ।
यत्रास्तमेति सा प्रत्य गीतकि(?)दक्षिणोत्तरे ॥ ३ ॥
दिक्संधयः स्युर्द्विदशः चतस्रः परिकीर्त्तिताः ।
अभ्यन्तरं दिशोमन्तः तदूर्ध्वमुपरि स्मृतम् ॥ ४ ॥
तदधस्तादधोदिक्स्यात् एकादश दिशः स्मृताः(स्त्विमाः) ।
एवमेताः परिज्ञेया दिशः सामान्यरूपतः ॥ ५ ॥
प्राङ्मध्यम विजानीयात् मेघस्थार्कोदयम्बुधाः ।
तत्क्रमेणेतरदिशः मध्यदेशं यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

मेष सूर्योदये यत्रच्छायाशंको समस्थले।
निर्गगा सा प्रतीची स्यात् अस्ति प्राचीत्युदाहृता ॥७॥
दिङ्नामानिस्तूपावास ग्रामाद्विस्थापने बुधाः।
शकृच्छाया पशाद्धेया प्रात्यङ्गमध्यनिश्चयः ॥ ८ ॥
यानि देवोक्त कर्माणि प्रागादिमुखसंस्थितः।
वेदी क्षेत्राणि सर्वाणि कुर्यात्तदभिवक्त्रतः ॥ ९ ॥
अथात्तरोर्ध्वकाष्ठासु कर्मान्यु(ण्यु)क्तानि यानि वै।
तानि कुर्यात्तदभ्यस्य तत्कर्मफलसिद्धये ॥१०॥
केचिद्देवालयद्वारं प्राचीमध्यं प्रचक्षते।
ग्राम राजग्र(गृ)हद्वारं तथाऽन्योऽस्यदिगन्तरम् ॥११॥
प्राक्पूर्वैदिति नामानि प्राच्याः प्राहुः पुरातनाः।
याम्यवाची दक्षिणाया नामनी(नामानि)कथ्यते वुधैः ।१२
पश्वा(त) प्रत्यग्वारुणीति प्रतिच्यानानुवाचकाः।
कौबेर्यादिच्युत्तरेति नामानिस्युरु······· शः ॥१३॥
अभ्यन्तरान्तरालातरव कोशान्तराह्वयः।
अवान्तरदिशः सञ्ज्ञौः(सञ्ज्ञाः) विद्वद्भि परिकीर्तिता ।१४।
उपरिष्टादुपरिचेत्येतेद्वेसीमनी बुधाः।
आहुरूर्ध्व दिशस्त्वेवमभ्यासर्व दिशः स्मृताः ॥१५॥
हरिद्राशाककु काष्ठा चेतिनामानि वै दिशाम्।
सर्वासामेवै हि दिशां सामान्यं विबुधा विदुः ॥१६॥
पूर्वादि चतुराशेगाः क्रमादिंद्रियबुराट्।
किन्नरेश्वर इत्येते भवंति विदिशामथ ॥१७॥

सप्ताश्वासिऋतिर्वायुः यि(ई,शानश्चेत्यमीश्वराः ।
अंतरोर्ध्वाधरदिशां भूतदेवादयोधिपाः ॥१८॥
एवं दिग्विषयाः प्रोक्ताः सर्वेषां सर्वकर्मणि ।
परिज्ञेयः प्रयत्नेन बुधैः कर्मफलेच्छुभिः ॥१९॥
मेषकर्कितुनश्चत्वारो राशयस्त्वमी ।
पूर्वादिषुचतुर्धि(र्दि,क्षु मध्येऽन्योन्यत्र राशयाः ॥२०॥
प्राचीमध्यं विनान्यत्र संस्थितायेच राशयः ।
तत्रस्थिता हि मरिचच्छाया वक्त्रा सदा भवेत् ॥२१॥
समभूमिस्तले दण्ड प्रमाण चतुरश्रके ।
शंखोकोश्च द्विगुणेनैव शुल्पे(?) कृति मण्डले ॥२२॥
मधमस्थापयेच्चंकुं (?) मेषस्थार्कोदये बुधः ।
मेषस्थार्णदयालाभे तुलांस्थार्कोदयोथवा ॥२३॥
मंडतां(लांत)र्गतायस्यच्छायायत्रांबुराट्सरी(रि,त् ।
अपराह्ने तथा तत्र शतक्रतु हरिद्भवेत् ॥२४॥
तयोर्बिंदुद्वयं मध्ये प्रकुर्वीत विचक्षणः ।
ततः प्रासारयेत्सूत्रं तत्रविंदु च यत्समः ॥२५॥
प्राचीप्रतीच्योस्थं मध्ये इतिज्ञेयं विपश्चिता ।
बिंदुद्वयांत्तरभ्रांतशफरानतपुश्चकं ॥२६॥
सूत्रं यत्तद्भवेन्मध्यं दक्षिणोत्तरयोः क्रमात् ।
उपगाद्यपरांतानि पर्यंतानि विनिक्षिपेत् ॥२७॥
सूत्राणि च ततः प्राज्ञैः प्रागुत्तरमुखानि च ।
मातंगश्शृंगखदिर शमीशाक कुचंदनाः ॥२८॥

तिंदुकरक्तदिरश्चेति शंखुवृक्षाः समीरिताः ।
यस्योच्छ्रादिर्विस्तकावष्कुरंगुल पंचकं ॥२६॥
चतुरंगुलविस्तारः मूर्धासौ शंकुरुत्तमः ।
यस्योच्छ्रायादिनाबौ द्वौ भवतोष्टादशांगुलौ ॥३०॥
न शंकुर्मध्यगोग्रस्यनाभिः सप्तदशांगुलम् ।
यस्याश्चनाभौ भवतः द्वादशैकादशांगुलौ ॥३१॥
कनिष्ठोसौ समाख्यातः शंखुच्छायावलोकने ।
सर्वेनिवृत्ताः सस्निग्धाः च्छत्रानारसिरोंकिताः ॥३२॥
निर्वृणाः शंकवोयेते निर्मितास्युः शुभप्रदाः ।
त्वग्भिश्चंप्पकयावानां नारिकेलफलस्य च ॥३३॥
ईज्जुर्यानिमितासंस्यात् प्रशास्ता मानकर्मणि ।
न्यग्रोधकेतकीतालवल्केष्वेतेषुनिर्मितम ॥३४॥
कार्पासवटतंत्वोर्वात्रिवृद्ग्रंथिविवर्जितम ।
स्वकनिष्ठांग्गुलि थूलंस्मिग्धंककुदसंम्मितम ॥३५॥
सूत्रमेवंविधं शस्तं मापने सर्वभूमिषु ।
शुल्बेरज्जुविदरसूत्रं गुण एकार्थमुच्यते ॥३६॥
देवब्रह्मपितृगां च जात्याद्युक्त यात्रिवृत् ।
वृषकन्यकयोच्छाया नवष्त्रास्याधृग्रस्थितौ ।३७॥
वृषस्तभानोरुदये कन्यास्ताकोंदयेपि वा ।
मण्डले स्थापयेच्छंकुं यथापर्वं तथा क्रतौ ॥३८॥
पश्चाद्धिकात्मकच्छाया यत्र तत्र तथा ततः ।
तत्प्राचीदिगितिप्राहुः ति(इ)तरेदक्षिणोत्तरे ॥३९॥

अजेतुलायां मिथुने मृगेद्व्यङ्गुलं नयेत् ।
कर्कट वृश्चिकके मीने शोधयेश्चतुरंग्गुलम् ॥४०॥
षडंग्गुलंघटचापे मकरेऽष्टांग्गुलं तथा ।
छायायांद्दक्षिणेमेनित्वा सूत्रं प्रमारयेत् ॥४१॥
केचिदेवंत्यार्याः प्राक्प्रत्यधिग्विनिश्चये ।
खदिरक्षीरिणीसालामधूखदिरास्तथा ॥४२॥
ख्याताश्शंकुनमा प्रोक्ताः अथवा सालभूरुहाः ।
एकादशांग्गुलादेकः विंशतंग्गुलदीर्घकः ॥४३॥
पूर्णमुष्टिस्तुनन्नाभौ मूलं सूचिनिभो भवेत् ।
प्रमाणसूत्रमित्युक्तं प्रमागैर्निश्चितोहितः ॥४४॥
तद्बहिः परितोभागेपर्यंत्तं सूत्रमिष्यते ।
गर्भसूत्रादिरीत्यादुसूत्रमेवप्रचोदितम ॥४५॥
यदिवृत्यासमूत्रं हि वृत्थानं सूत्रमिष्यते ।
अणुरेणु शिरोजामूलाक्षायुक्ताः यवाक्रमात् ॥४६॥
एकैकाष्ट गुणिज्ञंयाः स्याद्यवाष्टकमंगुलम् ।
द्वादशांग्गुलकंनालः अस्तस्तालद्वयंस्मृतम् ॥४७॥
हस्तैश्चतुर्भिर्दंडंस्यात् सूत्रदंडाष्टकं स्मृतम् ।
स्वस्वहस्ताख्य सूत्राणि चतुर्थैवं वदंति हि ॥४८॥
पितस्थिरस्थूलयित्युक्तः अंग्गुलं सूत्रसंज्ञिकम ।
अष्टभिः सप्तभिष्षड्भिः यवैर्विज्ञेयमङ्गुलम् ॥४९॥
उत्तमं मध्यमंनीचं उत्तमेवं यथाक्रमम् ।
अंग्गुलं त्रिविधं प्रोक्तं इदं यवसमुद्भवम् ॥५०॥

अस्यधांग्गुलमेतैस्तु कथ्यंतेस्मिन् यतो भवेत् ।
साध्यैषड्भिर्यवैर्वाधासाध्यै सप्तभिरेव वा ।५१॥
साध्यैः सप्तभिराख्यातं एवं त्रिविधमंग्गुलम् ।
शाचिभिश्च त्रिभिः सार्धैः चतुर्भिश्च यथायवैः ॥५२॥
शाल्याद्भवं समाख्यातं अंग्गुलं त्रिविफं(धं) वुधैः ।
एवंमानांग्गुलं प्रोक्तमात्रांग्गुलमथोच्यते ॥५३॥
मध्यमांग्गुलमध्यस्त पर्वदीर्घमितंत्तु यत् ।
तच्छ्रेष्ठमंगुलं प्रोक्तं पादहीनं त्तु मध्यमम् ॥५४॥
अधही (नं) कनिष्ठं स्यादेवं मात्रांग्गुलत्रयम् ।
अंगुष्ठ तर्जनीदीर्घं यत्तत्प्रदिशसंज्ञतं ॥५५॥
अंगुष्ठमध्यमायामं यत्ता साराभिदानकम् ।
अंग्गुष्ठानामिकायामं यत्तद्गोकर्णसंज्ञिकम् ॥५६॥
अंगुष्ठाभ्यंगुला प्राहुः वितस्तेरिति कथ्यते ।
यत्रयच्चोदितं तत्र प्रयंजातेषु तत्प्रयः ॥५७॥
अंडादिसूत्रपर्यंत्तं प्रमाणं समुदाहृतम् ।
किष्वादि पंचशाकानां अधुनाभेद उच्यते ॥५८॥
किष्कुर्नामभवेद्धस्त चतुर्भिष्टविधरंग्गुलैः ।
प्राजापत्योभवेद्धस्तः पंचविंशाविधरंग्गुलैः ॥५९॥
षड्विंशत्यंग्गुलैर्हस्तः स्याद्धनुमुष्टि संज्ञिकः ।
हस्तप्राहहृयोहसप्तविंशाविधरंग्गुलैः ॥६०॥
एवं चतुर्विधोहस्तः विज्ञेयः कर्मवित्तमैः ।
वद्धमुषि(ष्टि)क कोरत्निररत्निः सकनिष्ठिकः ॥६१॥

इत्येतौ कथितौ हस्तौ मनुष्याणां मनीषिभिः ।
पूर्वोदित चतुर्हस्तो यत्रनाभिहितादिमौ ॥६२॥
हस्तौ तत्र प्रयोक्तव्यौ सामान्योनोदितकवे(?) ।
वाहुहस्ताद्वयोरत्निररत्निः किष्कुरित्यपि ॥६३॥
कथितो हस्तपर्यायः हस्तेछेदांग्गुलैरपि ।
खट्वानुखासनादीनि किष्कुहस्तेन कारयेत् ॥६४॥
प्राजापत्यकरेणैव प्रासादादिशिहस्त्रयान् ।
विमानं मौलिशांशालां सभास्थानं न कारयेत् ॥६५॥
धनुग्रहोण ग्रामादीन् धनुर्मुष्ट्या(ष्ट्या) ग्रहादिकान् ।
राजान्पदं(?) राजधानीं तदानयनसंज्ञिकम् ॥६६॥
धनुर्मुष्टिकरेणैव प्रकुर्वीत विचक्षणः ।
अलाचे किष्कुहस्तो वा सर्वेषामेव केवलम् ॥६७॥
अल्पांग्गुलमानेन क्षुत्रासंग्गुलमानतः ।
ग्रामं च नगरं खेटं पत्तटं(नं) खर्वटं पुरं ॥६८॥
विटंक्कं शिबिरं वेश्म निगमाराजधानिकम् ।
सेनामुखमितिप्राहुः द्वादशैतानि सूरयः ॥६९॥
अन्येषु शिल्पशास्त्रेषु पश्येदेषान्तुलक्षणम् ।
नदी जलायनं क्षेत्रं सूत्रेणैव तु मापयेत् ॥७०॥
दंडेन वाधसूत्रेण ग्रामयोरंन्तरं तथा ।
यत्स्वातिचित्रयोर्मध्ये उदयं श्रवणन्य च ॥७१॥
तत्प्राचीमध्यमं प्रोक्तं श्रविष्ठायाश्च सूरिभिः ।
तिष्योत्तरात्रयमुखा रोहिणीनां समुद्गमः ॥७२॥

यत्रैवं नैर्ऋतिमध्यं इत्येते ब्रुवतेतराः ।
तत्प्रतीपं प्रतिच्यास्तु मध्यष्टंघरातवे ॥७३॥
एवं मध्यद्वयं ज्ञात्वा ततोबिंदुद्वयं क्षिपेत् ।
ततो द्विबिंदुमध्ये तु समं सूत्रं प्रसारयेत ॥७४॥
एवं प्राचिप्रतिच्यास्तु जानीय्यान्मध्यमं बुधः ।
ध्रुवस्थानमुदिच्यास्तु मध्यपूर्वक्रमेण तु ॥७५॥
सूत्रं प्रसाद्ययामायां मध्यं ज्ञेयं विपश्चिता ।
ध्वनिः प्राच्याथवा सौध्यानिश्चिता पूर्व वस्तुतः ॥७६॥
प्राचीतरं तु यत्स्थानं सर्व दोषकरं भवेत् ।
एवं प्राची "नहोच्युते" परिज्ञायानम्मेकर्माण्य धारयेत् ।
अज्ञात्वाऽरवधऽकर्माणि निष्फलानि भवंत्ति हि ॥७७॥

॥ इति भारद्वाजधर्मशास्त्रे दिङ्निश्चय नाम द्वितीयोध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

विण्मूत्रोत्सर्जनविधिवर्णनम्

विण्मा(मू)त्रोत्सर्जनविधिर्द्विजानां प्रथमेघ(स्फु)टं ? ।
शौचक्रमश्चाधतथा (?) समीचीनमिहोच्यते ॥ २ ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय धर्मतत्वार्थमीश्वरम् ।
न चिम्त्याथग्र(गृ)हाद्दूत्वा देशे दक्षिणपश्चिमे ॥ ३ ॥

आहृताया मृदापश्चात्स्ताश्शुद्धभूतले(?) ।
पात्रयोर्मृदमावश्च क्षिपेश्चाछार्थं माहात्मन(?) ॥ ४ ॥
वल्मीकेथाऽग्नि वृक्षादौ मार्गे मूषिकसद्मनि ।
शौचदेशे जलांतस्ति कर्दमे देवतालये ॥ ५ ॥
पुरीषभूमालिरिणे निवासे च गवामपि ।
मृत्तिका न परिग्राह्य शौचार्थं जातु विद्युदैः ॥ ६ ॥
संध्यास्वाह? कर्णस्था ब्रह्मसूत्र उद्ङ्मुखः ।
वानसामौलिसाच्छाद्यामौनिमूर्ध्वानमस्पृशन् ॥ ७ ॥
समे रहसि भूभागे दर्भैतरत्तृणाामृते ।
विसृजेन्मलमूत्रे तु रात्रौचेद्दक्षिणामुखः ॥ ८ ॥
देवालयमखस्थानश्मशानाचलदारिषु ।
तदीकाब्धितटीतीरन्त्रुच्छायामूलभस्मसु ॥ ९ ॥
लोष्टसस्य च यश्वभ्रपराग बहुलीकृते ।
स त्यजेन्मलमात्रे तु स्थानेष्वेतेषु बुद्धिमान् ॥१०॥
आदित्यानलविप्राग्निनाभित्कस्यजेन्मूत्रपुरीषेतु विचक्षणः(?)
प्रमादात्स्वमलं दृष्ट्याभूमिस्थं ब्राह्मणोयदि ॥११॥
सवितारं द्विजंद्रष्टगामग्निं वा निरीक्षियेत् ।
दर्भैरपितृणैश्शुष्कै गुदमुत्सृज्य सत्वरम् ॥११॥
अयज्ञदारुकाष्ठेन तत्पत्रैर्वाप्यलोभतः ।
उत्थाय सव्यहस्ते गृहीत्वाज्ञस्वमेहनम ॥१२॥
शौचदेशमदागव्य कुर्याच्छौचं मृदांब्बुना ।
पूर्वं ज्जलेन प्रक्षाल्या मृदापश्चात्ततोंब्बुना ॥१३॥

एवं द्वादशकृत्वस्तु गुदशौचं समाचरेत् ।
प्रसृति प्रमिताद्यामृत द्वितीया तु तदर्भका ॥१३॥
उत्तरोत्तरतः सर्वात्रितय्यावतुता बुधैः ।
दशकृत्वोवामहस्तं सप्तकृत्वः कराटभौ ॥१४॥
संयोज्य चैवं प्रक्षाल्य सकृच्छोचं पुनश्चरेत् ।
पंचकृत्वः क्षकाक्षाल्य मृदामलकमात्रया ॥१५॥
त्रिकृत्वोलिंगशौचं तु हस्तंक्षाल्यपदेद्वयं ।
संयोज्यत्रिमृदाक्षाल्य क्षालयेच्छौचभूतलं ॥१६॥
कुर्वीतैवदिवा शौचं रात्रावस्यार्थमुच्यते ।
उ(अ)शक्तस्य यथा शक्ति शौचमुक्तं तथाध्वनि ॥१७॥
योषितामुक्त शौचार्थं शूद्राणामप्युदीरितम् ।
नदीनरस्तटाकेषु वापीकुण्डेह्रदेषु च ॥१८॥
निर्झरे देवखातेब्धौ द्विजः शौचं न कारयेत् ।
एवं शौचविधिः प्रोक्ता द्विजानां शुद्धि हो (हे) तवे ॥१८॥
विधिं विसृज्य यच्छौचं वृथा कृतमविस्मृ तम् ।
कृतं संध्यादिकं कर्म नित्यं नैमित्तिकं तथा ।
सर्वं निष्प(ष्फ)लतांयाति शौचहीनं द्विज(न्म)नाम् ॥१६॥

॥ इति भारद्वाजस्मृतौ विण्मूत्रविसर्जनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

आचमनविधिवर्णनम्

समस्त कर्मणामादि साद्धनं सर्वशानां ।
उपस्पृष्ट विधिः सम्यग्द्विजानामधुनोच्यते ॥ १ ॥

आचम्य विधिव:कर्मकृतं यत्तत्प्रसिध्यति ।
विनैवाचमनं कर्म कृतमव्यफलं लभेत् ॥ २ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन आचम्य विधिवत्ततः ।
श्रौतं कर्माथवास्मार्त्तं कुर्यात्कर्म फलाप्तये ॥ ३ ॥

जंघान्तं जानुपर्यन्तं अपिवाचरणद्वयं ।
परांतंकरौसम्यक्क्षालयेत्प्रथमं बुधः ॥ ४ ॥

नाभेरथ(ध)स्तात्सकलं क्षालयेत्सव्यपाणिना ।
कुर्यादाचमनादीनि कर्माणारेदपाणिना ॥ ५ ॥

जलस्थमुधृतंवापिवारिशुद्धं प्रपश्यते ।
स्थलस्थंम्बोधृतंचापि यथशुद्धंतदुत्सृजेत् ॥ ६ ॥

जले जलस्थ आचामेत्बहिष्ठस्तु जलाद्बहिः ।
बहिरंतस्थ आचामेदुभयत्र शुचिर्भवेत् ॥ ७ ॥

जानोरधस्तास्तविले उपस्पृष्टउपस्पृशेत् ।
जलाशयादिष्ठाचामेदूर्ध्वांभः सूर्द्धसंस्थितः ॥ ८ ।

उपविश्य शुचौदेशे प्राङ्मुखो ब्रह्मसूत्रधृक् ।
बद्धचूडःकुशाकरः द्विजः शुचिरुपस्पृशेत् ॥ ९ ॥

तिष्ठन्नमन् स्वपन् जल्पन् शृण्वनंत्यजभाषणा।
अश्यस्पृशन्दिशप्पस्पनकदाचिदुपस्पृशेत् (?) ॥१०॥
काकश्वखरविट्रोडताम्रचूडरजस्वलाः ।
व्रात्यांत्यजाति पतितान्पश्यन्नपिस्पृशेद्विजः ॥११॥
देवलाजभिषः शूद्रान् चंडालानुरुपातकान्।
पश्यन्नोपस्पृशेद्धीमान् अन्याः संकरजानपि ॥१२॥
शयानः पादुकस्थश्चेवबहिर्जानुः श[illegible]ासनः ।
उष्णीषीकंचुकीनग्नः न कदाचिदप स्पृशेत् ॥१३॥
ब्रह्मप्रजापतिपितृस्वर्गौकोजातवेदसाम् ।
संतिपंचापितीर्थानि पाणौ विप्रस्य दक्षिणे ॥१४॥
अंग्गुष्ठस्य कनिष्ठायाः तर्जन्यामूलमग्रकम्।
कंकरस्यमध्यमंचाहुस्तीर्थस्थानानिसाधवः ॥१५॥
तर्पणं देवतादिभ्यः स्वती[illegible]नैव तर्पयेत्।
पिवेदाचमनेदादिवीक्षितं ब्रह्मतीर्थतः ॥१६॥
पानमार्जनसानादिस्पर्शानामधिदेवताः ।
क्रमेण सम्यक्कथ्यंते तदा संस्मरणाय वै ॥१७॥
कार्यः सर्वांगिरो वेदः पुराणोनितिहासकः(?)।
प्राणेंदुभानुदिग्भूमि ब्रह्मरुद्रामराधिपाः ॥१८॥
एतेपानशरीरांगदेवता इति कीर्तिताः ।
तत्तक्रियायां स्मर्तव्या पदोपस्पर्शने द्विजैः ॥१९॥
उपस्पर्शनकालेन स्मरन्यानांगदेवताः ।
पिवेत्स्वद्विजन्मायः तस्यौपस्पर्शनं वृथा ॥२०॥

प्रक्षाल्य चरणौ हस्तौ प्राङ्मुखोवाप्युदङ्मुखः ।
उपविश्यासनेशुद्धे कुर्याद्गोकर्णवत्करां ॥२१॥
सपवित्रंकरे तस्मिन् माषमानमितं जलं ।
आनीय्यत्रिःप्पिवेद्धीमान्वेदत्रितियतुष्टये ॥२२॥
पक्वं सफेनकलुषं सदुर्गंद्धंस बुद्बुदम् ।
उष्णंसंमृत्तिकंक्षारं त्येजेदाचमने जलम् ॥२३॥
अंतरीक्षं नखस्पृष्टं भिन्नरंद्रविनिर्गतम् ।
एक हस्तार्पितंवारि त्यजेदाचमने द्विजः ॥२४॥
चिंतापर्युषितत्स्पृष्टं अंत्यजैः क्रममि (?) संयुतं ।
देवाभिषिक्तं हेयं च त्यजेदाचमने वयः ॥२५॥
अथर्वांगिरसस्तुष्टै ततोधिः परिमार्जयेत् ।
तिर्यदंगुष्टमूलेन मुखरन्ध्रं विचक्षणः ॥२६॥
इतिहासपुराणानां तु पुष्पैनिर्मार्जयेत्पुनः ।
अथावरोह क्रमतः तथा हस्ततलेन च ॥२७॥
पादयोः सत्यपाणौ च का(प्र)क्षिपेद्वि ष्णुतुष्टये ।
नासामूलं स्पृशेत्तुष्ट्यै मध्यत्तंग्गुलिभिः शितः ॥२८॥
ततः पा(प्रा)णस्य संतुष्ट्यै नासिका विवरद्वयं ।
अंग्गुष्ठ तर्जनीभ्यांतु संस्पृशेत्तु द्विजोत्तमः ॥२६॥
सूर्याचन्द्रमसोः प्रीत्यैदीर्ध्यां प्रीत्यै च संस्पृशेत् ।
अंग्गुष्ठानामिकाभ्यांतु चक्षुषी श्रवणद्वयं ॥३०॥
भूद्रोंग्गुष्ठ कनिष्ठाभ्यां नाभिं संप्रीतये स्पृशेत् ।
ब्रह्मणो हृदयंप्रीत्यै अलभेततलेन वै ॥३१॥

सर्वांगुलीभिरीशस्य मूर्धानं प्रीतये स्पृशेत् ।
अंगुष्ठाङ्गुलीभिस्तुग्स्य जिष्णो स्पृशेद्भजौ(?) ।।३२।।
कर्मावसाने कर्मादौ दैवमाचमनं द्विजः ।
कुर्यात्स्वकर्मसिध्यर्थं सर्वदा सर्वकर्मसु ।।३३।।
ताम्रचर्माश्वबालांबु नारिकेलाश्मपत्रकी ।
उपस्पृशेत्स्वहस्तरमै रेतैरपि विचक्षणः ।।३४।।
ब्रह्मयज्ञे विशेषोस्ति किंचिदाचमनक्रमे ।
प्रवक्ष्यते तदेतद्धि तत्कर्मफलसिद्धये ।।३५।।
पानत्रयं यथा पूर्वं तथा द्विः परिमार्जनं ।
उपस्पृश्य शिरश्चक्षु नासिकाद्वितयं तथा ।।३६।।
श्रोत्रद्वयं च हृदयं पूर्वोक्तविधिना लभेत् ।
एवमाचमनं प्रोक्तं ब्रह्मयज्ञे महर्षिभिः ।।३७।।
स्नानपानक्षुतस्पाप होमभोजनकर्मसु ।
अध्वोपसर्पणे मूत्रविड्स्सृष्टौ द्विराचमेत् ।।३८।।
जपेश्मशानाक्रमेण परिधान्येन वासिनः ।
चत्वाराक्रमणे चैव द्विजातिर्द्विरुपस्पृशेत ।।३९।।
विनाविध्युक्तमार्गेण यो द्विजो नित्यमाचरेत् ।
अनाचांतः स एवस्यादशुद्धयितिभाषितः ।।४०।।
एवमाचमनस्योक्तं विधानं श्रुतिचोदितं ।
एतद्धेयं द्विजश्रेष्टैः अनुष्ठानादिसाधकैः ।।४१।।

।। इति भारद्वाजस्मृतावाचमनविधिर्नाम चतुर्थोध्यायः ।।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

दन्तधावनविधिवर्णनम्

दन्तानां धावनविधिर्द्विजानामधुनाऽघ (स्फु)टं ।
कथ्यते (कथ्यते) मुखशुध्यर्थं योग्यार्थं सर्वकर्मणां ॥ १ ॥
प्रक्षाल्य चरणौ हस्तौ मुखंचाथ यथाविधि ।
आचम्य प्राङ्मुखःस्थित्वा दन्तधावनमाचरेत् ॥ २ ॥
एकादश्यष्टमीषष्ठि नवमी च चतुर्दशी ।
प्रतिपत्पौर्णमासी च काष्ठमेतासुवर्जयेत् ॥ ३ ॥
जन्मत्रयापराह्णार्कदिवसव्यतिपातकाः ।
स संक्रमाविवर्ज्यान्युर्वंत्तथावनकर्मणीम् ॥ ४ ॥
शल्मल्येरंढ्कार्पासा पालाशाश्वद्धतिंदुकाः ।
श्लेष्मातकशमीनिम्बधवधात्रिलिभीतकाः ॥ ५ ॥
निवारशीतकर्कंदुक्षिरिका कोविदारिकाः ।
काशांगुलिकुशाश्चैव विवर्ज्या दन्तधावने ॥ ६ ॥
अशोकमधुकप्लक्षविल्वांक्कोलप्रियंगवः ।
जंब्वुकदंबश्यामाक बदरीपूगचंप्पकाः ॥ ७ ॥
शिरीषदाड़िमार्काम्राकरवीरातिमुक्तकाः ।
जजी श्रीफल भांडीरभद्रदारुविकंङ्कताः ॥ ८ ॥
काश्मरीबृहतीसाल चिरिविल्वा अरूक्षकाः ।
अपामार्गाश्वकर्णाह्वय ककुभाभूतभूरुहः ॥ ९ ॥

एते वृक्षा प्रशस्तास्यु क्षीरलब्धमहीरुहाम् ।
यादावनं (?) कुर्याद्दंत्तानां सततं द्विजा ॥१०॥
वक्रा विवालाः शुष्काग्राः सरंध्राः युग्मपक्ककाः ।
विकूर्चाहोयगंधा च सकीटज्ञातपूर्विका ॥११॥
सप्रवासा समुच्छेदा न शास्त्रोक्तामनोहरा ।
त्यक्तव्येधृग्विधाशाखा द्विजैः शुद्धै विचक्षणैः ॥१२॥
स्निग्धासांद्रासुविदलाद्दढ़ाश्वामातिराजिता ।
स्वकनिष्ठांग्गुलिस्थूलावितस्त्यायातिकाशुभाः ॥१३॥
नित्य देवालये गोष्ठे श्मशाने जलमध्यगे ।
यागस्थाने शुचौदेशेनाचरेद्दंत्तधावनं ॥१४॥
शार्दूल कृष्णगोकृत्तो यज्ञवृक्षे तृणेषु च ।
उपविश्य न कुर्वीत वक्त्राशुद्धिमनासनः ॥१४॥
दक्षिणामुखस्तिष्ठं शयानश्चयिदिङ्मुखः ।
गच्छं व्रजत्यज्ञरवोभूत्वा नाचरेद्दंत्तधावनम् ॥१५॥
पतितात्यय पाषंड देवजीवरजस्वलाः ।
भिषक्यातकिछंडाल न प्रक्ष्यादंतधावने ॥१६॥
शुनकं विड्वराहं च गर्धभंतांम्रचूडकं ।
अन्यान्नैवंद्यशास्पर्श्ये द्विजः शुद्धविचक्षणः ॥१७॥
यावंत्तो नियमाः प्रोक्ता द्विजश्रेष्ठस्य सुजितः(?) ।
प्रेक्ष्याप्रेक्ष्येषु कर्तव्याः समौनेन विपश्चिता ॥१८॥
कदंबार्जुन कौशीरशिरीष खदिरद्रुषु ।
द्विजः शुद्धिं यतिः कुर्यात नदाष्टांग्गुलिशाखया ॥१९॥

आयुरित्यादिमंत्रोयं उक्तः शाखाभिमात्रिणे ।
विनाभिमंत्रिणं तूष्णीं वृथास्याद्दन्तधावनं ॥२०॥
अस्य प्रजापति ऋषिः छंदोनुष्टुग्वनस्पतिः ।
देवतेतिहृदिस्मृत्वा मंत्रारंभेपदेवुधः ॥२१॥
अभिमंत्र्याहृतांशाखां मंत्रेणानेन वै द्विजः ।
पश्चादूर्ध्वं क्रमणे दावयेच्छाकयैकया ॥२२॥
शाखांविदार्य तस्यास्तु भागेनैकेन मार्जयेत् ।
स्थूलमध्याल्पभेदतः ॥२३॥
श्रेष्ठामध्याः कनिष्ठास्युकृत्यायैग्रासकल्पने ।
पिप्पलाद समुत्पन्ने कृत्यये लोकभयङ्करि ॥२४॥
षाषाणंत्तेमयादत्तमाहारार्थं प्रकल्पितम् ।
तिलाक्षतैः सहाशीलां मा'मं,त्रेणानेनवारि च ॥२५॥
दत्तेवाधांञ्जलिंबध्वा ततस्नायाद्यथाविधि ।
विद्धेपर्वत(न) स्नायाच्चतुर्दश्यां महोदधौ ॥२६॥
साचेद्धौमयुता स्नायात्तामतिक्रम्य पर्वणि ।
प्रक्षाल्य चरणौ हस्तौ प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ॥२७॥
स्थित्वा यथावदाचम्य प्राणायामं समाचरेत् ।
ततः संकल्पयेत्स्नानं ब्राह्मस्य विनियोगकं ॥२८॥
आपोहिष्ठाधिभिः षड्भि तिसृभिः प्रणवस्य च ।
हिरण्यवर्ण इत्यादि चतुर्भिश्च ततः परं ॥२९॥
पवमानानुवाकेन पादाद्युक्त विधानतः ।
स्वात्मानं सकुशैरद्भिः मार्जयेत्परितोबुधः ॥३०॥

ब्राह्मस्थानमिदं प्रोक्तं पापक्षयकरं परं।
पादयोर्मूर्ध्नि हृदये मूर्ध्नि वक्षसि पादयोः ॥३१॥
वक्षस्यंघ्र्योश्चमूर्ध्नीति ब्राह्मो संमार्जनं क्रमः।
प्राङ्मुखः प्रयतः पादौ प्रक्षाल्यचम्य पूर्ववत् ॥३२॥
प्राणानायम्य संकल्प्य भस्मस्थानं समाचरेत्।
आदायभसितं श्वेतं अग्निहोत्र समुद्भवं ॥३३॥
ईशानेन तु मंत्रेण शिरस्येव विनिक्षिपेत्।
तत आदायतद्भस्म मुखेतत्पुरुषेण तु ॥२४॥
अघोराख्येन हृदये ततस्तद्भसितं क्षिपेत्।
सद्योजाताभिधानेन भस्मपातद्वये क्षिपेत् ॥२५॥
सर्वांग्गं प्रणवेनैव मंत्रेणोद्धूलयेत्ततः।
एवमाग्नेयजं स्नानं उदितं परमर्षिभिः ॥२५॥
प्राङ्मुखश्चरणौ हस्तौ प्रक्षाल्याचम्य पूर्ववत्।
प्राणानायम्य संकल्प्य तिष्ठेद्व र्चसा ॥२६॥
स्वशरीरं भवेदार्थं यावत्तावत्सितिप्रमा।
दिव्यं स्थानमिदं प्रोक्तं मुनिभिः सत्वचिंतकैः ॥२७॥
पूर्ववत्सकलं कृत्वा संकलपान्ते द्विजोत्तमः।
ग्रामाद्बहिः शुचौ देशे गवागमसपद्धतौ ॥२८॥
स्मरन्नारायणं तिष्ठंद्यावद्धूल्यावृतं पुनः।
वायव्यंस्नानमित्युक्तं एतदाम्नायवादिभिः ॥२६॥
देवालये नदीतीरे मठेपुण्यायश्रमेवने।
ग्र(गृ)हावान्यतत्रस्थाने शुद्धे स्नानं समाचरेत ॥३०॥

येषु देशेषु यच्छश्यं तत्कृत्वा स्नानमादितः ।
प्रक्षाल्य चरणौ हस्तौ उपस्पृर्श(श्य) यथाविधि ॥३१॥
उपविश्यचु(शु) चौ देशेशिश्चला कक्रूशास्मृते ।
ऊर्ध्वपुंड्रंच्च विधिना ललाट हृदये गले ॥३२॥
स्नात्वाग्निहोत्रजेनैव भस्मना च प्रसन्नधीः ।
पंचभिर्ब्रह्मभिर्वापि कृतेन भसितेन च ॥३३॥
वामभागेस्मरेद्विष्णुं कमलारूढपक्षसं ।
पीताम्बरधरश्यामं चतुर्बाहुं कीरीटनं ॥३४॥
नानारत्नप्रभाजालस्पु(स्फु) रन्मकरकुण्डलं ।
सर्वाभरणसंयुक्तं ह्येमयज्ञोपवीतिनम् ॥३५॥
पवित्रहस्तोध्यायितः किंचित्प्रहसिताननं
मुकजंपांचजन्यंच्च बिभ्राणं हस्तदक्षयोः ॥३६॥
कौमोदकीं रथांगं च बिभ्राणं वामहस्तयोः ।
तिष्ठंतवासुखासीनं तदाध्यायेद्यथारुचि ॥३७॥
विवंभक्तया स्मरध्यायेदीश्वरं सुरनायकं ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमांगतिम् ॥३८॥
इदं स्तानंतु सर्वेषां स्नानानामाचरेद्यथा ।
द्विजः शक्तस्त्वशक्तश्चेदिममेव समाचरेत् ॥३९॥
इदं हि मानसंस्कारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदं ।
देवैर्महर्षिभिः सेव्यं भक्तयापि परया सदा ॥४०॥
एवं सप्तविधं स्नानं ब्रह्मणेदं पुरोदितम् ।
ज्ञात्वा द्विजोत्तमः सम्यग्यथायोग्यं समाचरेत् ॥४१॥

अत्रोक्तं सर्वमंत्राणां प्रजापतिरिषि स्मृतः ।
च्छंदश्चंदसि विज्ञेयं लिंगोक्ता देवता स्मृता ॥४२॥
प्रयोगकाले मंत्राणां ऋषिश्चंदोधिदेवताः ।
विनियोगक्रमादुक्त्वा तत्तत्कर्म समाचरेत् ॥४३॥
अवदित्वा ऋषिच्छंदो देवतं विनियोगकं ।
प्रयुनक्तिमसून्यूनौ पापिय्यान्भवतिधृ(ध्रु)वं ॥४४॥
द्विजोग्निहूत्रजनैव भस्मना च सवारिणा ।
धारयेदूर्ध्वपुंड्रं च सर्वपापविशुद्धये ।
ललाटचोर्ध्वपुंड्रंस्यात्सर्वपुण्यफलं भवेत् ॥४५॥

॥ इति भारद्वाजस्मृतौ स्नानविधिवर्णनंनाम पञ्चमोध्यायः ॥

अथ षष्टोऽध्यायः

त्रिकालसंध्याविधानकथनम

अथ संध्यात्रयोपास्ति विधानं कथयाम्यहं ।
द्विजन्मनां परिस्पष्टं समस्ताभिष्टसिद्धये ॥ १ ॥
ब्रह्मव्याकारभेदेन याभिन्ना कर्मसाक्षिणी ।
भास्वतीश्वरशक्तिः सास्संध्येत्यभिहिता बुधैः ॥ २ ॥
तं मयूखकायायां निविष्टं स्वस्वविग्रहं ।
संचिंत्यतस्याः कुर्याद्यत् कर्मोपायस्तदुच्यते ॥ ३ ॥

उत्पत्तिस्थितिसंहार स्वस्वभाव प्रभेदतः ।
संध्या सर्वगतासाध्या एकैव त्रिविधा भवेत् ॥ ४ ॥
प्राक्संध्यामध्यसंध्या च सायं संध्येत्यनुक्रमात् ।
तिस्रः संध्या भवंत्येवं जन्मस्थितिलयात्मिकाः ॥ ५ ॥
तत्पूर्वसंध्या ब्राह्मीस्यान्मध्यसंध्या तु वैष्णवी ।
रौद्रि तु पश्चिमासंध्या चैवं संध्या त्रयं स्मृतं ॥ ६ ॥
ऋग्यजुस्सामवेदानां रूपत्रयमिदं मतं ।
तस्माद्द्विजस्सदा संध्या त्रितयं सर्वदा चरेत् ॥ ७ ॥
पारभ्रृतारकाज्योतिराभानुदय दर्शनात् ।
प्रातः संध्यत्यभिहित स्वाध्यायश्चमहर्षिभिः ॥ ८ ॥
सूर्यस्यास्थमयात्पूर्वमारभ्यातारकोदयात् ।
सायंसंध्येति सामध्यमुभयोर्मध्यमातथा ॥ ९॥
सेवेत पूर्वं प्राक्संध्यांमध्यसंध्यां ततस्तथा ।
ततश्चात्पश्चिमां संध्या नियमेन ततोद्विजः ॥१०॥
उद्धाय पूर्वं संध्यायाः कृत्वा चावस्यकादिकं ।
स्नानांत्तं विधिवत्सर्वं संध्याकर्म समाचरेत् ॥११॥
महाधुनीधुनीश्रोतः सरोमानस्तटाककः ।
तालः पुष्करिणीत्यष्टौ गते च सविलाशयः ॥१२॥
एतेष्वेकस्त··· वद्धे शुद्धस्नानेषु चैव हि ।
तत्रस्तित्वाद्विजः संध्यामुपासीत विधानतः ॥१३॥
स्नात्वानुपहतः पादौ प्रक्षाल्य प्राङ्मुखस्थितः ।
उपस्पृश्यसमाचम्य प्राणायामं समाचरेत् ॥१४॥

प्रणवं व्याहृतिः सप्तगायत्रिं सिरसासहा ।
त्रिः पठेदायतः पाणः प्राणायामः स उच्यते ॥१५॥
सप्तव्याहृति पूर्वां तां आद्यंत्तं प्रणवाहृदा ।
जपेद्द्वादश गायत्रिं एकोयं प्राणसंयमः ॥१६॥
अशक्तास्यात्समुदितः प्राणायासो द्विजन्मनां ।
वालस्यचेतरेषां तु प्रशस्तः प्रथमोदितः ॥१७॥
दक्षिणाघ्राणरंध्रेण रेचयेत्सर्व्वकर्मसु ।
प्राणायामेन वामेन स्वरंध्रेण च पूरयेत् ॥१८॥
प्रायशोखिलमंत्राणां ऋषिश्चंद्दोधिदैवताः ।
विनियोगं च संस्मृत्वा ततो मंत्राः समुच्चरेत् ॥१९॥
इत्येवमुक्तो विधिवज्जपः कर्मणि सूरिभिः ।
व्यक्तोपांशुश्च कंठोष्टैर्मनस्सापित्र्यनुक्रमात् ॥२०॥
पार्श्वस्थितजनैश्रोतु य उच्चारः स्परिस्घटः ।
स्पस्यश्रोतुं परीस्तृं उच्चारो जपकर्मणि ॥२१॥
यो सा उपांशुरित्युक्त जपयज्ञपरायणैः ।
य उच्चारः सविद्वद्भिः कंठोष्टक इतिस्मृतः ॥२२॥
मंत्राक्षराणि मनसाचिंत्तयन्नप्यथक्रमात् ।
पृथक्पृथक्तदुच्चारो मानसाख्य इति स्मृतः ॥२३॥
व्यक्त एकगुणस्स्मादन्योदशगुणाधिका ।
कंठोष्टकश्शतगुणः तत्सहस्रगुणोदिकः ॥२४॥
पुरस्थात्प्रणवोच्चारः मंत्राणां सर्वदा स्मृताः ।
सर्वकर्मसु सर्वत्रापरेषां परमर्षिभिः ॥२५॥

पणिवस्य ऋषिर्ब्रह्म देवता च श्रुतित्रयं।
च्छंदस्तु देविगायत्रि विनियोगोसुसंयमे ॥२६॥
भूर्भुवस्वर्महाजनस्तपः सत्यमितीरिताः।
यथाक्रमेण सप्तैताः महाव्याहृतय स्मृताः ॥॥२७॥
भूरादिनामत्रिभृगुकुत्सवशिष्ठगौतमकाश्यपोंग्गिराः।
सप्तैते मुनयस्सप्तव्याहृतिनां क्रमात्स्मृताः ॥२८॥
भूदांसिगायर्त्युष्णिश्च अनुष्टु(पवृ) हति तथा।
पंगृक्तिस्त्रिष्टुप च जगते चैव मुक्तान्यनुक्रमात् ॥२६॥
भूरादिव्याहृतीनांत्तु मुनयो मुनिसप्तकं।
संस्मर्तव्यमिति प्राहुः केचित्स्वाध्यायवादिनः ॥३०॥
विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोथ गौतमः।
अत्रिभृगुः कश्यपश्च इति सप्तमहर्षयः ॥३१॥
पावकस्य सन्त्सूर्यवागीशोयादसांप्पतिः।
देवरात्विश्य देवाश्व देवता इत्युदीरिताः ॥३२॥
स्वेतश्श्यामश्व सारांग्गः पीतवर्णाश्च लोहिता।
सुवर्णवर्ण इत्येते तासां वर्णाः क्रमात्स्मृताः ॥३३॥
विश्वामित्र ऋषिश्चंहो गायत्रि देवतांशुमान्।
गायत्र्याशिरसो ब्रह्म मुनिश्चंदस्तथैव च ॥३४॥
देवता परमात्मास्याद्विनियोगोनुसंयमे।
प्रणवस्यतथावर्ण शुद्धस्फटिकसंनिभः ॥३५॥
तथैषामुक्तमंत्राणां सर्वतत्रमिति स्मृतं।
इत्येवमुक्तानत्वा च सर्वकर्म समाचरेत् ॥३६॥

आदौ यः सर्ववेदानां उच्चार्यः प्रणवो हि सः ।
भूरादयोत्र कथिताः संत्तिछंद्दसि सप्त च ॥३७॥
यस्यतत्सवितुपूर्वं तदंतं च प्रचोदयात् ।
तस्मादयं प्रकथितः मंत्रेः सर्वागमेष्वपि ॥३८॥
पवित्रवंत्तइत्यस्मिन् सूक्ते दंथुज्ञुरागमे ।
नतामियंनित्यस्मिंश्च मंत्रस्यश्चंद्दसिस्पुटं ॥३९॥
ॐ मापो ज्योतिरित्यादि भूर्भुवः सुवरोमिति !
सर्वश्रुतिशिरोगुह्यमेतद्गायत्रिया स्मृतां ॥४०॥
एतद्रहस्यं गायत्र्याः शिरः सप्तदशाक्षरं ।
परंब्रह्मेत्यभिहितं वेदेवाजसनिय्यके ॥४१॥
ततः संकल्पयेत्प्रातः संध्योपास्तिकरोति यः ।
इति स्वचेतस्मरणं यः संकल्पस्तदुच्यते ॥४२॥
आपोहिष्ठादिभिर्मंत्रैः त्रिभिः संमार्जयेततः ।
सिंद्धुद्वीपऋषिश्चंद्दो गायित्र्यापोहि देवताः ॥४३॥
मार्जने विनियोगस्तु सूर्यश्चेति जलं पिवेत् ।
अस्यानुवाकस्य ऋषिः छंदो गायत्रमंशुमान् ॥४४॥
देवता विनियोगोपांपाने समुपवेशयेत् ।
आत्मानं प्रोक्षयेत्पश्चात् दधिक्रावुण्न इत्यृचा ॥४५॥
आपोहिष्ठादितिसृभिः ऋग्भिश्च सकुशैर्जलैः ।
दधिक्रावुण्नमंत्रस्य बामदेवऋषिर्मनोः ॥४६॥
छंदोनुष्टुग्विश्वदेवाः देवतापश्चवास्मृता ।
ततोपसव्यं व्याहृत्या वा समस्तया ॥४७॥

पश्चादुवाभ्यां हस्ताभ्यां आदायांव्युसमाहितः ।
······भिमुखस्तिष्टप्राणव्याहृति पूर्वया ॥४८॥

गायत्रियाभिमंत्रोर्ध्वं त्रिःक्षिपेद्विजसत्तमः ।
तत प्रदक्षिणिकृत्य प्रोक्षतेद्विशुचिस्थले ॥४९॥

दर्भेषुवाग्यतत्तिष्ठन् प्राङ्मुखोदर्भपाणिकः ।
त्रिः प्राणसंयमं कुर्यात् ऋष्यादीनधनंस्तरान् ॥५०॥

गायत्र्यास्तु समस्थाया ऋषिच्छंदोधिदेवताः ।
स्मृत्वाप्रत्यक्षरं पश्चादृष्ट्यादिन्क्रमशस्मरेत् ॥५१॥

वशिष्ठभरद्वाज गौतमभृगुशाण्डिल्य रोहितगर्गशाण्डिल्य ।
शातातपसनत्कुमारसत्यवद्भार्गवपराशरपौण्डरीक
क्रतुदक्षकाश्यपजमदग्न्यात्रेङ्गिरः कार्तिकेयमृगकुं-
भयोनिसाध्या इति ॥५२॥

चतुर्विंशति वर्णानांत्तदादिनां यथाक्रमं ।
ऋषयोगीसमाख्याताः स्मर्तव्याः प्रथमे मनोः ॥५३॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुपपंङ्तित्रिष्टुब्जगतिकांतिवृहति-
सकृत्य···लाविष्टदपंङ्ति अक्षर पंक्तिकात्यायनि
ज्योतिष्मति त्रिष्टुब्जगति सर्वछंदो गायत्रिछंदो
देवी गायत्रित्येतानि छंदांसि ॥५४॥

चतुर्विंशतिरेतानि छंदांसिसहयथाक्रमं ।
प्रोक्तानिगायत्र्यादीनि तदादीनां पृथक् पृथक् ॥५५॥

अग्निप्रजापतिस्सोमः यीशानस्त्वदितिर्बृहस्पतिर्मित्रोभगः।
अर्यमान(स)वितात्वष्टा पूषेंद्राग्निर्वामदेवोमित्राव-
रुणाचभ्रातरौ विश्वेदेवाविष्णुर्वसोजीवः॥
कुबेर अश्विनौ ब्रह्मेति तेषां यथाक्रमेणैतेचतुर्विंशति
संख्यया॥
अक्षराणां तदादीनां समाख्याता हि देवताः।
पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशागंद्धरसरूपस्पर्शवाक्स्वस्ति-
पादपाया(यू)पस्तश्रोत्रमनश्चक्षुर्जिह्वाघ्राणहंकारबुद्धि
गुणत्रयमित्येतानि सर्वाणितत्वानिति ॥५६॥
चतुर्विंशतिवर्णानां तदादीनां यथाक्रमं।
तत्वानितानि⋯प्रतिवर्णं पृथक् पृथक् ॥५७॥
ब्राह्मीसभामहानित्या विपापा च सरस्वती।
प्रभावतिललाकांतिः कांत्तदुर्गापरानला ॥५८॥
विश्वरूपा विशावेशा व्यापिनी कमलापति।
मोहावसूक्ष्मा हिरण्मया शांतापद्मा सचापरा
शोभानागदारूपिणिति॥
चतुर्विंशतिरेतेषां अक्षराणां पृथक् पृथक्।
यथाक्रमं समाख्याताः शक्तयः सर्वकामदा ॥५९॥
सुमुखं संपुटं विस्तीर्णं विस्ततं द्विमुखं त्रिमुखं चतुर्मुखं
पंचमुखंषणमुखादामुखव्यापकांज्जलिशकटयम-
पाशग्रथित सुमुखोस्मुख प्रलंबमुष्टिक मीनकूर्मवराह-
सिंहाक्रांत्तमहाक्रांत्तमुद्गरपल्लवमिति ॥

चतुर्विंशत्यक्षराणो येतामुद्रा पृथक् पृथक् ।
यथा क्रमेण कथिताः शीघ्रसिद्धिप्रदायकाः ॥६०॥
आदौ सांग्गं च कर्मोक्त सप्तम्यंत्तमनंतरं ।
विनियोग इतिवदेद्विनियोगस्तदुच्यते ॥६१॥
चंप्पका पुष्पवल्मितं इन्द्रनीलसमप्रभं ।
कृपीटयोनि दीप्ताभं जलद्वह्नि समप्रभं ॥६२॥
पूर्णेन्दुशंखधवलं पांडरं शुक्रकोपहं ।
गोरक्तसदृशं भानोः उदयद्युतिसन्निभं ॥६३॥
गोरोचनप्रभावीतं नीलोत्पलदलप्रभं ।
शंखंकुंदेंदुधवल वर्णातीतंतदद्भुदं ॥६४॥
चतुर्विंशतिवर्णानां वर्णाः प्रोक्ता यथाकृमं ।
एवंमृष्ट्यादिकानेतः सर्वास्मृत्वा प्रणम्य च ॥६५॥
सम्यगुक्तप्रकारेणन्यासत्रयमथाचरेत् ।
प्रथमं तु करन्यासं देहन्यासंत्ततः परं ॥६६॥
अंग्गन्यासं ततः प्रोक्तमेवन्यास त्रयं क्रमात् ।
कोष्टातंवहिःप्पाण्योः तलयोस्तलष्टयोः ॥६७॥
तलयोर्मध्यमेविप्रः प्रणवं केवलंन्यसेत् ।
प्रकोष्टहस्तविन्यासं संमार्जनंपाणिनामिथः ॥६८॥
तलमध्यमविन्यासं संस्पर्शमध्यांग्गुलाग्रतः ।
उभयोंग्गुष्ठयोस्वस्य तर्जन्या प्रणवंन्यसेत् ॥६९॥
अना(मिका)मंग्गुलीनांत्तु चतुर्विंशति पर्वसु ।
चतुर्विंशत्यक्षराणि तर्जन्यातर्जनिमारभ्यवतर्जनिकावधि ।

स्वस्यांगुष्ठेन्यसेद्वर्णन्प्रणवेन पृथक् पृथक् ।
इत्येवमेतत्कथितं करंन्यासं यदौर्धतः ॥७१॥
कृत्वासहस्रनंन्यासमधुकुर्या द्विजोत्तमः ।
अंग्गुष्ठ गुल्फजंघासु जानूरुशमलाहृसु ॥७२॥
वृषणेकटिनाभ्योश्चाजठरस्तनहृत्स च ।
कंठास्यतालुकानानुद्दग्भ्रूमध्यांग्गकेषु च ॥७३॥
प्राग्दक्षिणोत्तरप्रत्यगूर्ध्वंषुशिरसः क्रमात् ।
चतुर्विंशत्यक्षराणीतदादीनिस्वविग्रहो ॥७४॥
चतुर्विंशतु देशेषु प्रोक्तेष्वेषु प्रविन्यसेत् ।
पापघ्नमुपपापघ्नं महापातकनाशनं ॥७५॥
दुष्टाग्नग्रहरोगघ्नं भ्रूणहत्याघनाशनं ।
अगम्यगमनागघ्नं अभक्ष्यास्वादनाद्यहं ॥७६॥
ब्रह्महत्याघहरणं नृहत्याघविनाशनं ।
गुरुस्त्रीगमनागघ्नं ग्रामकूट कृताघहृत् ॥७७॥
पितृमातृवधाघघ्नं पूर्वजन्माघनाशनं ।
दुष्टपावसमूहाघ्नं त्रिविक्रमपदप्रदं ॥७८॥
पदं पदं महेशस्य पद्माक्षस्यपदप्रदं ।
विधेप्पदप्रदं ब्रह्म विष्णुरुद्रादि संस्तुतं ॥७९॥
आदित्येतन्महः साक्षात्परब्रह्म प्रकाशकं ।
चतुर्विंशत्यक्षराणां फलमुक्तं पृथक् पृथक् ॥८०॥
न्यस्याक्षराणि स्वस्यतनौस्मरेत्तत्तत्पलं भवेत् ।
उत्तमक्षरविन्यासं अंगुष्ठादिशिरोवधि ॥८१॥

अथपादादिमूर्ध्वांतं पादंन्यासस्तु कथ्यते ।
पादयोस्तत्पदंन्यस्य सवितुः जंघयोर्न्यसेत् ॥८२॥
जानुद्वयेवरेण्यंत्तु गर्भइत्यूरुदेशतः ।
देवस्य गुह्योविन्यस्य धीमहीति च तत्र वै ॥८३॥
स्तनयोस्तुधियोन्यास कंठेय इति विन्यसेत् ।
न इतिन्यस्य वदने नासिकायां प्रचोदयात् ॥८४॥
ॐ मापोज्योतिरित्यादिगायत्र्या सकलं शिरः ।
शिरः प्रभृति पादांत्तं हस्ताभ्यां विन्यसेत्ततः ॥८५॥
एवं स्पष्टं पदंन्यास विधानं समुदाहृतं ।
मंत्रेणानेन सर्वेण सौकरेण दिविग्रहं ॥८६॥
कराभ्यां संस्पृशेद्धिमान् मूर्द्धादिचरणावधि ।
एतत्संहननन्यासं वज्रसंपन्ननोपमं ॥८७॥
कृत्वाषडंगविन्यासंट्कर्माध (?) समाचरेत् ।
हृद्धस्तकेशिखागात्रनेत्र प्रहरिणानिषट् ॥८८॥
अंगान्यमूनित्युक्तानि वन्हिमषट्पल्लवान्यथा ।
तिस्रोव्याहृतयोमंत्रेषड्वर्ण हृदयादयः ॥८९॥
चंतुर्थ्यंत्ताः पल्लवारित्ताः एत्तेंगमनवः स्मृताः ।
हृन्मंत्रं हृदयेकान्ते शिरोमंत्रंशिखामनुं ॥९०॥
शिखायाः कवचं देहो कृक्फालेषु(मध्यमर्धांगुलैस्त्रिभिः) ।
अंगुष्ठतर्जन्याग्राभ्यां सशब्दंदिक्षुपार्श्वयोः ॥९१॥
षडंगंन्यासमित्युक्तं इ च दक्षमनुं ।
पार्श्वयोर्दिशिक्ष्वंत्तंमंत्रयित यथाक्रमं ॥९२॥

अंग्गुलीभिश्चतश्रृभिः द्वयोर्ह्दयशीर्षयोः ।
मुष्टेरंग्गुष्ठशिरसापश्चमेतस्यवामतः ॥६३॥
वहिः कलाभ्यां ह्त्कफालं मध्यमर्धांग्गुलैस्त्रिभिः ।
अंग्गुष्ठतर्जन्यग्राभ्यां सशब्दंडि(दि)क्षुपार्श्वयोः ॥६४॥
षडंग्गन्यासमित्युक्तं इदंम्मेतप्रकारतः ।
न्यस्याघायातु वरदेत्यनुवाकेन मंडभानोरावाहये-
द्देवींसंध्यांगायत्र्यह्वया । वासुदेवऋृग्शिचंद्दोनुष्टुस्सा-
वित्रि देवता ॥६५॥
आवाहने विनियोगः देव्वा अस्यायथाक्रमं ।
अविचावाहयेद्देवीं हृदयांभोरुहे द्विजः ॥६६॥
ध्यात्वाध्येयं यथाप्रोक्तं मूर्त्तिध्यानं तथैव हि ।
द्यात्वोपचाराः सकलास्कृत्वाधजपसमाचरेत् ॥६७॥
अष्टोत्तरसहस्रं वाह्यष्टोत्तरशतं तु वा ।
जप्तष्ट्व्वा विंशतिं वापि वीजशक्तिक्रमा(ज)पेत् ॥६८॥
पूर्वाण्हं च चतुर्थाण्हं वीजमस्या इति स्मृतं ।
चतुर्विंशाद्यक्षरांतं सदीर्धं शक्तिरुच्यते ॥६९॥
जपेदष्टोत्तरशतं अष्टाविंशतिरेफला ।
एतयोः पूर्वमुनिभिः आख्यातः शक्तिबीजयोः ॥१००॥
अंगुलिभिस्तुरेखाभिः अथवा जपमालया ।
जपस्यसंख्या विज्ञेया जपकर्द्भिर्द्विजोत्तमैः ॥१०१॥
वृथाभवेत्कृतो विप्रैः संख्याज्ञानं विनाजपः ।
तस्मात्संख्यापरिज्ञानं अवश्यं जपकर्मणि ॥१०२॥

जपस्येकस्यैकमणिं नयेदक्षस्रृजि क्रमात् ।
तथांगुष्ठेनसकलानितरैरंगुलैः सहा ॥१०३॥
अपवित्रकरोनग्नः मुक्तकेशः सकंचुकः ।
उष्णीस्यशुद्धो भूमिष्टः प्रलपन्नजपोद्विजः ॥१०४॥
निष्टेवजृंभण क्रोधनिद्रालस्यक्षताः मदः ।
पतितश्वांत्यजालोकाद्धशैते जपवैरिगः ॥१०५॥
यद्येषांभवेविप्रः सूर्यादीनवलोकयेत् ।
उपस्पृश्याथवाशेषं प्राणाः संयम्य वा जपेत् ॥१०६॥
सूर्योषर्वुधतारेश नक्षत्रग्रहतारकाः ।
एते सूर्यादयः प्रोक्ताः मुनिभि ब्रह्मवादिभिः ॥१०७॥
एवं सम्यग्विधानेन जपं सर्वं समाप्य च ।
समाहितश्चनद्भत्तयादेवीं विप्रोभिवादयेत् ॥१०८॥
कर्णयुग्मं स्वहस्ताभ्यां स्पृष्ट्वा जानुद्वयादिकं ।
चरणांगुष्ठयुग्मांत्तं संमृज्य तु शनैः शनैः ॥१०९॥
दक्षश्रोत्र समंलाहुं दक्षिणेन प्रसार्य च ।
वाहूपरिशिरोनम्र मुक्ति तदभिवादनं ॥११०॥
स्वगोत्रनाम शर्माहं भवत्यंत्तेभिवादयेत् ।
इत्येतद्भाषणंयत्तन्मंत्रंस्यादभिवादने ॥१११॥
मंत्रेणानेनगायत्रि यथावदभिवाद्य च ।
उत्तमेनानुवाकेन देवीमुद्वासयेदधा ॥११२॥
अनुवाकस्यतस्यैवा वामदेय ऋषिस्मृतः ।
छंदोनुष्टुप् च सावित्रि देवतोद्वासने विधिः ॥११३॥

इत्युक्त्वानेनगायत्रिं अनुवाकेन वै द्विजः ।
उद्वास्याधनमस्कुर्याच्चतुः संध्यादि देवताः ॥११४॥
संध्यापुरस्ताद्गायत्रि सावित्रि च सरस्वती ।
एतत्संध्यादयः प्रोक्ताः चतसोदेवताः क्रमात् ॥११५॥
स्वस्वनाम चतुर्थ्यंत्तं प्रणवादि नमोत्तकं ।
मंत्रमासामिह प्रोक्तं प्रणमेत्स्वस्वमंत्रतः ॥११६॥
केचित्तु मुनयः प्राहुः प्रतिमंत्रं प्रदक्षिणं ।
कुर्वन्प्रणामं कुर्वीतह्येताभ्याः भक्तितो द्विजा ॥११७॥
मित्रस्येत्यादिभिर्ऋग्भिः विस्पष्टोदित मंडलं ।
आदित्यंतिसृभिर्देव उपतिष्ठेदधद्विजः ॥११८॥
असामृषिर्विश्वामित्रः देवता वै दिवाकरः ।
भूमिगायत्र्यमाद्यस्यत्रिष्टुभाविहपश्चिमौ ॥११९॥
इत्येवमुक्त्वोपस्थाय ततस्थमभिवादयेत् ।
अभिवादनमंत्रेण सद्भक्तया लोकसाक्षिणं ॥१२०॥
सगोत्रनामशर्माहं भो प्पादैरभिवादयेत् ।
इत्येवं भाषमाणेयं मंत्रमर्काभिवादने ॥१२१॥
सर्वाभ्यो देवताभ्यश्चेत्येतत्प्रणव संयुतं ।
उक्त्वानमोनमयिति प्रणमेत्सर्व देवताः ॥१२२॥
कामोकाषिन्मनपुरकापिदेत्येतत्पूर्वमंत्रवत् ।
उक्त्वा प्रदक्षिणे नैव नमस्कुर्यात्त्रयितनुं ॥१२३॥
प्राचीं च दक्षिणांचाध प्रतीचींचोत्तरोर्ध्वकं ।
अधरांचांत्तरिक्षं च एताः सप्तादितादिशः ॥१२४॥

संध्यादीनां यथा प्रोक्तं मंत्रमासांतथैव हि ।
ज्ञात्वा यथाक्रमेणैताः प्रणमेत्स्वस्वमंत्रतः ॥१२५॥
गायत्र्यसोतिनत्वाथ प्रणवव्याहृति पूर्वया ।
स्याद्गायत्र्यामलंदद्याद्विवैतद्विसर्जनं ॥१२६॥
ॐ सूर्याय नमः । प्रातः सायमोमग्नये नमः ।
इत्यसम्भि ब्रह्मचारि प्रदद्याश्चोदकं यतिः ॥१२७॥
दत्त्वादकं जपेदन्व जपस्तेनाग्निमान्द्विजाः ।
पितृणांमरुतांतुप्यैक्षयायसकलेनसां ॥१२८॥
आत्मानं परमात्मानं भावयित्वा द्विजोत्तमः ।
आत्मानमात्मनाध्यात्वा हृत्मनंचोपसंग्रहात् ॥१२९॥
एवं संध्यामुपास्याथाहृभ्यां यं यं प्रपश्यति ।
यं यं स्पृशति हस्तेन तत्तत्सर्वं शुचिर्भवेत् ॥१३०॥
अथोच्यते विशेषस्तु संध्ययोरन्ययोर्द्वयोः ।
पयः पानेप्युपस्थाये मंत्रष्वर्क प्रचेतसोः ॥१३१॥
आपः पुनंत्विच्च्येतस्यमुनिरायो विधानतः ।
छंदोनुष्टुविति प्रोक्तं देवता ब्रह्मणस्पतिः ॥१३२॥
विनियोगः पयः प्पाने इत्युक्तानेन मंत्रितं ।
पीत्वाजलमथाचामेदन्यत्प्रातरिवाखिलं ॥१३३॥
असव्येनाप्ति षड्ऋचां हिरण्यस्तूप इत्युषिः ।
पूर्वेद्वेष्टि त्रिष्टुभौपश्चाद्गायत्रि जगती ततः
उष्णीत्रिष्टुवितिप्रोक्ता छंदांस्यर्कोधिदेवताः ॥१३४॥

अन्यत्सर्वं यथापूर्वं कर्मकुर्याद्द्विजोत्तमः ।
एवं मध्याह्न संध्यायां विशेषविधीरितिः ॥१३५॥

अथ पश्चिम संध्यायां विशेषोत्र विधीयते ।
सितेरवाउपक्रम्य पश्चिमं तु समाप्नुयात् ॥१३६॥

अग्निश्चेत्यनुवाकश्च मुनिः सूर्योहुताशनः ।
देवता गायत्रं छंदः पानेपांविनियोगकः ॥१३७॥
एतत्प्रत्यङ्मुखस्थित्वा स्मृत्वात्त्वानेनकंपिवेत् ।
उपासने विशेषोयं उपस्थानेथ वक्ष्यते ॥१३८॥

याद्विद्धित्यादिपंचर्चोल देवराज इति स्मृतः ।
गायत्रित्रिष्टुज्जगति गायत्रित्रिष्टुभित्यपि
यथाक्रमेनाच्छंद्दांसि वरुणाश्चाधिदेवता ॥१३९॥

उपस्थाने विनियोगयित्युक्तातं च पंचभिः ।
वरुणं समुपस्थाय कुर्यादन्यदापुरं ॥१४०॥
प्रयोगकाले मंत्राणि ऋषिच्छंद्दांसि दैवतं ।
विनियोगं शक्तिवीजे स्मरेन्नोचेद्वृथाफलं ॥१४१॥

इदं समस्तं स्मृतिभिः गायत्रिचेद्युदाहृता ।
विधिनैवाभ्यसेद्यावततुरिय्यं परमं पदं ॥१४२॥
ॐ भूदित्यादित्रिमंत्रैः प्रागायर्त्यनंतरं ।
तस्यां प्रथमपानेन भूर्भुवः सर्जगत्त्रयं ॥१४३॥

व्याप्यं द्वितिय्यपादेन वेदानां त्रितया तथा ।
त्रितिय्येन तु पादेन प्राणंव्यानं समानकं ॥१४४॥

व्याप्त चतुर्थपादेन परमं रविमण्डलं ।
क्रमाणानेन संक्रांत्तं यथाव्याप्तमिदं जगत् ॥१४४॥

गायत्रिं सर्व देवानां माताः साक्षाद्विजाश्रयाः ।
तामेव प्रजपेद्भक्त्याध्यायेच्च सततं द्विजः ॥१४५॥

दुष्प्रतिग्रह भुक्त्याहं उपाह्वभ्यो निशं द्विजः ।
गायंतं त्रायते यस्मात् गायत्रीति स्मृता बुधैः ॥१४६॥

पाणागाधाइति प्रोक्ताः त्रायतेतानधापि वा ।
गायत्रीतिभवेन्नाम केवलं त्रायतीति वा ॥१४७॥

आशेषप्राणि जिह्वासु सदावाग्रूपवर्त्मनात् ।
परस्वतीतिनाम्नोयं समाख्याता महर्षिभिः ॥१४८॥

सवितृ प्रकाशकरणात्सावित्रीतिस्मृता बुधैः ।
जगतः प्रसवतीति हेतुनानेन वा भवेत् ॥१४९॥

तस्मादियं सदोपाश्या निशादिवसयोर्द्विजैः ।
गायत्रिसनन्निवेलायनैव संध्येति कीर्तिताः ॥१५०॥

यो जपेद्वजसंज्ञात्वा नश्यंत्यंहंसि तत्क्षणात् ।
ऋषिच्छंदो देवताश्च जपेत्तास्ता यथाक्रमात् ॥१५१॥

'ज्ञात्वायोपास्तिमाचरेत्'

ज्ञात्वा पदानि जित्वा धमदिय्यं पादमव्ययम् ।
ब्राह्मणो याति तत्साम्यं पदं ज्ञात्वा तुरिय्यकम् ॥१५२॥

यासायत्रिचरणा सात्रिमूर्तिस्वरूपिणि ।
उपास्यानारतंप्रैः त्रिसंध्यासु त्रिमूर्त्तिषु ॥१५३॥

तुरिय्यपादमेतस्या ज्ञात्वा यो पास्तिमाचरेत् ।
सरत्नपूर्ण पृथिवीं गृह्णान्नो दोषमाप्नुयात् ॥१५४॥
ब्रह्मकेशवरुद्रादि देवताभिरुपाशिताम् ।
संध्यांत्ताकोन सेवेत विप्रः सदभिलाषकः ॥१५५॥
प्रातः सतारकां संध्यां सायं संध्यां सभास्कराम् ।
स्नानकर्मणितन्मध्यां उपासीत यथाविधि ॥१५६॥
प्रारेवमुपासित्वा प्रात्कुर्याद्धवनं जपं ।
स्नानस्यानंतरं कुर्यात्तर्पणंच महाक्रमान् ॥१५७॥
सायं संध्यां तथोपास्य होमं कुर्वीत वासनं ।
संध्योपासनहीनो यः न योग्यः सर्मकर्म सु ॥१५८॥
तस्मादुपास्यविधिना संध्यामन्यक्रियां चरेत् ।
नोपासयो द्विजस्संध्याव्विनाशूद्रत्वमाप्नुयात् ॥१५९॥
कर्माण्यान्यानि संत्यत्य संध्या वा केवलां द्विजाः ।
उपास्ये सर्वपुण्यानि कृत्वाः सभवेदलं ॥१६०॥
संध्योपास्तिं विना विप्रः पुण्यन्यभ्यासिचाचरेत् ।
यस्तस्यतानि पापानि भवंत्येव न संशयः ॥१६१॥
नाशये जनितंपाप दशजन्माप्तमात्मनः ।
पुराकृतं शतजपात् गायत्र्याख्यं विजन्मनः ॥१६२॥
कृतयुगेपिचैकस्मिन् सहस्रेण जपेन तु ।
तद्भक्त्या जपतस्तस्माद्गायत्रिं सर्वदा जपेत् ॥१६३॥
समस्तसप्ततंतुभ्यः जपयज्ञः प्परस्मृतः ।
हिंसयान्येव प्रवर्त्तंते जपयज्ञो न हिंसया ॥१६४॥

यामसः कर्मयज्ञाश्च दानानि च तपांसि च ।
ते सर्वे जपयज्ञस्य कलांनार्हन्ति षोडशम् ।।१६५।।
जपेन देवता नित्यं स्तूयमानाप्रिनादति ।
प्रसन्ना विपुलांन्भागान् अंतेमुक्तिञ्च शाश्वति ।।१६६।।
यक्षराक्षसवेतालग्रहभूतपिशाचकाः ।
जपाश्रयं द्विजं दृष्ट्वा दूरतोयांत्ति भीतितः ।।१६७।।
तस्माज्जितेंद्रियो नित्यं संध्योपास्ति समाचरेत् ।
स सर्वलोकासिजत्वाध विप्रस्ववशमानयेत् ।।१६८।।
तदंत्ते ब्रह्मभावेन यावदाभूतसंप्लवं ।
तावन्नित्योनिरातंको भवेदत्र न संशयः ।।१६९।।
एवं संध्यां बिनासर्वां यो प्राध्यापये द्विजः ।
अध्यापरो यदावञ्च श्रोता चैकाग्रमानसः ।।१७०।।
स सर्वपापन्निर्मुक्ताः सर्वविद्या विशारदः ।
सर्वधान्यधनोपेतः जपाद्वर्षशतं सुखि ।।१७१।।
एपद्विधानं सकलं यो वेदाखिलवेदवित् ।
स योसवेदवेदानां पारगोपिन वेदवित् ।।१७२।।
इमंविधिंदारयितुं यो मूल ब्रह्मसंत्ततिः ।
क्षात्रं च पूर्वजनने कृतविन्यास संततिः ।।१७३।।
यो दद्यादिममध्यायं सद्भक्त्या ब्रह्मणोत्तमः ।
मनस्तु निर्मलं तस्य भवेदस्य न संशयः ।।१७४।।
एतद्विद्वानं योधित्य श्रावयेद्ब्रह्मणोत्तमान् ।
प्रतिपर्वप्रयत्नेन ब्राह्मणो नियमेन च ।।१७५।।

अज्ञानेन प्रमादेन श्रुतविन्नान्य संत्ततिः ।
(दुयत्समुदितं)तस्य तत्सकलं नाशं व्रजेत्तत्रन संशयः ॥१७६॥
या संध्योपास्तिंविच्छंत्ति यस्यस्थानविहीनता ।
पर्वणि श्रवणादन्यत्र तत्सर्वं पूर्णतां भवेत् ॥१७७॥
कामवान्मोहयाल्लाभात्संध्यांन्नातिक्रमेद्विजः ।
संध्यातिक्रमणद्विजः ब्राह्मण्यात्वततेयतः ॥१७८॥
अनागतांतु ये पूर्वां अनिधीतां तु पश्चिमां ।
संध्यांन्नोपासते ये तु कथंते ब्राह्मणा स्मृताः ॥१७९॥
सायं प्रातः सदासंध्यां विनादिप्राउपासते ।
कामं तां स्वधिरोराजा शूद्रकर्मसु योजयेत् ॥१८०॥
विधानमेतन्नोदेयं रहस्यं यस्यकस्यचित् ।
वेदाध्यायाभिजाताय प्रदेयं स द्विजन्मने ॥१८१॥
॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ जपविधानवर्णनंनाम षष्ठोध्यायः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

जपमालायाःविधानकथनम्

सहस्रपरमां नित्यां शतमध्यां दशावरां ।
तां सावित्रिं जपेद्विद्वान् प्राङ्मुखः प्रयतस्थितः ॥ १ ॥
अथोपतिष्ठेतादित्यं उदयंत्तं समाहितः ।
मंत्रैस्तु विविधैस्सौरै ऋग्यजुः सामसंभवैः ॥ २ ॥

उपस्थाय महादेवं देवदेवं दिवाकरं ।
कुर्वीत प्रणतिं भूमौ मूर्धानेनैव मंत्रतः ॥ ३ ॥
ॐ वषट्काराय शांताय कारणत्रय हेतवे ।
निवेदयामि चात्मानं नमस्ते ज्ञानरूपिणे ॥ ४ ॥
नमस्ते घृणिने तुभ्यं सूर्याय ब्रह्मरूपिणे ।
विधानं जपमालायाः प्रवक्ष्यामि यथाक्रमं ॥ ५ ॥
जपो विशेष फलदः यो जपे जपमालया ।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन जपमालां यथाविधि ॥ ६ ॥
संध्याद्यानंत्तरं विप्रः जपेत जपमालया ।
जपमालामणिस्तेषां लक्षणानि ततोविधिः ॥ ७ ॥
जपमालाविशेषश्च कथ्यते च यथाक्रमं ।
अपत्यजीवखंखार्क प्रवालमणिमौक्तिकाः ॥ ८ ॥
सरोजबीजगाग्गेय कुशरुद्राक्षसंज्ञिका ।
दशैते जपमालायां मणिकण्युदीरिताः ॥ ९ ॥
एकस्मादधिकस्त्वेकः फलेनाभिहिता अमी ।
अंग्गुलीभिः कृतजपः क्रियातावानिति स्मृतः ॥१०॥
रेकाभिरेकोष्ठाउक्तः तेकस्तुजपिनेदश ? ।
शंखैरेकगुणं तद्वत्स्फटकाक्षिश्चविभ्रमैः ॥११॥
एक सहस्रमणिभिः एकोदशसहस्रकः ।
लक्षयुक्ताफलैरेकः कोटिरेकोब्जवीजकैः ॥१२॥
हैमैरेकादशकोटि शतकोटिस्तथा कुशैः ।
अनंतमेकोरुद्राक्षैः एवमुक्तं फलं क्रमात् ॥१३॥

मणिभिर्मोक्षमाला च सप्तविंशति संख्यकैः ।
त्रिंशत्संख्यै तु मणिभिः जपमालामतंद्रितः ॥१४॥
पंचाशच्छतसंख्याकैःमाला चतुरुत्तरपंचाशर्मणिभिर्ज-
पमालिका ।
विद्वेषणादिषु क्षुद्रकर्मस्वभिहिता बुधैः ॥१५॥
अष्टोत्तरशतं मालामणिभिर्या विनिर्मिता ।
सर्वाभिष्टेक फलदा सदाजपकृतामलं ॥१६॥
एवं संख्याफलं प्रोक्तं मणिनांतु यथाक्रमं ।
अथोच्यतेंगुल फलंअंगुष्टादि यथाक्रमं ॥१७॥
जपोमोक्ष प्रदोंगुष्ठः मध्यायुः प्रष्टवृद्धिदाः ।
समस्ताभीष्टफलदा नामिकामरणादिषु ॥१८॥
क्षुद्रकर्मसुसर्वेषु तर्जनि तत्फलप्रदा ।
अंगुलिनां फलं सम्यक्क्रमेणोक्तं पृथक् पृथक् ॥१६॥
अथोच्यते मणीनां तु लक्षणं साध्वसाधु च ।
न ज्यास्मिग्धाः दृढ़ाः पक्काः गुरुवो ऋजुरंध्रकाः ॥२०॥
न्यायागताये मणयः ते शुभाजप कर्मणि ।
पाक्तनाक्लिप्पुरुषा खंडाः स्फटिकाश्च सकीटकाः ॥२१॥
अतिसूक्ष्मा अतिस्थूलाः अपकावक्ररंध्रकाः ।
अन्यायेनागताः पूर्वं पूर्वोक्ता जपकर्मणि ॥२२॥
द्दताश्चयेतेः मणयः न ग्राह्यजपकर्मणि ।
रुद्राक्षाः पुत्रजीवाख्याः पद्मबीजेष्वमीगुणाः ॥२३॥

सुप्रेक्ष्मणिग्यारत्नेषु सद्रत्नमणयः शुभाः ।
रुद्राक्षण्येकवक्त्रादि चतुर्दशमुखावदि ॥२४॥
संत्तितद्वदनाकाराः ऋज्जुरेखैवतिष्ठति ।
विप्रभूपतिविट्च्छूद्राः रुद्राक्षास्युश्चतुर्विधाः ॥२५॥
सितरक्त सुवर्णाभ कृष्णायिति यथाक्रमं ।
समजातिमुखायोग्यरुद्राक्षा मालिका कृताः ॥२६॥
विपरीत्तानियोग्यास्यु तथावृषलजातयः ।
बिंद्‌ता सकलंक्कादिदोषरत्नेष्वशोभनाः ॥२७॥
निर्मलादोषरहिताः एतेसन्मणयस्मृताः ।
बिंद्वावर्त्तत्तुषंत्रास रेखाकांचन कीलकाः ॥२८॥
सप्तैते कथिता दोषाः रत्नशास्त्रविशारदैः ।
जंब्यूपलवदाकारः स्तनचूचुकसंनिभः ॥२९॥
चूड़ामणिवदाकारो बालवत्सस्यश्रृङ्गवत् ।
इयं चतुर्विधा विंद्‌स्त्री संत्तति यिनाशकृत् ॥३०॥
शंखमस्तकसंकाशसरिद्वेणुभ्रमोपमः ।
आवर्तोद्विप्रकारोयं सदाविभ्रमकारकः ॥३१॥
गोधूमचूर्ण सद्दशः व्याप्यरत्नं समंततः ।
आस्ततत्तुषसंज्ञोयं सर्वदांगकृशप्रदः ॥३२॥
त्रासाख्यः स्फटिकप्रख्यः शुक्त्यभ्यंतरुक्समः ।
त्रासस्तु विप्रकारोयं त्रास संजननः सदा ॥३३॥
रविरश्मि समाकारा मूत्रपात्त परावृत्तिः ।
वनपातवदाकारा त्रिधौरेखादिकष्टधा ॥३४॥

कौशिका कृष्णलोहभाकृष्णंभ्रक समाकृतिः ।
शिखिपिंच्छवदाकारा त्रिधैतदसुनाशकृत् ॥३५॥

कीलकंकीलवकीलवतिष्टेत् सत्वधाहृदयांत्तकृत् ।
एवं रत्नेषु दोषाणां लक्षणं समुदाहृतम ॥३६॥

भल्लेक्षणानिरत्नानि ग्राह्यण्यानि वर्जयेत् ।
गोमेधकः पुष्परागवैडूर्यः शतरुज्मणिः ॥३७॥

एतेचस्फटिकाप्रख्याः स्फाले स्फटिकजातयः ।
जपमालाकृताचैव मणीनालोक्य शोभनाम् ॥३८॥

जपांग्गुलिसमस्थूलमस्थूलान् संगृषिय्याद्विजोत्तमः ।
यज्ञोपवीतविधिना शुल्वं कृत्वा विधानतः ॥३९॥

मणिनेकमुखाः सर्वास्फुटयेद्गात्र पंक्तिवत् ।
रुद्राक्षस्योन्नतस्थानंरंधंस्यात्समुदाहृतं ।
पृष्टनिम्नस्थलंरंध्रं संयुतं च शलाकया ॥४०॥
पद्मवीजस्यवदनंविंदद्वय समन्वितं ।
नेकविंदुस्थलं पृष्ट विशालतस्य च स्मृतं ॥४१॥

पृष्टास्ये पुत्रजीवस्य रुद्राक्षस्य यथापुरा ।
ज्ञात्वैतं प्रोत्यतच्छुल्पेस्वेष्ट संख्यामणिन्छुत्वान् ॥४२॥
ग्रन्थिपृथक्पृथक्कुर्यामणीनामंतरे बुधः ।
ऊर्ध्वाभ्यां प्रोत्यसीमाधं ग्रंथिंदद्याद्यथाशुभं ॥४३॥

रुद्राक्षादित्रिवीजानां एवंमालाकृतिक्रमः ।
मणिनामितरेषां तु मुखभेदो न विद्यते ॥४४॥

एतद्वदनमित्येवं संकल्प्य घटयेद्वुधः ।
कुशमालाकृतौ किंचिद्विशेषात्रैव कथ्यते ॥४५॥
सत्कुशान्विधिनाहृत्य तीव्रशुल्भं प्रकृत्य च ।
स्वेष्टसंख्यामणीग्रंथिं कुर्यानेत्रयं दृढ़ं ॥४६॥
ततोमाला शिरोग्रंथिं प्रकुर्वीत यथापुरा ।
कुशाक्षमालिकामेवं कृत्वावत्तं प्रकल्प्य च ॥४७॥
सगृह्णितद्विजश्रेष्ठैः सर्वथा जपकर्मणे ।
त्रिवतामंत्रजपे त्रिकुशाक्षस्रगुत्तमा ॥४८॥
त्रिदेवता मंत्रजपेत्रिवृदर्भाक्षमालिका ।
एवं ज्ञात्वा जपेतेति क्रमादसृजाद्विजः ॥४९॥
प्रणवस्य व्याहृतीनां गायत्र्याश्च जपेभृशं ।
श्रेष्टाकुशाक्षमालास्यात्समस्तानां जपस्रजां ॥५०॥
सूर्यक्षेत्रेदशैतेषां मंत्राणां जपकर्मणि ।
रक्तांभोरुहबीजाक्षमालिका प्रवरा स्मृता ॥५१॥
वक्ष्याम्यथाक्षमालायाः प्रतिष्ठाविधिमुत्तमं ।
या प्रतिष्टाक्षमालायाः सासमस्त फलप्रदा ॥५२॥
अप्रतिष्ठितमालाय सा जपे विफला स्मृता ।
तस्मात्प्रतिष्ठा कर्त्तव्या जपस्य फलमिच्छता ॥५३॥
द्विजाविधियथस्नात्वा प्रतिष्ठास्नानमीप्सितं ।
तत्स्थाने मंडलं कुर्यादिहिभिश्चतुरश्रकं ॥५४॥
तन्मध्ये तु विधित्पद्मं अष्टव्रतं सकर्णिकं ।
पूर्वादिदिक्षुपरितः कुशैश्च प्रागुदक्ककैः ॥५५॥

परिस्तीर्याथतन्मध्ये ततः कूर्चं विनिक्षिपेत् ।
ततः प्रक्षाल्यचरणावाचम्य च यथाविधि ॥५६॥
उदङ्मुखः प्रसन्नः सन् उपविश्य कुशासने ।
प्राणानां संयमं कृत्वा प्रतिष्ठार्थं जपस्रजः ॥५७॥
ततः पुराणाह संकल्पं द्विजन्मानुज्ञया चरेत् ।
ततोविद्युक्त मार्गेण कुर्यात्पुण्येहवाचनं ॥५८॥
प्रक्षालयेततोमालां पुण्याहं कलशोदकैः ।
ततोभिषेचयेत्पंचगव्यैदिक्षुरसेन च ॥५९॥
मधुना कुशतोयेन स्नाप्य संस्कृत्य बुद्धिमान् ।
गोमूत्रं गोमयंक्षीरं दधिसर्पिष्यमानि च ॥६०॥
पंचगव्यानिमुनयः प्रवदंति मनीषिणः ।
व्रिहिद्रोणेन कृत्वाघमंडलं चतुरश्रकं ॥६१॥
तन्मध्ये पद्ममालिख्य साष्टपत्रं सकर्णिकं ।
पूर्ववन्मंडलंदर्भैः परिस्तिर्याथमध्यमे ॥६२॥
कुशकुर्चंक्षिपेधीमान् प्रागग्रंचोदगग्रकं ।
लोहितः सदृढस्निग्धः प्रस्थतोय प्रमाणकः ॥६३॥
कलशः पंचगव्यादि द्रव्याणां समुदाहृताः ।
असिता लोहितापीता धवला कपिला क्रमात् ॥६४॥
गोमूत्रगोमयक्षीर दध्याज्यानामिह स्मृताः ।
स्व स्ववर्णयुतालाभे लब्धगव्यानि वा हरेत् ॥६५॥
तत्रापि दोषदुष्टानि परित्यक्त्वा शुभानि चेत् ।
आहारवशजीर्णाया रोगार्त्तक्षिणवत्सका ॥६६॥

वन्ध्या नवप्रसूता च न योग्या गव्य संग्रहे ।
गोमूत्रं प्राग्दलेज्यस्य स्थापयेत्कलशंस्थित ॥६७॥
गोमयांब्बु तथा विद्वान् स्थापयेदक्षिणेगले ।
पिंग्याषंपश्चिमदले तथैव स्थापयेदध ॥६८॥
उदग्धलेदधिस्थाप्य पूर्ववन्मध्यमेघृतं ।
तद्वत्साप्य च तेष्वंत्तः गंधपुष्पाक्षतानि च ॥६९॥
कुशकुर्चानिजत्वाध मंत्रयेत्तान्पृथक् पृथक् ।
स्थापयेन्नारिकेलांब्बु तथा स्वाहोशादिग्दले ॥७०॥
तथैव स्थापयेद्धीमान् क्षिपेन्निर्ऋतिदिग्दले ।
कुशांब्बुवायुदिक्यत्रे स्थापये प्रथमोक्तवत् ॥७१॥
गंधतोयं तथैवेशादिग्दले प्रविनिक्षिपेत् ।
पूर्ववत्तेषु सर्वेषु गंधादिनपि निक्षिपेत् ॥७२॥
एतान्यध्यभिमंत्र्याध धूपदीपौ प्रदापयेत् ।
ततस्तदधिदेवान्नुकलशस्थापने क्रमात् ॥७३॥
तत्तत्कलशपात्रेषु गंधपुष्पादिभिवर्जयेत् ।
रविसोमाग्निवागीश शुक्रांगारवृषेश्वराः ॥७४॥
सरस्वतीचेत्या ताः गोमूत्रात्यधिदेयताः ।
गायत्र्याचैवगोमूत्रं गंधद्वारेति गोमयं ॥७५॥
आप्यायत्वेति च क्षीरं दधिक्रा पुण्नतोदधि ।
आज्यमशुक्रमसीत्येवं गायत्र्या नारिकेलकं ॥७६॥
मधुवाताॠतयिति देवस्यत्वेतिदर्भकं ।
गायत्रैव च गंधांब्बुस्नानमंत्राण्यमूनि वै ॥७७॥

एतैर्द्रव्यैस्तुविधिवत स्नापयेदक्षमालिकां ।
द्रव्याभिमंत्रिणे मंत्रं प्रणवस्यमुदाहृतः ॥७८॥
अष्टोत्तरशतंरूपं मंत्रावृत्तिरुदीरिता ।
कलशानां समस्तानामभिमंत्रविदौबुधैः ॥७९॥
आपोहिष्टादिभिर्मंत्रैः स्त्रीभिः प्राङ्मार्जयेद्बुधः ।
हिरण्यवर्णइत्याद्यैः चतुर्भिस्तदनंतरं ॥८०॥
पावमानानुपाकेन ततः सकुशवादिभिः ।
प्राणवाष्टशतेनाभिमंत्रितेनांभसा ततः ॥८१॥
स कूर्चाक्षतवलयमभिषिंचेद्द्विजोत्तमः ।
गायत्र्याष्टशतेनाभिमंत्रे तेनांभसा ततः ॥८२॥
अभिषिंचेत्तु सदूगंधं कूर्चेन च जपस्रजं ।
होमपात्रेथवादौ मृण्मयेतदनंतरं ॥८३॥
आलिप्यं चंदनेनाथ पद्मपुष्पाणि लिखेत् ।
प्रणवं पंकजेध्यायेतत्पादं कर्णिकांतरे ॥८४॥
सवितुः शक्रदिक्पत्रे वरेण्यं वन्हिदिग्दले ।
भर्गोयमककुत्पत्रे देवस्यनैर्ऋतेदले ॥८५॥
प्रत्यग्दले धीमही च धिनः पावनादिग्दलै ।
धियस्सोमदिग्दले कुद्रदिग्दलेन प्रचोदयात् ॥८६॥
सर्वत्रैवंहृदाध्यायन् पद्मपीठं प्रकल्प्य च ।
ततस्तत्पद्मपीठस्य मध्येतत्कर्णिकोपरे ॥८७॥
कुशकूर्चं यथा पूर्वं प्रक्षिपेद्द्विजसत्तमः ।
तन्मध्येनववस्त्रेण शुक्लेन जपमालिका ॥८८॥

आवेष्ट्यसंस्थाप्य गायत्र्याः मंडलांबुजमध्यमे।
निधायमालिकां गंध तंडुल प्रसवैर्युजेत् ॥८९॥
धूपदीपं च तद्वाथ स्वस्यदक्षिणपाणिना।
स्पृशन्जपेच्च प्रणवं अष्टोत्तरशतं द्विजः ॥९०॥
ततस्तदैव गायत्रिं अष्टोत्तरशतं जपेत्।
पायसं स गुडाहरं अनेकापूपभक्षणं ॥९१॥
तत्वानिवेद्य गायत्र्या ततः स्तांबूलमुत्तमं।
स्वगृह्योक्तविधानेन कुर्यादग्निमुखं ततः ॥९२॥
तस्यचेशानदिग्भागे हावयेत्समुदाधिकैः।
प्रत्येकसमिदंनाखैः तिलैश्चाष्टोत्तरंशतं ॥९३॥
गायत्र्याज्जुहुयाद्धीमान् प्रणवव्याहृति पूर्वया।
अलाभेष्टाविंशतिर्वा द्रव्याणां जुहुयात्ततः ॥९४॥
ततो जयादीन्जुहुयात् सर्पिषा सर्वसिद्धये।
प्रायश्चिताहुतिहुत्वा कुर्यात्पूर्णाहुतिं ततः ॥९५॥
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा दंडवत्प्रणिपत्य च।
ततोर्चयेत्स्वस्यगुरुं गंध प्रसवतंडुलैः ॥९६॥
ततः सद्भक्तितोदद्याद्वस्त्रहोमांग्गुलिय्यकं।
विषामलाभेभक्तश्चेद्यथाशक्ति समार्चयेत् ॥९७॥
ततोदंडनमस्कारं कुर्वीत द्विजसत्तमः।
एवमक्षस्त्रजाधीमान् प्रतिष्ठाप्य यथाविधि ॥९८॥
गुरुहस्तेनलब्धेन तयामालिकया जपेत्।
मुखमारभ्यवृद्धान्तं जप्त्वापश्चात्प्रदक्षिणं ॥९९॥

भ्रामयित्वा पुनर्वक्त्रमारभ्य च जपेत्पुनः ।
अयमेवसमाख्यातः जपमाला विधिक्रमः ॥१००॥
एकादिपंचपर्यंत्तं कनिष्ठाद्यंगुलिक्रमात् ।
संकोचयेत्ततोविद्वान्यथापूर्वं प्रसारयेत् ॥१०१॥
अनेन जपसंख्यास्यात्क्रमेणैव जपस्य तु ।
एकः स संख्या वामहस्ते दक्षिणेन तथाक्रमात् ॥१०२॥
तत्रापि दशसंख्याया शतसंख्येति च स्मृतः ।
जपांग्गुलिक्रमेणोक्तो लेखाक्रममधोच्यते ॥१०३॥
मध्यांगुलेर्मध्यरेखां समारभ्य प्रदक्षिणं ।
अनामिकांतरेखांत्तं अंगुष्ठेन यथाक्रमं ॥१०४॥
स्पृष्ट्वा द्वादशसंख्यानार्केनवारेण तत्पुनः ।
एवं रेखाक्रमजपः प्रस्पष्टः''' प्रकाशितः ॥१०५॥
एतत्समस्तं विज्ञाय यो जपेद्विजसत्तमः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥१०६॥
इहलोके सुखी भूत्वा प्राप्नुयात्परमं पदम् ।
प्रणवव्याहृतिः सप्तगायत्रिं वैदिकान्मनून् ॥१०७॥
विनानन्यान्जपेन्मात्राननयाजपमालया ।
गुर्वलाभे स्वयंवापि प्रतिष्ठाप्यजपस्त्रजं ॥१०८॥
अनेनविधिना विप्रा जपेदक्षस्त्रजातया ।
वामनेनस्पृशेन्मालां करेण ब्राह्मण कचित् ॥१०९॥
करेकंठेथवास्कन्धे धारयेन्नकदाचन ।
जपस्त्रजातयानित्य जपकाले जपः शुचिः ॥११०॥

कलीत्वैवायशुचिस्त्नाने द्विजन्मात्र विनिक्षिपेत् ।
अम्याक्षमालयैतानि मंत्राणि च जपेद्बुधः ॥१११॥
नान्येषामन्यमंत्राणां जपकर्मार्थमर्पयेत् ।
श्लेष्मरक्तसुरामांस विण्मूत्रोच्चिष्टकिकसैः ॥११२॥
कपालनखकेशैश्च पतितैरंत्यजैरपि ।
उदक्याकाकविट्क्रोढ़खरपादायुथश्वभिः ॥११३॥
शाखारंडकदोषज्ञ देवाजवमहाहिभिः ।
जपमाला यदिस्पृष्टा तां तथैव परित्यजेत् ॥११४॥
अज्ञातपूर्वगणिका पंचवीसूतिकारुचिः ।
याताभिरपि संस्पतिष्ठां त्यजेदक्षास्यजं बुधः ॥११५॥
तयैवाक्षनृजानित्या जपेत्सर्वार्थसिद्धये ।
दोषदुष्टाक्षमालांत्तं महानद्यां ह्रदेथवा ॥११६॥
पुण्यतीर्थेथवा विप्रो मंत्रैणैव प्रचिक्षिपेत् ।
समुद्रं गच्छस्वाहेति मंत्रमेतदुदीरयत् ॥११७॥
गंधपुष्पार्चितैः सार्धं मालामंत्रेण निक्षिपेत् ।
रुद्राक्ष पुत्रजीवाज्ज बीजदर्भ जपस्त्रज ॥११८॥
दुःस्पृष्टि दोषविज्ञेयो न तु रत्नजपस्त्रजे ।
पुनरेवं विधानेन संवाद्याक्षस्त्रजस्ततः ॥११९॥
यदिच्चेद्दोष संस्पृष्टि भवेद्रत्नजपस्त्रज ।
पुनरेवं प्रतिष्ठाप्य जपेदक्षप्रजातया ॥१२०॥
प्रतिष्ठा कीर्त्तन्नाध्यायः ममाख्यातो जपस्त्रजः ।
न यस्य कस्यचिद्देय दातव्यं सद्विजन्मने ॥१२१॥

यदाक्षराभिधानाना वलयोनियमोत्र नः ।
स्मृतिष्यर्थं प्रगृह्णिय्यादर्थमेव प्रयोजनं ॥१२२॥
आगमेषु पुराणेषु स्मृतिष्वि···कदासु च ।
अर्थमेव तु गुह्णिय्यान्न च शब्दविचारयेत् ॥१२३॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौजपमालायाःविधानकथनंनाम सप्तमोऽध्यायः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

जपेनिषिद्धकर्मवर्णनम्

जपेनिषिद्धकर्माणि यानि वक्ष्यामितान्यहं ।
निषिद्धकर्मकरणान्निष्विध्यति जपोक्तः ॥ १ ॥
तस्मात्सर्वप्रकारेण जपकर्माणि बुद्धिमान् ।
निषिद्धानिह कर्माणि कदाचिदपि नाचरेत् ॥ २ ॥
पादप्रसारणं वार्तामालोकन विजृंभणि ।
जुह्वाप्रसारणंश्वापः नखच्छेदन ताडनं ॥ ३ ॥
भुजाद्यास्फालनं रज्जुकरणं तृणदंशनं ।
क्षुदद्ष्टिवनं गात्रचलनं केशबंधनं ॥ ४ ॥
अधरस्पर्शनं दंत्तकर्षणं देहकंपनं ।
आस्फोटनं प्रहासीन शयनं परिवीक्षणं ॥ ५ ॥

अन्वेषणमंगुल्या मुखवास प्रपूरणं ।
शिरः कंठे प्रावरणं वाससादोः प्रसारणं ॥ ६ ॥
शिरः प्रच्छादनं शिल्पकरणं चोपचर्वणं ।
सूक्ष्मजंन्तु प्रहननं मालाधानं तथैव च ॥ ७ ॥
क्रोधनं दुष्क्रियाध्यानं कर्माण्यस्यदपिद्दशं ।
भवंति कर्माण्येतानि जप नाशकराणि च ॥ ८ ॥
पापरूपापोरूपाप जनाभूतिसुरार्चका ।
एषानिशामनंचैक भापणं जपनाशकृत् ॥ ९ ॥
भवंन्ति कर्माण्येतानि यदिचेत्तु प्रमादतः ।
प्रक्षाल्य चरणाहस्तौ आचम्य च यथाविधिः ॥१०॥
प्राणायाम त्रयं कृत्वा सवितारं विलोक्य च ।
नमस्कृत्य ततोधीमान्जपशेषन् समाचरेत् ॥११॥
एवं सर्वविधिं ज्ञात्वा जपं कुर्याद्विजोत्तमः ।
तत्तदुक्तफलं सम्यक् प्राप्नुयास्नेहमानवः ॥१२॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ जपविधानवर्णनं
नामाष्टमोऽध्यायः ॥

अथ नवमोऽध्यायः

गायत्र्यासाधनक्रमवर्णनम्

अथैतस्याः प्रवक्ष्यामि गायत्र्या साधनक्रमं ।
न साधितं य आमंत्रं प्रयोगो न फलप्रदः ॥ १ ॥
तस्माद्विद्युक्तमार्गेण साधयित्वा द्विजोत्तमः ।
ततः प्रयोजयेत्मंत्रः अभिष्टफलदं भवेत् ॥ २ ॥
ऋषीन्छंदांसि देवान्श्च वर्णनास्तत्वानिशक्तितः? ।
मुद्राश्च विनियोगं च वीजशक्त्यासनानि च ॥ ३ ॥
स्नानंकालं च तद्ध्यान यथावद् गुरुवक्त्रतः ।
अधिकृत्या ततो विप्रा मंत्रमेतत्पुरश्चरेत् ॥ ४ ॥
शिरोब्रह्म शिखारुद्रः विष्णुर्हृदयसंयुतः ।
उपायने विनियोगो गोत्रसाख्यानश्च तु ॥ ५ ॥
ज्ञात्वैतानि शुचिकृभ्यानि शुद्धविक्षासनः सकृत् ।
यत्रकालाप्लवोमृत्युः जपे द्वादशलक्षकं ॥ ६ ॥
कृतादिश(क)लिपर्यन्तं क्रमाल्लक्षत्रियंत्रयं ।
युगं प्रत्येवमारोप्य पुरुश्चरणमाचरेत् ॥ ७ ॥
पुरश्चरणमेतद्धि गायत्र्या प्परिकीर्तितं ।
एकं द्वित्रिचतुः पंचषट्सप्ताष्टानवोपरि ॥ ८ ॥
दशाननक्रमेणैव शतंदशवतस्मृतं ।
तथा सहस्रमयुतं लक्षंचेति यथाक्रमं ॥ ९ ॥

एवं संख्याक्रमं ज्ञात्वा मंत्रिमंत्रासदा जपेत् ।
संख्याज्ञाननं पद्मबीजैः सूक्ष्मशुद्धात्मवित्तु वा ॥१०॥
संख्यारेकाभिरथवा भूमौ वा रज्जुबन्धनैः ।
विप्र पापक्षयार्थिचेत् प्रातः प्रथमवासरे ॥११॥
नत्वाध नित्यकर्माणि निर्वर्त्य च यथाविधि ।
ब्रह्मकूर्चांपिवेदग्नि द्वितीये प्रथमोक्तवत् ॥१२॥
सर्वं कृत्वाधभूंञ्जीत विशुद्धं यावकाशनं ।
पूर्ववत्सकलं कृत्वा द्वितीये दिवसे पुनः ॥१३॥
द्विजोत्तमान्नभुक्ताथ सावित्रि जपमाचरेत् ।
गायत्र्यात्त्वभिमर्त्र्यांभः शतवारंजलस्थितः ॥१४॥
स्नात्वापीत्वा शतंजप्ता सर्वपापे प्रमुच्यते ।
ब्रह्महा मधुपस्वर्णस्तेयि च गुरुतल्पगः ॥१५॥
गोमातृहापितृघ्नो वा गुणरपूर्त्वि म सागरां ।
सदाचार्य मुखात्सागां अधितांत्तु विधानतः ॥१६॥
गायत्रिमयुतं जप्त्वा पापैरेतैद्विमुच्यते ।
आदौवेवक्रममिदं कृत्वा स्वस्याभिवृद्धये ॥१७॥
गायत्र्याधत लाभाय होमं सम्यक्समाचरेत् ।
जपहोमौ च सततं कुर्याद्विप्रस्वतेजसा ॥१८॥
सर्वकामसमृद्ध्यर्थं परंब्रह्मोदमुच्यते ।
नित्यनैमित्तिकेनाम्ने त्रितयेस्मित्र्यतिष्ठिता ॥१९॥
गायत्रितत्परं नान्यत् इहैव च परत्रयः ।
मध्यंदिनेलपभुज्यौनि त्रिकालज्ञानतत्परः ॥२०॥

लक्षत्रयजपेधेतत्पुरश्चरणसिद्धये ।
सर्वेषुकायिकेष्वेतं क्रमेण विधिरीरितः ॥२१॥
यावत्कर्मसमाप्तिस्तु प्रातःस्नानं न सत्यजेत् ।
अथवेदादिमातति प्रसादजननं विधिं ॥२२॥
गायत्र्या संप्रवक्ष्यामि धर्मकर्मार्थमोक्षदं ।
पूर्वं सूर्योदयात्स्नात्वा सहस्रं प्रत्यतां जपेत् ॥२३॥
आयुष्यमर्थमारोग्यं लभेत्कीर्तिं च बांधवां ।
उपवास त्रयं कृत्वा सहस्रं जुहुयाद्धुतं ॥२४॥
सहस्रपोषं लभते प्रवृद्धार्चिषे पावके ।
पयसाभ्यज्यसमिधः पालाशस्यसहस्रकं ॥२५॥
ग्रहणेजुहुयादिंदोः सहस्रं रजितं लभेत् ।
घृतेनाभ्यज्यसमिधः खदिरस्यहुताशने ॥२६॥
जुहुयाद् ग्रहणेभानोः सहस्रं णेषमाप्नुयात् ।
(सहस्रं पोषमाप्नुयात्)।
अलक्ष्मिप्रचुरव्याधिदुःस्वप्नाश्च समाश्रीताः ॥२७॥
सहस्रजप्ता कुंभांभ सेवनान्नादमाप्नुयात् ।
यां दिशं ब्राह्मणोगंत्तुधिश्चन्लोष्टानि सप्त च ॥२८॥
सप्तकृत्याभिमंत्र्याथ विनृजेत्तत्रनोभयं ।
क्षिराशीजुहुयाल्लक्षं क्षेरं मृत्युं व्यपोहति ॥२९॥
घृताशी प्राप्नुयान्मेधां जप्त्वालक्षं न संशयः ।
नाभिमात्रेभनिस्तात्वा सूर्यस्याभिमुखोजलं ॥३०॥

लक्षं त्तु जुहुयाद्राज्यं लाभेन्निष्कंटकं ध्रुवं ।
हुनेद्देतसत्राणि घृतयुक्तानि पावके ॥३१॥
लक्षंभूमौ भवेद्दिष्टिर्महत्यत्र न संशयः ।
सहस्रं जुहुयाद्भस्म जलेवर्षं विमुंचति ॥३२॥
लक्षेण भस्महोमेन कृत्वा चोत्तिष्टते जलं ।
तदेव जुहुयादप्सुलक्षं गुर्विं श्रीयंलभेत् ॥३३॥
तिलास्घृताक्तान्जुहुया लक्षं स्वाहधिनायके ।
विमुक्तस्सकलांहोभिः परमैश्वर्यमाप्नुयात् ॥३४॥
सत्तंडुलतिलान्लक्षं जुहुयात्सर्पिषासह ।
स्वाहप्रियेस्यगेहेभिः वृद्धिरत्युत्तमा भवेत् ॥३५॥
प्रत्यहं जुहुयादन्नमष्टोत्तरशतं द्विजः ।
अशक्तोष्टाविंशति वा तद्गृहोन्नध्रुवं भवेत् ॥३६॥
गोघृतं जुहुयाल्लक्षं समस्तारयुर्मनोरथाः ।
शुचिर्भूत्वा द्विजश्रेष्ठाः सुनमिद्धेहुताशन ॥३७॥
गोघृतं मधुसंम्मिश्रं इष्टस्त्री वस्यकर्मणि ।
अयुतं जुहुयादग्नौ सास्त्रिप्राणप्रिया भवेत् ॥३८॥
सद्वृत्यबलवानंविश्वर्यं गोघृतं लक्षंजुहुयात्प्रलभेस्थिरं ।
जुहुयाद्रक्तसिद्धार्थैः लक्षं साहा प्रिये यदि ॥३९॥
प्रत्यर्थिनोध युध्यंत्तः ते व्रजेयुर्यमाल्यं ।
तांम्राश्वमारसमिधः जुहुयाल्लक्षं हुताशने ॥४०॥
भवेद्विदेशगमनं संपन्नस्य न संशयः ।
सा यत्र प्रतिलोमोक्ता बवश्चाच्छत्रून्विनाशयेत् ॥४१॥

अक्षरप्रतिलोमूयं यस्मिन्नुद्धतकर्मणि ।
तदमोखंविजानिय्यादेतद्धि ब्रह्मणोबलं ॥४२॥
विभीतकेथ समिधः ह्याक्षरप्रतिलोमया ।
हुनेत्सर्षप तैलेन विभीतकक्रुतस्रुचा ॥४३॥
ययिच्चेत्पीटकंशत्रोः अपिवोत्सादनं पुनः ।
पञ्चतृंसंपुले शत्रून् व्रर्णाशश्च प्रयोजयेत् ॥४४॥
कर्मणां मरकादीनां तत्रोक्तानामनंतरं ।
होमकर्म प्रवक्ष्यामि समस्तानां प्रशांतये ॥४५॥
गोसर्पिदधिपिय्यासमेकीभ्रुत्वज्वलक्षुका ।
यावत्तत्कोपशमनं तावत्तज्जुहुयाच्छुचौ ॥४६॥
लब्वासनोब्रह्मचारी त्रिसहस्रं जपेच्छुचिः ।
संव्वत्सराद्धुनैश्वर्यं न लभेन्नात्र संशयः ॥४७॥
निराहारो जपेल्लक्षं सदाप्यादीप्सितंवरं ।
प्रत्यंबयोजपेदेताः अब्दत्रयमतंद्रितः ॥४८॥
द्विजन्मा सपरंब्रह्म ययादत्र न संशयः ।
पुरश्चरणपूर्वाणि कर्माणि सकलानि तु ॥४९॥
अध्यास्मिन्मयोक्तानि ज्ञातव्यानि द्विजोत्तमैः ।
अनेनविधिनाभीष्टं सकलं साधयेद्द्विजः ॥५०॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ गायत्र्यासाधनक्रमवर्णनंनाम नवमोध्यायः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

गायत्र्यामन्त्रार्थकथनम्

अथायमर्थं गायत्र्या प्रवक्ष्यामि यथातथं ।
द्विजोत्तमानां सद्भक्त्या जपादीनि प्रकुर्वतां ॥ १ ॥

पीत्वा सभक्तिजननं मंत्रार्थं ज्ञानमुत्तमं ।
तस्मादर्थं विजानिय्याद्यत्नेन जपकृद्विजः ॥ २ ॥

विश्वानभक्तिभाजांतु जपादीनां महत्ततं ।
फलं लभेज्जपकृतामिति वेदेषु भाषितं ॥ ३ ॥
पदानजनमंत्रस्य तदादीनि यथाक्रमं ।
पदं प्रत्यर्थनिष्पत्तिः विस्पष्टं क्रियतेत्र तु ॥ ४ ॥

तदिति द्वितियेकवचनं अनेन जगदुत्पत्तिस्थिति लयकारणभूतमौपनिषधिकंधानिरुपंतेजः सूर्यमंडलामेधेयं परब्रह्ममिधिय्यते । सवितिरितिषष्ठैकवचनंपून् प्राणिप्रसवइत्यस्पधातोः एत द्रूपंसर्वस्यधातोर्वाभरित्यर्थः ॥ वरेण्यं वरणिय्यं प्रार्थनिय्यं नियमादिभिरवगतकल्मषैः । सध्येयंर्गः भंज्जोआमर्दने भुञ्जिमदभर्जन इत्येतयोर्धात्वोः भजतां पापभंजनहेतुभूतमित्यर्थः॥ भ्रा···लुदीप्तापितस्यधातोर्वाभर्गाः । तेज इति यावत् देवस्यवृष्टिदानादिगुणयुक्तस्य निरतिशयेत्यर्थः । तः प्रकाशात धीम-

हिद्यैचिंतायां नियमनिमुक्तविद्यारूपेण चक्षुषायो-
साधादित्योहिरण्मयः पुरुषः सोहमिति चित्तयामि-
धिय इते तु द्वितिय्या वहुवचनं य इलिछांडसत्वा-
लिग्गव्यत्ययः। यस्यतेजः सवितुर्देवस्यवरेण्यंश्रेष्ठं
अस्मारभिध्यातं भर्गोदेवभजतां पाप भंज्जन हो
भूतं अस्माकं नः धियः। बुद्धिश्रेयस्करेषुकर्मसुप्रचो-
दयात् प्रेरयेदित्यर्थः।

एषाव्याख्या तु गायत्र्या सर्वपाप प्रणाशिनी।
विज्ञातत्वा प्रयत्नेन द्विजैः सर्व शुभेप्सुभिः॥ ५॥
जपस्थानांत्तरेव्याख्या कर्तव्याहरहर्द्विजैः।
स्मरणात्सर्वपापानि प्रणस्यंति न संशयः॥ ६॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ गायत्र्यार्थप्रतिपादननाम
दशमोऽध्यायः॥

अथ एकादशोऽध्यायः

गायत्र्यापूजाविधानकथनम्

उत्तप्रमाण सुस्मिग्धं दृढ़शुलपंचरंत्रिवृत्।
संस्कारेणोपसंयुक्तं यत्तर्द्धेयं द्विजोत्तमैः॥ १॥
छिन्नं प्रभिन्नं स्फुटतं विशीर्णं मानतोधिकं।
मानहीनमसंस्कारं ब्रह्मसूत्रं न धारयेत्॥ २॥

शशिव्रतं त्रयः क्रूक्षाः गायत्र्या अयुत त्रयं ।
अल्पवनं महानद्या सममेतचतुष्टयं ।। ३ ।।
अथ पूजां प्रवक्ष्यामि देव्यासिद्धार्थ सिद्धिदान् ।
सर्वपापप्रशमनी सर्वाभयविनाशिनीं ।। ४ ।।
स्नात्वा शुक्लांवरधरःस्सपवित्रकरद्वयः ।
पादौशमे च प्रक्षाल्य सपस्पृश्यावाग्यतः ।। ५ ।।
उर्ध्वपुड्रं तु विधिवत्भस्मना चंदनेन वा ।
धृत्वा ललाटे हृद्ग्रीवा भुजयुगेन च द्विजः ।। ६ ।।
उपह्वरे शुचौदेशे विलिप्ते गोमयांब्बुना ।
दीपमारोप्यगंधादि पूजाद्रव्याणि निक्षिपेत् ।। ७ ।।
सुगंद्धाक्षत पुष्पाणि धूपदीपादिकानि च ।
सतांबूलोपहारं च द्रव्याणाराधनस्य तु ।। ८ ।।
सौवर्णं रजितं ताम्रं शुस्वकांस्यंच्छदारवं ।
मृण्मयं चेति पात्राणि सप्तात्रकदिता ।। ९ ।।
हाटकं कलधौतं च लोहशैलं च दारवं ।
आराधनविधौ पीठं पंचदा समुदाहृतं ।।१०।।
पूजापीठं स्नानंपीठं इति पीठं द्विधास्मृतं ।
पंकजं स्वस्तिकं चेति पूजकस्यासनंद्विधा ।।११।।
सत्यष्टचीनदेवांग कार्पासाच्छादनानि यत् ।
नवानिधूनान्यन्न्यै सुक्षाप्यत्रोदितानि वै ।।१२।।
स्वासनार्थं ततोदर्भानास्तीर्य प्राक्सेखानभः ।
तेषापविश्योदङ्मुखः खाग्रेपद्मं त्तिखेन्महात् ।।१३।।

तत्पश्चात्स्यवहिर्देव्या स्नानंस्थानं हरेर्दिशि ।
तत्रैवस्थापयेत्पीठं नानार्थं द्विजसत्तमः ॥१४॥
पीठं तन्मध्यमेस्थाप्य वस्त्रमाछाद्य तत्र च ।
ततस्तस्यसमीभागे कुशकूचासनोपरि ॥१५॥
स्वाचार्यं पूज्य तद्भक्त्या चंदनप्रसवाक्षतैः ।
नमस्कृत्य ततः कुर्यात्प्राणायाम त्रयं बुधः ॥१६॥
ऋषिश्छंदो देवताश्च वर्णं तत्वान्यनुक्रमात् ।
विनियोगं च संस्कृत्वा न्यासं कुर्यादनंतरं ॥१७॥
करन्यासं पुराकृत्वा गेहन्यासमथाचरेत् ।
अंगन्यासं ततः कुर्यादेवंन्यास विधौक्रमः ॥१८॥
ततो भांडजलेकुर्चं चंदनादित्रयं पुनः ।
दत्वामृताक्षरान्यश्च संस्पृशा द्विजसत्तमः ॥१९॥
गायत्र्यासप्रणव व्याहृतितितयाव्यया ।
अष्टकृत्वो येत्ततो विप्रमुद्रयाच्छादनाख्या ॥२०॥
पूर्वादिषु महादिक्षु विदिक्षु परिचक्रमात् ।
अस्त्रेणरक्षणं कुर्यातद्विच्छेदनमुद्रया ॥२१॥
ततस्तज्वलमादाय पात्रेणास्वस्यपूर्वतः ।
सन्नाप्यजलसंस्कारं यथापूर्वं समाचरेत् ॥२२॥
ततस्तद्वारिकूर्चेन समंतात्सकलेवरं ।
मूर्धादिपादपर्यंत्तं प्रोक्षयेन्मूलमुद्रया ॥२३॥
स्नानद्रव्याणि च तथा ततः संप्रोक्षयेद्द्विजः ।
द्रव्याणि चंदनादीनि त्रिण्यब्धिः संस्मृतो यदि ॥२४॥

तथाभिमंत्रणं दिक्षु रक्षणंचाथ कारयेत् ।
तानिद्विधा विभज्याथ समीचीनांशमेतयोः ॥२५॥
देव्यर्थं परिवारार्धं इतरांशमिति स्मरेत् ।
परिवारांशकद्रव्यैः यजेतात्मानमर्चकः ॥२६॥
गंधपुष्पाक्षतैर्धूप दीपाभ्यां चोद्यविद्यया ।
तत्पात्रे तोयमुत्सृज्य पुनंप्पत्रेण तेन च ॥२७॥
आदाय भांडसलिलं चतुष्पात्राणि पूरयेत् ।
अर्घ्याचमन पात्राणं पात्राणि त्रीणिचेतरत् ॥२८॥
सामान्यामृतमित्येवं उक्तं पात्र चतुष्टयं ।
ततः सलिलसंस्कारं यथापूर्वं समाचरेत् ॥२९॥
प्रक्षालनार्थं सलिल पात्रेप्रागेव पूरयेत् ।
अरप्रक्षालनार्थत्वादन्यसंस्कारणं न हि ॥३०॥
सामान्याचमानार्घ्याणं पाद्यक्षालनयोस्तथा ।
पात्राणिस्थापयेत्प्रत्यगदिप्रागवसांत्तिकं ॥३१॥
ततो गंधात्तपुष्पेन पीठमध्ये सरोरुहं ।
संविरूयकूर्चे तन्मध्ये न्यसेद्धर्मानुदच्छिखं ॥३२॥
ततः पीठस्य नैऋत्यां पद्मं संलिख्य पूर्ववत् ।
गंधादिभिस्त्रिभिर्देव अर्चयेद्गणनायकं ॥३३॥
यी(ई)शानदिशिपीठस्य लिखितांभोरहोपरि ।
ततो गंधादिभिर्मर्त्या क्षेत्राधिपतिमर्चयेत् ॥३४॥
पश्चादधस्तात्पीठस्य चंदनप्रमुखैस्त्रिभिः ।
आधारशक्तिं संपूज्य तदूर्ध्वे कूर्ममर्चयेत् ॥३५॥

पश्यादनंतरं पृथ्विं ततो गंधाधिदिभिस्त्रिभिः ।
उपर्युपरिसंपूज्य धर्मादीनध पूजयेत् ॥३६॥
धर्मंज्ञानंच वैराज्ञं ऐश्वर्य्यंचेत्यनुक्रमात् ।
आज्ञेयदिक्षुकोणेषु चतुष्वापि यथाक्रमं ॥३७॥
अधर्माज्ञानवैराग्यनैश्वर्याणि ततः क्रमात् ।
पूर्वादिषु महादिक्षु यजेत्पीठोपरिद्विजैः ॥३८॥
ततस्तन्मध्यमस्थाने चंदनप्रमुखैस्त्रिभिः ।
महासिंहासनंध्यात्वा दिव्यं समभिपूजयेत् ॥३९॥
तदूर्ध्वेंग्न्यर्कसो(मा)नां मंडलानि ततः क्रमात् ।
उपर्यपरिगंधादि त्रितयेन समर्चयेत् ॥४०॥
ततस्तदूर्ध्वंतस्योर्ध्वेंरजः सत्वंददूर्ध्वतः ।
चंदनानि त्रयेणैव गुणत्रयमथार्चयेत् ॥४१॥
पीठस्यांतः पूर्वदले पूजयेदणिमाह्वयं ।
लघिमाह्वयमाग्नेय्यां महिमाख्यंत्तुदक्षिणे ॥४२॥
प्राप्तिं निऋृतिदिग्भागे प्राकाम्यं पश्चिमे दले ।
ईशित्वंवायुदिक्पत्रे वसित्वं यक्षदिग्दले ॥४३॥
यी(ई)शानदिग्दले पश्चात् सर्वज्ञत्वं विचक्षणः ।
चंदनत्रितयेनैव ऐश्वर्यादिमर्चयेत् ॥४४॥
तद्वहिः पूर्वदिक्पत्रे प्रज्ञामनलदिग्दले ।
धृतिंयमककुत्पत्रे क्षेमां निऋृतिदिग्दले ॥४५॥
शांतिवरुणदिक्पत्रे स्मृतिं वायुककुद्दले ।
कांत्तिः मुत्तरदिक्पत्रे श्रृतिमीशानदिग्दले ॥४६॥

स्वस्ति गंद्धादिभिभक्त्या सहत्रिभिरथार्चयेत् ।
एवमेताः समभ्यर्च्य ततो वेदास्समर्चयेत् ॥४७॥
ऋग्वेदंतद्वहि प्राच्यां यजुर्वेदं तु दक्षिणे ।
सामवेदं तु वारुण्यां अथर्वाख्यं तथोत्तरे ॥४८॥
पुराणाद्यकथातर्क धर्मशास्त्राण्यनुक्रमात् ।
अग्निरक्षोनिवेशास्म कोणेषु च समर्चयेत् ॥४६॥
निरुक्तं ज्योतिषं शिक्षां कल्पव्याकरणं तथा ।
छंदः सूत्राणि शास्त्राणि पूर्वादिषु समर्चयेत् ॥५०॥
ततः पूर्वादि दिक्षादौ विधीक्षु च यथाक्रमं ।
भक्त्यार्चयेद्वसूनष्टौ चंदनप्रमुखैस्त्रिभिः ॥५१॥
धरः सोमौनिलश्चैव प्रभासौध्रुवसंज्ञकः ।
आपः प्रत्यूषसंज्जिश्च व(ष)त्कारयिति स्मृतः ॥५२॥
ततस्तुदद्वहिर्देशे रुद्रानेकादश क्रमात् ।
सद्भावभक्तिसहितः यजेत्स्रीतद्विजसत्तमः ॥५३॥
महादेवः शिवोरुद्रः शंकरो नीललोहितः ।
यी(ई)शानो विजयो भीमो देवदेवोभवोहरः ॥५४॥
कपालिसंज्ञिइत्येते रुद्र एकादश स्मृताः ।
पूर्वादिषु त्रिकाष्टासु रुद्रास्त्रीस्त्रीननुक्रमात् ॥५५॥
रुद्रौद्यौउत्तराशायमर्चयेचंदनादिभिः ।
ततः प्रागादिकाष्टासु यजेद्वादश भास्करान् ॥५६॥
त्रींस्त्रीन्यथाक्रमेणैव तद्वाह्ये चंदनादिभिः ।
वैकर्त्तनोविवस्वांश्च मार्तण्डं भास्करो रविः ॥५७॥

लोकप्रकाशकश्चैव लोकसाक्षी त्रिविक्रमः ।
आदित्यश्च तथा सूर्यः अंशुमाली दिवाकरः ॥५८॥
त एतेद्वादशादित्याः सर्वलोकविभानका ।
एतानेवनमभ्यर्च्य तद्वाह्योतन्मुनीन्यजेत् ॥५९॥
पूर्वादिषु चतुर्दिक्षु वशिष्ठादीनप्रदक्षिणं ।
पत्पद्यथाक्रमेणैव मुनीनांग्गाधिभिस्त्रिभिः ॥६०॥
ततोवहिस्थले धीमान् इन्द्रादिनष्टलोकपान् ।
पूर्वादिष्वष्टकाष्टासु पूजयेदर्चनादिभिः ॥६१॥
इन्द्राग्निसमवर्त्ति च निऋतिर्वरुणोनिलः ।
भीमकुवेर इत्यष्टौ लोकपाल अमीस्मृताः ॥६२॥
स्वस्वनाम चतुर्थ्यंतं प्रणवादिनमोंत्तकं ।
सर्वेषां परिवाराणां मंत्रमाराधने स्मृतं ॥६३॥
स्वस्वमंत्रेण सकलान् उपचारान्द्विजोत्तमः ।
आचार्य प्रमुखस्तत्तत् ध्यानेन सहपूजयेत् ॥६४॥
एवमेताः समभ्यर्च सुगंधकुसुमोक्षतैः ।
ततो देवीं यजेद्धीमान् गायत्रिं वेदमातरं ॥६५॥
ध्यानध्यायो यथाप्रोक्तं रूपंदेव्याश्चलक्षणं ।
स्वर्गादिभिस्तथा कुर्यात् प्रतिमां नयनप्रियां ॥६६॥
सुबर्णरोप्यस्फटिक षाषाण प्रतिमाकृता ।
चत्वारयेतेशस्तास्युरलाभे स्थंडिलं स्मृतं ॥६७॥
कृतांप्रतिष्ठां तां कृत्वा विधिना च द्विजोत्तमः ।
ततोद्विजन्महरहः तस्यां देवीं समर्चयेत् ॥६८॥

पूर्वसंध्यार्चितां पुष्पं प्रतिमाया विसृज्य च ।
प्रक्षाल्य स्थापयेत्पीठे प्रतिमां प्राङ्मुखीं द्विजः ॥६९॥
पश्चात्पुष्पाक्षतैस्तेषुं प्रतिमायाः प्पदेषु च ।
ततः सलिलमादाय स्नानपात्रेण पूर्वतः ॥७०॥
संस्थाप्य जलसंस्कारं यथापूर्वं समाचरेत् ।
ततः कूर्चेन तत्तोयं आदाय च शनैः शनैः ॥७१॥
संप्रोक्षयेत्तत्प्रतिमां सद्भावेनाद्यविद्यया ।
ततः पुष्पांज्जलिं कृत्वा प्रणवेनाकमंडलात् ॥७२॥
देवीमावाहयेच्छ्रीमान्प्रतिमायां यतेन्द्रियः ।
ततोजलिस्थितं पुष्पं विक्षिप्य प्रतिमोपरि ॥७३॥
अधोमुखेनांजलिना स्थापयेन्मूलविद्यया ।
तत्तोमुष्टिद्वयांत्तस्थं कृत्वांगुष्टद्वयं बुधः ॥७४॥
प्रदर्शयेन्मुखे देव्याः भवेत्तत्संनिरोधनं ।
पश्चान्मुष्टिद्वयांतस्थं कृत्वांग्गुष्ठद्वयाबुधः ॥७५॥
वक्त्रे प्रदर्शयेत्देव्याः सन्निधौचरणं हि तत् ।
एतत्प्रयोगद्वितये मूलविद्यैव भाषिता ॥७६॥
ततः साक्षातपुष्पाणि दद्यानेष्वाद्यविद्यया ।
पश्चात्तुपाद्याचमनमर्घ्यं चानुक्रमेण तु ॥७७॥
दत्वाद्यविद्यया पश्चात्वस्त्रं यज्ञोपवीतकं ।
दत्वाचाध्याप्यचमनं पूर्ववन्मूलविद्यया ॥७८॥
चंदनाक्षतपुष्पाणि तथा दद्याद्यथाक्रमं ।
धूपदीपौ ततौ दत्वा किंचिन्मूलमनुंजपेत् ॥७९॥

ततः समस्तनिर्माल्यं आदाय प्रविसृज्य च ।
पुष्पाणि शीर्षेष्वारोप्य दद्यदाचमनं ततः ॥८०॥
ततोनुपहतैर्गव्यैः र्घ्यंचभिप्परमेश्वरीं ।
ततः मृतैर्गंधतोयैः प्रत्यग्रैरभिषेचयत् ॥८१॥
गोमूत्रं गोमयंक्षीरं दध्याधूराभिधानकं ।
एतानि पंचगव्यानित्याख्यातानि महर्षिभिः ॥८२॥
पेय्याषदद्याधाराख्यंमद्भ्वीक्षुरसपंचकं ।
एतत्पंचांमृतंनाम स्नपने प्रवरं स्मृतं ॥८३॥
द्रव्याण्यमूनिपात्रेषु पूरइत्वाथ पंचसु ।
गंद्धपुष्पाक्षतान्धूपदीन्दत्वा पृथक् पृथक् ? ॥८४॥
स्पृष्ट्वाष्टकृत्वा स्सावित्र्या पात्रंप्रत्यभिमंत्र्य च ।
द्रव्यैरेतैस्ततो देवीं स्नापयेद्विधिपूर्वकं ॥८५॥
गंधद्वारांकरिषस्य गायत्रि गोजलस्य च ।
आप्यायस्वेति पयसा शुक्रमस्यधसर्पिषः ॥८६॥
दध्नोदधिक्रापुण्न इति देवस्यत्वा कुशोदकं ।
मधुवातामधोर्धाराविद्ययेक्षुरसस्य च ॥८७॥
मंत्राण्यमूनिद्रव्याणिमाख्यातानि पृथक् पृथक् ।
गोमूत्र पूर्वस्नानादि मंत्रैरेभिः समाचरेत् ॥८८॥
एवंदशविधं स्नान कृत्वाचोषेण वारिणा ।
गोधूमपिष्टमुद्गाभ्यांपेषयित्वाभिषेचयेत् ॥८९॥
ततोहरिद्रयालिप्य शुद्धशीत(ज)लेन वा ।
अभिषिच्य ततस्नानं त्रितयं च समाचरेत् ॥९०॥

आपोहिष्ठादिभिर्मंत्रै त्रिभिःप्राक् स्नापनं स्मृतम् ।
हिरण्यवर्ण इत्याद्यैश्चतुर्भिःस्नापनं स्मृतम् ॥९१॥

पवमानानुवाकेन स्न(स्न) पनं च तृतीयकम् ।
एवं त्रिः स्नाप्यमनुभिः एतैरप्यात्मविद्यया ॥९२॥

समस्तयाऽथव्याहृत्या परिषिंचेत्प्रदक्षिणम् ।
दद्यादाचमनं देव्याः स्नानं प्रत्यात्मविद्यया ॥९३॥
तथैवसाक्षतं पुष्पं ऊर्ध्वास्यांघ्रिषु च द्विजः ।
ततः पूर्वार्चिते पीठे स्थापयेत्स्थानपीठतः ॥९४॥

ततः पुष्पांजलिं दत्वा नमस्कृत्यात्मविद्यया ।
ततः पूर्वस्थलाद्यादि त्रितयं क्रमशोऽर्चयेत् ॥९५॥
दद्यात्पाद्यं पदान्तेषुमुखेष्वाचमनिय्य(नीय)कम् ।
अर्घं पंचसु शीर्षेषु मूलमंत्रेण मंत्रवित् ॥९६॥

ततो वस्त्रं ब्रह्मसूत्रं दत्वाऽऽचमनमर्पयेत् ।
गंधपुष्पाक्षतैरेवमर्पयेदात्मविद्यया ॥९७॥
ततो नानाविधैः पुष्पैः सुगंधैः कुसुमादिभिः ।
यथेष्टं पूजयेद्देवीं यथानयनवल्लभम् ॥९८॥

ततो धूपं ततो दीपं दद्यात्पुष्पांजलिं ततः ।
सौवर्णे राजते शौल्येकांचने भाजने शुभे ॥९९॥

नापूपघृतनिष्पन्नं परमान्नं सशर्करम् ।
दत्वाऽऽत्मविद्यया प्रोक्ष्य पुष्पं तदुपरि क्षिपेत् ।
ततोमंत्रासनस्योर्ध्वं तत्स्थाप्यामृतमुद्रिकाम् ॥१००॥

दत्वा समस्तव्याहृत्या परिषिच्यान्नभाजनम् ।
प्रणवेन जलंध(द)त्वा तन्नैवेद्यं निवेदयेत् ॥१०१॥
ततः सपुष्पहस्तेन दक्षिणेन द्विजोत्तमः ।
पात्रस्थमन्नं त्रिः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा निवेदयेत ॥१०२॥
पुष्पं दत्वा ततो हस्तं प्रक्ष्याल्याष्टोत्तरं शतम् ।
जपेदष्टाविंशतिं वा यथाशक्ति च संकटे ॥१०३॥
अंगुल्याक्षसृजावापि गायत्रीं द्विजसत्तमः ।
अलाभेऽत्रोक्तपात्राणां पत्रपात्रेषु शोभने ॥१०४॥
शाखाविरोधभूजावलतिका वीरुधामपि ।
निवेद्य प्राक्समाख्याते दुर्लभेऽतीव सोमपाः ॥१०५॥
होमोक्तधान्यजान्नं वा कंदमूलफलानि वा ।
गोक्षीरं दधिखंडं वा लड्डुकादिकमेव वा ॥१०६॥
इतरद्भुक्तिजातं वा विशेषसुलभन्तु वा ।
निवेदयेत्तु नैवेद्यं द्रव्यैः सर्वप्रकारतः ॥१०७॥
पश्चादाचमनं दत्वा नैवेद्यं तद्विसर्जयेत् ।
ततः संप्रोक्ष्य तत्पानकरं वासस्ततोऽर्पयेत् ॥१०८॥
अलंकारानुभूषेण पश्चात्ताम्बूलमुत्तमम् ।
क्रमेण कृत्वा त्रितयं मूलमंत्रेण मन्त्रवित् ॥१०९॥
अन्यानि यानि देयानि दद्यात्तान्यात्मविद्यया ।
पश्चादुत्थाय सद्भक्तया गंधपुष्पाक्षतान्वितम् ॥११०॥
जलमंजलिना दद्याचालकोदकमंत्रतः ।
अज्ञानेन प्रमादेन द्रव्यालाभेन वा यदि ॥१११॥

अन्यूनमतिरिक्तं वा तत्क्षमस्व ममेश्वरी ।
जगन्मये जगन्मातः जगज्जननकारणे ॥११२॥
यदलीकं कृतं सर्वं तन्मया(मम) क्षन्तुमर्हसि ।
मंत्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं महेश्वरी ॥११३॥
यत्पूजितं मया देवी परिपूर्णं तदस्तु मे ।
दत्वाऽमीभिस्त्रिभिर्दव्याश्चुलकोदकमर्चकः ॥११४॥
ततः प्रदक्षिणं भक्तया तोषयेत्परमेश्वरीम् ।
पश्चाद्दंण्डंनमस्कारत्रयींकुर्याद् द्विजोत्तमः ॥११५॥
उत्थाय हस्तौ प्रक्षाल्य श्रीपादकुसुमं ततः ।
आत्ममूर्ध्नि च सद्भतया धृत्वा प्रक्षालयेत्करौ ॥११६॥
ततः पुष्पांजलिं दद्याच्चरणेष्वाद्यविद्यया ।
ततः क्षमस्व देवी त्वं मां च रक्षेत्युदीर्य च ।
प्रणवेनाऽथ देवेशीं सूर्यबिम्बे प्रवेशयत् ॥११७॥
(ततः प्रसन्नवदने ?)गायत्र्याख्यां महो(हे)श्वरीं ।
सद्भक्तयाऽभ्यर्चयेद्विप्रो विमुक्तः सर्वपातकैः ॥११८॥
सर्वयज्ञतपोदानतीर्थवेदेषु यत्फलम् ।
पिहत(विधिना?)तत्सकलंलब्ध्वा यात्यन्तेशाश्वतं पदम् ११६
विषुवायनसंक्रांतिग्रहणेषु च वैधृतौ ।
व्यतीपाते महापूजामशक्तश्चेत्समाचरेत् ॥१२०॥
एतद्रहस्यं परमं एतद्देव्यामहार्चनं ।
सत्कुलाय सुशीलाय वेदाध्यायिद्विजन्मने ॥१२१॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ पूजाध्यायकथनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

गायत्रीध्यानवर्णनम्

अथ वक्ष्यामि गायत्र्याः ध्यानंसर्वाघनाशनम् ।
सर्वाभीष्टप्रदं साक्षादिहलोके परत्र च ।। १ ।।

ध्यानं संध्यात्रये(सायन्तने) यत्र ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
अन्यथा तु निजध्यानं प्रधानं च यथाक्रमम् ।। २ ।।
ध्यानं विना जपं सर्वं यत्नेनाऽपि कृतं वृथा ।
तस्माद्द्विजस्तु ध्यानेन जपं सह समाचरेत् ।। ३ ।।

हंसस्थां कांस्यकां रक्तां चतुर्वक्त्रां चतुर्भुजाम् ।
पद्मासन जटाचूडामष्टनेत्रां स्मिताननाम् ।। ४ ।।
पीताम्बरप्रकटितां रत्नकुण्डलमण्डिताम् ।
दिव्यचंदनलिप्तांगां दिव्यपुष्पैरलंकृताम् ।। ५ ।।

सर्वाभरणसंयुक्तां होमयज्ञोपवीतिनीम् ।
दक्षिणेऽक्षस्रजं कूर्चं वामभागे स्रुवं वरम् ।। ६ ।।
चतुर्हस्तेन बिभ्राणांदरण्येदिक्प्रदक्षिणम् ।
प्राक्संध्यायाःस्मरेद्देवीं गायत्र्याख्यां द्विजोत्तमः ।। ७ ।।

दक्षिणेऽक्षस्रजं कूर्चं स्रुवं वामे कमंडलुम् ।
एवं वापि स्मरेद्देवीं द्विजः पूर्वोक्तलक्षणाम् ।। ८ ।।
दधतीं श्वेतरूपां तां शितवस्त्रां चतुर्भुजाम् ।
द्विनेत्रांहिमकोटि······ त्रिवेष्टनाम् ।। ९ ।।

सीतक्षामांबरधरां प्रसन्नेंदुनिभाननाम् ।
सुगन्धां लिप्तसर्वाङ्गीं सुपुष्पस्रग्विभूषिताम् ॥१०॥
समस्ताभरणोपेतां स्वर्णयज्ञोपवीतिनीम् ।
दक्षिणे पंकजं शंखं वामे चक्रं महागदाम् ॥११॥
चतुर्हस्तेन बिभ्राणां धरादित्यो प्रदक्षिणाम् ।
एवं मध्याह्नसंध्यायां सावित्रीं द्विजसत्तमः ॥१२॥
कृष्णां प्रौडां(ढ़ां,वृषारुढ़ां एकवस्त्रां त्रिलोचनाम् ।
चतुर्भुजां जटानागकुंडलेनसुमंडिताम् ॥१३॥
व्याघ्रचर्मांबरधरां नानाभरणभूषिताम् ।
अक्षस्रजंमहाशूल्रंडमरुं चकपालकम् ॥१४॥
चतुष्करेषु बिभ्राणां अधरादि प्रदक्षिणम् ।
एवं सरस्वतीसंज्ञां सायंकाले स्मरेद् द्विजः ॥१५॥
सपवित्रां चतुर्हस्तां तिस्रो देव्य इमा ध्रुवाः ।
त्रिमूर्तिरूपधारिण्यः सृष्टिस्थितिलयांशकाः ॥१६॥
एवं त्रिषु च संध्यासु जपकालेऽर्कमंडले ।
गायत्रीं संस्मरेद्विप्रः सर्वान्कामानवा^नुया(त) ॥१७॥
पञ्चास्यानि त्रयः पादाः षड्वागादिशबाहवः ।
नेत्राणि पंचदश च श्वेतरुक्कान्तिमत्तनुः ॥१८॥
प्रदक्षिणां ततः प्रत्यगूर्ध्वास्यानि(?) यथाक्रमम् ।
रक्तकृष्णसुवर्णाभः श्वेतज्योति निभानि च ॥१९॥
हुताशनवदास्यानि सुस्थिरत्वंत्तुतद्वयः ।
उत्संगे पृष्ठभागे तु कुक्षयःषट्प्रकीर्त्तिताः ॥२०॥

कूर्चाक्षसूत्रं श्रुग्दंधा(गदा?)भयादक्षिणपाणिषु ।
पुस्तकानि स्रुवं पात्रं वराश्चेतरपाणिषु ॥२१॥
अथवाल्पकशस्त्राणि भवेयुर्दशपाणिषु ।
चतुर्भुजां वा तां ध्यायेदन्यत्सर्वं पुरोक्तवत् ॥२२॥
अक्षाक्षिमालामभयं दंडं दक्षिणहस्तयोः ।
कमंडलुं च वरदं बिभ्राणां वामहस्तयोः ॥२३॥
मुकुन्दं कुंडलं हारं कर्पूरं कुक्षिबन्धिनीम् ।
छन्नं पीनं कराकल्पं कराशाखाविभूषणम् ॥२४॥
कलापपादकटयोर्नूपुराङ्गुलिभूषणम् ।
एतैर्विभूषणैर्हैमैः नानारत्नसमन्वितैः ॥२५॥
दिव्यैर्विभूषितां देवीं रुक्मयज्ञोपवीतिनीम् ।
पवित्रहस्तदलकां किंचित्प्रहसिताधराम् ॥२६॥
दिव्यगंधानुलिप्तांगां दिव्यमाल्यैरलंकृताम् ।
सीतक्षामपरीधानां सर्वावयवसुंदराम् ॥२७॥
सर्वलक्षणसंपन्नसर्वलौकैकनायकीम् ।
समस्त मंत्रतंत्राणां नायकत्वे प्रतिष्ठिताम् ॥२८॥
शुद्धस्वर्णमयैरत्नैः अनेकैरूपशोभिता ।
आनानात्यंन्तसौंदर्यस्थाने पंचास्य विष्टरे ॥२९॥
तथाविधे भद्रपीठे विस्मये चोर्ध्वं संस्थिताः ।
चतुर्वेदैःषडंगैश्च चतुषष्टिकलात्मभिः ॥२०॥
वशिष्ठाद्यैश्चमुनिभिः गायत्र्याद्यैश्च दैवतैः ।
अन्याभिर्ब्राह्ममुख्याभिः शान्तिभिः स्वर्गवारिभिः ॥३१॥

त्रयस्त्रिंशद्भि अमरैः सेंद्रैः संसेविता भृशम् ।
सदाशिवस्वरूपेयमीश्वरस्याङ्गनाकृतिः ॥३२॥
सततं ब्रह्मविष्णुभ्यां समुद्रैश्चनमस्कृता ।
तस्मादियं द्विजश्रेष्ठा ध्येया जप्या च सर्वदा ॥३३॥
गायत्रीभक्तितस्तेषां भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।
एवं सर्वेश्वरीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ॥३४॥
ध्यायञ्जपन् सर्वसुखाप्नोतीह परत्र च ।
ब्रह्महा वा सुरापी वा स्तेयी वा गुरुतल्पगः ॥३५॥
तद्योगी वान्यपापी वा यो वा को वा द्विजोत्तमः ।
देवीध्यानरतः सार्धं जपेन सहभक्तितः ॥३६॥
तत्रैते पातकाः सर्वे विनश्यन्ति न संशयः ।
व्याघ्रादयो मृगाः क्रूराः वृश्चिकाद्याश्च जन्तवः ॥३७॥
ब्रह्मराक्षसपूर्वाश्च पिशाचा व्याधयश्च ये
प्रेताग्रहाश्च निर्घाताः अप्यन्ये बद्धवैरिणः ॥३८॥
देवीध्यानरतं विप्रं न स्पृशंन्ति प्रमत्तितः ।
देवाश्च मुनयश्चान्ये सिद्धाः साध्यौ(ध्याश्च)च गुह्यकाः ३९
गंधर्वाप्सरसो यक्षाः किन्नरागरुडोगगाः ।
विद्याधरास्तथैवाऽन्ये भूताख्या भुविचारणाः ॥४०॥
सर्वे तु वशमायान्ति देवीध्यानरतस्य च ।
महानदीषु गिरिषु महावाते महानले ॥४१॥
महाविपिने(वने?) भयंनास्ति देवीध्यानरतस्य च ।
द्विजस्य जप्यं ध्येयं च न गायत्र्याः परंपरम् ॥४२॥

सर्वप्रकाराल्लोकेषु त्रिषु सत्यं न संशयः ।
उत्पत्तिस्थितिसंहाराः यस्यास्युर्वशगा भृशम् ॥४३॥
तां गायत्रीं परित्यज्य विप्रः किं प्राप्यति(?) ध्रुवम् ।
स्वाध्यायाः संस्तरामंत्राः दानान्युग्रतपांसि च ॥४४॥
तीर्थानि वेदाः सकलं गायत्र्यैव द्विजन्मनः ।
सत्यं श्रेयोमहानंदोयकस्तेजोबलं(?) सुखम् ॥४५॥
भागधेयं च सकलं गायत्र्यैव द्विजन्मनः ।
आयुर्धान्यं धनं रूपं सुशीलं सुमतिः कुलम् ॥४६॥
ज्ञानं विद्याश्च सकलं गायत्र्यैव हि सोमपाम् ।
देवीमेतां परित्यज्य देवतामितरां द्विजः ॥४७॥
आश्रयेत्कोऽत्र निर्भाग्यस्तस्माकिंयदि(कोऽप्यस्ति)पापभाक् ।
गायत्री जननी शस्ता गायत्री भ्रातरःस्मृताः ॥४८॥
गायत्री बन्धुवर्गश्चगायत्री चाधिदेवता ।
यतिर्निश्चित्य यो विप्रस्तां समाश्रित्य तिष्ठति ॥४९॥
तस्येह दुर्लभं किञ्चिदिह नास्ति परत्र च ।
गायत्रीं यो न जानाति जातो विप्रकुले यदि ॥५०॥
ब्राह्मणत्वं कुतस्तस्य स शूद्रेण समः स्मृतः ।
स्नात्वा विधिवदाचम्य सपवित्रं करद्वयः ॥५१॥
उर्ध्वपुंड्रं च विधिवदग्निहोत्रोत्थभस्मना ।
धृत्वा ललाटभुजयोर्हृदि कंठे यथाक्रमम् ॥५२॥
सदाकर्त्तव्य कर्माणि कृत्वा दर्भायने द्विजः ।
उपविश्यैंद्रियदिग्वक्त्रः भूत्वोदङ्मुख एव वा ॥५३॥

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा कृत्वा त्रीन्प्राणसंयमान् ।
ततो गुरुं गणेशानं भक्त्यादेवं प्रणम्य च ॥५४॥
ऋषिश्छन्दो देवताश्च शक्तितत्वान्यनुक्रमात् ।
बीजं शक्तिं नियोगं च स्मृत्वोक्त्वा प्रणिपत्य च ॥५५॥
कृत्वा न्यासत्रयं पश्चाद्ध्यायेद्देवीमिहोत्थितः ।
संध्यासंहिमरुग्बिबे स्ववेतस्यथवा बुधः ॥५६॥
एकाग्रमानसो भूत्वा जपेदष्टसहस्रकम् ।
नित्यमष्टशतं वापि यथाशक्त्याऽथ वा पुनः ॥५७॥
संभवेत् त्रिषु लोकेषु निग्रहानुग्रहाक्षमः ।
यथेष्टमखिलान्भोगान्भुक्त्वा भूतिंच शाश्वतीम् ॥५८॥
ततःस्वर्गफलान्भुक्त्वा प्राप्नोत्यंते परं पदम् ।
ध्यानाध्यायमिदं पुण्यं न देयं यस्य कस्यचित् ॥५९॥
सद्ब्राह्मणाय दातव्यं सच्चरित्रगुणाय च ।
दुश्चरित्राय दुष्टाय दुर्विप्राय दुरात्मने ॥६०॥
न देयमेतदध्यायं स्नेहात्किमपि कांक्षया ।
यदि दुष्टस्तलेदत्तमध्यायं येनकेनचित् ।
स पापात्मा महाघोरे नरकाब्धौ वि(चि)रंवसेत् ॥६१॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ गायत्रीध्याननामको
द्वादशोऽध्यायः ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

गायत्रीमूलध्यानवर्णनम्

अथातः संप्रवक्ष्यामि मूलध्यानं तदात्मकम् ।
धैतः(दैव)प्रसादजननं(सर्वाघोघ)सर्वथाघविनाशनम् ॥ १ ॥

सर्वथाऽनुष्ठितं सिद्धं मुनिभिस्तत्त्वकांक्षिभिः ।
महानुभावैरमरै रवि सद्भक्ति तत्परम् ॥ २ ॥

अन्येषामपि सर्वेषां निखिलाभीष्टसिद्धिदम् ।
तस्मादिदं महाध्यानं ध्यातव्यं द्विजसत्तमैः ॥ ३ ॥

स्नात्वा शुद्धः शुचौ देशे प्रक्षालितपदद्वयः ।
स पवित्रकरद्वंद्वः कृते चास्पर्शने द्विजः ॥ ४ ॥

अग्निहोत्रजयाभूत्या शुद्धयाजलसिक्तया ।
धृत्वालिकादि स्नानेषूर्ध्वपुंड्रं च पञ्चसु ॥ ५ ॥

कुशासने प्राग्वदनः उदग्वक्त्रोयथामति ।
उपविश्य गुरुं वाचं गणेशं प्रणमेदथ ॥ ६ ॥

त्रिप्राणसंयमो भूत्वा भूर्भुवादित्रयेण तु ।
रेचकश्चाथतृतीयः कुंभकं (च) ततः (परम्) ॥ ७ ॥

ऋषिश्छंदो देवताश्च विनियोगं च वर्णकान् ।
तत्वादिशक्तिवीजं च शक्तिश्चाथ क्रमात्स्मरेत् ॥ ८ ॥

अथहस्ताङ्गदेहेषु कुर्यान्न्यासंत्रयं क्रमात् ।
दिग्बन्धनं च तत्पश्चाद् ध्यायेद्देवीं प्रसन्नधीः ॥ ९ ॥

यात्वित्यनुवाकेन हृदये वाऽर्कमंडले ।
देवीमावाह्य गायत्रीं ततो ध्यायेद्द्विजोत्तमः ॥१०॥
पंचवक्त्रां दशभुजां षड्गर्भां चरणत्रयाम् ।
त्रिपञ्चषष्टि ... गायत्री परमेश्वरी ॥११॥
वेदादिविद्याभूताशहुतरक्तैंदवो जगत् ।
ब्रह्मविष्णुशिवाश्चास्याः प्रथनावयवा अमी ॥१२॥
ऋग्वेदः पूर्वचरणः यजुर्वेदो द्वितीयकः ।
सामवेदस्तृतीयस्तु चरणः प्रथितः परम्(:) ॥१३॥
महाद्रिमलयाऊरू वासौ रत्नाकराःस्मृताः ।
पूर्वादिक्प्रथमा कुक्षिः दक्षिणादिग्द्वितीयकाः ॥१४॥
पश्चिमादिक्तृतीयास्याः कुबेराशाचतुर्थका ।
उर्ध्वादिक्पश्चिमायादिगष्टेत्युक्ता यथाक्रमात् ॥१५॥
इतिहासपुराणानि नाभिर्दिव्याति वै जगत् ।
गर्भान्तरंमरुद्दर्भश्छंदासि च ततस्तनौ ॥१६॥
हृदयं धर्मशास्त्राणि बाहवो न्यायविस्तरः ।
शिरोधरागिरिपतिः शीर्षाणि च पृथक् पृथक् ॥१७॥
छंदःशिरःशब्दशास्त्रं शिरःशीर्षं द्वितीयकम् ।
शिरः कल्पस्तृतीयन्तु तच्चतुर्थं निरुक्तकम् ॥१८॥
पंचमं ज्योतिषं शीर्षं परमं परिकीर्तितम् ।
सितेकरगतिर्वक्त्रं वदनश्चेन्दुमंडलम् ॥१६॥
समीरणं च निश्वासः प्रसन्नो वायुरीरितः ।
कृष्णाभ्रपंक्तिरलकाः दोर्माला हिमदीधितिः ॥२०॥

पुष्पावतंसाज्योतींषि हरो नक्षत्रमालिका ।
रत्नाकल्पाह्यवनीरुहः मीमांसालक्षणानि च ॥२१॥
विद्याविधौशिरः पश्चा(द्) अथर्वाख्यो विचेष्टितः ।
वेदान्तशास्त्रं विमलं मानसं परिकीर्तितम् ॥२२॥
ब्रह्मा मुखं शिखा रुद्रः विष्णुरात्मा हृदि स्थितः ।
एतल्लक्षणसंपन्ना गायत्रीति प्रकीर्तिता ॥२३॥
सांख्यायनस्य गोत्रैषा जगद्रूपाखिलेश्वरी ।
एवं ज्ञात्वा स्वहृत्पद्मे दिव्याकाशेऽङ्कु(?)स्थले ॥२४॥
हैमे सिंहासने देवीं स्थितां ध्यात्वा द्विजोत्तमः ।
भद्रपीठेदयाद्यूढे नानारत्नसमन्विते ॥२५॥
पद्मासनेऽथवा सौम्ये तदायाते स्वचेतसः ।
पाद्यमाचमनं चार्घ्यं वस्त्रं यज्ञोपवीतकम् ॥२६॥
चंदनं चाक्षतं पुष्पं धूपदीपं निवेद्यकम् ।
करानुलेपं तांबूलं दत्वाधिजपमाचरेत् ॥२७॥
प्रदक्षिणप्रणामांश्च यथाशक्त्या च कारयेत् ।
स्तुत्वाऽथ विविधैस्तोत्रैर्देवीमुद्वासयेत्ततः ॥२८॥
एतान्यमूनि द्रव्याणि प्रोक्तानीहार्चनाधुना ।
मानसोक्तानि सिद्धानि शुभानि द्रव्यजानि च ॥२९॥
एवं द्विजोत्तमः सम्यङ्नियमेनैव सर्वथा ।
यो ध्यानेनार्चयेद्देवीं सर्वाभीष्टं लभेत्ततः ॥३०॥
ध्यानं कृत्वा ततः सम्यग्ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
महापातकपूर्वाणि न स्पृशन्ति तमांस्यपि ॥३१॥

यानियोग्यानिवस्तूनि ध्यानं कुर्वन्स्पृशेद्द्विजः ।
भवन्ति तानि सर्वाणि पवित्राणि न संशयः ॥३२॥
सततं ब्राह्मणो भक्त्या सहैव ध्यानतत्परः ।
न तस्य दुष्कृतं किंचिदिहोपरिमहात्मनः ॥३३॥
ब्रह्माविष्णुहराश्चैव मुनयः पितरस्तथा ।
प्रीताः प्रीत्या प्रयच्छंति धान्यानि च मनोरथम् ॥३४॥
ब्रह्मविद्भिरिति ध्यानं ध्येयं तद्ब्रह्मसिद्धये ।
सद्ब्रह्मणोऽनिशं शुद्धैर्भावैर्वश्यैरपिस्मृतम ॥३५॥
योगेन ध्यानमार्गेण जपेच्च सततं द्विजः ।
तिष्ठत्याश्रित्य वेदाभ्यां सनाक्षदीश्वरसंस्मृताः ॥३६॥
प्रायः किंजल्पनैर्बंधैः भूयोभूयोविमोहनैः ।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दैवतं सद्द्विजन्मनाम् ॥३७॥
वेदांबिकां परित्यज्य गायत्रीं ये द्विजातयः ।
पठन्ति वेदान्स्तेषांत्ते भवेयुर्गर्दभस्वनाः ॥३८॥
गायत्रीध्याननिरतो यो द्विजो जप्यवेदवित् ।
सवेदविदिति प्रोक्तो विशुद्धश्च द्विजातिषु ॥३९॥
एतद्ध्यानं ततः कुर्यात् सद्भक्त्या नियमेन यः ।
स स्नातः सर्वतीर्थेषु कृतास्तेनाखिलाधराः ॥४०॥
कृतानि सर्वदानानि भूदानप्रमुखानि च ।
कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि कृतान्युग्रतपांसि च ॥४१॥
अन्यानि यानि पुण्यानि यानि धर्माणि तानि च ।
यथोदितक्रमेणैव समस्तानि कृतानि वै ॥४२॥

महाध्यानमिति प्रोक्तं एतद्ध्येयं द्विजातिभिः ।
सद्द्विजायपरेष्टव्यं(प्रदातव्यं) अन्यस्मै न कदाचन ॥४३॥
द्विजः सदा महाध्यानाध्यायमेतं परः शुचिः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तस्स याति परमं पदम् ॥४४॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ महाध्याननामक-
स्त्रयोदशोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

पूजाफलसिद्धये द्रव्यगन्धलक्षणवर्णनम्

अथार्चनोक्तद्रव्याणां गंधानां च पृथक् पृथक् ।
लक्षणं संप्रवक्ष्यामि सपर्याफलसिद्धये ॥ १ ॥
चंदनागरुकर्पूरकाश्मीरजचतुष्टयम् ।
गंधाख्योऽयं विलेप्यास्या भक्त्यावापि पृथक् पृथक् ॥ २ ॥
चंदनागरुकर्पूर कुंकुमस्निग्धकर्दमः ।
गंधोत्तमइति प्रोक्तः श्रेष्ठः सर्वानुलेपने ॥ ३ ॥
पूतिमृगमदादीनि पुण्यांगानि विशेषतः ।
द्रव्याण्यतिसुगंधीनि प्रमृज्यान्यनुलेपने ।
चंदनागरुलोहाख्य काश्मीरजचतुष्टयम् ॥ ४ ॥
एकैकमष्टद्वितयशतसंख्यागुणाधिकम् ।
अभिन्नाशंखवश्चेताः सुस्निग्धा व्रीहितण्डुलाः ॥ ५ ॥

अक्षताश्चेत्यभिहितास्ते प्रशस्ताः समर्चने ।

कृष्णाः कड्गा(?)बहुविधाः पुरुषाश्चमलीमसाः ॥ ६ ॥

व्रीह्यक्षता अपि क्षुद्राः न हि योग्याः समर्चने ।

मालतीमल्लिकाशोकाः जीवन्ती नवमल्लिकाः ॥ ७ ॥

पुन्नागवकुलांभोजाः पाटलोत्पलचंपकाः ।

कदंबकर्णिकाराख्यपलाशकरवीरकाः ॥ ८ ॥

मंदारनागविजयश्वेतमंदारकेसराः ।

कोज्ञुकामतमातल्लिसंध्यावर्तकुसुंभकाः ॥ ९ ॥

बकागस्त्यासनद्रोण आरग्वधककांचनाः ।

त्रिसंध्य पृथुवालार्कजपाःस्युः पुष्पसंकटः ॥१०॥

एषां पुष्पाणि सततं प्रशस्तानि समर्चने ।

एषु लक्षणयुक्तानि योग्यानि कुसुमेष्वपि ॥११॥

अलक्षणानि पुष्पानि न योग्यानि कदाचन ।

सदलानि न नालानि सुपक्वानि नवानि च ॥१२॥

स लक्षणानि तान्याहुः पुष्पाण्यक्षिप्रियाणि च ।

पुष्पेषु चतुर्वर्णा भवन्तिधवलादयः ॥१३॥

तानि सर्वाणि पुष्पाणि प्रयोज्यानि समर्चने ।

प्रयोज्यान्यर्चनादिभिः(र्हाणि पुण्यगन्धानुलेपनैः)॥१४॥

अतिपक्वान्यपक्वानि तप्तानि विदलानि च ।

निर्नालानि प्राक्तनानि केशाकीटयुतानि च ॥१५॥

विशीर्णानि सरंध्राणि कृष्टोपहृतानि च ।

एतान्यलक्षणादीनि पुष्पाणि कार्थ(कथि?) तानि तु ॥१६॥

वीतपुष्पफलाशानि विभज्य न तु पूजयेत् ।
अन्तरेण सरोजातेंदिवर प्रसवद्वयम् ॥१७॥
अत्राख्यातानि पुष्पाणि न योग्यानि कदाचन ।
तस्मादुक्तानि पुष्पाणि योग्यान्यभ्यर्चने सदा ॥१८॥
बिल्वापामार्गमरुवतुलसीदमनाङ्कुकः ।
भृङ्गराड्जंबुखदिरमहमदिदकाह्वयाः ॥१९॥
शशिब्रह्ममहीजात हरिताल कुशाह्वयाः ।
एषां कोमलपत्राणि योग्यान्य(भ्य,र्मर्चने सदा ॥२०॥
पूर्वोक्तकुसुमालाभे पत्रैरेतैर्नियोजयेत् ।
एषामलाभे पत्राणां अक्षतैर्वातिरै(लै,र्यजेत् ॥२१॥
स्वारामोद्भूतकुसुमै (र) अर्चाश्रेष्ठेत्युदीरिता ।
मध्यमा वनजैः पुष्पैः क्रीतपुष्पैः कनीयसी ॥२२॥
कपित्थवा कुचीसर्ग शिरीषमदयन्तिकाः ।
शल्मल्पेरंडमधुकबिभीतकविषद्रुमाः ॥२३॥
अन्ये येनाऽत्र कथिताः विरोधो लतिकाद्रुमाः ।
त्रीणिप्रसूनानि यजने न भवन्ति हि ॥२४॥
नस्तस्मात्त्तैर्यजेद्देवीं(भक्त्या)न्वेष्टशीघ्राभिलाषुकः ।
स्तेयेनाऽऽहृत्य पुष्पाणि बलाद्वा येन केनचित् ॥२५॥
यो यजेत तैर्वृथा पूजा भवेदेव न संशयः ।
गंधानि पूजाद्रव्याणि स्तेयेन प्रसभेन वा ॥२६॥
आहृत्य पूजयेत्तैर्यः सा पूजा च वृथा भवेत् ।
सि···र्दं (सिन्दूरं) कुंकुमं दूर्वां कोष्टं लावंजकं तथा ॥२७॥

अमूनि पंचद्रव्याणि पाद्यान्याहुर्महर्षयः ।
फलं कर्पूरतंकोलकोष्टैलोशिरजानि च ॥२८॥
अमून्याचमनीय्यस्यानि द्रव्याण्युक्तानिसद्बुधैः ।
कुशाग्रे तिलसिद्धार्थ यवाक्षतवयांसि च ॥२९॥
द्रव्याण्यमूनिपद्राहुः (?) अर्घ्यस्य मुनिपुंगवाः ।
न मेरुसज्जश्रीवासकुङ्कुमं श्रीफलं मधु ॥३०॥
लाक्षाकृष्णागरुः सर्पिः श्वसनः सरलद्रुमः ।
अगरुर्महिपाग्रश्च श्रीगंधो गुग्गुलुस्तथा ॥३१॥
निर्य्यासश्च्यवनश्चेति धूपद्रव्याणि षोडश ।
द्रव्येष्वेषु यथालब्धं तथा तद्धूपमर्चयेत् ॥३२॥
अलाभे प्रसवेनैव धूपं संकल्प्य वाऽर्चयेत् ।
कर्पूरलोहश्रीखंडैलामञ्जुकचतुष्टयम् ॥३३॥
रूपवेदांग तुरगसख्यं सधृ(घृ)तसाधनम् ।
एतन्मधुधृतं पात्रे विततज्वालपावके ॥३४॥
प्रक्षिप्य दद्यात्तद्धूपं महासंम्मोहना वृयं(त्मकम्) ।
कर्पूरसीतलोहोभूकालेयंकुंदुरुष्करम ॥३५॥
निर्यासश्चंदनंचेति द्रव्याण्येतानि सप्त वै ।
क्रमेणैव तु सप्तानं संख्ययाच्युतभापितम ॥३६॥
मधुपद्यत्स्मृतं (द्रव्यात्मकं) देव्याः तत्प्रियं घूपसाधनम ।
एतेपामपि विज्ञेयाः भागाः पूर्वं यथोदिताः ॥३७॥
कर्पूरं गोघृतं तैलं महवैंदिव (क)साधनम् ।
पट्टसूर्पंच कार्पासं तद्वर्तिकरणे स्मृतं ॥३८॥

महानदी पुण्यतीर्थं सलिलं चोत्तमोत्तमम् ।
नदीधनरसं मेध्यं इतरंतु कनीयसम् ॥३६ ॥
तत्र स्वादूदकं श्रेष्ठं काषायांभस्तुमध्यमम् ।
इतरत्सलिलं वारि कनीयसमुदाहृतम् ॥४०॥
सकीटकं स दुर्गंधं हेयवस्तु समन्वितं ।
समृत्तिकं यत्सलिलं तदयोग्यमिति स्मृतम् ॥४१॥
श्लेष्मरक्तसुरामांससर्पिर्मात्रास्थिशिरोरुहैः ।
एतानि हो(हे)यवस्तूनि न संस्पृश्यानि हि क्वचित् ॥४२॥
स्वच्छं सुशीतलं स्वादु लघुसत्पात्रपूरितम् ।
पानीय्यं तत्तु जानीयात्सलिलं श्रेष्ठमुच्यते ॥४३॥
चंदनागरुकर्पूरचंपकोसीरकुंकुमैः ।
वस्ति(सं)शोधितं यत्तन्नदीतोयं मनोहरम् ॥४४॥
मूलेनाष्टोत्तरशतं वार्यैतदभिमर्त्य च ।
सकूर्चं स्नापयेद्देवीं सर्वपुण्यफलं लभेत् ॥४५॥
निवारतंडुलाः श्रेष्ठाः मध्यमा व्रीहितंडुलाः ।
होमोक्तधान्या जायंते तंडुलाःस्युः कनीयसः ॥४६॥
अखण्डा निस्तुषा श्रेष्ठाः श्वेताःस्निग्धाश्च शोभनाः ।
सतुषा बहुवर्णाश्च कणाम्ना नैव शोभ नाः ॥४७॥
आढकप्रमिताः श्रेष्ठाः तदर्धा मध्यमाःस्मृताः ।
कनीयसस्तदर्धाश्च नैवेद्यपरिकल्पने ॥४८॥
क्लिन्नान्नं तंडुलान्नं चाभिः सटालवणोदनं ।
सर्वगान्नं घटान्नंश्च नैवेद्ये परिकलपयेत् ॥४६॥

दुर्भांत्स्थान्नपराधीन्नं स्पृष्टान्नं शूद्ररोगिभिः ।
उच्छिष्टावहितं चान्नं नैवेद्ये परिवर्जयेत् ॥५०॥

अतिपक्वा अपक्वाश्चसंस्पृष्टा मंदकादयः ।
नैवेद्ये तेन योग्याःस्युर्मोदकाद्यंतु पूतनम् ॥५१॥

गवां प्रशस्तं त्रितयं पीयूषदधिसर्पिषाम् ।
अस्य जीवफलान्नं च प्रशस्तमिति तत्स्मृतम् ।
अतिपक्वमपक्वं च   न कल्पति कृमिन्नं ॥५२॥

दुर्भांडसातमसद्यस्कं दुर्गंधमशुभं स्मृतम् ।
परिपक्वं सुपात्रस्थं सुगंन्धं नयनप्रियम् ॥५३॥
सद्यस्कमेतत्त्रितयं नैवेद्येऽति शुभप्रदम् ।
कदलीनारिकेलाम्लपनसानां फलानि च ॥५४॥

समस्येदिक्षुदंडानि सुपक्वानि सुखानि च ।
भक्ष्याणि यानि श्रेष्ठानि कंदमूलफलानि च ॥५५॥
निवेद्यकानि सर्वाणि दातव्यानीतराणि न ।
मुद्गानिष्पावकामापास्तुपर्याश्चणका अमी ॥५६॥

पंचैतेऽतिप्रशस्ताःस्युर्नवेद्ये दोषवर्जिताः ।
क्रमुकस्य फलान्यष्टौ अनुच्छिष्टानि संति चेत् ॥५७॥
पत्राणि नागवल्याश्च द्विगुणं शुक्तिचूर्णकम् ।
अन्यैरादाय नोच्छिष्टं दुचूर्णमलाभकं ॥५८॥

कर्पूरसहितं यत्तत्ताम्बूलमितिभाषितम् ।
अस्याऽलाभे यथालब्धं पत्रक्रमुकचूर्णकम् ॥५९॥

ताम्बूलं भावयेच्छ्राद्धं यत्तन्नयनवल्लभम् ।
श्रेष्ठानि पत्रवस्त्राणि महार्घ्याणि च सर्वदा ॥६०॥
एषामलाभे कार्याः स्युर्वासांसि प्रयतानि वा ।
नेत्रप्रियाणि सूक्ष्माणि नूतनानि घनानि च ॥६१॥
यान्याहृतानि वस्त्राणि प्रशस्तानि भवंति हि ।
आहुर्दग्धानि जीर्णानि अन्यैरपि धृतानि च ॥६२॥
कृमिदुष्टानि जीर्णानि स्थूलान्युपहतानि च ।
दुष्करं सुप्रयुक्तानि देवताभिभूतानि च ॥६३॥
नूतान्यस्यानिलब्धानि सस्युशस्थानिजा⋯चित्(?) ।
एवं सर्वं समाख्यातं द्रव्याणां लक्षणं स्फुटम् ।
एतज्ज्ञात्वा द्विजोदेवीं सद्भिर्द्रव्यैः समर्चयेत् ॥६४॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ पूजाद्रव्योपकरणवर्णनं नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

यज्ञोपवीतविधिवर्णनम्

अथ यज्ञोपवीतस्य विधिं सम्यग्द्विजन्मना ।
श्रौतस्मार्तक्रियासिद्ध्यै प्रवक्ष्येऽखिलशाखिनाम् ॥ १ ॥
यज्ञोपवीतं धृत्वैव सर्वकर्माणि सर्वथा ।
श्रौतस्मार्तानि चान्यानि कुर्यात्पुण्यानि च द्विजः ॥ २ ॥

अज्ञात्वाऽस्यविधिं विप्रः कृत्वा कृत्यान्करोति यः ।
यानि कर्माणि सर्वाणि तानिस्युर्निष्फलानि वै ॥ ३ ॥
तस्माद्यत्नेन कर्तव्यमुपवीतं विधानतः ।
विधानेन विना जातं भवेद्गोकंठरज्जुवत् ॥ ४ ॥
अतः सम्यग्विधिं ज्ञात्वा कुर्वीत विधिपूर्वकम् ।
यज्ञोपवीतं षट्कर्म तत्सत्कर्माधिसाधनम् ॥ ५ ॥
सह वै देहनाचेत्यायेसिनूजुश्रुतौ (व) ।
यज्ञोपवीतं विधिवत्कृत्वा धृत्वा द्विजोत्तमः ॥ ६ ॥
ततो वेदमधीयीत श्रौतस्मार्तक्रियां चरेत् ।
इत्येवं सुदृढं प्रोक्तं अतोदध्याद्दिनान्ततः ॥ ७ ॥
दैवं पैतृकमार्षं च कर्म कुर्यात्सदा द्विजः ।
कुर्याद्यज्ञोपवीत्येव नान्यथा तत्फलप्रदम् ॥ ८ ॥
निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं देवानामितिश्रुतिदर्शनात् ।
चतुर्णां ब्राह्मणानां च वर्णानां क्षेत्रसंभवम् ॥ ९ ॥
कार्पासमुपवीतार्थं गृह्णीयान्न (तु ?) भूमिजम् ।
कार्पासः प्रथमः सृष्टः जगत्स्रष्ट्रौ स्वयंभुवा ॥१०॥
ब्राह्मण्यस्य स्थापनार्थं वेदानां स्थापनाय च ।
साधीनं क्षेत्रजं स्वस्य कार्पासमधमं स्मृतम् ॥११॥
तस्माच्छ्रेष्ठं स्वयं वीजं उप्त्वा तत्र समुद्भवम् ।
स्वस्ववर्णस्वदारे(हि) समुत्पादितवीरुधिः ॥१२॥
कार्पासं यत्तदुत्कृष्टं उपवीतकृता भृशम् ।
स्वक्षेत्रे स्वगृहाभ्यासे शुचौ देशेऽपि वा द्विजः ॥१३॥

न्वेष्टुंयावत्स्थलं तावदवटं जानुमात्रकम् ।
गोमयेन प्रलिप्तेन स्वोक्तवर्णान्मुदा सह ॥१४॥
अंशूनि निर्वपेद्बीजं सकार्पासद्वयं शिवम् ।
प्रणवेनाभिमन्त्र्यैव ततस्तोयं प्रसेचयेत् ॥१५॥
आपोवाइतमित्यादि सूक्तेनैवाभिमंत्रितम् ।
ततः शुद्धाम्बुनैकेन तत्सस्यमनुवर्धयेत् ॥१६॥
तथा जातेषु जातं यत् कार्पासमतिशोभनम् ।
श्वेतलोहितपीताःस्युः विप्रक्षत्रविशां क्रमात् ॥१७॥
वर्णशूद्रस्य कृष्णःस्याद्वर्णोऽन्यः संकरः स्मृतः ।
स्वक्षेत्रात्स्वहृतं श्रेष्ठं कार्पासं धवलं द्विजैः ॥१८॥
पितरैरपि वा शुद्धं उपवीतकृतौ शुभम् ।
फलवत्तुषकेशास्थि तृणवल्कानि यत्नतः ॥१९॥
पात्रे पवित्रं संस्थाप्य प्रयतः शोधयेद्द्विजः ।
तस्मिन्कराभ्यां मुच्येत कार्पासबीजसंचयम् ॥२०॥
कार्पासरज्जुशापेन कुर्वीत मृदु कर्म तत् ।
तेनैव द्विजकर्माऽथ कार्तिकं सूक्तमुत्तमे ॥२१॥
शुद्धाभिर्विधनाभिर्यास्वस्यगोत्राभिरथापि(रप्यथा) वा ।
पुंश्चलीभीरुदृक्याभिःकन्यकाभिश्च(?) पुरन्ध्रिभिः ॥२२॥
तंतुकर्म न कर्त्तव्यं कार्पासमृदुकर्म च ।
आसु न्यूनाधिकांगाश्च कुत्सितावयवा अपि ॥२३॥
असौम्यापनकेनस्तु योषित्तं(?) (योषितस्तत्प्र)कल्पने ।
सुमंगल्यथवा कन्याप्रशस्ता(स्या?)त्तु कर्मणि ॥२४॥

विश्वस्थान प्रशस्तेति केचिदाहुर्महर्षयः ।
कीर्तितं स्वस्य हस्तेन सूत्रमित्युत्तमं स्मृतम् ॥२५॥
द्विजकर्मादिभिःपश्चादशक्तश्चेदयं यदि ।
उत्तमस्तंतुकृद्रौक्मः कलधौतस्तुमध्यमः ॥२६॥
कनिष्ठस्थानकश्चेति तंतुकर्मण्युदीरितम् ।
द्विषडङ्गुलमात्रायामंगुल्यां तस्य तु प्रमा ॥२७॥
कलाकाललक्षणं त्वेवं प्रोक्तं तंतुकृतः खलु ।
व्यासोन्नतेंऽगुले वृत्तं समातन्तुकृतौ मता ॥२८॥
लक्षणं द्विधमाख्यातं यन्त्रं तन्तु क्रियार्हकम् ।
तस्मिन्मणिशलाकांन्तं संप्रोक्ष्याद्वयवायतम् ॥२९॥
विनिर्गतं स्थितं यत्तत्तन्तु कृत्स्नमुदीरितम् ।
तन्तुकृत्प्रोतलोहानां लज्जेनैकेन निर्मितम् ॥३०॥
पात्रं भवेदलाभे वा यज्ञंयदमनिर्मितं ।
षडंगुलोच्छ्रयं तस्य व्यासमंगुलपंचकम् ॥३१॥
पार्ष्णिग्रीवान्वितं यत्तत्तन्तुकृत्पात्रमुच्यते ।
सार्द्धद्वयांगुलं पात्रं तदांघ्रिः कंधरांगुलम् ॥३२॥
उच्छेधस्तस्यविस्तारं कर्णस्य द्व्यंगुलं भवेत् ।
तन्तुकृद् भ्रमणं स्थानं पात्रं ख्यातं द्विरंगुलम् ॥३३॥
तथैव पादखातं स्यात् कर्णरंध्रं यथारुचि ।
लोहकंकुटकान्येषु यथालब्धे न वा कृतः ॥३४॥
काकादीनां तन्तुकृतां अलाभे तन्तुकृद्भवेत् ।
कुचन्दनश्चखदिरः कस्यतेमणिकर्मणि ॥३५॥

तज्जातिनालं तस्य स्यात् कुशनालमथापि वा ।
स्वर्णतन्तुकृतादीनामलाभे धनसोमपाम् ॥३६॥
शुद्धमृण्मणिसंप्रोता कुशनाली प्रशस्यते ।
समक्षमृन्मणिस्तक्षः तंन्तुकृतंन्तुकर्तने ॥३७॥
यज्ञोपवीतस्य भवेज्जातु चिह्नं द्विजन्मनः ।
अस्य शुद्धिर्जनस्पृष्टिर्दोषो ह्यस्माच्चकारणात् ॥३८॥
आस्तृश्यलोत्पादेषः (?) तन्तुयंत्रो न शस्यते ।
अतिसूक्ष्ममतिस्थूलं शीर्पं निम्नोन्नतं च यत् ॥३९॥
यत्नेन कीर्तितमपि द्विजः सूत्रं तदुत्सृजेत् ।
म्लानं यंत्रक्रियायुक्तं उपयुक्तसुरैर्धृतं ॥४०॥
दग्धं तष्टं मुष्टिकाद्यैः यत्तत्सूत्रं परित्यजेत् ।
पूयंशोणितविण्मूत्रश्लेष्मोच्छिष्टैश्च यद्यपि ॥४१॥
संस्पृष्टं तद्भवेत्सूत्रं उपवीतकृतौ न हि ।
उपक्रम्य प्रतिपदं यावत्स्यात्पूर्णिमावधि ॥४२॥
शुक्लपक्षःस्मृतस्तावत्प्राह्णे मध्याह्नतः पुरा ।
स्वाध्यायोक्ततिथौ पुण्ये नक्षत्रे शुभवासरे ॥४३॥
प्राह्णे शुचिः शुचौ देशे ब्रह्मसूत्रं प्रकल्पयेत् ।
स्वाध्यायपठने योग्यास्तिथयो या प्रकीर्तिताः ॥४४॥
ताश्च स्वाध्यायतिथयो पक्षान्ते पुण्यहानि च ।
चित्राश्विनीशतभिषक्स्वातिपुष्याःपुनर्वसू ॥४५॥
हस्तचित्रविष्टानुराधा(विशाखानु)रेवतीरोहिणीभ्रभम् ।
उत्तरत्रितयं मूलविशाखा हरितारकम् ॥४६॥

एतान्यष्टादशर्क्षाणि पुण्यर्क्षाण्यक्षयाजनुः ।
हस्ताभिजिदनुराधश्वयुक्प्रौष्ठपदाह्वयाः ॥४७॥
तिष्यः पुनर्वसूचेतितारा: पुंसञ्ज्ञका इमाः ।
आसूपवीतं कुर्वीत द्राक्कर्मफलवाचकः ॥४८॥
ऋक्षेषु जन्मश्रेष्ठःस्याच्चतुर्थं षष्ठमष्टकम् ।
द्वितीयं नवमं चान्यस्वस्वतारा: शुभेतराः ॥४९॥
तृतीये सप्तमे षष्ठे दशस्वस्य(स्व?) जन्मनि ।
एकादशे स्थितश्चंद्रः शुभप्रद इति स्मृतः ।
ताराचंद्रबलोपेते दिवसे स्वस्य कल्पयेत् ॥५०॥
ब्रह्मसूत्रं तयोर्हीनबलेनैव प्रकल्पयेत् ।
ऋगथर्वयजुः साम्नां क्रमादेतेऽधिपाः स्मृताः ॥५१॥
देवेड्ययेमरुक्पुत्र दैतेयाराध्यभूमिजाः ।
स्वस्ववेदे शखेर(?)वस्यवारेतदुदयेऽपिवा ॥५२॥
विदर्घितोपवीतानि तदलाभे शुभेऽहनि ।
बृहस्पतिः सुराचार्यः रोहिणेयो हिमांशुकः ॥५३॥
एते शुभग्रहास्त्वेषां वासराः शुभवासराः ।
देवस्थानं नदीतीरमाश्रमं गोनिकेतनम् ॥५४॥
मठश्चैतेषु लब्धेषु कुर्याद्यज्ञोपवीतकम् ।
ब्रह्मविष्णुशिवस्सूर्य्यः दुर्गागणपतिर्गुहः ॥५५॥
एतेषान्तु मुनिस्थानं देवस्थानमिति स्मृतम् ।
गंगादिसरितां कूलं नदीतीरमितिस्मृतम् ॥५६॥

तपोवनमृषीणां यत्तत्तदाश्रममिति स्मृतम् ।
वासस्थानं गवां यत्तदुदितं गोनिकेतनम् ॥५७॥

स्थानं तपस्विनां यच्च भवेत्तस्यमदाह्वयम् ।
स्नात्वा शुचिर्द्विजः श्रेष्ठश्चरणौ च ककाततः ॥५८॥

प्रक्षाल्याचम्य विधिवत्प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः ।
कृष्णाजिनासनालाभेकुशवल्कमासनोऽपिवा ॥५९॥

स्थित्वा समाहितमनाः प्राणाया ं समाचरेत् ।
ततो गणेश्वरं वाचं स्वाचार्यं त्रिदशानृषीन् ॥६०॥

पितृन्ब्राह्मणमब्जाक्षं रुद्रं भक्त्याभिवादयेत् ।
ततः प्रणवमुच्चार्य व्याहृतित्रितयं ततः ॥६१॥

नवतींसङ्गृह्णीयात्तत्सूत्रं चतुरंगुलैः ।
तदेवाचिररूपेण कुर्वीत त्रिगुणां ततः ॥६२॥

तत्संप्रक्षालयेच्छुद्धैरम्बुभिः प्रणवेन च ।
व्याहृतित्रितयेनाधस्तत्कूर्चोपरि निक्षिपेत् ॥६३॥

आपोहिष्ठादिभिर्मन्त्रैः कुशैस्तन्मार्जयेत्त्रिभिः ।
हिरण्यवर्णा इत्याद्यैश्चतुर्भिर्मार्जयेत्ततः ॥६४॥

पवमानानुवाकेन ततो मार्जनमाचरेत् ।
उपवीतकृतौ विप्रः शुद्धौ द्वौ देवभाषितौ ॥६५॥

एकोनं वा ततो विप्रश्चान्यो मध्यमधारकः ।
प्राक्प्रत्यग्वदनो विप्रः दक्षिणाभिमुखोऽपि वा ॥६६॥

स्थित्वापठन्स्मरन् तुल्यं तत्सूत्रमनुपत्रयेत् ।
उच्चरन्प्रणवं पूर्वं व्याहृतित्रितयं तथा ।
शनैर्वामस्वहस्ताभ्यां अदाव्यग्रोऽनुवर्तयेत् ॥६७॥

तत्सूत्रं त्रिगुणीकृत्य तैरग्राभ्यां त्रिभिःसवा ।
प्राणानाग्रंद्धि(?)दसीत्युक्ताथ परिवेष्टयेत् ॥६८॥
उच्चरन्प्रणवं पूर्वं व्याहृतित्रितयं तथा ।
शनैर्वामं स्वहस्ताभ्यां तथाव्यग्रोऽनुवर्तयेत् ॥६९॥

नरा मृगाः पतंगाश्च संधानेचानुवेष्टयेत् ।
सूत्रस्याधो न गंन्तव्याः गताश्चेत्तदुतस्त्यजेत् ॥७०॥
विण्मूत्रांगारकेशास्थिचर्मक्रिमिचयोपरि ।
अनुवर्तनसंधाने सूत्रस्य न समाचरेत् ॥७१॥

कपालोच्छिष्टनिर्माल्यतुषधूमेरिणोपरि ।
न चानुवर्तयेत्सूत्रं संद्धानं चास्य नाचरेत् ॥७२॥
यज्ञोपवीतशिल्पस्य नवकस्य प्रमाणकं ।
सिद्धार्थस्यापि च फलस्थूलस्योक्तं महर्षिभिः ॥७३॥

स्थूलफलस्य तूलस्य मध्यमस्य कृशं न च ।
तत्र श्रेष्ठं मध्यमं स्यात् कनिष्ठं क्रमशः स्मृतम् ॥७४॥
आयुर्हरंतूलशुल्पं तपोहरं (कनिष्ठं च ?) ।
उत्तमप्रमाणं शुल्पं यदुपवीतं करोति शम् ॥७५॥

एवं ज्ञात्वानुवर्त्याऽध्यः कुशौ स्पृष्ट्वा कुशास्तृते ।
देशे प्रसार्य दर्भौ द्वौ दत्वा कुर्यात्करध्वनिम् ॥७६॥

पश्चात्तद्रज्जुमादाय प्रणवव्याहृतित्रया ।
जपव्छनैः शनैर्गद्धिं कुटिले परिमोचने ॥७७॥
तच्छुल्वनेत्रिवलया कृत्वागाधं दृढं त्रिधा ।
आवेष्ट्य बंधयेद्ग्रन्थि त्रितयं चोपरिक्रमात् ॥७८॥
पलाशखदिराश्वद्धा(त्था)बिल्वाद्यध्वरभूरुहं ।
तत्क्षिपेदेकशाखायां भूर्भुवः सुवरोमिति ॥७९॥
गोमयेन शुचौ देशे प्रविलिप्ते कुशास्तृते ।
व्रीह्यासनं प्रकल्प्याऽथ कूर्चं तन्मध्यमे क्षिपेत् ॥८०॥
तस्योपरिष्टात्कलशं ताम्रं सूत्रेण वेष्टितम् ।
पूर्णं पवित्रसलिलैः सुगंधं कुसुमाक्षतैः ॥८१॥
संस्थाप्य कलशाभ्यां तु तच्छाखासूत्रसंयुताम् ।
यज्ञे गंधादिभिस्तच्च प्रणवे सद्विजोत्तमः ॥८२॥
यजेद्गंगादिभिस्सद्यः प्रणवेन द्विजोत्तमः ।
ततः सप्रणवेनैव व्याहृतित्रितयेन च ॥८३॥
सह प्रतिष्ठापयाभिपदेनैकाग्रमानसः ।
प्रतिष्ठाप्य ततः सूत्रं आदायाऽऽदित्यमंडलम् ॥८४॥
आसत्येनादिभिर्मंत्रैश्चतुर्भिः संप्रदर्शयेत् ।
ततः पूर्वस्थले तच्च संस्थाप्याष्टोत्तरं शतम् ॥८५॥
पृथक् पृथक् प्रणवं गायत्रीं स्पर्शयन्जपेत् ।
अनेनोक्तविधानेन सञ्जातं संस्मृतंच यत् ॥८६॥
तन्महामुनिभिर्वन्द्यैः ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम् ।
त्रयःकालास्त्रयोलोकाः तिस्रःसंध्यास्त्रयोगुणाः ॥८७॥

त्रयोऽग्नयस्त्रयोवर्णा त्रयोवेदास्त्रयःस्वराः ।
तिस्रोव्याहृतयो देवाः त्रयस्त्रिंशच्च शक्तयः ॥८८॥
अस्मिन्यज्ञोपवीतेऽमी वसंत्यत्र मुदाहृताः ।
तस्माद्द्विजानतो भक्त्या ब्रह्मसूत्रं द्विजोत्तमः ॥८९॥
कृत्वैव धारयेच्छश्वत् सर्वकर्मफलाप्तये ।
द्विजानां स्थूलकायानां उपवीताय तु प्रमा ॥९०॥
स्वनाभिसदृशं ज्ञेयं स्थूलमानपुरोक्तवत् ।
इह पादतलस्थैर्यद्ब्रह्मसूत्रं हृदिस्थितम् ॥९१॥
यथादृश्यं तथाधार्यं ब्रुवंत्येते महर्षयः ।
नाभेरूर्ध्वमनायुष्यं अधोनाभेस्तपःक्षयः ॥९२॥
तस्मान्नाभिसमं दद्यात् उपवीतं द्विजः सदा ।
उपवीतं निवीतं च प्राचीनावीतमित्यपि ॥९३॥
देवमानुषपित्र्येषु कर्मस्वेतत्त्रयं स्मृतम् ।
करेऽपसव्ये प्रक्षिप्तमुपवीतमुदाहृतम् ॥९४॥
प्राचीनावीतमन्यस्मिन्निवीतं कंठलम्बितम् ।
उपवीतं ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतकम् ॥९५॥
यज्ञसूत्रं देवलक्ष्म चैत्याषट्कमस्य तु ।
द्विजस्य दक्षदो कंठा……॥९६॥
आहृतास्तेयतस्तस्मादुपवीतं तदुच्यते ।
ब्रह्माख्यौ द्वौ तपोवेदौतापजस्रं प्रसूचनात् ॥९७॥
ब्रह्मसूत्रमितिख्यातं एतद्ब्रह्माख्यसाधनम् ।
भूम्यन्तरिक्षस्वर्गेषु वर्त्तंते यानि तानि च ॥९८॥

सूचनात्स्वधरस्यैव सूत्रमित्यभिधीयते ।
यज्ञोपयज्ञयागांगोगोपवीतं (?) लक्षणाह्वयम् ॥९९॥
यज्ञोपवीतमित्युक्तं तस्य संरक्षणतः सदा ।
अग्निष्टोमादयो यज्ञाः एतत्सम्यग्द्विजन्मनाम् ॥१००॥
सततं सूचनादेतद्यज्ञसूत्रमिति स्मृतम् ।
रुद्रश्चतुर्मुखो विष्णुरप्यन्येऽमृतभोजनाः ॥१०१॥
शश्वद्धधत्यतोदस्तद्देवरक्षेति चोच्यते ।
भूर्वारितेजोवायुश्चप्राणाआत्मत्रयं तथा ॥१०२॥
क्रमाद्भवंति तंतूनां सदानामधिदेवता ।
ग्रंथित्रयस्याधिपाःस्युः पितामहहरीश्वराः ॥१०३॥
यज्ञोपवीतकारस्य परं ब्रह्मादिदैवतम् ।
तन्तुग्राहो ग्रन्थिकृतौ सूत्रसन्धारणेऽपि च ॥१०४॥
देवानेतान्हृदि स्मृत्वा नमस्कुर्वीत भक्तितः ।
एकैकमुपवीतं स्यादात्यंताश्रमिणोर्द्वयोः ॥१०५॥
दशाष्टौ वा गृहस्थस्य चत्वारि वनचारिणः ।
एकमेव यतेः सूत्रं तथैव ब्रह्मचारिणः ॥१०६॥
सोत्तरीयं गृहस्थस्य तथैव वनचारिणः ।
कृष्णसारंगवस्तानां अजनं क्रमशःस्मृतम् ॥१०७॥
सरोभूनूतनंस्निग्धंसत्कृष्णंधवलं शुभम् ।
अदृढं नोपयुक्तं यत् प्रशस्तमजनं स्मृतम् ॥१०८॥
स्वर्णेन रत्नैरुचिरं वध्याचाक्षिप्रियं यथा ।
धार्यं क्षत्रियपुत्रेण तत्पुरोहितसूनुना ॥१०९॥

यज्ञोपवीतं संधार्यं जातुचिद्ब्रह्मचारिणा ।
विप्रस्यशालीरशना मौर्वी भूपस्य मेखला ॥११०॥
अपि सूत्रकृतं तच्च वैश्यस्य ब्रह्मचारिणः ।
विप्रादीनां त्रयाणां च त्रिवृता त्रिप्रदक्षिणा ॥१११॥
त्रिवृद्ग्रन्थिरितिप्रोक्ता मेखला स्मृतिचोदिता ।
कौपीनधारणायाऽथ शुल्वं कृत्वोपवीतवत् ॥११२॥
यतिश्चब्रह्मचारी च दध्यातां वै प्रदक्षिणम् ।
नग्नत्वपरिहाराय गृहस्थवर्णिनस्त(नां?) था ॥११३॥
तथैवधारयेयातां अवश्यं केवलं च तौ ।
तालद्वितयविस्तारतद्वद्द्विगुणमायतम् ॥११४॥
तत्कौपीनमिति प्रोक्तं स्वीयहस्तप्रमाणतः ।
सव्यं पार्श्वद्वयदशासमेतं सूक्ष्ममुत्तमम् ॥११५॥
विप्रस्य वासः काषायं मञ्जिष्ठं क्षत्रियस्य तु ।
वैश्यस्य पीतमित्युक्तं क्रमेण ब्रह्मचारिणः ॥११६॥
गृहस्थस्यनितं वस्त्रं वानप्रस्थस्यचापितत् ।
काशायमुत्तरासंगं यतेराहुश्च नूतनम् ॥११७॥
द्वादशांगुलविस्तारं स्वस्ववस्त्रं दशांगुलम् ।
यज्ञसूत्रायतं यत्तदुत्तरीयमिति स्मृतम् ॥११८॥
शुक्लांबरं गृहस्थस्य विप्रस्याऽथ महीपतेः ।
पट्टानि नववस्त्राणि वैश्यस्य च तथैव हि ॥११९॥
कुसुंभरक्तवस्त्राणि चोदितानि महीतले ।
वैश्यस्य पीतवस्त्राणीत्याहुः केचिन्महर्षयः ॥१२०॥

शुचिर्विप्रस्य पालाशः नृपश्चौदुंबरो विशः ।
बैल्वो विशः समाख्यातः क्रमेण ब्रह्मचारिणः ॥१२१॥
विप्रस्य दंडः पालाशः नैय्यग्रोधो महीपतेः ।
वैश्यस्यौदुंबरः प्रोक्तः अलाभे त्वग्रजन्मनः ॥१२२॥
पालाशबिल्वौ विप्रस्य पैप्पलं क्षत्रियस्य तु ।
वैश्यस्य पैलवो दण्डः समानि ब्रह्मचारिणः ॥१२३॥
स्वस्य शाखोक्तदंडानामलाभे सर्वसोमपाम् ।
सर्वेष्वेषु यथालब्धो दडःस्यात्संकटस्थले ॥१२४॥
नृपस्य स्वस्य वैश्यस्य भवेयुः सर्वभूरुहाः ।
स्ववृक्षा एव वैश्यस्य दण्डसंग्रहणे स्मृताः ॥१२५॥
गृहस्थस्यवसस्तस्य यतेरासु त्रिजातिषु ।
वेणुदंडः प्रशस्तःस्यात् निर्दोष···प्रणकः(?) ॥१२६॥
गुह्यारण्यस्थयोर्दण्डो युक्पर्वौ यतिनोऽन्यथा ।
शिरःप्रमाणं विप्रस्य क्षत्रियस्यालकोन्नतम् ॥१२७॥
घ्राणप्रमाणं वैश्यस्य दंडमेवं क्रमात्स्मृतम् ।
क्रिमिदुष्टः स्वयं शुष्कः सरंध्रः कुटिलो लघुः ॥१२८॥
श्रितो निर्वल्कलो दंडः यो न योग्यः स कथ्यते ।
सव्रणः फलकाकारः परुषो नवकन्दकः ॥१२९॥
जीर्णोवयुक्तो यो दंडो न योग्यःस्यात्सदारणे ।
समच्छेदांगुलव्यस्तो पक्वाऽऽयामः सुवर्तुलः ॥१३०॥
चक्षुस्याभिनवो दंडो योऽसौ सकलसिद्धिदः ।
एतैश्चदोषरहितैर्वध्वानयनवल्लभम् ॥१३१॥

दध्याद्दंडं नृपस्तद्वतत्पुरोगस्य च तत्सुतः ।
विप्रस्य धवलच्छत्रं ताम्रं छत्रं महीपतेः ॥१३२॥
पीतच्छत्रं विशः कृष्णच्छ छत्रं शूद्रादिजन्मनाम् ।
द्विजन्मनः चतुस्तालं दशतालं नरेशितुः ॥१३३॥
पंचतालं विशश्छत्रं विस्तारः क्रमशःस्मृतः ।
स्वस्वोक्त वर्णसूत्रेणवध्वाछत्रं यथादृढम् ॥१३४॥
स्वस्वोक्त वाससाऽऽच्छाद्य संगृह्णीयु द्विजादयः ।
सर्वेषां वेणुदंडःस्यादलाभेवाक्ष एव वा ॥१३५॥
श्लेष्मातककरंजाक्ष वृक्षाःसन्यासिनां शुभाः ।
चतुष्षष्ट्यंगुलायामः ब्राह्मणस्य महीपतेः ॥१३६॥
एकोनवत्यंगुलै द्वौ द्विसप्तत्यंगुलायतः ।
वैश्यस्यैवंक्रमाद्दंडः छत्रस्तु समुदाहृतः ॥१३७॥
तेषां नाहं यथा योग्यं दंडानामित्युदाहृतम् ।
स्वस्वोक्तवस्त्रेणकृतं प्रथमांत्याश्रमस्थयोः ॥१३८॥
द्विजछत्रमितिप्रोक्तमितरैर्नधृतं पुरा ।
वस्त्रछत्रस्यशूद्रादि स्पृष्टिदोषोऽस्ति सर्वदा ॥१३९॥
वृक्षपूतानि पात्राणिददत्यस्य न जातुचित् ।
पलाशकेतकीतालनारिकेलादिभूरुहाम् ॥१४०॥
पात्रैराराराधितंछत्रं अन्यं स्यादग्रजन्मनाम् ।
पट्टे देवांगचीनादि चित्रांशुकविनिर्मितम् ॥१४१॥
चित्रंयन्मौक्तिकच्छत्रं होमछत्रं महीपतेः ।
बार्हतपत्रं सर्वेषां अमीषामितिभाषितम् ॥१४२॥

फ(प)लाशकृष्ण छत्रे द्वे शूद्रादीनां नृणां स्मृते ।
सुवर्णरजिताशालपात्रिविधाकुण्डिका स्मृता ॥१४३॥
उत्तमामध्यमानी च पूर्वोक्ता च यथाक्रमात् ।
अपामूढ़कवाङ्भानश्रेष्ठानि प्रस्थवाङ्मिता ॥१४४॥
मध्याद्विप्रस्थवाङ्भौना कुंडिकास्यात्कनीयसी ।
कांस्यपित्तललोहैर्वा कुर्यात्स्वर्णाद्यलाभतः ॥१४५॥
स्वर्णाद्याख्यातविधिना कुंडिकामुखवद् द्विजः ।
आसामलाभे गोचर्मनिर्मितःस्यात्कमंडलुः ॥१४६॥
अन्यानिषिद्धत्वग्जातो भवेत्सापि कमंडलुः ।
वैरूप्यताम्रैःकुर्वीतकाराधारजलानयम् ॥१४७॥
अलाभेयज्ञवृक्षेण कुर्वीतजलपद्धतिम् ।
मृत्तिकाभस्मलोधृत्वकषायाम्बुफलत्रयम् ॥१४८॥
एककर्त्रिदनन्या पूरणाश्चर्मशुध्यति ।
पश्चात्तु पं त्रदश्यांतुप्रक्षाल्याऽथ शुभैर्जलैः ॥१४९॥
प्रक्षाल्याद्र्यं तत्तोयं उपयुंजीत सर्वदा ।
त्वक्सारनारिकेलाम्रवृक्षालाबुफलेषु च ॥१५०॥
एतेष्वपि यथालब्धो भवेद्वाऽपि कमंडलुः ।
अन्यैरनुपयुक्तायाः कुंडिकास्ता शुभप्रदाः ॥१५१॥
उपयुक्तानसंग्राह्यः अपवित्रो द्विजोत्तमैः ।
अजामेत्सजलैरेतैः स्वकरार्थैः सदा द्विजः ॥१५२॥
एषामुच्छिष्टतानास्थितत्पात्रस्यैव केवलम् ।
अयः पात्रमयोग्यं स्यात्स्नानाचमनकर्मणि ॥१५३॥

तत्रस्थितं घनरसं नोपयोज्यं द्विजन्मभिः।
यज्ञोपवीतं वैत्रक्ष्यं मेखलादंडमंबरम्।
छत्रदंडकमंडल्वाः (डलूनां) विधिरुक्तः सलक्षणः ॥१५४॥
॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ यज्ञोपवीतविधानंनाम
पञ्चदशोऽध्यायः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

यज्ञोपवीतधारणविधिवर्णनम्

अथ यज्ञोपवीतस्य धारणे कथ्यते विधिः।
स्नात्वा शुचिः शुचौ देशे प्रक्षाल्य चरणौ करौ ॥ १ ॥
पवित्रपाणिराचम्य प्राङ्मुखोवाप्युदङ्मुखः।
उपविश्याऽथदर्भेषु प्राणानायम्यवाग्यतः ॥ २ ॥
आचार्यं गणनाथं च वाचन्देवानृषीन्पितॄन्।
ब्रह्माणमच्युतं रुद्रं नमस्कुर्वीत भक्तितः ॥ ३ ॥
अथोपवीतं विधिना संजातं तद्द्विजोत्तमः।
जपेत्त्रियम्बकं मन्त्रं स्पृशन्दक्षिणपाणिना ॥ ४ ॥
दक्षिणं पाणिमुद्धृत्य शिरसैवसहद्विजः।
मंत्रं सदैवमुच्चार्य ब्रह्मसूत्रं गले क्षिपेत् ॥ ५ ॥
यज्ञोपवीतमित्यादि मंत्रमन्यैतदीरितं।
यस्ययज्ञोपवीतेयन्मंत्रमुक्तमथापि वा ॥ ६ ॥

अथ द्विराचमेदेवं सदैव ब्रह्मचारिणः ।
विना यज्ञोपवीतेन द्विजातीनां न चेतरत् ॥ ७ ॥
गृहस्थस्य वनस्थस्य सूत्रं प्रति पुनः पुनः ।
मंत्रोच्चारणमाताम्रा(माम्नातं) द्वितयं क्रमशःस्मृतम् ॥ ८ ॥
अनेनोक्तप्रकारेण धारयेयुर्द्विजाः सदा ।
अनेन वेदाः कर्माणि यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ॥ ६ ॥
विना यज्ञोपवीतेन द्विजातीनां न चेतरत् ।
जपहोमार्चनस्नानस्वाध्यायाहारकर्मसु ॥१०॥
वृद्दा(द्धा) तिथिगुरुप्राप्तौ उपवीतो भवेद्द्विजः ।
ब्रह्मादि देवताःस्थिसौ(सर्वे) देवताश्चेतरा अपि ॥११॥
उपवीतधरास्तस्माद्धार्यमेतद्द्विजातिभिः ।
आज्ञावन्तो वशिष्ठाद्याः ऋषयश्चतपोऽधिकाः ॥१२॥
धृत्वा चैतत्प्रसादेन जीवंतस्ते बलान्विताः ।
नियमेन सदा धार्यं उपवीतं द्विजोत्तमैः ॥१३॥
कदाचिदपि नो धार्यं शूद्रैरितरजातिभिः ।
आमेखलामजनं वस्त्रं दंडं छत्रं कमंडलुम् ॥१४॥
स्वस्वगृह्योदितैर्मंत्रैः द्विजोदध्याद्विचक्षणः ।
अज्ञाता यदि चेन्मंत्राः स्वस्वगृह्येषु चोदिताः ॥१५॥
उपवीतमुख्यानां वै तेषां संधारणे द्विजैः ।
केवलं प्रणवो वाऽपि व्याहृतित्रितयं तु वा ॥१६॥
स्यातां विप्रादिवर्णेषु द्वावेतौसर्वशाखिनाम् ।
प्रणवः सर्वमन्त्राणां पितेत्याहुर्महर्षयः ॥१७॥

ॐ मितिब्रह्मचेत्याश्रुतिवाक्यनिदर्शनात् ।
सर्वेषामेव जंतूनां व्याहृतित्रितयन्तु वा ॥१८॥
भूर्भुवः सुवरित्येतद्व्याहृतित्रितयं स्मृतम् ।
भूर्भुवः स्वरित्येव एतास्तिस्रो व्याहृतयः ॥१९॥
ऋक्सामयजुरंगानीत्यागमोक्तिनिदर्शनात् ।
एतास्तिस्रो द्विजो वेत्ति सरहस्यं सवल्कम् ॥२०॥
स हि देवः परं ब्रह्म तदंते यात्यसंशयम् ।
चतुरंगुलविस्तारं शिखामूलं द्विजन्मनः ॥२१॥
राज्ञः पंचांगुलं न्यासं वैश्यानां वै तथैव च ।
स्थापयेयुः शिरो मध्ये शिखां सर्वे द्विजातयः ॥२२॥
स्वक्रृष्युक्तस्थले वाऽपि खर्वा(ल्वा)टस्य न चोदितः ।
यज्ञोपवीतमरूलंर्यं तं वा वीत(क्रीत?)मापणे ॥२३॥
धार्यं न जातुचिद्धैममन्तरेणोपवीतकम् ।
हैमंसतारवैकक्ष्यं उपवीतं सलक्षणम् ॥२४॥
धार्यं सहोपवीतेन देवैर्नृपतिभिः सदा ।
एकेन हैमसूत्रेण कुर्वीत लवनत्रयम् ॥२५॥
नवतंतु स्मरेच्चैव प्रतिष्ठासमये बुधः ।
शुल्पःथूलोऽथ वा सूक्ष्मो न हि तन्नियमोऽत्र तु ॥२६॥
नेत्रशोभी यथाजाति कुर्याद्धैमोपवीतकम् ।
हैमयज्ञोपवीतस्य न संख्यानियमः कृतः ॥२७॥
एकसंख्यादिपर्यंतंयह्लब्धं तत्प्रमाणकम् ।
तारवैमक्ष्यविस्तारं एकांगुलमुदाहृतम् ॥२८॥

तदर्धमथवा कार्यं उपवीतप्रमाणतः ।
द्वितीयजन्मनिश्चन्मैः (?) विनाशे च यदासति ॥२९॥
यज्ञोपवीतं संधार्यं अग्निधान(अन्यच्चैव)द्विजन्मभिः ।
मानाधिकं मानहीनं प्रच्छिन्नं त्रुटितं च यत् ॥३०॥
भिन्नं विशीर्णं तंतूणं अपि सूत्रं न धारयेत् ।
उपवीतं विशीर्णं स्यादेकस्यां वा त्रिरज्जुषु ॥३१॥
छिन्ने यदि प्रमादाद्वा तन्न धार्यं ततः परम् ।
ये वेदाभ्यासनिरताः श्रौतस्मार्तक्रियापराः ॥३२॥
उपवीतमिदं दध्युरितरे नाधिकारिणः ।
उपवीतं द्विजश्चैव धार्यं सद्भिः सुसंस्कृतम् ॥३३॥
वृद्धैरसंस्कृतं धार्यं जातिज्ञानाय केवलम् ।
कानीनगोलकव्रात्यकुंडकुष्ठ्यवकीर्णिभिः ॥३४॥
एतैरविरतं धार्यं उपवीतमसंस्कृतम् ।
कानीनः कन्यकाजातः गोलको विधवोद्भवः ॥३५॥
कुंडः सुमंगलीजातः ब्राह्मणाद्ब्रह्म(?) द्वये ।
तदैव तेषां विज्ञेयाः त्रिषु क्षत्रियवैश्ययोः ॥३६॥
स्वजातिपुरुषा जाताः याश्चगोत्रा यथा क्रमात् ।
अनुसन्यासिनः संगात्स्वगात्रपुरुषा यदि ॥३७॥
स चंडाल इति ज्ञेयः न तु पूर्वोदिताद्बहिः ।
व्रात्यः संस्कारहीनःस्यादवकीर्णः क्षतव्रतः ॥३८॥
नरस्त्वग्दोषदुष्टःस्यातपचीयान्पाप कृद्द्विजः ।
न निक्षिपेत्कदामूर्ध्नि कटिमूध्न्योः(?)देसे चान्यस्थलेषु वा ३९

उपवीतं द्विजश्रेष्ठो जातुचित्वधनिर्मितं ।
चंडालैरंत्यजैरुक्तौ मलमूत्रविसर्जने ॥४०॥
दक्षिणश्रवणे विप्रो यज्ञसूत्रं विनिक्षिपेत् ।
भार्यासंभोगसमये पुष्पकादिनान्यथा ॥४१॥
ब्रह्मसूत्रं द्विजः कुर्यान्निवीतं पृष्ठभागतः ।
रक्तश्लेष्मसुरामांसविण्मूत्राक्तं प्रमादतः ॥४२॥
उपवीतं तदुत्सृज्य दध्यादन्यं द्विजः सदा ।
मलमूत्रं त्यजेद्विप्रो विस्मृत्यैवोपवीतधृक् ॥४३॥
उपवीतं तदुत्सृज्य दध्यादन्यं नवं तथा ।
महापातककृद्यो वा द्विजस्तत्वाप संक्षयः ॥४४॥
तावद्भवेद्यज्ञसूत्रं यदि दध्यादन्यं स्मृतम् ।
कोपाद्बलाद्वा यो विप्रो यज्ञसूत्रं छिनत्ति वै ॥४५॥
नद्यां स्नात्वाऽथ गायत्रीं जपेदष्टसहस्रकम् ।
स्वयमन्योऽपि वा स्वस्यपरस्यैवं भवेद्यदि ॥४६॥
तच्छेदपापशुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तमिदं चरेत् ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणः कुर्यान्नित्यक्रियां द्विजः ॥४७॥
निष्फला तस्य सातस्मात्प्रायश्चित्तमिदं चरेत् ।
स्पृष्टरक्ताधिभिश्छिन्नं उपवीतं प्रमादतः ॥४८॥
सरिद्भिस्तटाकेषु सतोः एषु विसर्जयेत् ।
समुद्रंगश्च स्वाहेति मंत्रः प्रक्षेपणस्य तु ॥४९॥
केवलं प्रणवो वाऽपि व्याहृतित्रितयन्तु वा ।
धृत्वोपवीतं लोभेन निषिद्धं ब्राह्मणो यदि ॥५०॥

श्रौतः स्मार्तक्रियाः कुर्यान्नैवतत्फलभाग्भवेत् ।
द्विजो नष्टोपवीतश्चेदुपवीतं परं द्विजः ॥५१॥
आचम्य सन्नियम्याऽथ मंत्रैणैव च धारयेत् ।
धारणात्प्राङ्निमज्याः सु तूष्णींतत्पुरतः स्थितः ॥५२॥
नवतंतुकृतं सूत्रं प्रणवेनैव धारयेत् ।
उपवीती स भूत्वा च यत्नादाचम्य यथाविधि ॥५३॥
यज्ञोपवीतं विधिवत्कृत्वा दध्याद्विचक्षणः ।
यथावद्देवोक्तपक्षतिथ्याहःकालभूमिषु ॥५४॥
कृत्वा यज्ञोपवीतानि धारणार्थं विनिक्षिपेत् ।
यथाद्विजन्मनः प्राप्त उपवीतस्य धारणम् ॥५५॥
समं सर्वाश्रमस्थस्य तथैव तानि धारयेत् ।
यज्ञोपवीतं ये दध्युर्मोहाच्छूद्रादयोनराः ॥५६॥
ते पापिनः पतिष्यन्ति महानरकवारिधौ ।
तंतुना वाऽथवान्येन कृत्वा यज्ञोपवीतवत् ॥५७॥
बिभर्त्ति शूद्रो यदि यः सोऽपि यास्यति दुर्गतिम् ।
पादजात्यायज्ञसूत्रं मनुजा दधते हृदि ॥५८॥
तांश्च धृत्वाऽथ तच्चर्मद्रव्यं नृपतिर्हरेत् ।
हृतोपवीतं दृष्ट्वाश्रुत्वाथ वा नृपः ॥५९॥
यदि तूष्णीं समासीत नरकाब्धौ चिरं वसेत् ।
अतः सर्वप्रकारेण कुर्यात्तदनुशासनम् ॥६०॥
इहोपरि सुखं प्राप्य धर्मशास्त्रार्थमार्गतः ।
विना यज्ञोपवीतं यो यद्यासीतविचक्षणः ॥६१॥

उपवीती ततः शुद्धः स गायत्रीशतं जपेत् ।
द्विजन्मनां प्रशस्त्येतन्नष्टे भेदे तथैव च ॥६२॥
पितामहाख्याःस्वर्देवाः भूमिदेवा द्विजोत्तमाः ।
उपवीतमतो धार्यं नित्यं तेनैव नेतरैः ।
अनामिकादेवबाहु मूल देकं प्रमाणकम् ॥६३॥
॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौः यज्ञोपवीतधारणविधिनाम
षोडशोऽध्यायः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

यज्ञोपवीतमन्त्रस्यऋषिच्छन्दआदिनांवर्णनम्

इति यज्ञोपवीतस्येत्याहुः केचिन्महर्षयः ।
अथात्राख्यातो मंत्राणां ऋषिच्छंदोऽधिदेवताः ॥ १ ॥
विनियोगं क्रमेणैव प्रवक्ष्यामि पृथक् पृथक् ।
प्रणवस्य ऋषिर्ब्रह्मा परमात्मा च देवता ॥ २ ॥
छंदस्तु देवी गायत्री विनियोगः क्रियावशात् ।
देवताजपकाले तु तेऽपिहोमे हुताशनः ॥ ३ ॥
ध्यानकाले परं ब्रह्म विश्वेदेवास्तु देवताः ।
भूरादीनां सप्तानां व्याहृतीनां यथाक्रमम् ॥ ४ ॥
ऋषिश्छन्दो देवताश्च प्रवक्ष्यामि प्रयत्नतः ।
अत्रिभृगुश्चकुत्सश्च वशिष्ठो गौतमस्तथा ॥ ५ ॥

कश्यपश्चांगिराश्चैते मुनयोऽमी प्रकीर्तिताः ।
(गायत्र्युंष्णिगनुष्टप् च बृहती पंक्तित्रिष्टुभः)
सप्तर्षयोऽथवैतेषां सप्तानामृषयः स्मृताः ।
विश्वामित्रोजमदग्निभरद्वाजोऽथ गौतमः ॥ ६ ॥
अत्रिर्वशिष्ठः काश्यपश्चसप्तामी मुनयःस्मृताः ।
छन्दांस्यथ प्रवक्ष्यामि सप्तानां सप्तसु क्रमात् ॥ ७ ॥
गायत्र्युष्णिगनुष्टप्च बृहती पंक्तित्रिष्टुभः ।
जगती चापि छंदांसि क्रमेणैषां भवेत्सदा ॥ ८ ॥
अग्निर्वायुः सहस्रांशुर्वागीशो वरुणस्तथा ।
इन्द्रश्चविश्वेदेवाश्च देवता इति कीर्तिताः ॥ ९ ॥
विश्वामित्रऋषिश्छन्दोगायत्री देवता रविः ।
सावित्री च समाख्याताः विनियोगक्रियावशात् ॥१०॥
ॐ (आ)मापोज्योतिरित्येतद्गायत्री शिर उत्तमम् ।
ऋषिर्ब्रह्माछन्दोऽनुष्टुप्परंब्रह्मास्य देवता ॥११॥
उत्तमस्य तु भागस्य भूर्भुवः सुवरोमिति ।
अस्य प्रजापतिर्देवः केचिदाहुर्महर्षयः ॥१२॥
आपो वायिदमित्यस्य ब्रह्मसूक्तस्य वै मुनिः ।
यजुश्छन्दो देवतांभः विनियोगोऽभिमंत्रणे ॥१३॥
आपोहिष्ठादित्र्यृचस्य सिंधुद्वीप इतिस्मृतः ।
छंदोगायत्रमात्रश्च देवताप्रोक्षणे विधिः ॥१४॥
दधिक्रापुण्नयित्यस्यवामदेव ऋषिः स्मृतः ।
छंदोऽनुष्टुब्देवताश्च अपस्युक्ता उदाहृताः ॥१५॥

हिरण्यवर्णाइतिचतुर्णां मंत्राणां परमेष्ठीऋषिश्छंदः ।
त्रिष्टुब्देवता स्यात् अपांसंप्रोक्षणे विधिः ॥१६॥
परमांशस्य मुनयो विश्वेदेवाः प्रकीर्तिताः ।
प्रथमस्य द्वितीयस्य गायत्रं छंद उच्यते ॥१७॥
अनुष्टुप्च तृतीयश्च गायत्री चोपरि द्वया ।
षष्टसप्तमयोस्त्रिष्टुबगायत्री चाष्टमस्य तु ॥१८॥
नवमप्रभृत्यष्टानां अनुष्टुप्त्रिष्टुबंत्यकम् ।
लिंगोक्तादेवताः प्रोक्ताः विनियोगस्तु मार्जने ॥१९॥
भूरग्निचादि सूक्तस्य प्रजापति ऋषिः स्मृतः ।
स एव देवता छन्दो यजुरित्यभिधीयते ॥२०॥
आसत्यादीनां चतुर्णां हिरण्य स्तूपको ऋषिः ।
त्रिष्टुब्बनुष्टबगायत्री त्रिष्टुप्छंदांसि वै क्रमात् ॥२१॥
एषां समस्तमंत्राणां देवता तिग्मदीधितिः ।
विनियोगश्चकथितः सूर्यसंदर्शकर्मणि ॥२२॥
वसिष्ठात्र्यंबकमनोः मुनिर्देवस्त्रियंबकः ।
छंदोऽनुष्टुबविनियोग उपवीताभिमंत्रणे ॥२३॥
उपवीतमनोर्ब्रह्म मुनिर्वेदाश्च देवताः ।
छंदस्त्रिष्टुबविनियोगः उपवीताभिमंत्रणे ॥२४॥
प्राणानाग्रंथिरसीत्यस्यब्रह्ममुनिर्यजुश्छंदः ।
प्राणोब्रह्मयजुश्छंदइति स्मृतम् ॥२५॥
सावितावाश्विनीपूषा भवेयुरधिदेवताः ।
उदुत्यंजातवेदस्य पूर्वमेवसमीरिताः ॥२६॥

ऋषिश्छंदो देवताश्च विनियोगमथात्र तु ।
आवहंतीत्यस्य ब्रह्मा ऋषिश्छंदोऽधि देवताः ॥२७॥
अनुष्टुप्छामहावंती (?) च नियोग शस्त्रधारणे ।
प्रयोगकाले मंत्राणां ऋषिश्छंदोऽधिदेवताः ॥२८॥
विनियोगं च संस्मृत्वा नत्वा मंत्रानथोच्चरेत् ।
अज्ञात्वैतान्प्रयुङ्क्ते यः मंत्रास्तत्रक्रियासु च ॥२९॥
तस्यतत्तत्फलप्राप्तिर्द्विजस्य न भविष्यति ।
शास्त्रमेतच्चतुर्वर्गफलसाधनसाधकम् ॥३०॥
यावन्ति तस्य विप्रस्य नासाध्यमिहचोपरि ।
अध्यायोयोद्विजश्रेष्ठैः वाच्यःश्राव्यश्च सर्वदा ।
ब्राह्मण्यस्थापनार्थंच स्वाध्यायस्थापनाय च ॥३१॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ यज्ञोपवीतादिविधानंनाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः

सप्रयोजनकुशलक्षणवर्णनम्

कुशस्य च पवित्रस्य लक्षणं तत्प्रयोजनं ।
सकलं कथ्यते स्पष्टं कर्मानुष्ठानहेतवे ॥ १ ॥
श्रुतिस्मृतिषु याः प्रोक्ताः नित्यनैमित्तिकाः क्रियाः ।
कुशैर्विना कृताः सर्वा निष्फलाःस्युर्द्विजन्मनाम् ॥ २ ॥

तस्मात्समस्तकार्येषु मंत्रवत्सु द्विजोत्तमः ।
प्रयतश्च प्रसन्नात्मा कुशहस्तः समाचरेत् ॥ ३ ॥
पापाह्वयः कुशब्दः स्यान्छ शब्दःशमनाह्वयः ।
तृणेन पापशमनं येनैतत्कुश उच्यते ॥ ४ ॥
कुशहस्तश्चरेत्स्नानं कुशहस्तः सदा जपेत् ।
जुहुयात्कुशहस्तश्च फलवाप्त्यभिलाषुकः ॥ ५ ॥
कुशस्य मूले मध्येऽग्रे ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
सदावसन्त्यतः श्रेष्ठः कुशः सकलकर्मसु ॥ ६ ॥
नदीतीरेऽब्धितीरे तीर्थक्षेत्रे च कानने ।
जातः कुशः समस्तासु क्रियासु श्रेष्ठ उच्यते ॥ ७ ॥
तत्रापि च द्विजन्मादि द्विजात्यवनिसंभवः ।
तत्तज्जाति क्रियायोग्यः अलाभे वास्यभूभिजः ॥ ८ ॥
पाटलारुणपीताःस्युः विप्रराड्वैश्यभूमयः ।
कृष्णावृषलभूरन्याभूर्मुहुः संकराःस्मृताः ॥ ९ ॥
द्विजोवैश्योनृपश्शूद्रो इत्ययं स्याच्चतुर्विधः ।
गौरपीतारुणश्यामः सुमन्योक्तिर्यथा क्रमात् ॥१०॥
पुमांस्त्रीक्लीब इत्येवं तत्रापि त्रिविधाः स्मृताः ।
तत्तज्जातिक्रियास्वेव प्रयोक्तव्यः फलार्थिभिः ॥११॥
क्लीबेनापि प्रयोक्तव्यः स्त्रीपुंकर्मसु जातुचित् ।
स्त्रीपुंसावेव सर्वत्र प्रयोक्तव्या वतामतः ॥१२॥
समन्ताद्धूसरोगाधः पुरुषश्चन्दनः कशः ।
समस्तकर्मसु श्रेष्ठः पुमान्योऽसौ फलप्रदः ॥१३॥

समंताद्धरितःस्निग्धः कुशः कोमलपत्रकः ।
कुशः सयोषिदित्युक्तस्तत्तत्कर्मशुभप्रदः ॥१४॥
कुशः सौम्यस्तुसुमुकः कुशोऽयस्तत्रकाकृतिः ।
स नपुंसक इत्युक्तः क्लीबकर्मसु चोदितः ॥१५॥
वल्मीकस्थः श्मशानस्थः ऊषरस्थः तरुद्भवः ।
अंत्यजात्यालयारात्स्थः कुशःकर्मस्वशोभनः ॥१६॥
सदाधनरसांतस्थस्सदाच्छायाप्रवर्तितः ।
आनीतश्च प्रय(त्ना)चात्तु कुशः कर्मस्वशोभनः ॥१७॥
हीनाङ्गः (स्यात् ?)स्वयं शुष्कः शुष्काग्रः क्रिमिदष्टकः ।
भिन्नाग्रः सकुनुमस्तु कुशाकर्मस्वशोभनः ॥१८॥
नक्तमालार्क किंपाकसत्तु(तु)दुर्गंधपार्श्वजः ।
महावृक्षाक्षपार्श्वोत्थस्तच्छायास्थस्त्वशोभनः ॥१९॥
पलाशाश्वत्थखदिरवटवृक्षसमीपजः ।
बिल्ववैकुकतांतस्थः तच्छायास्थः कुशश्शुभः ॥२०॥
अनोकानामन्येषां समर्यातः समुद्भवः ।
च्छायासमुद्भवकुशो मध्यमः सर्वकर्मसु ॥२१॥
स्नात्वा संध्यासपर्यादि नित्यकर्म समाप्य च ।
नित्यहोमं ततः कृत्वा तस्मिसप्तार्चिपि द्विजः ॥२२॥
दात्रं प्रणवसंयुक्तं व्याहृत्या च समस्तया ।
निष्क्रम्यभवनात्प्राचीं अपि स्याच्चोत्तरां दिशम् ॥२३॥
निष्क्रम्याद्युक्तशेषेषु यास्तिकेशसमुच्चयः ।
तत्र गत्वा स्वचरणौ हस्तौ प्रक्षाल्य वाग्यतः ॥२४॥

आचम्य सुमनाः सम्यक् प्राणायाममथाचरेत् (थाचरेत्) ।
ततो निलविनं वायुं यमं वरुणमश्विनौ ।
औषधीशं शचीनाथं विश्वेदेवान् सरस्वतीम् ॥२५॥
देवानृषीन्पितॄन् स्कंदं गुरून् गणपतिं ततः ।
वसून्रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान्ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् ॥२६॥
देवांश्च हृदये ध्यायन्नमस्कुर्यात्पृथक् पृथक् ।
ततोदात्रेण पूर्वास्यः उदगास्योऽथ वा कुशान् ॥२७॥
मुष्टिमात्रोपरिष्टात्तु छिंद्यात्प्रणवमुच्चरन् ।
प्रेतक्रियार्थं पित्र्यर्थं आभिचारार्थकं तथा ॥२८॥
दक्षिणाभिमुखोच्छिंद्यात्प्राचीनावीतिको द्विजः ।
भिन्नाभ्रपूर्वकांस्त्यक्त्वा कुशान्वड् द्विजसत्तमः ॥२९॥
अन्यान् सलक्षणकुशान् संगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
त्रिवृच्छुल्वं कुशैः कृत्वा प्रागग्रं चोदगग्रकम् ॥३०॥
वितत्य च कुशानेतान्क्षिपेत्तस्मिन्यथा पुरा ।
पश्चाच्छुल्बेन तेनैव दृढं वध्यात् यथाक्रमम् ॥३१॥
प्रागग्रमुदगग्रं वा शुचौ देशे क्षिपेद्गृहे ।
पित्र्यर्थमेकवृच्छुल्वं विपरीतं वितत्य च ॥३२॥
ततोऽनुपहतैः रोतैः कुशैः कर्माणि बुद्धिमान् ।
शस्तान्कुशांस्तानाबध्य स्थापयेत्तान्पृथक् पृथक् ॥३३॥
श्रौतस्मार्तानि कर्माणि कुर्वीत फलभाग्भवेत् ।
शुनाशुद्धश्वराहैणमार्जारेणैकचक्षुषा ॥३४॥

खरेण कुक्कुटेनैव स्पृष्टः कर्मरिपुः कुशः ।
कपिनाकृकलाशेन पतितेनांधजातिना ॥३५॥
भिषजा रोगिणा स्पृष्टः कुशः कर्मस्वशोभनः ।
देवलेन च चंडेन व्रात्येन ज्ञानहानिना ॥३६॥
वर्ज्यः पातकिना स्पृष्टः कुशोऽनुष्ठेयकर्मसु ।
रक्तश्लेष्मादिभिः स्पृष्टः क्रियायुक्तः पुराग्रतः ॥३७॥
उच्छिष्टजनसंस्पृष्टः कुशः कर्मविनाशकः ।
सूतिकात्रयकावेश्य ज्ञातपूर्वाभिसारिका ॥३८॥
अन्याः सदोषायास्ताभिः कुशःस्पृष्टः क्रियारिपुः ।
दोषैरेवंविधैरन्यैरविस्पृष्टः प्रमादतः ॥३९॥
कुशः कर्मस्वयोग्यःस्यादाघ्रातः पशुभिः स्मृतः ।
पिंडकर्मणि ये युक्ताः कुशा ये पितृतर्पणे ॥४०॥
उच्छिष्टेऽपि च ये युक्ताः ते योग्या न हि कर्मसु ।
दोषानष्टान्कुशो त्यक्तान् कुशक्त्वीक्तैर्गुणैर्बुधः ॥४१॥
श्रुतिस्मृत्युक्त कर्माणि वारयेत्कर्मसिद्धये ।
कुशालाभेश्ववालोवा विश्वामित्रोऽभिवारिजः ॥४२॥
दूर्वा चैतेषु यो लब्धः तेन कर्म समाचरेत् ।
अत्रोक्त कुशमुख्यानां तृणानां स्युः पृथक् पृथक् ॥४३॥
नामान्यमूनि सर्वेषां देहोबर्हिः कुशस्मृतः ।
अतःश्रेष्ठतमं कर्म अन्यश्रेष्ठोऽपि वा कुशः ॥४४॥
विश्वामित्राश्च वालौ द्वौ तथार्द्राावितरौ स्मृतौ ।
श्वलांगूलवत्पुष्टं पुष्टमिक्षुकपाशवत् ॥४५॥

जलाशयेषुजननं यस्या सावश्वबालकः ।
श्रुतिस्मृतीनांमित्रत्वाद्विप्राणां विश्वकर्मणाम् ।।४६।।
विश्वांहसाममित्रत्वात् विश्वामित्रमिति स्मृतः ।
यो नित्यमोधदीष्वेकोनृभिर्योज्योऽनुवासरम् ।।४७।।
जनेष्वयं प्रसिद्धत्वान्नोक्तं संयुक्तलक्षणम् ।
पलाशमल्पदीर्घं च संधिष्कं कुरुसंभवम् ।।४८।।
कुशनालुलतारूपं यत्तदूर्ध्वेतिभाषितम् ।
दुःस्वप्नचाची दुःशब्दः वा शब्दो नामसंज्ञकः ।।४६।।
दुःस्वप्ननाशकत्वेन यत्तद्दूर्वेति कीर्तिता ।
विधिना स्वीकृतान्दर्भान्द्विजमान्यान्द्विजन्मनः ।।५०।।
अनुष्ठानाय शौर्येण नाहरेज्जातुचिद्द्विजः ।
तदनुज्ञां विना विप्रः कुशानाहृत्य तैर्यदि ।।५१।।
कुर्यात्स्वकर्मानुष्ठानं तत्सर्वमफलं भवेत् ।
प्रकुर्यात्तुत्रिभिर्धर्मैः पवित्रं वाथ पंचभिः ।।५२।।
द्वाभ्यां वा शांन्तिकार्येषु सर्वकर्मसु शस्यते ।
शान्तिकं पौष्टिकं यावच्छुभं किमपि कर्म च ।।५३।।
शांतिकादीनि कर्माणि त्रीण्यमूनि विदुर्बुधाः ।
चतुर्भिराभिचारे च पितृकर्मसु चैककः ।।५४।।
तत्तत्कर्मानुरूपेण समस्ताश्च क्रियाश्चरेत् ।
अत्रोक्तसङ्ख्या युञ्जीयादेकीकृत्य समं यथा ।।५५।।
मूलानि दक्षिणे हस्ते धृत्वाग्रण्यन्यपाणिना ।
दक्षहस्तेनदद्वाभ मनुसृत्य यथादृढम् ।।५६।।

एकीकृत्याऽथ वा मूलाग्राण्यनुवर्त्य प्रदक्षिणम् ।
तथैवाग्रेण चावेष्ट्य कुर्याद्ग्रन्थिं यथादृढम् ॥५७॥
पवित्रीकरणं त्वेवं उदितं सर्ववेदिनाम् ।
वलयं स्वांगुलैर्मानं ग्रंथिरेखांगुलीप्रमा ॥५८॥
चतुरंगुलमग्रस्य मध्यस्थानमनामिकम् ।
वलयं ग्रन्थिकाग्राणां ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥५९॥
पवित्रस्य भवंत्येते क्रमेणैवाऽधिदेवताः ।
अर्कोदितानां सर्वेषां पवित्राणां च लक्षणम् ॥६०॥
सामान्यमिदमित्येवं उदितं ब्रह्मवादिभिः ।
एतत्पवित्रमाग्नेयं नामधेयं प्रचक्षते ॥६१॥
धृत्वैव सर्वकर्माणि कुर्यात्कर्मफलाप्तये ।
पूर्वेतरप्रकारेण कुर्यादेकेनबर्हिषा ॥६२॥
पवित्रं पितृकार्येषु तत्समस्तेषु भाषितम् ।
अन्योन्याग्रैः कुशैः कुर्यात्पवित्रं न कदाचन ॥६३॥
एकैकखंडैरपि वा यत्र कुत्र स्थितैरपि ।
उक्तान्दर्भान्यथापूर्वं एकीकृत्यानुवर्त्त्य च ॥६४॥
प्रदक्षिणद्वयोरज्वोरानीयाग्रेण पूर्ववत् ।
ग्रन्थिं कुर्यात्तथामेदं पवित्रे ब्रह्मनामनि ॥६५॥
इदं पवित्रं पूर्वोक्तात्पवित्रादधिसत्तमम् ।
अन्यद्ब्राह्मं यथा पूर्वं अनुवर्त्यैक बर्हिषा ॥६६॥
कुर्यात्पवित्रवैर्त्यस्याद्ग्रन्थिं ब्राह्मपवित्रवत् ।
मंत्रेण धारयेद्विप्रः विना मंत्रं धृतं तु तत् ॥६७॥

यदेतद्वर्तते हस्ते तत्पवित्रं मलं स्मृतम् ।
तस्मात्पवित्रो मंत्राभ्यां धारयेदभिमंत्र्य च ॥६८॥
पवित्रवन्त इत्यादि मंत्रद्वितयमस्य तु ।
ऋषिर्ब्रह्मानयोश्छन्दो जगती ब्रह्मणःस्पतिः ॥६९॥
देवताब्रह्मविष्णवीशाः अधिदेवा इति स्मृताः ।
प्रणवस्तस्य मंत्रस्य सप्तव्याहृतयस्तु वा ॥७०॥
दध्यात्पवित्रमनयोः एकेन श्रुतिवर्जिताः ।
पवित्रोक्तप्रकारेण होम्ना कुर्यात्पवित्रकम् ॥७१॥
तद्धार्यममरैर्भूपैश्शुचये मंगलाय च ।
अस्मद्विधा यथापूर्वं आग्नेयं ब्राह्ममित्यथ ॥७२॥
पुनः पित्र्ये तथैवैतत्पवित्रद्वितयं स्मृतम् ।
स्नानसंध्योपरिष्टाच्च जपे होमे सुरार्चने ॥७३॥
स्वाध्याये भोजने विप्रः पवित्रं करयोर्न्यसेत् ।
श्रौतस्मार्तानि कर्माणि यावन्तीशोदितानि वै ॥७४॥
तानि सर्वाणि कुर्वीत सपवित्रकरो द्विजः ।
पवित्रं द्वितयं दर्भान्कारयेद्धस्तयोर्द्वयोः ॥७५॥
धृत्वा सर्वाणि कृत्यानि शुचिर्मौनी समाचरेत् ।
कृतमेनोऽनुदिवसं वपुषा चेतसा गिरा ॥७६॥
हन्यात्पवित्रं हस्तार्थं सर्वं यत्तद्द्विजन्मनः ।
नित्येनैमित्तिके वाऽपि काम्योपक्रमणे कृतं ।
पवित्रं चापिकर्मान्ते ग्रन्थि मुक्त्वाऽथ तन्त्यजेत् ॥७७

कुशहस्तः पिबेत्तोयं कुशहस्तः सदाऽऽचमेत् ।
सग्रन्थिकुशहस्तेन न कदाचिदुपस्पृशेत् ॥७८॥
मुक्त्वा ग्रन्थि विमुच्याऽथ तेन पीत्वा जलं सदा ।
तत्पवित्रं त्यजेद्भूमौ अथ मंत्रेण जातुचित् ॥७९॥
विस्मृत्य यदि पात्रं तु पवित्रं विसृजेद्यदि ।
प्राजापात्यं चरेत्कुलछं (व्रतं) तत्किल्बिषविशुद्धये ॥८०॥
शमलप्रसवे स्पृष्टौ चांडालांत्यजभाषणे ।
पवित्रं करशाखस्थं दक्षिणश्रवणे न्यसेत् ॥८१॥
गोपुच्छरोमभिः कृत्वा पूर्वाभिहितलक्षणम् ।
पवित्रं धारयेद्विप्रः कर्णोपक्रमणेन वा ॥८२॥
आग्नेयं ब्राह्मभेदोऽस्ति पवित्रस्याऽस्ति पूर्ववत् ।
तस्मात्फलविशेषोऽस्ति तथैवाशेषकर्मसु ॥८३॥
रोमृणां पवित्रकरणे नियमो न कुशाम्विना ।
कुशरज्जोर्यथामूलप्रमाणं करयोस्तथा ॥८४॥
क्रमशश्चतुर्भिरंगुल्योः पवित्रे धारयेदिमे ।
भुक्तिकर्मणिनान्येषु द्विजन्माऽखिलकर्मसु ॥८५॥
कर्मांते पुनरादाय पवित्रद्वितयं द्विजः ।
शुचौ देशे विनिक्षिप्यारध्याद्देतत्पुनः पुनः ॥८६॥
यद्युच्छिष्टाद्युपहतं पवित्रं च्छेदितं यदि ।
तदेवग्रन्थिमुत्सृज्य त्यजेदितरथा न हि ॥८७॥
रोमाणि मध्यमं बध्वा सुदृढं च कुशैः सदा ।
होमांगुलीयकेनापि मार्जनं सर्वपापहम् ॥८८॥

रोमसंग्रहणे विप्रः प्रमुखानां द्विजन्मनाम् ।
धवलारुणपीताःस्युरनड्वाहो यथाक्रमम् ॥८९॥
एतानामपि सर्वेषां प्रशस्ता कपिला गवाम् ।
सर्वेषां विप्रमुख्यानां रोमसंग्रहणे भृशम् ॥९०॥
अनाभाव जीर्णो गौः वंध्यारहितकार्णिका ।
नवप्रसूतासरुजाचित्राकृष्णा न शोभना ॥९१॥
स्वर्णोक्तवर्णायुवतीः सवत्साशांत्तविग्रहा ।
सम्पूर्णावयवा गौःस्यादुत्तमारोमसंग्रहे ॥९२॥
स्नात्वा शुचिर्द्विजोवात्रमानौ (मौनी)? निष्टप्य पूर्ववत् ।
अग्निं प्रदक्षिणीकृत्य मंत्रेण प्रणमेदथ ॥९३॥
रुद्रमातर्वसुनुते सुतानामेशुमत्सुते ।
सर्वदेवात्म गौः स्वां(त्वां?,स्तौम्यहं त्वं प्रसीदमे ॥९४॥
मंत्रेणानेन दत्वा गां पुच्छरोमाणिदात्रतः ।
गव्यानि भेदयेद्विप्रः संप्रोक्षणपवित्रयोः ॥९५॥
गोपुच्छरोमभिर्दर्भैः पवित्रीकरणक्रमः ।
आख्यातोऽनंतरं वच्मि कूर्चस्य करणं क्रमः ॥९६॥
नवभिर्दर्भैः पंचभिः क्रमशः स्मृतः ।
कूर्चःश्रेष्ठोमध्यमश्च कनीयस इति स्मृतः ॥९७॥
तद्ग्रंथिर्द्व्यंगुलो ज्ञेयः तदूर्ध्वं चतुरंगुलम् ।
षोडषांगुलमायामं अधस्तात्तत्प्रकीर्तितम् ॥९८॥
पवित्रे प्राग्यथा प्रोक्ता ग्रन्थिस्तेनक्रमेण तु ।
ग्रन्थि दध्याद्द्विजः कूर्चे तद्विदःस्यात्प्रवर्त्तवत् ॥९९॥

याम्यपैतृकयोः कूर्चं कर्मणोस्तत्पवित्रकम् ।
ग्रन्थिकार्योविशेषोऽत्र कथितस्तत्पवित्रवत् ॥१००॥
ब्रह्मक्षत्रियवैश्यानामेवं कूर्च उदाहृतः ।
अलाभे स्वस्यकूर्चस्य यथालब्धोऽपि वा भवेत् ॥१०१॥
द्वाभ्यां कुशाभ्यामथवा सपूर्वोदितलक्षणम् ।
कृत्वा कूर्चमलाभे तु सर्वकर्मसु योजयेत् ॥१०२॥
कूर्चादिग्रंथनाग्राणामिमास्तिस्रोऽर्थदेवताः ।
भवन्ति वसुधा ब्राह्मी सर्वतीर्थानि च क्रमात् ॥१०३॥
आसने देवतादीनां अपि च स्नानवारिषु ।
पंचगव्यप्रयोगे तु द्विजकूर्चं प्रयोजयेत् ॥१०४॥
अमृतेषु च गव्येषु पंचसु स्नानकर्मणि ।
पुण्याहक्रमतोयेषु द्विजः कूर्चं प्रयोजयेत् ॥१०५॥
ऊर्ध्वाग्रं स्थापयेत्कूर्चं गलत्यां कलशेषु च ।
ततः संप्रोक्षणं कुर्यात्तदग्रेण द्विजोत्तमः ॥१०६॥
प्रागग्रमुदगग्रंवा स्थापयेत्कूर्चमासनम् ।
ऋष्यर्थं देवतार्थं च पित्र्यर्थं दक्षिणाग्रकम् ॥१०७॥
कर्मांते ग्रन्थिमुत्सृज्य द्विजः कूर्चं परित्यजेत् ।
ग्रंथ्या सह न तु त्याज्यं उपवीतं कदाचन ॥१०८॥
पवित्रकूर्चेयस्याग्रं संग्रंथ्यास्तु प्रमादतः ।
उपवासश्चरेदेकं उपवासक्रमं तथा ॥१०९॥
कूचप्रयोगो यत्प्रोक्तः तत्रैतत्कूर्चमग्रजः ।
अनारतं प्रयुंजीत स्वेष्टकर्मफलाप्तये ॥११०॥

विधानमेतत्तथाख्यातं कूर्चस्य सकलं क्रमात् ।
अनंतरं प्रवक्ष्यामि दर्भमालाकृतिक्रमम् ॥१११॥
त्रिभिश्चतुर्भिश्च कुशैः दीर्घैर्लक्षणसंयुतैः ।
कुर्वीत मालिकां विप्रो यथानयनवल्लभाम् ॥११२॥
उपर्यग्रमधोमूलं कृत्वादर्भास्तदग्रकैः ।
रज्जुकनिष्ठिका प्रकुर्वीत यथादृढम् ॥११३॥
कुशानामंतरं तेषां व्यस्तामास्थानमांगलम् ।
उत्तमं द्व्यंगुलं मध्यं अधमं त्र्यंगुलं क्रमात् ॥११४॥
शुल्वस्याथ कुशायामा पंचशाखा प्रमाणकम् ।
एवं सम्यक्कृतायासा कुशमालंतमाःस्मृताः ॥११५॥
यज्ञशालावृता वैषा प्रोक्तातद्द्वारदक्षिणे ।
जपहोमार्चनस्थानध्यानसंवरणेऽपि च ॥११६॥
तृतीयांगुलमुष्टीनां द्वयं वैकमथापि वा ।
आसनं ब्राह्मणस्य स्याद्ब्रह्मयज्ञं प्रकुर्वतः ॥११७॥
अष्टोत्तरशतं दर्भाः निर्दोषानिष्सरायताः ।
सदृशं सर्वहोमेषु संग्राह्यं सर्ववेदिनाम् ॥११८॥
आत्मब्रह्मासनार्थं च संकल्पो(द्देश्यका)र्थकम् ।
प्रोक्षणि पूर्णपात्रार्थं आज्यसंस्करणार्थकम् ॥११९॥
पात्रं सम्मार्जनार्थं च सम्परिस्तरणार्थकम् ।
संस्कारार्थममी दर्भाः प्रयोक्तव्या यथाक्रमम् ॥१२०॥
देव्याः कुशाश्चयुगपत्परमात्मनि निर्वृताः ।
यत्रोक्तं वैदिकं कर्म कुशास्तत्र प्रकीर्तिताः ॥१२१॥

अतोऽजयन्मुनयो लोकान्कुशेन सकलान्पुरान् ।
सामर्थ्यं चाभवेत्तेषां अतोऽनेन कुशः स्मृतः ॥१२२॥

राजानेनकृतस्मृतः ।
यथेन्द्रस्याशनिर्हस्ते यथाशूलं कपर्दिनः ।
यथानुदर्शनं विष्णोः विप्रहस्तकुशस्तथा ॥१२३॥

वरुणस्य करे पाशः यथा दंडो यमस्य तु ।
तथा ब्राह्मणहस्तस्थः सकलं साधयेत्कुशः ॥१२४॥

विधिनाऽथकृतोदर्भः सर्वकर्मफलप्रदः ।
विधिनाऽथ गृहीत्वाऽथ (साधयेत्सकलां?) विधिम् ॥१२५॥
विनागृहीतोयः प्रयुक्तस्तृणवद्भवेत् (तृणवत्तद्भवेत्सदा) ।
तस्माच्छास्त्रं परिज्ञाय शास्त्रोक्तविधिना द्विजः ॥१२६॥
कुशान्संगृह्य कर्माणि समस्तानि समाचरेत् ।
देवब्राह्मणकार्येषु भक्षयेद्वृषलः खलु ॥१२७॥

सुवर्णांगुलिकं हृत्वा तत्तत्कर्म समाचरेत् ।
दध्यात्पवित्रं वृषलः कर्मानुष्ठानवर्जितः ॥१२८॥

यच्छिद्रं नरके घोरे पतत्यत्र न संशयः ।
कस्मिन्नहनि वा शूद्रो पवित्रं धारयेद्यदि ॥१२९॥

न वच्यते(वक्ष्यियातो)महाघोरैः सुचिरं नरकाग्निभिः ।
शूद्रः पवित्रमज्ञाना(द्दुर्द्धंषा) विधारयेत् ॥१३०॥

स पापात्मा महाघोरे चिरं तिष्ठति दुर्गतौ ।

तस्मात्पवित्रं सततं द्विजैर्वेदपरायणैः ।
कर्मानुष्ठाननिरतैः धार्यंनेतरजातिभिः ॥१३१॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ कुशविधानं नाम
अष्टादशोऽध्यायः ॥

अथ उनविंशोऽध्यायः

व्याहृतिकल्पवर्णनम्

अथ कल्पं प्रवक्ष्यामि व्याहृतीनां यथातथम् ।
द्विजानां सर्वशाखानां कल्पानां सद्दशःस्मृतः ॥ १ ॥
भूरितिव्याहृतिः पूर्वा द्वितीयेति भुवःस्मृता ।
सुवस्तृतीयःतियाचमहः चतुर्थीः पंचमीजनः ॥ २ ॥
तत्षष्ठी सप्तमी च सम्यगेवं समीरिताः ।
एता महाव्याहृतयः सर्वदेहे स्थिता द्विजाः ॥ ३ ॥
असुसप्तमपूर्वाःस्युः तिस्रो व्याहृतयःक्रमात् ।
एवं महाव्याहृतयो द्विधा व्याहृतयस्तथा ॥ ४ ॥
अहं(एवं)? क्रमेण वक्ष्यामि मुनिच्छन्दोऽधिदेवताः ।
वर्णास्थानस्वरूपाणि विनियोगं निजासनम् ॥ ५ ॥

पंचशाखं शरीराणां विन्यासत्रितयं तथा ।
जपे होमे क्रमं चैव पुरश्चरणसत्क्रमम् ॥ ६ ॥
काम्यहोमफलावाप्तिमन्यद्द्रव्यफलं च यत् ।
तदशेषं यथास्पष्टं भवत्यत्यन्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥
ऋषिरासां समस्तानां व्याहृतीनां प्रजापतिः ।
कथ्यंते मुनयस्तासां व्याहृतीनां पृथक् पृथक् ॥ ८ ॥
अत्रिर्भृगुःकुत्ससशङ्खा(कश्यपश्च?) वाशिष्ठो गौतमस्तथा ।
काश्यपश्चांगिराश्चैते मुनयः क्रमश स्मृताः ॥ ९ ॥
सप्तर्षयोऽथवैतासां सप्तानां स्युर्यथाक्रमात् ।
क्रमेणैते प्रवक्ष्यंते परिस्पष्टं यथाह्यधः ॥१०॥
विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथगौतमः ।
अत्रिर्वशिष्ठकश्यप इति सप्तसप्त(र्ष)यः स्मृताः ॥११॥
दिव्यचंदन लिप्तांगाः दिव्यैःपुष्पैरलंकृताः ।
गायत्र्युष्णिनुष्टुप्च बृहती पंक्तिरेव च ॥१२॥
त्रिष्टुप्चजगती चैवस्युश्छन्दांसि यथाक्रमम् ।
अग्निर्वायुः सहस्रांशुर्वागीशो वरुणो वृषा ॥१३॥
आसां यथाक्रमेणैव विश्वेदेवाश्च देवताः ।
दिव्यचंदनलिप्तांगाः दिव्यपुष्पैरलंकृताः ॥१४॥
नीतोपवीतहृदयः सपवित्रे चतुष्कलाः ।
अग्निद्र(ग्नीध्र?) वदनांभोजाः प्रभामंडल संस्थिताः ॥१५॥
अभयाक्षस्रग्दधानाः परहस्तसरोरुहाः ।
एवं होमेन प्रारंभे ध्येयास्तुह्यतयो द्विजैः ॥१६॥

तत्तत्फलप्रसिद्ध्यर्थं अन्यथा तत्फलं न हि ।
तत्तत्कर्माभिधानार्थे विनियोगः उदाहृतः ॥१७॥
आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं जपहोमौ प्रकुर्वतः ।
कुशेशयासनं वापि वीरासनमथापिवा ॥१८॥
अंगुष्ठाऽधिकनिष्ठान्तं उभयोर्हस्तयोः क्रमात् ।
भूरादिपंचवि(कं)? न्यस्यन्यसेदन्यद्विकं दले ॥१९॥
करन्यासक्रमोऽयंस्याद्देहन्यासोऽथ कथ्यते ।
पादजानूर्वंधोनाभिवक्षः कराभ्यमूर्धसु ॥२०॥
भूरादिसप्तकं न्यस्य प्रणवं चाऽथ विन्यसेत् ।
देहन्यासोऽयमाख्यातः त्वयमेवान्यथोच्यते ॥२१॥
भूरिति न्यस्य शिरसि भुवो बाहुद्वये न्यसेत् ।
सुवश्चरणयोर्न्यस्यमहर्वामकरे न्यसेत् ॥२२॥
वामस्कंधे जनं न्यस्य तपो हस्तेऽथ दक्षिणे ।
सत्यं च दक्षिणस्कधे न्यसेत्पश्चाद्विचक्षणः ॥२३॥
देहन्यासकरं प्रोक्तं त्वंगन्यासोऽथ कथ्यते ।
हृदये भूर्भुवो मौलौ शिखायां सुपरित्यध ॥२४॥
तपोमहर्बहिश्चाक्षोः जनस्तपश्चपार्श्वयोः ।
सत्यं दशककुप्स्वेवं षट्स्थानेषु क्रमान्न्यसेत् ॥२५॥
आद्यन्तयोर्व्याहृ(त)ीनां सप्तानां प्रणवेन सह ।
गायत्री शिरसा योज्य जपेत्संध्यां जप क्रमात् ॥२६॥
एवं समाहितमनाः प्राणान् संयम्य वै तथा ।
त्रिवेदस्यनामास्यात्प्राणायामो जपस्य तु ॥२७॥

सप्तैताव्याहृतीरेता केवला वा द्विजो जपेत् ।
जपक्रमोऽयमेवं स्यात्सर्वपापप्रणाशनः ॥२८॥
पूर्ववत्प्राणसंरोधं कृत्वैताःश्च द्विजो जपेत् ।
तस्य चाप्यभिधानं स्यात्प्राणायामो जपस्य तु ॥२९॥
अष्टोत्तरसहस्रं वा अष्टोत्तरशतं तु वा ।
जपतः सर्वपापानि प्रणश्यन्ति न संशयः ॥३०॥
देवादिस्थापनार्चासु भवने वाऽघमर्षणे ।
तिस्रो व्याहृतयो मुख्याः इति प्रोक्ता महर्षिभिः ॥३१॥
व्यस्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यं समस्तं तदनंतरम् ।
एवमासां प्रयोगोऽयं चतुर्धा समुदीरितः ॥३२॥
व्याहृतित्रितयं श्रेष्ठमंत्रेण सकलेष्वपि ।
भूर्भुवः सुवरिति वा तिस्रो व्याहृतय :स्मृताः ॥३३॥
चतुर्थं महइत्येतद्ब्रह्म सर्व उदाहृतः ।
भूम्यान्तरिक्षस्वर्काख्याश्चतस्रःस्युः क्रमा इमाः ॥३४॥
प्राणापानव्यानानि अर्कवाय्वग्निवारिजाः ।
ऋक्सामयजुर्ब्रह्माणि इत्येवं श्रुतिचोदनात् ॥३५॥
एताश्चतस्रो यो वेत्ति सकल्पं सरहस्यकम् ।
स हि वेत्ति परब्रह्म तदन्ते यात्यसंशयम् ॥३६॥
जपहोमार्चनारंभे स्मृत्वा वा मुनिपूर्वकान् ।
मृत्वा(मूलं) न्यासत्रयं कृत्वा तत्तत्कर्माणि कारयेत् ॥३७॥
अज्ञात्वैतानि होमानि कुर्युरुक्तक्रियां द्विजः ।
होमेन केवलैर्मंत्रैः निष्फलत्वं प्रयान्ति ताः ॥३८॥

व्याहृतीनामथैतस्मिन्पुरश्चर्याविधिं पुरः ।
शक्त्यर्थमन्यथाशक्तिर्न पुरश्चरणं विना ॥३९॥

तस्मात्पुरश्चरेद्धीमान् अथ कर्म समाचरेत् ।
कर्माणीष्टानि सिध्यंति सत्यं तस्याग्रजन्मनः ॥४०॥

त्रिस्नानं ब्रह्मचर्यं च वसुधाशयनं चरेत् ।
जपेद्द्वादशसाहस्रं उपवासत्रयं द्विजः ॥४१॥

अशक्तोयस्त्वहोरात्रं वोपोष्याभिहितं जपेत् ।
अपुरश्चरणं ह्येतदिष्टानर्थान्यथाऽऽचरेत् ॥४२॥

ब्रह्मवर्चसकामश्चेत्सहस्रं ब्रह्मभूरुहाम् ।
सर्धाक्तौरदध्यक्ताः समिधो जुहुयाल्लभेत् ॥४३॥

तेजस्कामस्तथाऽऽज्येन धान्यकामस्तु शालिभिः ।
क्षीरेण पशुकामस्तु पुत्रकामो वदेन्धनैः ॥४४॥

शांतिकामःशमीकाष्ठैः अर्थकामोर्कतर्पणैः ।
रक्षोविनाशनार्थीचल्लाजैरपिति वैरपि ॥४५॥

दुःस्वप्नपापनाशार्थी पापी सद्यो विनश्यति ।
प्रक्षिप्याभिभ्रातृकामः पुत्रार्थी पिप्पलेन्धनैः ॥४६॥

अपामार्गैरैश्वर्यकामः श्रीकामी यः पलाशकैः ।
सुधर्मा प्रियकामस्तु सर्वद्रव्याण्यनुक्रमात् ॥४७॥

सहस्रसंख्यया होमः ततइष्टं प्रयच्छति ।
तस्माद्विप्रपुरश्चर्यांसम्यग् कृत्वार्थंहावयेत् ॥४८॥

किमप्यसाध्यमेताभिः व्याहृतीभिर्न जातुचित् ।
तस्मादेताः समाश्रित्य साधयेत्सकलं द्विजः ॥४६॥

॥ इति श्रीभारद्वाजस्मृतौ व्याहृतिनिधानं नाम ऊनविंशोऽध्यायः ॥

❀ ॐ तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु ❀

॥ शुभमभवतु ॥